THE

KASHI SANSKRIT SERIES

104

THE

BAUDHĀYANA-DHARMASŪTRA

with the 'Vivaraṇa' Commentary

by

ŚRĪ GOVINDA SVĀMĪ

AND

Critical Notes by

M. M. A. CHINNASWĀMĪ ŚĀSTRĪ

Edited with

Hindi Translation, Explanatory Notes,

Critical Introduction & Index

by

Dr. UMEŚA CHANDRA PĀṆḌEYA, M. A., Ph. D.,

Department of Sanskrit & Pali, University of Gorakhpur

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1 (India)

1972

Gopal Mandir Lane,
P. O. Chowkhamba, Post Box 8,
Varanasi-1 (India)
1972
Phone : 63145

Second Edition
1972
Price Rs. 20-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Publishers and Oriental Book-Sellers
Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)
Phone : 63076

आमुख

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस ने 'बौधायनधर्मसूत्र' का म० म० ए० चिन्न-स्वामी शास्त्री द्वारा सटिप्पण सम्पादित प्रथम संस्करण पहले प्रकाशित किया था। यह द्वितीय संस्करण आधुनिक विद्यार्थियों तथा अनुसन्धाताओं की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर हिन्दी अनुवाद, व्याख्यात्मक टिप्पणियों, विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका एवम् अनुक्रमणिकाओं से संवलित कर प्रस्तुत किया गया है। इसके पूर्व मेरे द्वारा सम्पादित 'गौतमधर्मसूत्र' 'आपस्तम्बधर्मसूत्र' 'आपस्तम्बगृह्यसूत्र' तथा 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के हिन्दीव्याख्या-सहित संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं और इन संस्करणों ने लोकप्रियता भी अर्जित की है। बौधायनधर्मसूत्र के इस संस्करण में सूत्रों का सरल हिन्दी अनुवाद दिया गया है और प्रायः प्रत्येक स्थल पर टिप्पणी देकर अर्थ को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया गया है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन और मुद्रण का श्रेय चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस तथा चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी के कुशल संचालकों को है और विशेषतः मुद्रण के स्तर के लिए उन्हें धन्यवाद देना मेरा कर्त्तव्य है। प्रस्तावना की प्रेसपाण्डुलिपि तथा अनुक्रमणिका के लिए मै अपनी सहयोगिनी का आभारी हूँ।

धर्मसूत्रों की उपयोगिता आज भी अक्षुण्ण है। परम्परागत धर्म एवम् आचार-विषयक मान्यताओं के अध्ययन तथा युगसापेक्ष व्यवहार से ही आधुनिक सन्त्रास-पूर्ण जीवन में भी सुख और शान्ति के आविर्भाव की आशा की जा सकती है और यदि भारतीय धर्म के अवबोध में मेरी यह कृति स्वल्प भी योग दे सकी, तो अपना परिश्रम सफल मानूँगा।

दीपावली, सं० २०२९
गोरखपुर

विनीत—
उमेशचन्द्र पाण्डेय

प्रस्तावना

सूत्र साहित्य एवं कल्प

वैदिक साहित्य के अन्तिम युग का प्रतिनिधित्व करनेवाले ग्रन्थों की शैली मुख्यतः सूत्रात्मक है। ये सूत्र रचनाएँ अनेक शताब्दियों के ज्ञान को नियमों के रूप में छोटे-छोटे वाक्यों में अभिव्यक्त करती हैं। सूत्रों की विशेषता है उनकी संक्षिप्तता।

सूत्रों का शाब्दिक अनुवाद असम्भव होता है और अनेक सूत्ररचनाओं में एक प्रकार की विशिष्ट एवं तकनीकी पारिभाषिक शब्दावली का भी व्यवहार हुआ है, जिससे उनमें स्वभावतः दुरूहता आ गयी है। सूत्र-शैली की रचनाओं में सबसे सरल धर्मसूत्र ही है। सूत्रों की इसी दुरूहता का प्रो० माक्स म्यूलेर ने अपने प्राचीन संस्कृत साहित्य के इतिहास में इन शब्दों में निर्देश किया है—

"Every doctrine thus propounded, whether Grammar, metre, law or philosophy, is reduced to a mere skelton. All the important points and joints of a system are laid open with greatest precision and clearness, but there is nothing in these works like connection or development of ideas."

सूत्र-शैली की जटिलता की आलोचना अनेक पश्चिमी विद्वानों ने की है। कोलेब्रूक ने भी सूत्रों में अभिप्रेत अन्विति एवं पारस्परिक संबन्ध के अभाव का दोष देखा है और इसका कारण निरन्तर आने वाले अपवाद नियमों को बताया है—

"The endless persuit of exceptions and limitations so disjoins the general precepts that the reader cannot keep in view their intended connection and mutual relation."

किन्तु धर्मसूत्रों की सूत्र-शैली इन जटिलताओं से मुक्त है। उनमें पारिभाषिक शब्दावली का अभाव है और वे सीधे-सादे स्वतन्त्र वाक्यों के समान हैं। इनमें विषय का विस्तार भी सम्बद्ध एवं व्यवस्थित रूप में हुआ है। प्रसंगवश दूसरे विषय भी अवश्य आ गये हैं।

वेद को समझने के लिए जिस साहित्य का उद्भव हुआ उसे वेदाङ्ग कहते हैं। "अङ्गयन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि" जिसके द्वारा किसी वस्तु के स्वरूप को जानने में सहायता मिलती है उसे अङ्ग कहते हैं।

छः वेदाङ्गों शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष के अन्तर्गत यज्ञ-क्रिया की दृष्टि से कल्प का सर्वाधिक महत्त्व है। कल्प का अर्थ है—यज्ञ के प्रयोगों का

समर्थन करने वाला शास्त्र "कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र।" कल्प के अन्तर्गत सूत्रों का विशाल भाण्डार समाहित है। कल्पसूत्रों के महत्त्व के विषय में प्रो० माक्स म्यूलेर ने ठीक ही कहा है--"कल्पसूत्रों का वैदिक साहित्य के इतिहास में अनेक कारणों से महत्त्व है। वे न केवल साहित्य के एक नये युग के द्योतक हैं और भारत के साहित्यिक एवं धार्मिक जीवन के नये प्रयोजन के सूचक हैं, अपितु उन्होंने अनेक ब्राह्मणों के लोप में योग दिया, जिनका अब केवल नाम ही ज्ञात है। यज्ञ का सम्पादन केवल वेद द्वारा, केवल कल्पसूत्र द्वारा ही हो सकता था किन्तु बिना सूत्रों की सहायता के ब्राह्मण या वेद के याज्ञिक विधान का ज्ञान पाना कठिन ही नहीं, असम्भव था।"

कल्पसूत्र के महत्त्व के विषय में कुमारिल का कथन है—

'वेदादृतेऽपि कुर्वन्ति कल्पैः कर्माणि याज्ञिकाः।
न तु कल्पैर्विना केचिन्मन्त्रब्राह्मणमात्रकात्॥'

ये कल्पसूत्र प्रत्येक शाखा के लिए भिन्न-भिन्न होते थे, जैसा कि हिरण्यकेशिसूत्र की टीका में महादेव ने लिखा है—

"तत्र कल्पसूत्रं प्रतिशाखं भिन्नमभिन्नमपि क्वचित् शाखाभेदेऽध्ययनभेदाद्वा सूत्रभेदाद्वा। आश्वलायनीयं कात्यायनीयं च सूत्रं हि भिन्नाध्ययनयोर्द्वयोर्द्वयोः शाखयोरेकैकमेव। तैत्तिरीयके च समाम्नाये समानाध्ययने नाना सूत्राणि। अनेन च सूत्रभेदे शाखाभेदः शाखाभेदे च सूत्रभेद इति परस्पराश्रय इति वाच्यम्।"

कल्पसूत्रों का विभाजन चार भागों में किया गया है—

१—श्रौत सूत्र—जिनमें श्रौत अग्नि से किये जाने वाले यज्ञों का विवेचन है।

२—गृह्य सूत्र—गृह्य अग्नि में किये जाने वाले संस्कारों तथा घरेलू यज्ञ-क्रियाओं का विवेचन करने वाले सूत्र।

३—धर्मसूत्र—आश्रमों तथा वर्णों के कर्त्तव्य, व्यक्ति के आचरण के नियम, प्रायश्चित्त, राजा के कर्त्तव्य, अपराध और दण्ड का विधान करने वाले सूत्र।

४—शुल्वसूत्र—यज्ञ की वेदी आदि के निर्माण की विधि का विवेचन करने वाले सूत्र।

धर्मसूत्रों की परम्परा

धर्मसूत्र कल्पवेदाङ्ग-साहित्य की परम्परा में आते हैं। जैसा कि विष्णुमित्र ने ऋग्वेद-प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति में कल्प की परिभाषा की है, कल्प वेद में विहित कर्मों की क्रमपूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र है "कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्।"

धर्मसूत्र भी अन्य ग्रन्थों के समान भिन्न-भिन्न शाखा में पृथक्-पृथक् थे। किन्तु कतिपय धर्मसूत्र ही इस समय उपलब्ध हैं। धर्मसूत्रों का श्रौत एवं गृह्यसूत्रों से भी अटूट सम्बन्ध है। जिन शाखाओं के सभी कल्पसूत्र उपलब्ध हैं उनमें प्रमुख हैं बौधायन, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशि। ऐसा प्रतीत होता है कि कई शाखाओं में धर्मसूत्र अलग नहीं होते थे और वे शाखायें किसी प्रमुख शाखा के धर्मसूत्र को अपना लेती थीं। विभिन्न शाखाओं में एक अद्भुत सहिष्णुता थी जिसके परिणामस्वरूप

सभी शाखाओं का सूत्र-ग्रन्थ सभी आर्यों के लिए प्रामाणिक और मान्य होता था। कुमारिल ने पूर्वमीमांसा-सूत्र १.३.११ में इसी तथ्य का उल्लेख किया है—

> "स्वशाखाविहितैश्चापि शाखान्तरगतान्विधीन्।
> कल्पकारा निबध्नन्ति सर्व एव विकल्पितान्॥
> सर्वशाखोपसंहारो जैमिनेश्चापि संमतः॥"

सूत्रकारों का दृष्टिकोण उदार था और वे केवल अपनी ही शाखा तक सीमित होकर सन्तोष का अनुभव नहीं करते थे :—

'न च सूत्रकाराणामपि कश्चित् स्वशाखोपसंहारमात्रेणावस्थितः।'

श्रौतसूत्र जहाँ बड़े यज्ञों से तथा गृह्यसूत्र घरेलू संस्कारों एवं यज्ञ-क्रियाओं से सम्बद्ध हैं, वहाँ धर्मसूत्र मानव के सम्पूर्ण जीवन का निर्धारण करने वाला अधिक व्यावहारिक साहित्य है। मानव के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के पथ का अनुलेखन ही धर्मसूत्रों का लक्ष्य है।

कतिपय उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि श्रौत एवं गृह्यसूत्रों से पहले भी धर्मसूत्र विद्यमान थे। श्रौतसूत्र में यज्ञोपवीत-धारण की विधि नहीं बतायी गयी है और इसका संकेत किया गया है कि यह विधि धर्मसूत्र से ज्ञात है। इसी प्रकार मुखशुद्धि (आचान्त) और सन्ध्यावन्दन के नियमों के ज्ञात होने का संकेत है। इनके आधार पर कुछ लोगों का मत है कि धर्मसूत्रों का अस्तित्व श्रौतसूत्रों के भी पहले था। किन्तु ये तर्क निर्बल हैं। वस्तुतः धर्मसूत्र श्रौत एवं गृह्यसूत्रों के बाद संकलित हुए हैं। हाँ, यह सम्भव हो सकता है कि कुछ प्राचीन धर्मसूत्रों के कतिपय अंशों का उद्भव श्रौतसूत्रों के साथ-साथ हुआ हो।

धर्मसूत्रों का रचनाकाल

धर्मसूत्रों की रचना के काल के सन्दर्भ में उपर्युक्त तथ्यों के विपर्यास में उनमें प्रतिबिम्बित सामाजिक स्थिति अधिक प्रामाणिक और पुष्ट प्रमाण के रूप में विश्वसनीय है। समग्र रूप में समाज के जिन पक्षों—वर्णव्यवस्था, शूद्र की स्थिति, नारी की परतन्त्रता—का जो रूप स्मृतियों में मिलता है, वही रूप धर्मसूत्रों में भी दिखायी पड़ता है। यही नहीं, स्मृति-ग्रन्थों की वाक्यावली भी कई धर्मसूत्रों में उसी रूप में मिल जाती है।

निरुक्त के रचयिता यास्क ने ३.४.५ में सम्पत्ति के विभाजन के सम्बन्ध में पुत्री के रिक्थाधिकार का उल्लेख किया है—'अथैतां जाम्या रिक्थप्रतिषेध उदाहरन्ति ज्येष्ठं पुत्रिकाया इत्येके।'

इस स्थल पर यास्क ने वैदिक मन्त्रों को उद्धृत किया है और एक ऐसे श्लोक का निर्देश किया है, जिससे धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का पहले विद्यमान होना स्पष्ट है—

> "तदेतादृक् श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्।
> अङ्गादङ्गात्सम्भवसि ··· स जीव शरदः शतम्॥
> अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
> मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥"

इस प्रकार यास्क के पहले धर्मशास्त्र के ग्रन्थ विद्यमान थे।

धर्मसूत्रों में प्राचीनतम धर्मसूत्र-गौतम, बौधायन एवम् आपस्तम्ब धर्मसूत्र—३०० ई० पू० और ६०० ई० पू० के मध्य के माने जाते हैं।

धर्मसूत्रों में धर्मशास्त्र और धर्मशास्त्रकारों का बहुशः उल्लेख हुआ है। उदाहरणार्थ गौतमधर्मसूत्र में निम्नलिखित सूत्र द्रष्टव्य हैं—

'तस्य च व्यवहारो वेदे धर्मशास्त्राण्यङ्गानि उपवेदाः पुराणम्।' १.९.२१

'चत्वारश्चतुर्णां पारगा वेदानां प्रागुत्तमात्त्रैय आश्रमिणः पृथग्धर्मविदस्त्रय एतान्दशावरान् परिषदित्याचक्षते।' ३.१०.४७

इसी प्रकार गौतमधर्मसूत्र में मनु के मत का नामतः उल्लेख है—

'त्रीणि प्रथमान्यनिर्देश्यान्मनुः'—३.३.७

कई स्थानों पर दूसरे आचार्यों के मतों का निर्देश 'एके' कहकर किया गया है, जैसे १'२'१५, २'५८, ३'१, ४'२१, ७'२३ में।

'आचार्याः' कहकर भी धर्मशास्त्रों के मत का उल्लेख किया गया है—'ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्य।' १.३.३५

'वर्णान्तरगमनमुत्कर्षापकर्षाभ्यां सप्तमे पञ्चमे वाऽऽचार्याः।' .४.१८

गौतमधर्मसूत्र के अतिरिक्त अन्य धर्मसूत्रों में भी धर्मशास्त्रकारों के उल्लेख किये गये हैं। पतञ्जलि ने 'धर्मशास्त्रं च तथा' एवं जैमिनि ने भी पूर्वमीमांसा ६.७.६ में 'शूद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात्' कहकर धर्मशास्त्रों के अस्तित्व का स्पष्ट संकेत किया है। इन सभी प्रमाणों पर विचार कर महामहोपाध्याय काणे ने निष्कर्ष निकाला है : "धर्मशास्त्र यास्क के पूर्व उपस्थित थे, कम-से-कम ६००–३०० के पूर्व तो वे थे ही और ईसा की द्वितीय शताब्दी में वे मानव आचार के लिए सबसे बड़े प्रमाण माने जाते थे।"

"Works on the dharmasūtra existed prior to the period 600-300 B. C. and in the 2nd century B. C. they had attained a position of supreme authority in regulating the conduct of men."

—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पृ० ९

एक प्रश्न और विचारणीय है। सूत्रग्रन्थ प्रायः पद्यात्मक धर्मशास्त्रों से पूर्ववर्ती माने जाते हैं। प्रो० माक्स म्यूलेर इसी विचार का प्रतिपादन करते हैं, यद्यपि वे इस प्रकार की साहित्यिक रचनाओं का भी अस्तित्व स्वीकार करते हैं जो सूत्रों के पहले मौखिक संक्रमण की परम्परा द्वारा प्रचलित थीं और अपौरुषेय मानी जाती थीं। ये रचनाएँ ही धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का आधार बनीं—

There existed previous to the Sūtra period, a body of literary works propagated by oral tradition, which formed the basis of all later writings on sacred subjects, and which by the Brāhmanas was believed to be of divine origin. —Ancient Sanskrit Literature, p. 95.

डॉ० भण्डारकर भी यही मानते हैं कि सूत्रों की रचना के बाद अनुष्टुभ् छन्द में रचित धर्मग्रन्थों की रचना हुई। महामहोपाध्याय काणे का मत है कि चूँकि प्राचीन

ग्रन्थों के विषय में हमारा ज्ञान अल्प है, अतः पौर्वापर्य की स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। श्लोकबद्ध कुछ धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ जैसे मनुस्मृति सूत्रात्मक रचना विष्णुधर्मसूत्र से प्राचीन हैं तथा वसिष्ठधर्मसूत्र का समकालीन है।

कतिपय प्राचीन सूत्रग्रन्थ जैसे बौधायनधर्मसूत्र में भी श्लोकों के उद्धरण आये हैं जो स्पष्टतः सूत्रों से पहले श्लोकबद्ध रचनाओं का अस्तित्व प्रमाणित करते हैं।

"This renders it highly probable that works in the sloka metre existed before them. Besides, a large literature on dharma existed in the days of Āpastamba and Baudhāyana which has not come down to us." (p. 10.)

धर्मसूत्र-साहित्य का परिचय

गौतमधर्मसूत्र—धर्मसूत्रों में प्राचीनतम गौतमधर्मसूत्र है। यह केवल गद्य में है तथा इसमें श्लोक का कोई उद्धरण नहीं दिया गया है, जबकि दूसरे धर्मसूत्रों में श्लोक का उद्धरण आ जाता है। इसकी प्राचीनता के कई प्रमाण हैं—इसका उल्लेख बौधायन-धर्मसूत्र में किया गया है। यह तीन प्रश्नों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः नौ, नौ, दस अध्याय हैं। विस्तृत समालोचना के लिए चौखम्बा से प्रकाशित मेरे अनुवाद से युक्त संस्करण देखें।

बौधायन-धर्मसूत्र—बौधायन का धर्मसूत्र चार प्रश्नों में विभक्त है, इनमें अन्तिम प्रश्न परिशिष्ट माना जाता है और उसे बाद के समय की रचना मानते हैं। यह आपस्तम्बधर्मसूत्र से पहले का है। इसमें दो बार गौतम के नाम का तथा एक बार उनके धर्मसूत्र का उल्लेख आता है। बौधायन ने अनेक आचार्यों के नाम गिनाये हैं तथा उपनिषदों के उद्धरण दिये हैं। कुमारिल ने बौधायन को आपस्तम्ब के बाद के समय का माना है। बौधायन का काल ई० पू० २००–५०० के बीच माना जाता है।

आपस्तम्ब-धर्मसूत्र—इस धर्मसूत्र में दो प्रश्न हैं, जिनमें प्रत्येक में ११ पटल हैं। सभी सूत्रों में यह छोटा है और इसकी शैली बड़ी चुस्त है। भाषा भी पाणिनि से बहुत पहले की है। अधिकांश सूत्र गद्य में हैं, किन्तु यत्र-तत्र श्लोक भी हैं। इसका संबन्ध पूर्वमीमांसा से दिखायी पड़ता है। यह बहुत प्रामाणिक माना जाता रहा है। इसका समय ६००–३०० ई० पू० स्वीकार किया गया है।

हिरण्यकेशिधर्मसूत्र—हिरण्यकेशिकल्प का २६वाँ और २७वाँ प्रश्न हिरण्यकेशिधर्मसूत्र कहलाता है। प्रायः इसे स्वतन्त्र धर्मसूत्र नहीं माना जाता, क्योंकि इसमें आपस्तम्ब-धर्मसूत्र से सैकड़ों सूत्र लिये गये हैं।

वसिष्ठ-धर्मसूत्र—इसके कई संस्करण हैं। जीवानन्द के संस्करण में ३० अध्याय हैं तथा ३१वें अध्याय का कुछ अंश है। इसके अतिरिक्त ३० अध्यायों, ६ अध्यायों एवं २१ अध्यायों के अलग-अलग संस्करण भी हैं। इससे पता चलता है कि यह कालान्तर में परिबृंहित, परिवर्द्धित और परिवर्तित होता रहा है। इसका समय ३००–२०० ई० पू० है।

विष्णु-धर्मसूत्र—इस सूत्र में १०० अध्याय हैं, किन्तु सूत्र छोटे हैं। पहला अध्याय और अन्त के दो अध्याय पद्य में हैं। शेष में गद्य है या पद्य का मिश्रण। इसका सम्बन्ध यजुर्वेद की कठ शाखा से बताया गया है। इसमें भिन्न-भिन्न कालों के अंश दृष्टिगोचर होते हैं, जिससे इसका काल निश्चित करना कठिन है। इसके आरम्भ के अंशों का समय ३००-१०० ई० पू० के बीच माना जा सकता है। इसमें भगवद्गीता, मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति से बहुत सी बातें ली गयी हैं।

हारीत-धर्मसूत्र—इस सूत्र का ज्ञान उद्धरणों से मिलता है। अनेक धर्मशास्त्रकारों ने इसका उल्लेख किया है। इसमें गद्य के अनुष्टुप् एवं त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग है। हारीत का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद से है, किन्तु उन्होंने सभी वेदों से उद्धरण लिये हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि वे किसी एक वेद से सम्बद्ध नहीं थे।

शङ्खलिखित-धर्मसूत्र—यह शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयिशाखा का धर्मसूत्र था। 'तन्त्र-वार्तिक' में इस सूत्र के अनुष्टुप् श्लोकों का उद्धरण है। याज्ञवल्क्य और पाराशर ने इनका उल्लेख किया है। जीवानन्द के स्मृति-संग्रह में इस धर्मसूत्र के १८ अध्याय एवं शङ्खस्मृति के ३३० तथा लिखित-स्मृति के ९३ श्लोक पाये जाते हैं। यह धर्मसूत्र गौतम एवं आपस्तम्ब के बाद के काल का है और इसकी रचना का समय ई० पू० ३०० से १०० ई० के बीच है।

अन्य सूत्र ग्रन्थ—अनेक धर्मसूत्र धर्मविषयक ग्रन्थों में विकीर्ण हैं। उनमें इन आचार्यों के सूत्र-ग्रन्थ गिनाये जाते हैं—अत्रि, उशना, कण्व एवं काण्व, कश्यप एवं काश्यप, गार्ग्य, च्यवन, जातूकर्ण्य, देवल, पैठीनसि, बुध, बृहस्पति, भरद्वाज एवं भारद्वाज, शातातप, सुमन्तु आदि।

धर्मसूत्रों का प्रतिपाद्य

धर्मसूत्रों का मुख्य विषय व्यक्ति के जीवन के आचार एवं कर्त्तव्य हैं। धर्मसूत्र मुख्यतः वर्णों एवम् आश्रमों के नियमों का विवेचन करते हैं तथा उच्चवर्णों के दैनिक धर्मकार्यों का विधान करते हैं। सुतरां, धर्मसूत्र कभी-कभी गृह्यसूत्रों द्वारा प्रतिपाद्य विषयों के क्षेत्र में भी पहुँच जाते हैं। गृह्यसूत्रों का ध्येय गृह्ययज्ञ, प्रातः-सायं-पूजन, पाकयज्ञ, विवाह, पुंसवन, जातकर्म, उपनयन एवं दूसरे संस्कार, ब्रह्मचारी एवं स्नातक के नियम, मधुपर्क और श्राद्धकर्म का वर्णन करना तथा इनसे संबद्ध नियमों को स्पष्ट करना है। इस प्रकार गृह्यसूत्रों के विषय नितान्त वैयक्तिक जीवन से संबद्ध हैं। उनमें व्यक्ति के सामाजिक दायित्वों एवं कानून का विवेचन नहीं है। इसके विपरीत, धर्मसूत्र मनुष्य को समाज में लाकर खड़ा कर देता है, जहाँ उसे व्यावहारिक जगत में दूसरों के साथ रहते हुए अपने आचार-व्यवहार को नियमित और संयमित करना है, उसे कुछ कर्त्तव्यों एवं दायित्वों का पालन करना होता है, कुछ अधिकार प्राप्त करने होते हैं और अपने अपराधों के लिए दण्ड भोगने होते हैं, इस प्रकार धर्मसूत्रों का वातावरण अधिक सामाजिक और नैतिक है। जैसा हम कह आये हैं, धर्मसूत्रों में गृह्यसूत्रों के कुछ विषयों पर भी विचार किया गया है, जैसे, विवाह, संस्कार, मधुपर्क, स्नातक का जीवन, श्राद्धकर्म आदि। संक्षेप में धर्मसूत्रों के वर्ण्य-विषय की सूची इस प्रकार दी जा सकती

है :—धर्म और उसके उपादान, चारों वर्णों के आचार कर्त्तव्य एवं जीवनवृत्तियाँ, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों के आचार, उपजातियों एवं वर्णसङ्कर, सपिण्ड और सगोत्र, पाप, उनके प्रायश्चित्त एवं व्रत, आशौच और उससे शुद्धि, ऋण, ब्याज, साक्षी और न्यायव्यवहार, अपराध और उनके दण्ड, राजा और राजा के कर्त्तव्य, स्त्री के कर्त्तव्य, पुत्र और दत्तक पुत्र, उत्तराधिकार, स्त्रीधन और सम्पत्ति का विभाजन।

धर्मसूत्र और स्मृति

धर्मसूत्र स्मृति नाम से प्रचलित रचनाओं से भिन्न तथा अधिक प्राचीन माने गये हैं। वेद के ईश्वर प्रकाशित एवम् ऋषिदृष्ट वाङ्मय को श्रुति और धर्मशास्त्र को स्मृति कहा गया है—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।—मनु० २।१०

श्रुति और स्मृति का भेद वस्तुतः महत्वपूर्ण है। इस महत्व को स्वीकारते हुए प्रो० माक्स म्यूल्लेर ने लिखा है—

'The distinction be ween Sruti (revelation) and Smṛti (tradition) which is a point of such vital importance for the whole Brahmanic system will also be found significant in an historical poi it of view." —p. 77.

श्रुति से भिन्न स्मृति के अन्तर्गत सूत्रात्मक एवं श्लोकबद्ध दोनों प्रकार की धर्मशास्त्रीय रचनाएँ आती है। किन्तु संकुचित अर्थ में 'स्मृति' शब्द का प्रयोग 'मनुस्मृति' 'याज्ञवल्क्यस्मृति' जैसी पद्यात्मक धर्मशास्त्रीय रचनाओं के लिए हुआ है। इन स्मृतियों में कई सूत्ररचनाओं के ऊपर ही आधारित है।

स्मृति की प्रामाणिकता उसके श्रुति पर आधृत होने के कारण ही है—

पूर्वविज्ञानविषयं विज्ञानं स्मृतिरुच्यते।
पूर्वज्ञानाद्विना तस्याः प्रामाण्यं नावधार्यते॥

स्मृतियों में सबसे प्राचीन 'मनुस्मृति' है। इसका समय ईसा से कई शताब्दी पहले का है। अन्य स्मृतियाँ ४०० और १०० ई० के बीच की हैं। स्मृतियाँ अधिकांशतः पद्य में हैं और भाषा की दृष्टि से धर्मसूत्रों के बाद की रचनाएँ हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से स्मृतियाँ धर्मसूत्रों से अधिक व्यवस्थित और सुगठित हैं।

मुख्य स्मृतिकार १८ हैं—मनु, बृहस्पति, दक्ष, गौतम, यम, अङ्गिरा, योगीश्वर, प्रचेता, शातातप, पराशर, संवर्त, उशनस्, शंख, लिखित, अत्रि, विष्णु, आपस्तम्ब, हारीत।

इनके अतिरिक्त उपस्मृतियों के भी लेखकों के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं—

नारदः पुलहो गार्ग्यः पुलस्त्यः, शौनकः क्रतुः।
बौधायनो जातुकर्ण्यो विश्वामित्रः पितामहः॥
जाबालिर्नाचिकेतश्च स्कन्दो लौगाक्षिकाश्यपौ।
व्यासः सनत्कुमारश्च शान्तनुर्जनकस्तथा॥

व्याघः कात्यायनश्चैव जातुकर्ण्यः कपिञ्जलः।
बौधायनश्च काणादो विश्वामित्रस्तथैव च।
पैठीनसिर्गोभिलश्चेत्युपस्मृति विधायकाः॥

वीरमित्रोदय के परिभाषा प्रकरण के अनुसार स्मृतिकारों की संख्या २१ है—

'वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुश्च पितामहः।
विष्णुः कार्ष्णाजिनिः सत्यव्रतो गार्ग्यश्च देवलः॥
जमदग्निर्भारद्वाजः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
आत्रेयश्च गवेयश्च मरीचिर्वत्स एव च॥
पारस्करश्चर्ष्यशृङ्गो वैजवापस्तथैव च।
इत्येते स्मृतिकर्तार एकविंशतिरीरिताः॥

सामान्यतः स्मृति नाम से अभिहित रचनाओं एवं धर्मसूत्रों में जो अन्तर हैं उनको महामहोपाध्याय काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में स्पष्ट किया है, जिसे हम यहाँ साभार प्रस्तुत करते हैं—

१—अनेक धर्मसूत्र किसी चरण के या किसी कल्प के अङ्ग हैं, अथवा उनका गहरा संबन्ध गृह्यसूत्रों से है।

२—धर्मसूत्रों में यत्र तत्र अपने चरण के साहित्य और वेद के उद्धरण दिये गये हैं।

३—धर्मसूत्र प्रायः गद्य में हैं या कहीं कहीं मिश्रित गद्य या पद्य में हैं, किन्तु स्मृतियाँ श्लोकों में हैं या पद्यबद्ध हैं।

४—भाषा की दृष्टि से धर्मसूत्र स्मृतियों के पहले के हैं, और स्मृतियों की भाषा अपेक्षाकृत अर्वाचीन है।

५—विषयवस्तु के विन्यास की दृष्टि से भी धर्मसूत्र और स्मृतियों में अन्तर है। धर्मसूत्रों में प्रायः विषय की व्यवस्था, क्रम का अनुसरण नहीं करतीं, किन्तु स्मृतियाँ अधिक व्यवस्थित और सुगठित हैं, उन में विषयवस्तु मुख्यतः तीन शीर्षकों में विभक्त हैं—आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त।

६—बहुत बड़ी संख्या में धर्मसूत्र अधिकतम स्मृतियों से प्राचीन हैं।

भारतीय धर्म

भारतीय परम्परा में 'धर्म' शब्द के अर्थ में अद्भुत विकास हुआ है। सर्वप्रथम, ऋग्वेद में 'धर्म' का प्रयोग विशेषण या संज्ञा के रूप में हुआ है और प्रायः 'धर्मन्' के रूप में यह नपुंसकलिङ्ग है। ऋग्वेद के अतिरिक्त अथर्ववेद, वाजसनेयि-संहिता में भी 'धर्मन्' का प्रयोग अनेकशः हुआ है। 'धर्म' शब्द का प्रयोग अथर्ववेद, तैत्तिरीय-संहिता तथा वाजसनेयिसंहिता में हुआ है। इन प्रयोगों में प्रायः स्थलों पर धर्म का अर्थ है धार्मिक विधि, धार्मिक क्रिया, शाश्वत नियम, आचरण के नियम।

संहिताओं के परवर्त्ती काल में 'धर्म' शब्द का अर्थ वर्णाश्रम की विधियों के निकट आ गया है। उपनिषद् काल में 'धर्म' का अर्थ स्पष्टतः वर्णों एवम् आश्रमों के आचार एवं संस्कार ही था, जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् के निम्नलिखित अंश से प्रकट है—

'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एवेति द्वितीयो ब्रह्मचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुले अवसादयन्। सर्व एते पुण्यश्लोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।'

धर्म को जिस रूप में धर्मशास्त्र धर्मसूत्र और स्मृतियों में विवेचित किया गया है उसके अन्तर्गत चार विषयों से संबद्ध नियमों को सम्मिलित किया गया है—१. वर्णधर्म अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के कर्त्तव्य, स्वधर्म एवम् आपद्धर्म, २. आश्रमधर्म—चारों आश्रमों के विशिष्ट कर्त्तव्य एवम् वृत्तियाँ, ३. नैमित्तिकधर्म—प्रायश्चित्त आदि ४. गुणधर्म—राजा के कर्त्तव्य, अपराध और दण्ड।

धर्म की कुछ परिभाषाएँ प्रचलित हैं, जिनका यहाँ उल्लेख करना उचित है—

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'—अर्थात् वेद में बताये गये कर्म की प्रेरणा देने वाले विधि-नियम धर्म है।—जैमिनि, पूर्वमीमांसासूत्र, १०१–२

वैशेषिकसूत्र में धर्म उसे माना गया है, जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् प्राप्त होता है।

'यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'

'श्रुतिप्रमाणको धर्मः'—हारीत, कुल्लूक, मनु० २–१ की टीका।

'श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः'—श्रुति और स्मृति द्वारा विहित आचरण धर्म हैं।—वसिष्ठ-धर्मसूत्र १-४–६। इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि भारतीय धर्म का मूल वेद और स्मृति हैं। इनको प्रमाण मानकर विहित नियम या आचार ही धर्म है।

धर्म के स्रोत

धर्म के स्रोतों का उल्लेख नियमपूर्वक प्रत्येक धर्मसूत्र और स्मृति में किया गया है। गौतमधर्मसूत्र में यह स्पष्टतः कहा गया है कि वेद धर्म का मूल है। 'वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले।' आपस्तम्बधर्मसूत्र—'धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च' १–१–१–२। धर्म को जाननेवाले वेद का मर्म समझने वाले व्यक्तियों का मत ही वेद का प्रमाण है। इसी प्रकार वशिष्ठधर्मसूत्र में भी, जिसकी धर्म की परिभाषा का ऊपर उल्लेख किया गया है, श्रुति और स्मृति द्वारा विहित आचरण-नियमों को धर्म माना गया है, तथा उसके अभाव में शिष्टजनों के आचार को प्रमाण माना गया है।

"श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्। शिष्टः पुनरकामात्मा।"

बौधायनधर्मसूत्र में भी तीन प्रकार के धर्म का उल्लेख कर वेद, स्मृति और शिष्ट के आचरण को धर्म का स्रोत बताया गया है। 'उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम्। स्मार्तो द्वितीयः। तृतीयः शिष्टागमः।'

इसी प्रकार मनुस्मृति में वेद, स्मृति, वेदज्ञों के आचरण के अलावा आत्मा की तुष्टि को भी धर्म का मूल कहा गया है—

'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥' २.६

'याज्ञवल्क्यस्मृति' में उपर्युक्त के साथ-साथ उचित संकल्प से उत्पन्न अभिलाषा या इच्छा को भी धर्म का मूल स्वीकारा गया है:—

'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥' १.७

इस प्रकार धर्म के उपादान, स्रोत, मूल या प्रमाण स्वयं धर्मशास्त्रों की दृष्टि में ये हैं : १. वेद, २. वेद से भिन्न परम्परागत ज्ञान अर्थात् स्मृति, ३. श्रेष्ठ लोगों के आचार-विचार, ४. अपनी विवेक बुद्धि से स्वयं को हितकर लगने वाला आचरण और उचित संकल्प से उत्पन्न इच्छा।

वेद और धर्मशास्त्रों पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मशास्त्रों में जो कुछ भी कहा गया है उसका आधार वेद ही है और वेद की मान्यताओं के अनुसार ही धर्मसूत्रों के नियमों की रचना हुई। वेद की संहिताओं में और ब्राह्मण ग्रन्थों में धर्मसूत्र के विषयों का प्रसंगतः उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलता है, जैसे विवाह, उत्तराधिकार, श्राद्ध, स्त्री की स्थिति आदि। संहिताओं और ब्राह्मणों में जिस समाज और सभ्यता का दर्शन होता है वह वह धर्मशास्त्र की व्यवस्थाओं की व्यावहारिक पृष्ठभूमि है। आख्यानों में भी नियमों का पोषण हुआ दिखायी पड़ता है, जिनका उपदेश धर्मशास्त्रों ने दिया है। ब्रह्मचर्य का महत्व, उत्तराधिकार और सम्पत्ति का विभाजन, यज्ञ और अतिथि-सत्कार ऐसे ही विषय है, जिन पर धर्मसूत्रों से पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में भी अनेक स्थलों पर विचार हुआ है। जैसा कि म० म० काणे ने कहा है : 'कालान्तर में धर्मशास्त्रों में जो विधियाँ बतलायी गयीं, उनका मूल वैदिक साहित्य में अक्षुण्ण रूप में पाया जाता है। धर्मशास्त्रों ने वेद को जो धर्म का मूल कहा है वह उचित ही है।

—धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ७, अनु० काश्यप।

धर्मसूत्रों मे धर्म तथा आचार

भारतीय धर्म अपनी अनेक विशेषताओं के कारण अध्ययन का आकर्षक विषय बना रहा है। भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त विदेशी विद्वानों ने भी हिन्दू धर्म को समझने और समझाने का प्रयत्न किया। कतिपय योरोपीय विद्वानों ने इसके श्रेष्ठ तत्वों की उपेक्षा कर केवल आलोचना ही अपना लक्ष्य बनाया है। धर्मसूत्रों में धर्म का जो स्वरूप उभरता है उसे किसी एक विशेष शब्द द्वारा व्यक्त करना कठिन है। जॉन मैकेंजी का यह कथन सर्वथा संगत है कि हिन्दू धर्म के अन्तर्गत 'रिलीजन,' 'वर्च्यु,' 'लॉ,' और 'ड्यूटी' इन चार शब्दों का अर्थ समाहित है—

"In India in those days no clear distinction was drawn between moral and religious duty, usage, customary observance and law and dharma was the term which was applied to the whole complex forms of conduct that were settled or established."

इस प्रकार धर्म के अन्तर्गत ईश्वर के प्रति आस्था, सदाचार, सामाजिक तथा वैयक्तिक कानून एवं कर्त्तव्य सभी आ जाते हैं। हिन्दू-धर्म की यह विशेषता है कि यह जीवन के सभी पक्षों को समन्वित रूप में देखता है।

उसका कोई भी पक्ष एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है। पारलौकिक, लौकिक से सम्बद्ध है और चिन्तन व्यवहार के साथ चलता है। चार पुरुषार्थों की

कल्पना जीवन के सभी पक्षों के समन्वय का आदर्श रूप है। ये सभी पुरुषार्थ परस्पर समन्वित होकर ही धर्म के उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। हिन्दू-धर्म कोरा आदर्शवादी नहीं है। वह व्यवहार के धरातल पर स्थित है और यथार्थवादी है। धर्म मनुष्य से भिन्न नहीं है, अपितु धर्म उस प्रकार का आचरण और जीवन है जो मनुष्य को मनुष्य बनाता है। इस धर्म के अभाव में मनुष्य पशु से भिन्न नहीं रह जाता। अतएव धर्म मनुष्य को पशु से भिन्न करने वाली योग्यता है और इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण व्यक्तित्व से है। व्यक्ति के जीवन, आचरण तथा छोटे-छोटे कार्य भी इस धर्म के क्षेत्र से बाहर नहीं रखे गये हैं।

धर्मसूत्र मनुष्य को सम्पूर्ण रूप में देखता है। मनुष्य की प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक स्थिति के आचरण का विधान करता है। सुख-दुःख और सम्पत्ति-विपत्ति सभी पर धर्मसूत्र की दृष्टि है और वह व्यक्ति के सामाजिक, पारिवारिक, वैयक्तिक और पारलौकिक सभी पक्षों पर सूक्ष्म विचार करता है। वह व्यक्ति के जीवन की एक ऐसी दिशा निर्धारित करता है जिस पर चल कर वह आत्मा का और समाज का सम्मान प्राप्त कर सकता है। इसके लिए हिन्दू-धर्म ने सम्पूर्ण जीवन को संस्कारों में बाँध रखा है। प्रत्येक संस्कार व्यक्ति को कर्त्तव्यों की दिशा में आगे बढ़ाता है और जीवन के लक्ष्यों की ओर उन्मुख करता है। ये सभी संस्कार मनुष्य को जीवन की पवित्रता, महान् उपयोगिता और गरिमा का पाठ पढ़ाते रहते हैं। आश्रमों की व्यवस्था भी मनुष्य के जीवन की विविध अवस्थाओं के बदलते परिवेश के साथ समायोजन के लिए और उत्तरोत्तर लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करती है। मनुष्य की शक्तियाँ परिवर्तनशील हैं और उसके अनुसार दायित्व और कर्त्तव्य भी परिवर्त्तित होने चाहिए। हिन्दू-धर्म में आश्रम-व्यवस्था इसी व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति है और इसके साथ धर्म के महत्तर उद्देश्य की दिशा में एक प्रशस्त पथ तो है ही।

हिन्दू धर्म का मनुष्य के जीवन के साथ जो स्पष्ट तादात्म्य है उसने पाश्चात्य विद्वानों और धर्म के चिन्तकों को भी प्रभावित किया है। यथा प्रो० माक्स म्यूल्लेर ने भारतीय धर्म की इस विशेषता को ध्यान में रखते हुए अपने विचार इन शब्दों में व्यक्त किये हैं—

'प्राचीन भारतवासियों के लिए सबसे पहले धर्म अनेक विषयों के बीच एक रुचि का विषय नहीं था, वह सबका आत्मार्पण करने वाली रुचि था। इसके अन्तर्गत न केवल पूजा और प्रार्थना आती थी, अपितु वह सब भी आता था जिसे हम दर्शन, नैतिकता, और कानून और शासन कहते हैं—सभी धर्म से व्याप्त थे। उनका सम्पूर्ण जीवन उनके लिए एक धर्म था और दूसरी चीजें मानों इस जीवन की भौतिक आवश्यकताओं के लिए निर्मित मात्र थीं।' —ह्वाट कैन इण्डिया टीच अस, पृ० १०७।

धर्म की रक्षा करने से ही मनुष्य के भौतिक एवं पारलौकिक जीवन की रक्षा होती है। धर्महीन जीवन अस्तव्यस्त, उच्छृङ्खल तथा उद्देश्यहीन होता है। धर्म लौकिक जीवन की समृद्धि एवं कल्याण के साथ-साथ परलोक की मंगल कामना भी पूरी करता है। परलोक की यह स्पृहा कल्पना की तरंग में बहते हुए कवि का स्वप्न नहीं है,

अपितु वास्तविक जीवन की यथार्थ अनुभूति है। इसी पारलौकिक स्पृहा को कवि वर्डस वर्थ ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

> "Those obstinate questionings
> Of sense and outward things
> Falling form us, vanishings,
> Blank misgivings of a creature
> Moving about in worlds not realised."

यह आध्यात्मिक जागरण या आस्था आज के जगत की प्राथमिक आवश्यकता बन गयी है "जगत् का और मानव इतिहास का एकमात्र वास्तविक एवं गम्भीर चिन्तन का विषय है आस्था और अनास्था का संघर्ष। दूसरे सभी विषय इसके अधीन ही हैं।" इस आस्था के अभाव में थोड़ी देर के लिए वैभव की चकाचौंध और झूठी गरिमा प्राप्त हो सकती है लेकिन वह शीघ्र ही समय के प्रवाह में विलीन हो जाती है। मानव आस्था के सहारे जीता है और आस्था के अभाव में मर जाता है। समाज भी आस्था से जीवित रहता है और आस्था के लोप होने पर उसका विनाश हो जाता है।

यह आस्था ही भारतीय धर्म का आध्यात्मिक पक्ष है। यह आध्यात्मिकता भारतीय चरित्र की ऐसी विशेषता है, जिसने हमारी संस्कृति को अमरता प्रदान की है। इस आध्यात्मिकता का उल्लेख प्रो० माक्स म्यूलर ने बड़े स्पष्ट शब्दों में किया है—

"यदि मुझसे एक शब्द में भारतीय चरित्र की विशेषता बताने को कहा जाय तो मैं यही कहूँगा कि वह पारलौकिक था। —भारतीय चरित्र में इस पारलौकिक मनोवृत्ति ने अन्य किसी देश की अपेक्षा अधिक प्राधान्य प्राप्त किया।"

—ह्वाट कैन इण्डिया टीच अस, पृ० १०४, १०५।

भारतीय धर्म की यह विशेषता है कि वह दर्शन के सिद्धान्तों से पृथक् नहीं है। वस्तुतः, धर्म और दर्शन एक सिक्के के दो पहलू बन गये हैं। यह सत्य है कि धर्म में आस्था और भावना प्रधान होती है जब कि दर्शन में विचार और तर्क। धर्मसूत्रों में भी धर्म और दर्शन का यह घनिष्ठ सम्बन्ध सर्वत्र बना हुआ है। दार्शनिक सिद्धान्त व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन को पूर्णतः अभिव्याप्त करता है। भारतीय धर्म का मूल आधार आचार है। इसकी नींव गहरी है और उसके कुछ मौलिक तत्त्व हैं जो इसे स्थायित्व प्रदान करते हैं। एक पाश्चात्य आलोचक ने भारतीय धर्म के इन्हीं तत्त्वों की ओर स्पष्टतः संकेत किया है—"भारत का आध्यात्मिक इतिहास उसके अत्यन्त मौलिक विचार के घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है और यह बात सोची भी नहीं जा सकती कि इस प्रकार की संस्कृति जो हजारों वर्षों से भारत में फूलती-फलती रही है, इतनी गहरी जड़ों पर आधारित होती और स्वयं को इतनी दृढ़ता से बनाये रखती, अगर इसमें महान् एवं चिरस्थायी मूल्य वाले तत्त्व निहित न होते।"

भारतीय धर्म ने मानव के महत्त्व को पहचाना है, मनुष्य की उपयोगिता को समझा है और इस कारण उसका प्रधान लक्ष्य है जीवन के प्रत्येक क्षण का अपने और दूसरों के कल्याण के लिए उपयोग। पलायनवादिता हिन्दू धर्म की आत्मा से बिलकुल अपरिचित है। हिन्दू धर्म ने मनुष्य में असीम शक्तियाँ और अनन्त सम्भावनाएँ देखी हैं। इस

कारण वह व्यक्ति के जीवन को व्यवस्थित एवं संयमित करने के लिए सदैव तत्पर है मानवजीवन की छोटी-से-छोटी समस्या पर भी यह धर्म विचार करता है, व्यवस्था देता है, मार्ग का निर्देश करता है और उसके बाद भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन नहीं करता। सब कुछ कहने पर भी यह बड़ी उदारता से कहता है—तुम अपनी आत्मा से पूछो यदि वह तुम्हें स्वकल्याण का मार्ग सुझाता है तो उसी का अनुसरण करो। उसका सन्देश है "आत्मार्थं पृथ्वीं त्यजेत्।" आत्मा का अनादर कहीं भी अभीष्ट नहीं है और इसीलिए धर्मसूत्रों में आत्मरक्षा और आत्मसम्मान के लिए बार-बार उद्घोषित किया गया है। हिन्दूधर्म धर्म का स्रोत वेद और स्मृति के अतिरिक्त "स्वस्य च प्रियमात्मनः" अथवा मनु के शब्दों में "आत्मनस्तुष्टिरेव च" भी मानता है।

जीवन के प्रत्येक पक्ष तथा प्रत्येक समस्या पर जिस प्रकार हिन्दू धर्म में विचार किया गया है वह विदेशी चिन्तकों को भी आश्चर्य में डाल देता है। माक्समूलर ने भारतीय संस्कृति की इन विशेषताओं के विषय में लिखा है—

"If I were asked under what sky the human mind has fully developed some of its choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life, and has found solutions of some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant—I should point to India."

—What Can India Teach us ? p. 6

(यदि मुझसे यह पूछा जाये कि किस देश में मानव मस्तिष्क ने अपने श्रेष्ठ उपहारों का पूर्ण विकास किया है, जीवन की जटिलतम समस्याओं पर गम्भीरता से विचार किया है और प्लेटो तथा काण्ट के दर्शन का अध्ययन करने वालों के भी चिन्तन को आकृष्ट करने वाली कतिपय समस्याओं के समाधान ढूँढे हैं, तो मैं भारत की ओर संकेत करूँगा।)

भारतीय धर्म का मूल आधार आचार है। धर्मसूत्रों में आचार को ही प्रधानता दी गयी है। हिन्दू समाज का निर्माण आचार के आधार पर ही हुआ है। समाज तथा व्यक्ति की समुन्नति आचार की रक्षा से ही सम्भव है और भारतीय संस्कृति के इतिहास में जब तक आचार को प्राधान्य मिलता रहा, तब तक धर्म अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल बना रहा और समाज में सहिष्णुता, दया, दान, सद्भावना, प्रेम आदि महान् मानवीय गुण मनुष्य को शान्ति और लोककल्याण की पवित्र भावनाओं से प्रेरित करते रहे। जैसे-जैसे आचार की उपेक्षा होती गयी वैसे-वैसे अशान्ति हिंसा और अकल्याण अपना प्रभाव पसारते गये। हमारे सांस्कृतिक इतिहास के उत्थान और पतन की यही संक्षिप्त कहानी है। धर्म का व्यावहारिक पक्ष होने के कारण ही आचाररहित व्यक्ति इस लोक तथा परलोक में विनाश का ही भागी होता है। वसिष्ठधर्मसूत्र के शब्दों में—

"आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः।
हीनाचारपरीतात्मा प्रेत्य चेह च नश्यति ॥"—वसिष्ठधर्मसूत्र ६।१

वेद या शास्त्र में पारंगत व्यक्ति भी यदि आचार से भ्रष्ट है तो उसका सम्पूर्ण धर्मज्ञान उसे कोई लाभ नहीं पहुँचा सकता, जैसे अन्धे के हृदय में उसकी सुन्दर पत्नी भी सौन्दर्यानुभूति का कोई सुख नहीं उत्पन्न करती—

"आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य वेदाः षडङ्गास्त्वखिलाः सयज्ञाः।
कां प्रीतिमुत्पादयितुं समर्था अन्धस्य दारा इव दर्शनीयाः॥"

—वसिष्ठधर्मसूत्र, ६.४

धर्मशास्त्रकारों ने सर्वत्र आचार को व्यक्ति के सम्मान, दीर्घ जीवन और सुख का कारण माना है—

"आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्धनः।
आचाराद् वर्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम्॥"

सभी धर्मसूत्रों ने धर्म के स्रोतों के अन्तर्गत शिष्ट लोगों के आचार को भी गिनाया है जैसे—"वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः"। ज्ञान का अपने आप में कोई महत्त्व नहीं। ज्ञान का महत्त्व आचार में परिणत करने पर ही होता है। धर्मसूत्रकारों ने और भारतीय दार्शनिकों ने चिन्तन में समय नहीं गँवाया है, अपितु जीवन को दर्शन के अनुसार ढालने का प्रयत्न किया है। भारतीय संस्कृति में दर्शन और आचार का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध ऐसा ही है जैसे "विज्ञान और प्रयोग का ज्ञान और योग का।" धर्म, दर्शन और नीति एक दूसरे पर निर्भर हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। भारतीय धर्म की इसी विशेषता की ओर जॉन केअर्ड ने अपने ग्रन्थ An Introduction to Philosophy of Religion में संकेत किया है।

"Indian Philosophers and thinkers have declared that the philosophy and ethics both are interdependent. There can be no intellectual growth without a morally elevated life. To be a good philosopher a man should be religious, moral and of good conduct."

धर्म अपने सर्वोत्तम रूप में व्यवहार पर अधिक बल देता है धर्म की व्याख्या या परिभाषा साधन मात्र है, साध्य नहीं।

धर्म का उपदेशमात्र पर्याप्त नहीं होता उसका यथार्थ रूप में आचरण महत्त्वपूर्ण है। डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में—

"Religions, at their best, insist on behaviour more than on belief. Orthodoxy is not confined to the defining of faith. It includes the living of it. Definition is the means and not the end. A vehicle is not more important than the good to which it is to take us. We must live religion in truth and deed and not merely profess it in words."

—(Recovery of Faith. p. 26)

भारतीय धर्म या दर्शन में नैतिक भावनाओं का केवल प्रतिपादन ही नहीं किया गया है, अपितु उसे वास्तविक जीवन की कसौटी पर कसा गया है। नैतिक विचारों को अभिव्यक्त करते समय तथा उनका विधान करते समय धर्मशास्त्रकार को यह पूर्ण ध्यान है कि मनुष्य में स्वाभाविक दुर्बलता होती है। वह गल्तियाँ करता है। धर्मशास्त्रकार मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता तथा पतनोन्मुख प्रवृत्तियों को नियन्त्रित

कर कल्याण एवं श्रेयम् के मार्ग की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है। मनुष्य के स्वाभाविक प्रवृत्तियों की ओर मनु ने स्पष्ट रूप से संकेत किया है—

"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥"

गौतम ने भी "दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च महताम्।" (१-१-३) कह कर मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता का ही संकेत किया है। महान् पुरुषों ने भी धर्मविरोधी आचरण किये हैं, इसी कारण हिन्दूधर्म में यह भी स्पष्ट कह दिया गया है कि जो भी प्राचीन है वह सभी उत्तम नहीं समझ लेना चाहिए। प्रत्येक नया काव्य भी प्रशंसनीय नहीं हो जाता। बुद्धिमान् व्यक्ति परखकर ही उत्तम वस्तु को ग्रहण करते हैं, किन्तु मूर्ख व्यक्ति दूसरे के कहने के अनुसार ही चलता है—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः॥"

वेद और पुराणों के प्राचीन आख्यानों में तो देवताओं को भी मनुष्य के समान बुराइयों और दुष्कर्मों में लिप्त दिखाया गया है और धर्मसूत्र भी स्पष्ट रूप से कहता है कि महान् व्यक्तियों या देवों के सभी कार्य अनुकरणीय नहीं होते। प्राचीन महापुरुषों में आत्मतेज तथा पुण्य था, इस कारण वे धर्म के विपरीत आचरण करके भी पाप के भागी नहीं हुए, किन्तु मनुष्य की शक्ति सीमित होती है, अतः वह धर्म के विरुद्ध आचरण कर सुख नहीं प्राप्त कर सकता। धर्मशास्त्र की दृष्टि में आचार का इतना अधिक महत्त्व है कि आचारहीन पिता के परित्याग का भी आदेश दिया गया है—

"त्यजेत्पितरं राजघातकं शूद्रयाजकं शूद्रार्थयाजकं वेदविप्लावकं भ्रूणहनं यश्चान्त्यावसायिभिः संवसेदन्त्यावसायिन्यां वा।"—गौतमधर्मसूत्र ३,२,१, पृ० २०७।

आचारहीन व्यक्ति के लिए धर्मसूत्र में सामाजिक अपमान का विधान किया गया है। व्यक्ति अपने कर्मों के कारण पतित होता है और पतित व्यक्ति को समाज से बहिष्कृत करने का विधान है। धर्मसूत्र पातक कर्मों से घृणा करता है, पातकी से नहीं, पाप से घृणा करता है पापयुक्त से नहीं। इसी कारण पातक कर्मों से पतित व्यक्ति के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है, किन्तु धर्मसूत्र की दृष्टि में जीवन इस लोक तक ही सीमित नहीं है, परलोक में भी या दूसरे जन्म में भी जीवन का क्रम चलता रहता है। इस कारण घोर पातक कर्मों के प्रायश्चित्तस्वरूप शरीर का अन्त कर देने की भी व्यवस्था की गयी है। मनुष्य दूसरे जन्म में पापमुक्त होकर जन्म ग्रहण करता है। पाप और प्रायश्चित्त की धारणा के पीछे आचार के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। धर्मसूत्र मे यह माना गया है कि मनुष्य बुरे कर्मों के पाप से सन जाता है—"अथ खल्वयं पुरुषो याप्येन कर्मणा लिप्यते" (३,१,२) और मनुष्य के कर्म स्थायी फल उत्पन्न करते हैं। पाप कर्म के साधन शरीर और मन है। इन दोनों की शुद्धि के लिए ही धर्मसूत्रों में प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गयी है। प्रायश्चित्त मन में पश्चात्ताप उत्पन्न

कर धर्म के मार्ग पर प्रवृत्त होने की प्रेरणा देते हैं और शारीरिक यातना भी इसी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि को तैयार करती है। तप, उपवास, जप और होम धर्म में पुनः आस्था उत्पन्न करने के लिए विहित किये गये हैं। धर्मसूत्रों से एक बात स्पष्ट है, वह यह कि सभी प्रकार के प्रायश्चित्त का लक्ष्य परलोक भी है। धर्मसूत्र लोक के साथ-साथ परलोक से भी अधिक भीत है। यह परलोकभीरुता मनुष्य के आचरण को सही दिशा की ओर प्रेरित करने में आज तक सक्षम बनी हुई है।

कर्म का सिद्धान्त वस्तुतः आचार को गौरव प्रदान करता है। सदाचार से इस लोक में प्रतिष्ठा एवं मृत्यु के बाद भी उत्तम लोक की प्राप्ति होने की घोषणा धर्मसूत्र में बार-बार की गयी है। इसके विपरीत आचारहीन व्यक्ति अपने कर्मफल के कारण यहाँ और परलोक में भी विनष्ट होता है। प्रायश्चित्तों का विधान करते समय धर्मसूत्रों ने स्पष्ट रूप से कर्मफल के ऊपर विचार किया है। कर्मसिद्धान्त मनुष्य को सदैव उत्तम कर्म की प्रेरणा देता है। जीवन के अन्तिम दिनों में भी मनुष्य उत्तम कर्मों का आचरण कर दुष्कर्मों के बुरे परिणामों से बच सकता है और धर्मसूत्र भी प्रायश्चित्तों का विधान कर सदाचार की निरन्तर प्रेरणा देते रहते हैं। कर्म के इस सिद्धान्त की विशेषता का उल्लेख डा० राधाकृष्णन् ने इन शब्दों में किया है—

"The law of Karma encourages the sinner that it is never too late to mend. It does not shut the gates of hope against despair and suffering, guilt and peril." —The Hindu View of Life, p. 76.

बौधायनधर्मसूत्र

बौधायनधर्मसूत्र का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद से है। जिस प्रकार आपस्तम्ब शाखा के सम्पूर्ण कल्प-साहित्य उपलब्ध है, उसी प्रकार बौधायन के भी सभी प्रकार के सूत्र होने के संकेत मिलते हैं। आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी शाखाओं के समान बौधायन का सम्पूर्ण साहित्य इस समय सुरक्षित नहीं है। डॉ० बर्नेल ने बौधायन के सूत्रों का संकलन किया है। उनके अनुसार श्रौतसूत्र १९ प्रश्नों में, कर्मान्तसूत्र २० अध्यायों में, द्वैधसूत्र ४ प्रश्नों में, गृह्यसूत्र ४ प्रश्नों में, धर्मसूत्र ४ प्रश्नों में तथा शुल्वसूत्र ३ अध्यायों में है। गृह्यसूत्र के पश्चिम भारतीय संस्करण में ४ के स्थान पर ५ प्रश्न मिलते हैं। बौधायन के श्रौत, कर्मान्त और द्वैधसूत्रों पर भवस्वामी की 'कल्पविवरण' नाम की व्याख्या है। बौधायन के ६ प्रकार के सूत्रों में पारस्परिक क्रम का निर्धारण करना कठिन है। सामान्यतः डॉ० बर्नेल द्वारा प्रस्तुत क्रम ही प्रामाणिक माना जाता है। आपस्तम्ब के समान बौधायन के कल्पसूत्रों में भी धर्मसूत्रों का स्थान गृह्यसूत्र के बाद माना जा सकता है। धर्मसूत्र मूलतः कितने प्रश्नों में था इस विषय में विवाद है जिस पर आगे विस्तृत विचार किया जायगा।

बौधायन धर्मसूत्र के रचयिता के विषय में यह उल्लेखनीय है कि स्वयं इस धर्मसूत्र में ही बौधायन के नाम का कई स्थानों पर उल्लेख है और २,५,२७ में ऋषितर्पण के सन्दर्भ में कण्व बौधायन का नाम भी आया है। इससे यह स्पष्ट है कि बौधायन धर्मसूत्र की रचना के पहले कण्व बोधायन नाम के आचार्य हो चुके थे, जो पर्याप्त

प्राचीन माने जाते थे। धर्मसूत्र में ही कई बार बौधायन का उल्लेख होने से भी यह स्पष्ट है इस धर्मसूत्र का रचयिता कण्व बौधायन का वंशज था। गोविन्दस्वामी ने भी बौधायन को काण्वायन कहा है।

बौधायन के निवासस्थान का निर्धारण करना भी कठिन है। बौधायन शाखा के अनुयायी दक्षिण भारत में मिलते हैं। किन्तु धर्मसूत्र में जो भौगोलिक विवरण मिलते हैं उनके आधार पर बौधायन दक्षिण भारतीय थे यह कहना कठिन है। १. १. २ में दक्षिण और उत्तर के आचारों की भिन्नता का उल्लेख है और दक्षिण भारत के देशों को गिनाया गया है, किन्तु उनसे बौधायन के संबद्ध न होने का ही संकेत अधिक मिलता है। बौ. १. २. ४ में "अथोत्तरतः ऊर्णाविक्रयः सीधुपानमुभयतोदद्भिर्व्यवहारः आयुधीयकं समुद्रसंयानमिति" में समुद्रयात्रा को उत्तरभारतीय विशिष्ट आचारों के अन्तर्गत बताया गया है और २. २. २ में 'समुद्रसंयान' को पतनीय कर्मों में प्रथम बताया गया है। इससे बौधायन का दक्षिण भारतीय होना ही सिद्ध होता है। किन्तु जैसा कि ब्यूह्लेर ने लिखा है, बौधायनीय शाखा के दक्षिण भारतीय होने का सर्वाधिक निर्णायक प्रमाण यही है कि आपस्तम्बीय शाखा के समान बौधायनीय शाखा भी दक्षिण भारत में मिलती है।

"But the most conclusive argument in favour of the southern origin of Baudhayaniyas is that they, like the Apastambiyas and all other adherents of the Taittiriya schools are entirely confined to the Dekhan, and are not found among the indigenous subdivisions of the "Brahmanas in Central and Northern India." (p. 42)

दक्षिण भारत के अनेक राजाओं ने बौधायनीय शाखा के ब्राह्मणों के नाम कई दानपत्र लिखे हैं। इससे भी बौधायनीयों का दक्षिण भारतीय होना सिद्ध होता है। बौधायन धर्मसूत्र की अधिकांश पाण्डुलिपियाँ दक्षिण भारत में ही उपलब्ध होती हैं यह भी बौधायनीय शाखा के दक्षिण भारतीय होने का प्रमाण है। परम्परया माधवाचार्य तथा सायण को बौधायनीय मानते हैं। इससे भी इस शाखा का दक्षिणी होना सिद्ध है।

"Besides, the interesting tradition which asserts that Madhava-Sayana, the great commentator of the Vedas, was a Baudhayaniya is another point which may be brought forward as evidence for the location of the school in southern India.

बौधायन ने समुद्र यात्रा तथा समुद्र के व्यापार पर लगने वाले कर का उल्लेख किया है। इससे उनसे समुद्रतट के प्रदेश और विशेषतः आन्ध्र का निवासी कहा जाता है। उन्होंने तैत्तिरीय आरण्यक के आन्ध्र पाठ का ही उपयोग किया है।

बौधायनधर्मसूत्र में प्रक्षिप्त अंश

बौधायनधर्मसूत्र में विषयवस्तु के विभाजन की जो अस्तव्यस्तता है वह स्पष्टतः इस तथ्य का संकेत करती है कि इसमें बाद के समय में भी समय-समय पर प्रक्षेप

हुए हैं। यथा, चतुर्थ प्रश्न अपनी शैली के कारण बाद में जोड़ा गया माना जाता है। प्रथम चार अध्यायों में प्रायश्चित्त का विवेचन किया गया है, शेष अध्यायों मे सिद्धि-प्राप्ति के उपायों का वर्णन है, जिसके अन्तर्गत गणहोम का वर्णन है। ब्यूह्लर के शब्दों में प्रथम ४ अध्याय अनावश्यक और पिष्टपेषण मात्र है—

"The first part is perfectly superfluous, as the subject of penances has already been discussed in the first sections of the second Prasna, and again in chapters 4–10 of the third Prasna.

सिद्धिविषयक अध्याय भी धर्मसूत्रों के विषय क्षेत्र से परे है। इसकी शैली स्पष्टतः पूर्ववर्ती सम्पूर्ण अंशों से भिन्न है। कण्डिका या खण्ड के स्थान पर अध्यायों में विभाजन भी चतुर्थ प्रश्न के क्षेपक होने का प्रमाण है। चतुर्थ प्रश्न की शैली के विषय में ब्यूह्लेर ने उचित ही कहा है—

"The epic sloka nearly throughout replaces the aphoristic prose, and the common slip-shod Sanskrit of the Puranas appears instead of the archaic forms."

तृतीय और चतुर्थ प्रश्नों में यह समानता है कि प्रश्न का विभाजन केवल अध्याय में है, खण्ड या कण्डिका में नहीं। किन्तु शैली की दृष्टि से तृतीय प्रश्न पहले के दो प्रश्नों के समान है। वस्तुतः तृतीय प्रश्न भी धर्मसूत्र के किसी महत्त्वपूर्ण विषय का विवेचन नहीं करता, अपितु पूर्ववर्ती प्रश्नों में विवेचित विषयों पर ही कुछ अतिरिक्त नियम देता है। इस प्रश्न में दूसरे धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों से लिये गये उद्धरणों की मात्रा भी अधिक है। इसका १० वां अध्याय गौतमधर्मसूत्र से ही उद्धृत है और छठा अध्याय विष्णु-धर्मसूत्र के ४८ वें अध्याय के समकक्ष है। ऐसी स्थिति में कतिपय विद्वानों ने बौधायन धर्मसूत्र को मूलतः दो प्रश्नों का माना है। ब्यूह्लेर के शब्दों में—

"These Circumstances justify, it seems to me, the assumption that Baudhayana's original Dharma-sutra consisted, like Apastamba's of two Prasnas only, and that it received through followers of his school, two separate additions, first in very ancient times Prasna III, where the style of the master is strictly followed, and later Prasna IV where the language and phraseology of the metrical Smritis are adopted."

बौधायन-धर्मसूत्र की शैली

बौधायनधर्मसूत्र की शैली अन्य धर्मसूत्रों की अपेक्षा सरल है। इसमें अक्षरों को बचाने का आग्रह नहीं दिखायी पड़ता। कई स्थलों पर एक सूत्र में बात को न कह कर बौधायन ने दो सूत्रों में उसी अभिप्राय को स्पष्ट किया है। १. ३. १९. "ते ब्राह्मणा-द्यास्स्वकर्मस्थाः" सूत्र की टीका में गोविन्दस्वामी ने भी इस तथ्य की ओर निर्देश किया है कि बौधायनलाघव प्रिय नहीं हैं "सत्यम्, अयं ह्याचार्यो नातीव ग्रन्थलाघवप्रियो भवति।"

बौधायनधर्मसूत्र में सभी प्रकार की शैली का प्रयोग है—लम्बे गद्यात्मक अंश, पद्यात्मक अंश, ब्राह्मणग्रन्थों की शैली और छोटे चुस्त सूत्र भी मिलते हैं। "अथाऽप्युदाहरन्ति" कहकर ही उद्धरण दिये गये हैं और उद्धरणों के अन्त में 'इति' का प्रयोग है 'इति श्रुतिः' द्वारा वैदिक अंशों का निर्देश किया गया है। वैदिक अंशों को 'इति विज्ञायते' द्वारा भी व्यक्त किया गया है-—

'साधवस्त्रिपुरुषमार्षाद् दश दैवाद् दश प्राजापत्याद् दश पूर्वान् दशाऽपरानात्मानं च ब्राह्मीपुत्र इति विज्ञायते।' १. २१. २.

"पर्वसु हि रक्षः पिशाचाऽव्यभिचारवन्तो भवन्तीति विज्ञायते।" १. २१. २१.

प्रथम तथा द्वितीय प्रश्न का विभाजन दो प्रकार से किया गया है—अध्यायों और खण्डों में। प्रथम प्रश्न में ११ अध्याय २१ खण्ड हैं द्वितीयप्रश्न में १० अध्याय १८ खण्ड हैं। तृतीय प्रश्न में १० अध्याय और १० ही खण्ड हैं और इसी प्रकार चतुर्थ प्रश्न में ८ अध्याय और ८ ही खण्ड हैं। इस प्रकार अन्तिम दो प्रश्नों में अध्याय और खण्ड का विभाजन एक ही है। सबसे अधिक अस्तव्यस्तता विषयवस्तु के विभाजन के संबन्ध में है। एक ही विषय का भिन्न-भिन्न अध्यायों में विवेचन है। एक ही स्थल पर सभी नियमों को समाप्त नहीं कर दिया गया है। उदाहरणार्थ, उत्तराधिकार, प्रायश्चित्त, शुद्धि, अनध्याय और पुत्रों के भेद भिन्न भिन्न स्थलों पर विकीर्ण हैं। इसी संबन्ध में व्यूह्लेर ने उचित ही कहा है—

"In other cases we find a certain awkwardness in the distribution of the subject matter, which probably finds its explantion through the fact that Baudhayana first attempted to bring the teaching of the Taittiriyas on the Dharma into a systematic form."

यही नहीं, ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ एक विषय के बीच दूसरे विषय से सम्बद्ध नियमों द्वारा व्यवधान आ जाता है। कुछ सूत्र ऐसे भी हैं जिनका प्रमुख विवेच्य विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है।

चौथे प्रश्न की एक प्रमुख विशेषता है, पद्यों का बहुत अधिक प्रयोग। शैली की दृष्टि से यह प्रश्न अन्य तीन प्रश्नों से भिन्न है। तीसरे प्रश्न में विष्णुधर्मसूत्र से बहुत कुछ गृहीत है। बौधायनधर्मसूत्र की भाषा प्राचीनता की ओर संकेत करती है।

बौधायन-धर्मसूत्र का वर्ण्यविषय

बौधायन-धर्मसूत्र चार प्रश्नों में है। अन्तिम प्रश्न को परिशिष्ट माना गया है। प्रश्न का विभाजन अध्यायों और खण्डों में किया गया है। प्रथम प्रश्न में ११ अध्याय और २१ खण्ड हैं। द्वितीय प्रश्न में १० अध्याय और १८ खण्ड हैं। तृतीय प्रश्न में १० अध्याय और १० खण्ड हैं। इस प्रश्न मे अध्याय और खण्ड का विभाजन एक-सा ही है। चतुर्थ प्रश्न आठ खण्डों में है। इसमें विषय का विवेचन खण्ड या अध्याय के व्यवच्छेद से बाधित नहीं होता, अपितु एक ही विवेचन कई अध्यायों में चलता रहता है। कई स्थलों पर विषय का विवेचन क्रमबद्ध नहीं दिखायी पड़ता। ऐसे अनेक स्थल हैं

जहाँ किसी एक विषय पर कुछ नियम देने के बाद भिन्न विषय का विवेचन करने वाले अध्यायों द्वारा व्यवधान हो गया है और फिर उसी विषय को दुबारा ग्रहण किया गया है। जैसे शुद्धि के नियम प्रथम प्रश्न के पञ्चम अध्याय में विवेचित है और फिर मांसभक्षण के विषय में नियम दिये गये हैं और उसके बाद शुद्धिविषयक नियम पुनः षष्ठ अध्याय में विहित हैं।

बौधायनधर्मसूत्र मे प्रतिपादित विषयों को संक्षेप में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

प्रथम प्रश्न—अध्याय १-धर्म, आर्यावर्त, विभिन्न प्रदेशों के आचार, ब्रह्मचर्य तथा उपनयन, अभिवादन के नियम। अध्याय २-शिष्य की योग्यता तथा ब्रह्मचर्य का महत्त्व। ३-स्नातक के कर्त्तव्य। ४-कमण्डलु का महत्त्व। ५-आचमन तथा वस्त्र एवं पात्रों की शुद्धि, शुद्ध, वस्तुएँ, ब्याज का नियम, आशौच एवं अस्पृश्यता, भक्ष्याभक्ष्य। ६-भूमि एवं पात्र की शुद्धि। ७-यज्ञ के नियम। ८ एवं ९ पत्नी, विवाह, पुत्र के प्रकार। १०-कर का अंश, वर्णधर्म, वर्णानुसार मनुष्य वध का दण्ड, साक्षी की योग्यता। ११-विवाह के भेद और अनध्याय।

द्वितीय प्रश्न—अध्याय १-पातक कर्मों के प्रायश्चित्त, पतनीय कर्म कृच्छ्रव्रत के भेद। २-सम्पतिविभाजन तथा पुत्र के भेद, स्त्री की परतन्त्रता एवं स्त्रीधर्म। ३-स्नान, दान एवं भोजन की विधि, निवासयोग्य स्थान एवं पूज्य व्यक्ति। ४-सन्ध्योपासन, गायत्री एवं प्राणायाम। ५-शारीरिक शुद्धि एवं तर्पण। ६-गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यासी के कर्त्तव्य। ७-आत्मज्ञान। ८-श्राद्ध एवं दान की विधि। ९-सन्तानोत्पत्ति का महत्त्व। १०-संन्यास तथा आत्मयज्ञ।

तृतीय प्रश्न—अध्याय १-परिव्राजक के भेद। २-छः प्रकार की जीवनवृत्तियाँ, ३-वानप्रस्थ के भेद। ४-व्रतभङ्ग का प्रायश्चित्त। ५-९-अघमर्षण, यावकव्रत, कूश्माण्ड-होम, चान्द्रायण, अनशनत्पारायण। १०-प्रायश्चित्त के नियम।

चतुर्थ प्रश्न—अध्याय १-प्रायश्चित्त, कन्यादान का काल, ऋतुगमन का महत्त्व, प्राणायाम। २-भ्रूणहत्या का प्रायश्चित्त, अवकीर्णी का प्रायश्चित्त। ३-रहस्यप्रायश्चित्त। ४-शास्त्रसम्प्रदाय। ५-जप तथा विविध व्रत। ६-प्रायश्चित्त के नियम। ७-धर्मपालन की प्रशंसा। ८-गणहोम।

इस संक्षिप्त विषयसूची से यह स्पष्ट हो जाता है कि बौधायनधर्मसूत्र में किसी एक अध्याय में एक ही प्रकार के विषय का विवेचन न होकर भिन्न-भिन्न प्रकार के विषयों का विवेचन हुआ है जो विषय आपस मे पूर्णतः असम्बद्ध हैं अथवा यदि सम्बद्ध हैं भी तो बहुत शिथिल। इस प्रकार किसी एक विशिष्ट विषय से संबद्ध नियम इस धर्मसूत्र के आदि से अन्त तक बिखरे हुए हैं। उदाहणार्थ—विवाह, पुत्र एवं पत्नीविषयक नियम प्रथम प्रश्न के अध्याय ८ एवं ९ में, द्वितीय प्रश्न के अध्याय २ और ९ मे तथा चतुर्थ प्रश्न के प्रथम अध्याय मे विवेचित है। बौधायनधर्मसूत्र की अपेक्षा गौतमधर्मसूत्र एवम् आपस्तम्बधर्मसूत्र में वर्णनविषयक क्रमबद्धता अधिक दिखायी पड़ती है।

बौधायनधर्मसूत्र का रचना-काल

बौधायनधर्मसूत्र निश्चित रूप से गौतमधर्मसूत्र के बाद की रचना है। गौतम के नाम का दो बार उल्लेख तो हुआ ही है उनके धर्मसूत्र के कई सूत्रों को भी बौधायन ने अपने धर्मसूत्र में ग्रहण कर लिया है। आपस्तम्ब और बौधायनधर्मसूत्रों में भी कई स्थानों पर समानता दिखायी पड़ती है। किन्तु यह निर्णय करना कठिन है कि किस धर्मसूत्र ने किससे उद्धरण लिये हैं, क्योंकि यह भी सम्भव है कि बौधायन और आपस्तम्ब ने एक ही स्रोत से इन सूत्रों को ग्रहण किया हो। बौधायन ने कतिपय सूत्रों में जो आपस्तम्ब में भी मिलते हैं 'इति' लगाकर स्पष्टतः उनके उद्धृत होने का संकेत किया है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि बौधायन ने ये उद्धरण आपस्तम्ब से ही लिये हों। ब्यूह्लेर ने इन समानताओं के आधार पर बौधायन को आपस्तम्ब से पूर्ववर्ती माना है। उनका तर्क यह है कि आपस्तम्ब द्वारा प्रतिपादित मत बौधायन के मतों की अपेक्षा बाद के समय के हैं। आपस्तम्ब ने बौधायन के मतों की आलोचना भी की है। दूसरी ओर आपस्तम्ब को बौधायन से पूर्ववर्ती मानने के पक्ष में भी विद्वानों ने कुछ तर्क प्रस्तुत किये हैं, यथा भाषा और शैली की दृष्टि से आपस्तम्बधर्मसूत्र अधिक अव्यवस्थित है। इसमें शब्दों का प्रयोग भी पुराने अर्थों में किया गया है। महामहोपाध्याय काणे ने इसी तथ्य की ओर निम्नलिखित पंक्तियों में संकेत किया है "यह बात कही जा सकती है कि बौधायन, वसिष्ठ एवं मनु ने किसी एक ही ग्रन्थ से ये बातें ली हों या कालान्तर में इन ग्रन्थों में ये बातें क्षेपक रूप में आ गयी हों। किन्तु क्षेपक छोटा हुआ करता है और यहाँ जो बातें या उद्धरण सम्मिलित हैं, वे बहुत लम्बे लम्बे हैं।" सामान्यतः बौधायनधर्मसूत्र का समय ई० पू० २००-५०० के बीच माना गया है। ब्यूह्लेर ने बौधायनधर्मसूत्र को आपस्तम्ब की अपेक्षा लगभग २०० वर्ष पहले का माना है। यह भी सम्भव है कि ये दोनों रचनाएँ समकालीन हों।

व्याख्याकार गोविन्दस्वामी

बौधायनधर्मसूत्र के व्याख्याकार गोविन्दस्वामी हैं। गोविन्दस्वामी की व्याख्याओं में अनेक स्मृतियों के उद्धरण आये हैं। इससे उनकी विद्वत्ता का स्पष्ट आभास मिलता है। उन्होंने शातातप, शङ्खलिखित महाभाष्य गृत्समद, योगसूत्र, शाबरभाष्य तथा भगवद्गीता से भी उद्धरण दिये हैं। उपनिषदों के अतिरिक्त श्रौतसूत्रों के भी उद्धरण इनके भाष्य में आये हैं। उन्हें सम्पूर्ण धर्मशास्त्र-साहित्य का ज्ञान है। अपनी व्याख्या में उन्होंने सूत्रों में उद्धृत मन्त्रों के सन्दर्भ का भी निर्देश दिया है। प्रमुख विषयों पर दूसरे धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों पर के जो उद्धरण उन्होंने दिये हैं, उससे धर्मशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से उनकी व्याख्या का महत्त्व और बढ़ गया है।

बौधायनधर्मसूत्र के संस्करण

सर्वप्रथम १८८४ ई० में डॉ० हूल्स ने लाइपत्सिग से बौधायनधर्मसूत्र प्रकाशित किया। मैसूर से इसका एक संस्करण १९०७ ई० में प्रकाशित हुआ। इस संस्करण में गोविन्दस्वामी की 'विवरण' नाम की टीका का समावेश है। इसका अँग्रेजी अनुवाद ब्यूह्लेर ने किया है, जो सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट सीरिज भाग १४ में प्रकाशित है।

वाराणसी से १९५९ में चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस ने भी गोविन्दस्वामी की टीका के साथ इसे प्रकाशित किया है।

बौधायनधर्मसूत्र तथा गौतमधर्मसूत्र

बौधायनधर्मसूत्र गौतमधर्मसूत्र के बाद के समय की रचना है। इसका सबल प्रमाण यही है कि बौधयनधर्मसूत्र में गौतम के मत का उल्लेख है। उदाहरणार्थ दक्षिण तथा उत्तर के विशिष्ट आचारों का उल्लेख कर बौधायनधर्मसूत्र में यह मत प्रतिपादित किया गया है कि जिस प्रदेश में जो आचार प्रचलित हैं वे प्रामाणिक हैं, किन्तु इसके विरोध में गौतम का मत उद्धृत किया गया है—

'मिथ्यैतदिति गौतमः' १.२.७.

ब्राह्मण के लिए क्षत्रिय वर्ण का कर्म उचित है या नहीं इस सम्बन्ध में भी गौतम का मत उद्धृत किया गया है—

'नेतिगौतमोऽत्युग्रो हि क्षत्रधर्मो ब्राह्मणस्य' २. ४. १७.

बौधायन ने गौतमधर्मसूत्र के १९ वें अध्याय के अनेक सूत्रों को उधार ले लिया है। इन सूत्रों की समानता द्रष्टव्य है—

बौधायन ३. १०	गौतम ३. १
उक्तो वर्णधर्मश्चाश्रमधर्मश्च ॥ १ ॥	उक्तो वर्णधर्मश्चाऽऽश्रमधर्मश्च ॥
अथ खल्वयं पुरुषो याप्येन कर्मणा ॥२॥	अथ खल्वयं पुरुषो याप्येन कर्मणा लिप्यते··· ॥ २ ॥
तत्र प्रायश्चित्त कुर्यान्न कुर्याधिति ॥४॥	तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यान्न कुर्यादिति मीमांसन्ते ॥ ३ ॥
न हि कर्म क्षीयते इति ॥ ५ ॥	न हि कर्म क्षीयत इति ॥ ५ ॥
कुर्यात्त्वेव ॥ ६ ॥	कुर्यादित्यपरम् ॥ ६ ॥
पुनस्तोमेन यजेत पुनस्सवनमायन्तीति विज्ञायते ॥ ७ ॥	पुनः स्तोमेनेष्ट्वा पुनः सवनमायान्तीति विज्ञायते ॥ ७ ॥
सर्वं पाप्मानं तरति, तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजत इति ॥ ८ ॥	तरति सर्वं पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते ॥ ९ ॥
अग्निष्टुता वाऽभिशस्यमानो यजेतेति च ॥ ९ ॥	अग्निष्टुताभिशस्यमानं याजयेदिति च ॥
तस्य निष्क्रयणानि जपस्तपो होम उपवास दानम् ॥ १० ॥	तस्य निष्क्रयणानि जपस्तपो होम उपवासो दानम् ॥ ११ ॥
उपनिषदो वेदादयो वेदान्ताः सर्वच्छन्दस्सु संहिता मधून्यघमर्षणमथर्वशिरसो रुद्राः पुरुषसूक्तं महादिवाकीर्त्यं ज्येष्ठ साम्नामन्यतम बहिष्पवमानं कूष्माण्ड्यः पावमान्यः सावित्री चेति पावनानि ॥११॥	उपनिषदो वेदान्तः सर्वच्छन्दस्सु··· कूष्माण्डानि···चेति पावनानि ॥ १२ ॥

बौधायन ३. १०

उपसन्न्यायेन पयोव्रतता शाकभक्षता फलभक्षता मूलभक्षता प्रसृतयावको··· ॥२॥

सर्वे शिलोच्चयाः सर्वास्रवन्त्यः सरितः पुण्याह्रदास्तीर्थाण्यृषिनिकेतनानि गोष्ठक्षेत्रपरिष्कन्दा इति देशाः ॥ १६ ॥

अहिंसा सत्यमस्तैन्यं सवनेषूदकोपस्पर्शनं गुरुशुश्रुषा ब्रह्मचर्यमधश्शयनमेकवस्त्रताऽनाशक इति तपांसि ॥ १४ ॥

हिरण्यं गौर्वासोऽश्वो भूमिस्तिला घृतमन्नमिति देयानि ॥ १५ ॥

संवत्सरः षण्मासाश्चत्वारस्त्रयो द्वावेकश्चतुर्विंशत्यहो द्वादशाहष्षडहस्त्र्यहोऽहोरात्रमेकाह इति कालाः ॥ १६ ॥

एतान्यनादेशे क्रियेरन्नेनस्सु गुरुषु गुरूणि लघुषु लघूनि ॥ १६ ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति सर्वप्रायश्चित्तिः सर्वप्रायश्चित्तिः ॥ १८ ॥

गौतम ३. १

पयोव्रतता शाकभक्षता फलभक्षता प्रसृतयावको हिरण्यप्राशनं घृतप्राशनं सोमपानमिति मेध्यानि ॥ १३ ॥

सर्वे शिलोच्चयाः सर्वाः स्रवन्त्यः पुण्या ह्रदास्तीर्थान्यृषिनिवासा गोष्ठपरिस्कन्धा इति देशाः ॥ १४ ॥

ब्रह्मचर्यं सत्यवचनं सवनेषूदकोपस्पर्शनमार्द्रवस्त्रताऽधः शयिताऽनाशक इति तपांसि ॥ १५ ॥

हिरण्यं गौर्वासोश्वोभूमिस्तिला घृतमन्नमिति देयानीति ॥ १६ ॥

संवत्सरः षण्मासाश्चत्वारस्त्रयो वा द्वौ चैकश्चतुर्विंशत्यहो द्वादशाह षडहस्त्र्यहोऽहो रात्र इति कालाः ॥ १७ ॥

एतान्येवानादेशे विकल्पनेन क्रियेरन् ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति सर्वप्रायश्चित्तं सर्वप्रायश्चित्तम् ॥ २० ॥

उपर्युक्त सूत्रों की समानता से यह स्पष्ट है कि बौधायन ने गौतम के सूत्रों को प्रायः ज्यों-के-त्यों ग्रहण कर लिया है और समूचा अध्याय उद्धृत कर दिया है, केवल दो ही सूत्र छूट गये हैं और सूत्रों में एकाध शब्दों का ही अन्तर दिखायी पड़ता है।

इसके अतिरिक्त 'बौधायनधर्मसूत्र' के २. ११. १७ से २३ तक के सूत्र गौतमधर्मसूत्र १. ३. २५-३४ तक के सूत्रों से मिलते जुलते हैं —

गौतम १ ३

वैखानसो वने मूलफलाशी तपःशीलः ॥ २५ ॥

श्रावणकेनाग्निमाधाय ॥ २६ ॥

अग्राम्यभोजी ॥ २७ ॥

देवपितृमनुष्यभूतर्षिपूजकः ॥ २८ ॥

सर्वातिथिः प्रतिषिद्धवर्जम् ॥ २९ ॥

भैक्षमप्युपयुञ्जीत ॥ ३० ॥

न फलकृष्टमधितिष्ठेत् ॥ ३१ ॥

ग्रामं च न प्रविशेत् ॥ ३२ ॥

जटिलश्चीराजिनवासाः ॥ ३३ ॥

नातिसंवत्सरं भुञ्जीत ॥ ३४ ॥

बौधायन २. ११

वैखानसो वने मूलफलाशी तपःशीलः सवनेषूदमुपस्पृशञ्छ्रामणकेनाऽग्निमाधायाऽग्राम्यभोजी देवपितृभूतमनुष्यर्षिपूजकः सर्वातिथिः प्रतिषिद्धवर्जं भैक्षमप्युपयुञ्जीत न फालकृष्टमधितिष्ठेद् ग्रामं च न प्रविशेजटिलश्चीराजिनवासा नाऽतिसंवत्सरं भुञ्जीत ॥ १७ ॥

इसी प्रकार गौतम १. ३. ३५ तथा बौधायन २. ११. २९ में समानता है।

गौतम—'ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्य ।"

बौधा० 'ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम् ॥

उपर्युक्त दोनों समानताओं का उल्लेख करते हुए ब्यूह्लर ने अपने बौधायनधर्मसूत्र के अनुवाद की भूमिका में लिखा है —

"The almost literal identity of the first long passage makes it not improbable that Baudhayana borrowed in this instance also from Gautama writhout noting the source from which he drew"

किन्तु चूंकि ब्यूह्लेर का यह मत है कि मूलतः बौधायनधर्मसूत्र में दो ही प्रश्न थे अतः वे तृतीय प्रश्न के ऊपर उद्धृत १० वें अध्याय को गौतम से लिया गया नहीं मानते—

"On the other hand the argument drawn from the fact that the tenth Adhyaya of Prasna III has been taken from Gautama's Sutra loses its face since, as I have shown above, it is improbable that the third Prasna formed part of Baudhayana's original work"

बौधायनधर्मसूत्र तथा आपस्तम्बधर्मसूत्र

बौधायनधर्मसूत्र को आपस्तम्बधर्मसूत्र से पहले की रचना मानते हैं। बौधायन के अनेक सूत्र आपस्तम्ब में मिल जाते हैं।

उदाहरणार्थ—

बौधायन २. १. २	आपस्तम्ब १ २९
अथ पतितास्समवाय धर्मांश्चरेयुरितरेतरयाजका इतरेतराध्यापका मिथो विवहमानाः पुत्रान् सन्निष्पाद्य ब्रुयुर्विप्रव्रजताऽस्मत्त एवमार्यान् सम्प्रतिपत्स्यथेति । अथापि न सेन्द्रियः पतति । तदेतेन वेदितव्यमङ्गहीनोऽपि हि साङ्ग जनयतीति ॥ १० ॥	आथाभिशस्ताः समवसाय चरेयुर्धार्म्यमिति धाशिष्येतरेतरयाजका इतरेतराध्यापका मिथो विवाहमानाः ॥ ८ ॥ पुत्रान् सन्निष्पाद्य ब्रुयुर्विप्रव्रजताऽस्मत्तेवं ह्यस्मत्स्वार्यास्मन्प्रत्ययत्स्यतेति ॥ ९ ॥ अथापि न सेन्द्रियः पतति ॥ १० ॥ तदेतेन वेदितव्यमङ्गहीनोऽपि साङ्ग जनयति ॥ ११ ॥
मिथ्यैतदिति हारीतो दधिधानीसधर्माः स्त्रियस्स्युर्यो हि दधिधान्यामप्रयतं पय आतच्य मन्थति न तच्छिष्टा धर्मकृत्येषूपयोजयन्ति । एवमशुचि शुक्लं यन्निर्वर्तते न तेन सह सम्प्रयोगो विद्यते ॥ ११ ॥	मिथ्यैतदिति हारीतः ॥ १२ ॥ दधिधानीसधर्मा स्त्री भवति ॥ १३ ॥ यो हि दधिधान्वामप्रयतं पय आतच्य मन्थति न तेन धर्मकृत्यं क्रियेत. एवमशुचि शुक्लं यन्निर्वर्तते न तेन सह सम्प्रयोगो विद्यते ॥ १४ ॥
१. २. ३. ४० नाप्सु श्लघमानस्स्नायात् । ४१. दण्ड इव प्लवेत् ।	१. २. ३० नाप्सु श्लाघमानः स्नायाद्यदि स्नायाद्दण्डवत् प्लवेत् ॥

बौधायन २. १. २	आपस्तम्ब १. २९
१. २. ३. ३९ धावन्तमनुधावेद्गच्छन्तमनुगच्छेत्तिष्ठन्तमनुतिष्ठेत्।	१. ६. ८ गच्छन्तमनुगच्छेत्। ९. धावन्तमनुधावेत्।
१. १५ २० नाऽप्रोक्षितमप्रपन्नं क्लिन्नं काष्ठं समिधं वाऽभ्यादधात्।	१. १५. १२ नाऽप्रोक्षितमिन्धनमग्नावादध्यात्।
१. २१. १ यथायुक्तो विवाहस्तथायुक्ता प्रजा भवतीति विज्ञायते।	२. १२. ४ यथायुक्तो विवाहस्तथायुक्ता भवति।
१. २१. ८ स्तनयित्नुवर्षाविद्युत्संनिपाते त्र्यहमनध्यायोऽन्यत्र वर्षाकालात्।	१ ११. ३३ विद्युत्स्तनयित्नुर्वृष्टिश्चापर्तौ यत्र सन्निपतेयुस्त्र्यहमनध्यायः।
२. २. ३ चतुर्थकाल उदकाभ्यवायी त्रिभिर्वर्षैस्तदपहन्ति पापम्।	१. २७. ११ उदकाभ्यवायी त्रिभिर्वर्षैस्तदपहन्ति पापम्।
२. २. ९ तेषां तु निर्वेशो द्वादशमासान् द्वादशाऽर्धमासान् द्वादश द्वादशाहान् द्वादश षडहान् द्वादश त्र्यहान् द्वादशाहं षडहं त्र्यहमहोरात्रमेकाहमिति यथाकर्माभ्यासः।	१. २९ १७ पतनीयवृत्तिस्त्वशुचिकराणां द्वादश मासान् द्वादशार्धमासान् द्वादश द्वादशाहान् द्वादश सप्ताहान् द्वादश त्र्यहान् द्वादशं त्र्यहान् द्वादशाहे सप्ताहं त्र्यहं द्व्यहमेकाहम्। १८. इत्यशुचिकरनिर्वेषो यथा कर्माभ्यासः।
२. ३. ३४-३५ इदानीमहमीर्ष्यामि स्त्रीणां जनक नो पुरा यतो यमस्य सदने जनयितुः पुत्रमब्रुवन। रेतोधाः पुत्रं नयति परेत्य यमसादने। तस्माद्भार्यां रक्षन्ति बिभ्यन्तः पररेतसः।	२. १३. ६ इदानीमेवाहं जनकः स्त्रीणामीर्ष्यामि नो पुरा यदा यमस्य सादने जनयितुः पुत्रमब्रुवन् रेतोधाः पुत्रं नयति परेत्य यमसादने। तस्माद्भार्यां रक्षन्ति बिभ्यन्तः पररेतसः॥
२. १४. २ त्रिमधुस्त्रिणाचिकेतस्त्रिसुपर्णः पञ्चाग्निष्षडङ्गविच्छीर्षको ज्येष्ठसामिक स्स्नातक इति पङ्क्तिपावनाः।	२. १७. २२ त्रिमधुस्त्रिसुपर्णस्त्रिणाचिकेतश्चतुर्मेधः पञ्चाग्निर्ज्येष्ठसामिको वेदाध्याय्यनूचानपुत्रः पङ्क्तिपावना भवन्ति।

बौधायनधर्मसूत्र आपस्तम्ब से पूर्ववर्ती है, इसका एक प्रबल प्रमाण यह है कि आपस्तम्ब ने बौधायन के कई मतों की आलोचना की है। यद्यपि आपस्तम्ब बौधायन के नाम का उल्लेख नहीं करते, तथापि आपस्तम्ब द्वारा उपदिष्ट विचार बौधायन के विचारों की अपेक्षा अधिक अर्वाचीन और विकसित हैं। उदाहरणार्थ, पुत्र के उत्तराधिकार के विषय में बौधायन ने जो मत व्यक्त किये हैं उसकी आलोचना आपस्तम्ब ने की है। नियोग के सम्बन्ध में भी बौधायन का मत आपस्तम्ब की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। विवाह का विवेचन करते हुए बौधायन ने सभी भेदों का उल्लेख किया है, किन्तु आपस्तम्ब ने पैशाचविवाह को अत्यन्त गर्हित समझकर उसका उल्लेख नहीं किया है।

बौधायनधर्मसूत्र और आपस्तम्बधर्म की तुलना के आधार पर ब्यूह्लेर ने आपस्तम्ब को परवर्ती माना है—

'The three points which have been just discussed, viz. the identity of a number of Sutras in the works of the two authors, the fact that the Apastampa advocates on some points more refined or puritan opinions, and that he labours to controvert doctrine contained in Baudhayana's sturas, give a powerful support to the traditional statement that he is younger than that teacher."

बौधायनधर्मसूत्र तथा वसिष्ठधर्मसूत्र

बौधायनधर्मसूत्र वसिष्ठ के धर्मसूत्र से, जिसे प्रायः धर्मशास्त्र नाम से अभिहित किया जाता है, पूर्ववर्ती है। इन दोनों धर्मसूत्रों में भी ऐसे अनेक सूत्र मिल जाते हैं जिनमें स्पष्टतः समानता है।

यथा—

बौधायन

१. २१. १५ द्वयमु ह वै सुश्रवसोऽनूचानस्य रेतो ब्राह्मणस्योर्ध्वं नाभेरधस्तादन्यत स यदूर्ध्वं नाभेस्तेन हैतत् प्रजायते यद् ब्राह्मणानुपनयति यदध्यापयति यद्याजयति यत्साधु करोति सर्वाऽस्यैषा प्रजा भवति अथ यदवाचीनं नाभेस्तेन हास्यौरसी प्रजा भवति तस्माछ्रोत्रियमनूचानमप्रजोऽसीति न वदन्ति।

२. ३. ३६ अप्रमत्ता रक्षथ तन्तुमेतं मा वः क्षेत्रे परबीजानि वप्सुः। जनयितुः पुत्रो भवति साम्पराये मोघं वेत्ता कुरुते तन्तुमेतमिति।

२. १३. १८ अथाप्युदाहरन्ति अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनः। द्वात्रिंशतं गृहस्थस्याऽपरिमितं ब्रह्मचारिणः।

२ १३. ९ आहिताग्निरनड्वांश्च ब्रह्मचारी च ते त्रयः। अश्नन्त एव सिद्ध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्नतामिति॥

वसिष्ठ

२. ५ तथाप्युदाहरन्ति द्वयमुह वै पुरुषस्य रेतो ब्रह्मणस्योर्ध्वं नाभेरधस्तादवाचीनमन्यत्तद्यदूर्ध्वंनाभेस्तेन हैतत्प्रजा जायते यद् ब्राह्मणानुपनयति यदध्यापयति यद्याजयति यत्साधुकरोति। अथ यदवाचीनं नाभेस्तेन हास्यौरसी प्रजा जायते। तस्माछ्रोत्रियमनूचानमप्रजोसीति न वदन्तीति।

१७. ९ अप्रमत्ता रक्षथ तन्तुमेतं मा वः क्षेत्रे परबीजानि वाप्सुः। जनयितुः पुत्रो भवति सांपराये मोघं वेत्ता कुरुते तन्तुमेतमिति॥

६. २० अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्तं वानप्रस्थस्य षोडश।
द्वात्रिंशत्तु गृहस्थस्यापरिमितं ब्रह्मचारिणः॥

६. २१ आहिताग्निरनड्वां

इन समानताओं से यह स्पष्ट है कि वसिष्ठधर्मसूत्र ने बौधायनधर्मसूत्र से उद्धरण लिये हैं अथवा बौधायन के सूत्रों का अनुकरण किया है।

बौधायनधर्मसूत्र में प्राचीन वाङ्मय

बौधायनधर्मसूत्र में सभी वेदों का नामतः उल्लेख किया गया है। यथा—
"ऋचो यजूंषि समानोति श्राद्धस्य महिमा।" २. १४. ४

"विज्ञायते च—परिमिता वा ऋचः परिमितानि सामानि परिमितानि यजूंष्यथै-तस्यैवाऽन्तो नाऽस्ति यद्ब्रह्म तत्प्रतिगृणत आचक्षीत स प्रतिगर इति।" २. १८. २८

"उपनिषदो वेदादयो वेदान्ताः सर्वच्छन्दस्सु संहिता मधून्यघमर्षणमथर्वशिरो रुद्राः पुरुषसूक्तं राजनरौहिणे सामनी बृहद्रथन्तरे पुरुषगतिर्महानाम्न्यो महावैराजं महादिवाकीर्त्यं ज्येष्ठसाम्नामन्यतमं बहिष्पवमानं कूश्माण्ड्यः पावमान्यः सावित्री चेति पावनानि।" ३. १०. ११

ऋग्वेद संहिता के कई मन्त्र बौधायनधर्मसूत्र में उद्धृत हैं। सबसे अधिक संख्या तैत्तिरीयसंहिता से उद्धृत मन्त्रों की है। यथा—

बौ० २. १७. १८ समिद्वती अर्थात् तै० सं० १.५.३.२ का संकेत।

बौ० २. १७. २५ में 'भवतं नस्समनसौ' तै० सं० १. ३. ७ का २. १७. २६ में "या ते अग्ने यज्ञिया तनू' तै० सं० ६. ३. १०. १ का, बौ० २. १७. ३२ में तैत्तिरीयसंहिता के मन्त्रों 'सखा मे गोपाय' 'यदस्य पारे रजसः' 'येन देवा पवित्रेण', 'येन देवा ज्योतिषोर्ध्वा उदायन्' के उद्धरण आये हैं।

बौ० २. १८. ७ में तै० सं० का 'ब्रह्म जज्ञानम्' (४. २. ८. २) मन्त्र उद्धृत है।

बौ० ३. १. ११ में तैतिरीयसंहिता के मन्त्र 'वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मै" तथा "वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते" उद्धृत है। तैत्तिरीयसंहिता का ही ३. ४. ११. २ मानस्तोकीय मन्त्र भी उद्धृत है। बौ० ३. २. ६

इस प्रकार के अनेक उद्धरण इस धर्मसूत्र में उपलब्ध हैं। ब्राह्मण ग्रंथों के अन्तर्गत भी विशेषतः तैत्तिरीय ब्राह्मण के ही उद्धरण इस धर्मसूत्र में आये हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १२. ९ के भाव को बौधायन २. १७. ८ में निम्नलिखित रूप में अभिव्यक्त किया गया है—

"एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्। तस्यैवाऽऽत्मा पदवित्तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेनेति।"

बौधायन २. १७. ३२ में भी तैत्तिरीय ब्राह्मण का उद्धरण है—"येन देवाः पवित्रेणाऽऽत्मानं पुनते सदा। तेन सहस्रधारेण पावमान्यः पुनन्तु मा॥"

तै० ब्रा० ३. ७. ३ के अर्थ को बौधायन १. ६. २ मे अभिव्यक्त किया गया है—

छागस्य दक्षिणे कर्णे पाणौ विप्रस्य दक्षिणे।
अप्सु चैव कुशस्तम्बे पावकः परिपठ्यते॥

तैत्तिरीय ब्राह्मण १२. ३९ बौधायन २. ११. ३४ में उद्धृत है—"स यत् ब्रूयात—येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः पिता पुत्रेण पितृमान् योनियोनौ। नाऽवेदविन्मनुते तं बृहन्तं सर्वानुभुमात्मानं साम्पराये इति।'

तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ८. ८३ को ही बौ० २. १३. २ "केवलाघो भवति केवलादी। मोघमन्नं विदन्ते इति।" में व्यक्त किया गया है।

तैतिरीय आरण्यक से भी अनेक उद्धरण इस सूत्र मे उपलब्ध हैं। बौ० १. २. ११ का "गङ्गायमुनयोरन्तरमित्येके" तैत्तिरीयारण्यक प्र० २ के "गङ्गायमुनयोर्मुनिभ्यः नमः"

की ओर संकेत करता है। तैत्तिरीय आरण्यक १०. १. १२ की ऋचा का उद्धरण बौ० २. ८. ३ में दिया गया है।

अन्य ब्राह्मणग्रन्थों के अन्तर्गत शतपथब्राह्मण से भी एक उद्धरण बौ. २. ११. ८ में है 'तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेव जुहूर्मन उपभृच्चक्षुर्ध्रुवा मेधा स्रुवः सत्यमवभृथः स्वर्गोलोक उदयनम्।'

गोपथब्राह्मण १. २. ६ का उद्धरण बौ० १. ४. ४ में द्रष्टव्य है—

'ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजाः प्रायच्छत् तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत्सोऽब्रवीदस्तु मह्यमप्येतस्मिन् भाग इति यामेव रात्रिं समिधं नाऽऽहराता इति।'

आपस्तम्बयज्ञपरिभाषा के मन्त्रों को १. १७. ५ में उद्धृत किया गया है।

इस प्रकार बौधायनधर्मसूत्र में श्रुति के प्रायः सभी अङ्गों के उद्धरण मिलते हैं।

प्राचीन आचार्यों के उल्लेख

बौधायन ने दूसरे धर्मसूत्रकारों और आचार्यों के उल्लेख भी किये हैं। बौ० १. २१. ४ में कश्यप के विचार का निर्देश है—

'क्रीता द्रव्येण या नारी सा न पत्नी विधीयते।
सा न दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां कश्यपोऽब्रवीत्॥

इसी प्रकार हारीत के मत का निर्देश बौ० २. २. ११ में किया गया है: 'मिथ्यैतदिति हारीतः।'

औपजङ्घनि के विचार भी २. ३. ३३–३४ में अभिव्यक्त हैं। गौतम के मतों का भी इस धर्मसूत्र में दो बार उल्लेख है। प्रथमतः उत्तर और दक्षिण की प्रथाओं के सन्दर्भ में गौतम के इस मत को उद्धृत किया गया है कि देश में प्रचलन के आधार पर नियम प्रामाणिक नहीं होते। बौ० २. ४–१७ में भी गौतम का मत उद्धृत है—

'नेति गौतमोऽत्युग्रो हि क्षत्रधर्मो ब्राह्मणस्य।'

गौतम के धर्मसूत्र से कई स्थानों पर बौधायन ने उद्धरण भी लिये हैं। जनक के नाम का उल्लेख भी इस सूत्र में हुआ है, और इसमें स्वयं बौधायन के नाम का उल्लेख कई स्थानों पर किया गया है जैसे १. ७. १६ में 'अपि वा प्रेतशौचमामणिबन्धाच्छुद्धिरिति बौधायनः।' तथा

१. ७. ९ 'यदिच्छन्धर्मसन्ततिमिति बौधायनः तथा १. ५. १३ 'एतेन विधिना प्रजापतेः परमेष्ठिनः परमर्षयः परमां काष्ठां गच्छन्तीति बौधायनः।'

आचार्य मौद्गल्य के मत का उल्लेख भी विधवा स्त्री के धर्म के सन्दर्भ में किया गया है, बौ. २. ४. ८ और कम अवस्था वाले ऋत्विक् आदि के अभिवादन के सन्दर्भ में कात्य का मत भी बौ. १. ३. ४७ में उद्धृत है।

बौधायनधर्मसूत्र और स्मृतिग्रन्थ

बौधायनधर्मसूत्र में मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति के अनेक पद्यों और पद्यों के भावों को व्यक्त किया गया है। विशेषतः मनुस्मृति से तो बहुत से पद्यों को ज्यों के त्यों ले लिया गया है। बौ० १. ८. १८ में निम्नलिखित सूत्र मनु से उद्धरण ही है—

अथाप्युदाहरन्ति—

गताभिर्हृदयं विप्रः कण्ठ्याभिः क्षत्रियशुचिः।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्स्यात् स्त्रीशूद्रौ स्पृश्य चान्तत इति॥

इसी प्रकार बौ० १ ८. २० का सूत्र मनु ५. १९ के समान ही है। अ

दन्तवद्दन्तलग्नेषु यच्चाऽप्यन्तर्मुखे भवेत्।
आचान्तस्याऽवशिष्टं स्यान्निगिरन्नेव तच्छुरिति॥ बौधायन०
दन्तवद्दन्तलग्नेषु जिह्वास्पर्शे शुचिर्न तु।
परिच्युतेषु यत्स्थानात् निगिरन्नेव तच्छुचिः॥ मनु०

बौ० १. ९. १ का 'नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्यं यच्च प्रसारितम्' भी समान है।

बौ० १. ९. २ 'वत्सः प्रस्नवने मेध्यः शकुनिः फलशातने' भी समान है।

बौधा० १. ९. ९ 'त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन्' मनु अनुकृति है। १. ९. १० आपः पवित्रं भूमिगताः गोतृप्तिर्यासु जायते' के तुल्य है।

बौ० १. १०. २५ 'गोरक्षकान् वाणिजकान् तथा कारुकुशीलकान्' भी का अनुकरण है। बौ० १०. २९ मनुस्मृति ३. ६३–६६ के तुल्य है। अध्यापकं कुले जातं यो हन्यादाततायिनम्। न तेन भ्रूणहा भवति मन्यु तीति॥ मनुस्मृति ८. १५०–१५१ से उद्धृत है।

बौधायनधर्मसूत्र में उद्धृत गाथा

बौधायनधर्मसूत्र में गीत और गाथाएँ भी उद्धृत हैं। २. ५. १४ दो श्लोक उद्धृत हैं—

'यो मामदत्त्वा पितृदेवताभ्यो भृत्यातिथीनां च सुहृज्जनस्य। सम्प मोहात्तमद्म्यहं तस्य च मृत्युरस्मि॥ हुताग्निहोत्रः कृतवैश्वदेवः पूज्यातिः वशिष्टम्। तुष्टश्शुचिश्श्रद्धदाति यो मां तस्याऽमृतं स्यां स च मां भुनक्त

उशना और वृषपर्वा की पुत्रियों की गाथा भी बौ० २. ४. २६–२७ में

'स्तुवतो दुहिता त्वं वै याचतः प्रतिगृह्णतः।
अथाऽहं स्तूयमानस्य ददतोऽप्रतिगृह्णतः॥

बौ० २. ७. १५ के प्रजापतिगीतश्लोक भी उद्धरणयोग्य हैं—

अपि चात्र प्रजापतिगीतौ श्लोकौ भवतः—
अनागतां तु ये पूर्वामनतीतां तु पश्चिमाम्।
सन्ध्यां नोपासते विप्राः कथं ते ब्राह्मणास्स्मृताः॥
सायं प्रातस्सदा सन्ध्यां ये विप्रा नो उपासते।
कामं तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्मसु योजयेदिति॥

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि बौधायन के समय बहुत से नीतिविषयक श्लोक, जो संभवतः स्मृतिग्रन्थों के अङ्ग थे, प्रचलित थे।

बौधायनधर्मसूत्र में भौगोलिक उल्लेख

बौधायनधर्मसूत्र में कतिपय भौगोलिक उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए इस धर्मसूत्र को दक्षिण भारत और उत्तर भारत की प्रथाओं और आचार में भेद का स्पष्ट ज्ञान है। १२ में कहा गया है।

"पञ्चधा विप्रतिपत्तिर्दक्षिणतस्तथोत्तरतः" दक्षिण और उत्तर की सीमा स्पष्ट करते हुए व्याख्याकार गोविन्दस्वामी ने लिखा है : "दक्षिणेन नर्मदामुत्तरेण कन्यातीर्थम्। उत्तरस्तु दक्षिणेन हिमवन्तमुदग्विन्ध्यस्य।"

शिष्टों के देश अथवा आर्यावर्त की सीमा बौ० १. २. १० में बतायी गयी है—

"प्रागदर्शनात् प्रत्यक्कालकवनाद्दक्षिणेन हिमवन्तमुदक्पारियात्रमेतदार्यावर्तं तस्मिन् य आचारस्स प्रमाणम्।"

अर्थात् सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से पूर्व की ओर कालकवन नाम के वन से पश्चिम, हिमालय पर्वत से दक्षिण का और परियात्र पर्वत के उत्तर का भूभाग आर्यावर्त है।

बौ० १. २. ११ के अनुसार गङ्गा और यमुना नदियों के बीच के प्रदेश को ही कुछ आचार्यों के मतानुसार आर्यावर्त बताया गया है—"गङ्गायमुनयोरन्तरमित्येके।"

इसी सन्दर्भ में भाल्लविशाखा में प्रचलित एक गाथा का भी उद्धरण दिया गया है—

"पश्चात् सिन्धुर्विसरणी सूर्यस्योदयनं पुरा।
यावत् कृष्णो विधावति तावद्धि ब्रह्मवर्चसमिति ॥ बौ० १. २. १२

पश्चिम में लुप्त होने वाली नदी, पूर्व में सूर्य के उदय का स्थान—इसके बीच जहाँ तक कृष्णमृग पाया जाता है, वहाँ तक ब्रह्मतेज भी पाया जाता है।

बौधायन ने कई प्रदेशों को भी उल्लिखित किया है। सङ्कीर्णयोनि अथवा मिश्रित उत्पत्ति वाले प्रदेशों को गिनाते हुए उन्होंने निम्नलिखित प्रदेशों का उल्लेख किया है—

अवन्तयोऽङ्गमगधाः सुराष्ट्र दक्षिणापथाः।
उपावृत्सिन्धुसौवीरा एते सङ्कीर्णयोनयः॥

अवन्ति, अङ्ग, मगध, सुराष्ट्र, दक्षिणापथ, उपावृत्, सिन्धु और सौवीर—ये सङ्कीर्णयोनि प्रदेश हैं। इसी प्रकार आरट्ट, कारस्कर, पुण्ड्र, सौवीर, वङ्ग, कलिङ्ग, प्रानून की यात्रा को दोषपूर्ण मानते हुए पुनस्तोम या सर्वपृष्ठा इष्टि करने का विधान निम्नलिखित सूत्र में है—

"आरट्टान् कारस्करान् पुण्ड्रान् सौवीरान्, वङ्गान् कलिङ्गान् प्रानूनानिति च गत्वा पुनस्तोमेन यजेत सर्वपृष्ठया वा।" बौ० १. २. १५ कलिङ्ग प्रदेश के प्रति बौधायन में

अधिक तिरस्कार झलकता है। कलिङ्ग की यात्रा का पाप वैश्वानरी इष्टि करने पर ही दूर होता है—

पद्भ्यां स कुरुते पापं यः कलिङ्गान् प्रपद्यते।
ऋषयो निष्कृतिं तस्य प्राहुर्वैश्वानरं हविः॥ बौ० १. २. १६

प्रस्तुत संस्करण

यह संस्करण पहली बार हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है। चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस ने बौधायनधर्मसूत्र का प्रथम संस्करण १९३४ ई० में प्रकाशित किया था। प्रथम संस्करण का सम्पादन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के तत्कालीन प्रधान मीमांसाध्यापक पंडितप्रवर श्रीचिन्नस्वामी शास्त्री ने किया था। उन्होंने चार मूल पुस्तकों के संस्करण के आधार पर अत्यन्त श्रमपूर्वक चौखम्बा संस्करण सम्पादित किया। इस ग्रन्थ को उन्होंने मैसूर संस्करण को संशोधित कर अधिक प्रामाणिक रूप प्रदान किया। अपने "किञ्चित् प्रास्ताविकम्" शीर्षक प्रथम संस्करण के प्राक्कथन में उन्होंने उन स्थलों का निर्देश किया है, जहाँ, मैसूर संस्करण में संशोधन किया गया है। श्रीचिन्नस्वामी शास्त्री द्वारा सम्पादित प्रथम संस्करण के अन्त में गोविन्दस्वामी की व्याख्या विवरण में उद्धृत दूसरे ग्रन्थों के वाक्यों का निर्देश 'स्वस्थाननिर्देशिनी सूची' के अन्तर्गत किया गया था। उस सूची को प्रस्तुत संकरण में भी स्थान दिया गया है। गोविन्दस्वामी के विषय में अध्ययन करने के लिए यह सूची उपयोगी सिद्ध हो सकती है। प्रथम संस्करण के अन्त में बौधायन-धर्मसूत्र के सूत्रों में आये हुए प्रत्येक पद की सूची प्रकाशित थी। उसके स्थान पर प्रस्तुत द्वितीय संस्करण में सूत्रों में आये हुए नामों और विषयों की अनुक्रमणिका दी गयी है जो अनुसन्धाताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

इस संस्करण में सूत्रों का सरल और स्पष्ट हिन्दी अनुवाद देने के साथ-साथ प्रायः टिप्पणियों द्वारा सूत्रार्थ को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया गया है। प्रस्तावना में बौधायन-धर्मसूत्र की रचना तथा प्रत्येक पक्ष पर विचार किया गया है। धर्मसूत्र साहित्य तथा भारतीय धर्म की विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है।

धर्मसूत्रों का यह संस्करण प्रस्तुत करते हुए मैं इसी आशा से प्रेरित हूँ कि भारतीय धर्म का नये सन्दर्भों में मूल्याङ्कन और व्यावहारिक जीवन में विनियोग आधुनिक मानव जीवन को सन्त्रास से उबार कर व्यवस्था और शान्ति के पथ पर पहुँचा सकता है।

—उमेशचन्द्र पाण्डेय

किञ्चित् प्रास्ताविकम्

इदमधुना भगवद्बौधायनमहर्षिप्रणीतं धर्मसूत्रं श्रीगोविन्दस्वामिरचितेन विवरेण साकं मुद्राप्य प्रकाशं नीयते। ग्रन्थोऽयमितः पूर्वं Leipzig नगरे 1848. ई० वर्षे, महीशूरपुरे १९०४ ई० वर्षे १९०७ ई० वर्षे पुण्यपत्तने च मुद्रितः। अतश्चतुर्थमिदं मुद्रणमास्माकीनम्। तत्र प्राथमिकं तार्तीयीकं मुद्रणं च मूलमात्रविश्रान्तमिति न तेन व्याख्याकांक्षाऽपनीता। द्वितीयेन तु मुद्रणेन साऽपनीता यद्यपि, तथाऽपि तत् संस्करणमिदानीमनुपलब्धिगोचरतामनुभवति। अतस्तदुद्धरणाय प्रवृत्तः श्रीमान् चौखम्बाग्रन्थमालाधिपः अस्माननुरुरोधाऽस्य पुनस्संस्करणाय। अत्र च प्रवृत्तैरस्माभिरधोनिर्दिष्टान्यादर्शपुस्तकान्यासादितानि—

(मूलपुस्तकानि)

(अ) मदीयमेव मद्रपुरे ग्रन्थाक्षरमुद्रितमेकं मूलमात्रम्।

(आ) लवपुरीयसंस्कृतपुस्तकभवनाध्यक्षैः श्रीभगवद्दत्तशास्त्रिभिस्सादरं प्रहितं ग्रन्थाक्षरलिखितमपरं तादृशमेव।

(इ) लिप्सिग्नगरे नागराक्षरैर्मुद्रितं मूलमात्रम्।

(ई) पूनानगरे अष्टाविंशतिस्मृत्यन्तर्गतत्वेन मुद्रितमेकम्।

(व्याख्यानपुस्तकानि)

(क) श्रौतिकुलतिलकभूतानां मणक्काल् श्रीमुद्दुदीक्षितमहोदयानां पुस्तकं नवीनं अशुद्धप्रायं ग्रन्थाक्षरलिखितम्।

(ख) तेषामेव प्राचीनतरं शुद्धप्रायं आदौ किञ्चित् खण्डितं च।

(ग) श्रीभगवद्दत्तशास्त्रिमहोदयैरेव प्रेपितं ग्रन्थाक्षरलिखितं शुद्धं समग्रं च।

(घ) श्रीकल्याणसुन्दरशास्त्रिमहोदयानां महीशूरपुरमुद्रितम्।

(ङ) तदेव काशिकसरस्वतीभवनतः प्राप्तम्,

इति व्याख्यादर्शपुस्तकानि। एवं चतुःप्रकाराणि मूलादर्शपुस्तकानि चतुर्विधानि व्याख्यादर्शपुस्तकानि चाऽवलम्ब्य शोधितोऽयं यथामति।

तत्र महीशूरपुरमुद्रितं पुस्तकमादर्शपञ्चकमवलम्ब्य शोधितमपि सर्वेषामादर्शानामैकरूप्येणाऽशुद्धबहुलतया च स्थितत्वात् तदपि तथैवाऽशुद्धिपूरितमेव सन्मनस्तुदति स्मैव महासनसामपि सुमनसाम्। तत्र च परिचयार्थमधः काश्चनाऽशुद्धयः प्रदर्श्यन्ते—

मैसूरपुस्तकपाठः	शोधितोऽस्मत्पुस्तकपाठः
(१) खङ्गे तु विषदन्तः पृ० ६६. पं० ५.	(१) खड्गे तु विवदन्ते चौ. सं. ६५. ४.
(२) एकाशौचे तद्द्रष्टव्यम् पृ० १०५. पं० १३.	(२) एकाग्नौ चैतद्द्रष्टव्यम् ७७. ११.
(३) अस्थिसंस्थावहोमादि पृ० १०७. पं० १४.	(३) मन्थिसंस्थावहोमादि ७६. ५.
(४) अप्याचमनं तीर्थं क इह प्रवोच इत्यनेन पथा प्रविशेत्तैर्मतस्य पृ० १०६. पं० ८.	(४) आप्रान तीर्थं क इह प्रवोच-द्येन पथा प्रपिबन्ते सुतस्य पृ० ८१. पं० ५.
(५) स्वापराधनिमित्ते तु मरणादेशं वक्तुमिति पृ० १४५ पं० ३.	(५) स्वापराधनिमित्ते तु मरणे नेदं युक्तमिति पृ० ११०. पं० १४.
(६) सत्सुअन्येषु देवरेषु, द्वितीयोऽवरश्च पत्युर्भूतः पृ० १६३. पं० ४.	(६) तत्सुतेषु देवरो द्वितीयो वरः। स पत्युर्भ्राता। पृ० १३८. पं० २०
(७) तथा दाररक्षणमप्युक्तम् पृ० २५५. पं० ६.	(७) तथा दक्षेणाऽप्युक्तम् पृ० १८५. पं० ६.
(८) अपि तु अदन्तदंशननिन्दैषा पृ० २६३. पं० १७.	(८) अस्ति तु। तस्माद (अतो) नशननिन्दैषा पृ० १६०. पं० १६
(९) अत औपवसन्तीत्यौपवसम्। ते न तत्सन्निकर्षे पृ० २८२ पं० ४.	(९) तेनौपासनाग्निकेनाऽपि तत्सन्निकाशे (तत्सन्निकर्षे) पृ० २०५. पं० ३.

एवमनन्विता असम्बद्धाः पंक्तीर्बहुशोऽवलोक्याऽस्माकं प्रवृत्तिरुत्तेजिता पुनर्मुद्रणेऽस्य बभूव। तत्र च 'ग'चिह्नितं पुस्तकमस्माकं शोधने महोपकारायाऽकल्पत इति तत्प्रेषयितैव प्रथममर्हति धन्यवादम्।

पुस्तकेऽत्र शोधनादौ यश्च यावांश्च परिश्रमः कृतोऽस्माभिः स विदुषां पुरतस्तिष्ठत्येव। अत्र हि टिप्पणी विषमस्थलविवेचिनी मीमांसापदार्थतत्त्वावेदिका लघ्वी काचन संयोजिता। सूत्रगृहीतप्रतीकानां मन्त्राणामनुवाकानां च साम-ग्र्यमधष्टिप्पण्यां प्रायेण सम्पादितम्। व्याख्योद्धृतानां प्रमाणवाक्यानामाकरो ग्रन्थान्ते प्रदर्शितः। पदसूच्यपि काचित् महीशूरपुस्तकविलक्षणा निर्मिता ग्रन्थान्ते संयोजिता च। किञ्चाऽत्र कृतो विभागः प्रश्नखण्डसूत्ररूपात्मना विशेषतो ध्यानमर्हति। अयं हि भागो धर्मसूत्रात्मकः अदसीयगृह्ये चतुर्दशादिसप्तदशान्तप्रश्नतया परिगणितः। गृह्ये तु प्रश्नखण्डसूत्रात्मना विभागः कृतः यद्यपि तत्र कचित् प्रश्नेषु अध्यायविभागोऽपि दृश्यते, तथाऽपि न स सर्वत्र,

खण्डविभागस्तु सर्वत्राऽनुगतः। अतोऽत्र धर्मसूत्रेऽपि खण्डविभागेनैव भाव्यम्। अत एव देशान्तरमुद्रितमूलपुस्तके ग्रन्थाक्षरमुद्रितमूलपुस्तके च खण्डविभाग एव प्राधान्येनाऽऽदृतः। अध्यायविभागस्तु गौणतया। हस्तलिखितमूलपुस्तके तु अध्यायविभागस्सर्वथा परित्यक्तः। अतो लिखितमुद्रितमूलपुस्तकोपलभ्यमाने खण्डादिविभागे प्राचीनतां सूत्रकाराभिमततामौचितीं च मन्वानैस्तत्संरक्षणे बद्धादरैस्स एव विभागस्समादृतः। व्याख्यानुरोधात्तु अध्यायविभागोऽपि कृतः। स तु परं न प्रधान्या, न वा सूत्रसम्बन्धेन। महीशूरपुस्तके गृह्यसूत्रेऽप्य-ध्यायविभागमवलम्ब्य खण्डविभागस्सर्वथा परित्यक्तस्सोऽध्येतृशिष्टपरम्पराविरोधी। पदसूच्यपि तामेवरीतिमनुसरत्यत्र।

एवमत्र संस्करणेऽध्ययनाध्यापनादौ पूर्वसंस्करणापेक्षया विशेषोपकारमभि-लषता मया परिश्रान्तम्। साफल्यं परं प्राप्तं मया न वेति विद्वन्मनांस्येव निक-षोपलाः।

अत्र च यैः पण्डितप्रवरैः पुस्तकालयाध्यक्षैरन्यैश्चाऽस्मन्निकटं पुस्तकानि प्रेषितानि सानुकम्पं स्थापितानि च यावच्छोधनसमाप्ति स्वपुस्तकालयनियमो-ल्लङ्घनमास्माकीनं सोढ्वाऽपि, तेषामानृण्यमशक्नुवन् सम्पादयितुं केवलं कृतज्ञ-तामाविष्करोमि पुनः पुनः।

शोधनादिकार्ये सूचीनिर्माणादौ च यदस्मत्प्रियशिष्येण हिन्दूविश्वविद्यालये पूर्वमीमांसायास्सहायाध्यापकेन श्रीपट्टाभिरामशर्मणा मीमांसाचार्येण, अन्यैश्च शिष्यवरैः सुबहु परिश्रान्तमुपकृतं च, तत् सर्वथा प्रशंसनीयम्। अतस्तानाशी-र्वचोभिरभिपूरयामि।

सूत्रकारस्याऽस्य कालनिर्णयविषये आपस्तम्बाद्यपेक्षया पौर्वापर्यविषयादौ च यन्मया विचारितं यथामति, तदवसरे सति समनन्तरमेव निरूपयिष्यामि। अन्ततो विबुधवरानधीतिनश्च सानुनयमभ्यर्थये—ग्रन्थमिमं यथावदुपयुज्य सफलयन्तु मदीयं परिश्रमं प्रकाशयितुरतुलमुत्साहं, वर्धयन्तु च तमाशीर्भिः पुनःपुनरेतादृशकार्यकरणे सर्वाङ्गीणसाहाय्यप्राप्तये इति—

वाराणसी हनुमद्धट्टः
मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी
वि० सं० १९९१

सुधीजनविधेयः
चिन्नस्वामिशास्त्री
(महामहोपाध्यायः)

मैसूरपुस्तकपाठः	शोधितोऽस्मत्पुस्तकपाठः
(१) खड्गे तु विषदन्तः पृ० ६६. पं० ५.	(१) खड्गे तु विवदन्ते चौ. सं. ६५. ४.
(२) एकाशौचे तद्द्रष्टव्यम् पृ० १०५. पं० १३.	(२) एकाग्नौ चैतद्द्रष्टव्यम् ७७. ११.
(३) अस्थिसंहावहोमादि पृ० १०७. पं० १४.	(३) मन्थिसंस्रावहोमादि ७६. ५.
(४) अप्याचमनं तीर्थं क इह प्रवोच इत्यनेन पथा प्रविशेत्तैर्मतस्य पृ० १०६. पं० ८.	(४) आप्रान तीर्थं क इह प्रवोचद्येन पथा प्रपिबन्ते सुतस्य पृ० ८१. पं० ५.
(५) स्वापराधनिमित्ते तु मरणादेशं वक्तुमिति पृ० १५५ पं० ३.	(५) स्वापराधनिमित्ते तु मरणे नेदं युक्तमिति पृ० ११०. पं० १४.
(६) सत्सुअन्येषु देवरेषु, द्वितीयोऽवरश्च पत्युर्भूतः पृ० १६३. पं० ४.	(६) तत्सुतेषु देवरो द्वितीयो वर. । स पत्युर्भ्राता । पृ० १३८. पं० २०
(७) तथा दाररक्षणमप्युक्तम् पृ० २५५. पं० ६.	(७) तथा दत्तेणाऽप्युक्तम् पृ० १८५. प० ६.
(८) अपि तु अदन्तदंशननिन्दैषा पृ० २६३. पं० १७.	(८) अस्ति तु । तस्माद (अतो) नशननिन्दैषा पृ० १६०. पं० १६
(९) अत औपवसन्तीत्यौपवसम् । ते न तत्सन्निकर्षे पृ० २८३ पं० ४.	(९) तेनौपासनाग्निकेनाऽपि तत्सन्निकाशे (तत्सन्निकर्षे) पृ० २०५. पं० ३.

एवमनन्विता असम्बद्धाः पंक्तीर्बहुशोऽवलोक्याऽस्माकं प्रवृत्तिरुत्तेजिता पुनर्मुद्रणेऽस्य बभूव । तत्र च 'ग'चिह्नितं पुस्तकमस्माकं शोधने महोपकारायाऽकल्पत इति तत्प्रेषयितैव प्रथममर्हति धन्यवादम् ।

पुस्तकेऽत्र शोधनादौ यश्च यावांश्च परिश्रमः कृतोऽस्माभिः स विदुषां पुरतस्तिष्ठत्येव । अत्र हि टिप्पणी विषमस्थलविवेचिनी मीमांसापदार्थतत्त्वावेदनिका लघ्वी काचन संयोजिता । सूत्रगृहीतप्रतीकानां मन्त्राणामनुवाकानां च सामग्र्यमधष्टिप्पण्यां प्रायेण सम्पादितम् । व्याख्योद्धृतानां प्रमाणवाक्यानामाकरो ग्रन्थान्ते प्रदर्शितः । पदसूच्यपि काचित् महीशूरपुस्तकविलक्षणा निर्मिता ग्रन्थान्ते संयोजिता च । किञ्चाऽत्र कृतो विभागः प्रश्नखण्डसूत्ररूपात्मना विशेषता ध्यानमर्हति । अयं हि भागो धर्मसूत्रात्मकः अदसीयगृह्ये चतुर्दशादिसप्तदशान्तप्रश्नतया परिगणितः । गृह्ये तु प्रश्नखण्डसूत्रात्मना विभागः कृतः यद्यपि तत्र कचित् प्रश्नेषु अध्यायविभागोऽपि दृश्यते, तथाऽपि न स सर्वत्र,

खण्डविभागस्तु सर्वत्राऽनुगतः। अतोऽत्र धर्मसूत्रेऽपि खण्डविभागेनैव भाव्यम्। अत एव देशान्तरमुद्रितमूलपुस्तके ग्रन्थाक्षरमुद्रितमूलपुस्तके च खण्डविभाग एव प्राधान्येनाऽऽदृतः। अध्यायविभागस्तु गौणतया। हस्तलिखितमूलपुस्तके तु अध्यायविभागस्सर्वथा परित्यक्तः। अतो लिखितमुद्रितमूलपुस्तकोपलभ्यमाने खण्डादिविभागे प्राचीनतां सूत्रकाराभिमततामौचितीं च मन्वानैस्तत्संरक्षणे बद्धादरैस्स एव विभागस्समादृतः। व्याख्यानुरोधात्तु अध्यायविभागोऽपि कृतः। स तु परं न प्रधान्या, न वा सूत्रसम्बन्धेन। महीशूरपुस्तके गृह्यसूत्रेऽप्य-ध्यायविभागमवलम्ब्य खण्डविभागस्सर्वथा परित्यक्तस्सोऽध्येतृशिष्टपरम्पराविरोधी। पदसूच्यपि तामेवरीतिमनुसरत्यत्र।

एवमत्र संस्करणेऽध्ययनाध्यापनादौ पूर्वसंस्करणापेक्षया विशेषोपकारमभि-लपता मया परिश्रान्तम्। साफल्यं परं प्राप्तं मया न वेति विद्वन्मनांस्येव निक-षोपलाः।

अत्र च यैः पण्डितप्रवरैः पुस्तकालयाध्यक्षैरन्यैश्चाऽस्मन्निकटं पुस्तकानि प्रेषितानि सानुकम्पं स्थापितानि च यावच्छोधनसमाप्ति स्वपुस्तकालयनियमो-ल्लङ्घनमास्माकीनं सोढ्वाऽपि, तेषामानृण्यमशक्नुवन् सम्पादयितुं केवलं कृतज्ञ-तामाविष्करोमि पुनः पुनः।

शोधनादिकार्ये सूचीनिर्माणादौ च यदस्मत्प्रियशिष्येण हिन्दूविश्वविद्यालये पूर्वमीमांसायास्सहायाध्यापकेन श्रीपट्टाभिरामशर्मणा मीमांसाचार्येण, अन्यैश्च शिष्यवरैः सुबहु परिश्रान्तमुपकृतं च, तत् सर्वथा प्रशंसनीयम्। अतस्तानाशी-र्वचोभिरभिपूरयामि।

सूत्रकारस्याऽस्य कालनिर्णयविषये आपस्तम्बाद्यपेक्षया पौर्वापर्यविषयादौ च यन्मया विचारितं यथामति, तदवसरे सति समनन्तरमेव निरूपयिष्यामि। अन्ततो विबुधवरानधीतिनश्च सानुनयमभ्यर्थये—ग्रन्थमिमं यथावदुपयुज्य सफलयन्तु मदीयं परिश्रमं प्रकाशयितुरतुलमुत्साहं, वर्धयन्तु च तमाशीर्भिः पुनःपुनरेतादृशकार्यकरणे सर्वाङ्गीणसाहाय्यप्राप्तये इति—

वाराणसी हनुमद्घट्टः
मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी
वि० सं० १९९१

सुधीजनविधेयः
चिन्नस्वामिशास्त्री
(महामहोपाध्यायः)

विषयानुक्रम

प्रथम प्रश्न

प्रथम अध्याय

पृ०

चतुर्थ प्रश्न

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

पृ०

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

परिशिष्ट

बौधायन-धर्मसूत्रम्

॥ श्रीः ॥

बौधायन-धर्मसूत्रम्

सानुवाद-श्रीगोविन्दस्वामिप्रणीतविवरणोपेतम्

प्रथमः प्रश्नः

तत्र प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डः

उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम् ॥ १ ॥

अनु०—धर्म का उपदेश वेद की प्रत्येक शाखा मे किया गया है ॥ १ ॥

उपदिष्टः प्रदर्शितः प्रतिवेदम् प्रतिशाखम् । अतीन्द्रियार्थप्रतिपादको नित्यो ग्रन्थराशिर्वेदः । तत्प्रतिपाद्यो धर्मः । यद्यप्येकैकस्यां शाखायां परिपूर्णान्यङ्गानि, तथाऽपि कल्पसूत्रान्तरैश्शाखान्तरोक्ताङ्गोपसंहारः[1] क्रियत एव ॥ १ ॥

तस्यानु व्याख्यास्यामः ॥ २ ॥

अनु०—हम उसी के अनुसार धर्म की व्याख्या करेंगे ॥ २ ॥

अन्विति । पश्चादित्यर्थः ॥ २ ॥

स्मार्तो द्वितीयः ॥ ३ ॥

अनु०—स्मृति में प्रतिपादित धर्म दूसरे स्थान पर आता है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—स्मार्त धर्म के अन्तर्गत वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म और निमित्तधर्म पाँच प्रकार के धर्म आते हैं। ये धर्म भी साधारण और विशिष्ट दो प्रकार के है।—गोविन्द स्वामी। इस सूत्र से यह भी अभिव्यक्त है कि स्मृति और श्रुति के नियमो में पारस्परिक विरोध होने पर श्रुति-नियम प्रबल होते हैं। गोविन्द के अनुसार 'स्मृति' का अर्थ 'अनुभूतविषयासम्प्रमोषाभिव्यञ्जक ग्रन्थ' है।

---

१. क्तांशोप, इति क. पु.

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः । तदभिव्यञ्जको ग्रन्थः स्मृतिशब्देनोपचर्यते । स्मार्तः स्मृत्युपदिष्टः । अनुव्याख्याग्रहणं स्मार्तस्य धर्मस्य कल्प्यविधिमन्त्रार्थवादमूलत्वप्रदर्शनार्थम् । तच्च[1] 'धन्वन्निव प्रपा असि' 'तस्माच्छ्रेयासं पापीयान् पश्चादन्वेति' इत्यादि । अत एव प्रपागुर्वनुगमनादीनां कर्तव्यतामवगम्य तत्कर्तव्यता स्मृतिशास्त्रकारैरुपदिश्यते । अत एव द्वितीयः । एवं[2] चाऽस्य श्रौतधर्म[3]विरोधे सति दौर्बल्यं द्रष्टव्यम् । स च स्मार्तो धर्मः पञ्चविधो भवति—[4]वर्णधर्मः, आश्रमधर्मः, वर्णाश्रमधर्मः, गुणधर्मः, निमित्तधर्मश्चेति । तत्राऽपि साधारणविशिष्टधर्मभेदेन द्वैविध्यं द्रष्टव्यम् । 'द्विजातीनामध्ययनम्' इत्यादिः साधारणधर्मो वर्णधर्मः । 'ब्राह्मणस्याऽधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः' इत्यादिर्विशिष्टः । तथा आश्रमधर्मो दयादिस्साधारणः । अग्नीन्धनादिर्विशिष्टः । तथा—वर्णाश्रमधर्मोऽप्यग्नीन्धनादिस्साधारणः । बैल्वदण्डधारणादिर्विशिष्टः । अभिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञो रक्षणं गुणधर्मः । [5]हिंसादिर्निमित्तधर्मः । उपादेयानुपादेयताकृतो गुणनिमित्तयोर्विशेषः ॥ ३ ॥

तृतीयः शिष्टागमः ॥ ४ ॥

अनु०—शिष्ट जनों द्वारा आचरित धर्म तीसरे स्थान पर आता है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—इस सूत्र के अनुसार शिष्टजनों का आचरण धर्म का तीसरा स्रोत है किन्तु उसकी प्रामाणिकता श्रुति और स्मृति के बाद ही समझनी चाहिए।

धर्म इत्यनुषज्यते । शिष्टैरागम्यत इति शिष्टागमः । शिष्टैराचरित इत्यर्थः । तत्र प्रत्यक्षश्रुतिविहितो धर्मः प्रथमो धर्मः । विप्रकीर्णमन्त्रार्थवादमूलो द्वितीयः । तृतीयस्तु प्रलीनशाखामूलः । सर्वेषां वेदमूलत्वेऽपि दौर्बल्यमर्थविप्रकर्षाद्वेदितव्यम् ॥ ४ ॥

---

१. हे अग्ने ! त्वं धन्वनि निरुदके प्रदेशे प्रपा पानीयशाला 'प्याऊ' इति भाषाया प्रसिद्धा, सेवाऽसि, इति मन्त्रखण्डस्याऽर्थः ।

२. एवन्त्वस्य, इति क. पु. ३. व्यतिक्रमे धर्मदौर्बल्यं, इति क. पु.

४. जातिमात्रोद्देशेन विधीयमानो धर्मो वर्णधर्मः । ब्रह्मचर्याद्याश्रमोद्देशेन विधीयमानो धर्मः आश्रमधर्मः । वर्णगताश्रमोद्देशेन व्यवस्थया विधीयमानो धर्मः वर्णाश्रमधर्मः । गुणं कञ्चनोपादाय तदवलम्बेन विधीयमानो धर्मो गुणधर्मः । निमित्तमुपादाय विधीयमानो निमित्तधर्मः । विज्ञानेश्वरस्तु पञ्चभिरेभिस्साकं साधारणधर्मं कञ्चनोदाय षड्विधमाह ।

५. विज्ञानेश्वरस्तु—निमित्तधर्मो विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवननिमित्तं प्रायश्चित्तम्, इति निमित्तधर्मं व्याख्याय साधारणधर्मोऽहिंसादिः इत्युक्तवान् ॥

अथ शिष्टानाह—

शिष्टाः खलु विगतमत्सरा निरहङ्काराः कुम्भीधान्या अलोलुपा दम्भदर्पलोभमोहक्रोधविवर्जिताः ॥ ५ ॥

अनु०—शिष्ट वे हैं जो दूसरों के गुणों से द्वेष न करते हों, अहङ्काररहीन हों, जो कुम्भीधान्य (दस दिन के लिए अन्न का संग्रह करने वाले हों), अलोलुप हों, और जिनमें दम्भ, दर्प, लोभ, मोह और क्रोध दुर्गुण न हों ॥ ५ ॥

खल्विति वाक्यालङ्कारार्थो निपातः । मात्सर्यं परगुणाक्षमता । अहङ्कारः अभिजनविद्यानिमित्तो गर्वः । [1]कुम्भीधान्याः दशाह जीवनौपयिकधान्याः । अनेन च सन्तुष्टतोपलक्ष्यते । अलोलुपता वैतृष्ण्यम् । दम्भो लोकप्रत्ययार्थ धर्मध्वजोच्छ्रायः । दर्पो [2]धर्मातिरेकमूलोऽतिहर्षः । लोभः प्रसिद्धः । मोहः कृत्याकृत्यविवेकशून्यता । दम्भादिविवर्जिताः ॥ ५ ॥

किञ्च—

[3]धर्मेणाऽधिगतो येषां वेदस्सपरिबृंहणः ।
शिष्टास्तदनुमानज्ञाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ इति ॥ ६ ॥

अनु०—जिन्होंने इतिहास, पुराण, आदि विभिन्न प्रभेदों सहित वेद का अध्ययन तथा अर्थ का बोध धर्मानुसार प्राप्त कर लिया है, जो श्रुति को ही धर्म का प्रत्यक्ष हेतु मानते हैं, और उसके (स्मार्त, शिष्टाचरण की श्रुति और) अनुमान के ज्ञाता हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—इस पद्य के अन्त में 'इति' यह सूचित करता है कि यह उद्धृत अंश है। "जो वेद से अनुमान निकालने के ज्ञान से युक्त हैं, और श्रुति से इन्द्रिय-प्रत्यक्ष प्रमाणों को प्रस्तुत करने मे समर्थ हैं।" = ब्यूह्लेर कृत अंग्रेजी अनुवाद के अनुसार।

येषामिति कृद्योगे षष्ठी 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति । इतिहासपुराणाभ्यां सहितो वेदो ग्रन्थतोऽर्थतश्च यैरवगत इत्यर्थः । बृंहणग्रहणं स्मृतिसदाचारशास्त्राणामप्युपलक्षणार्थम् । श्रुतिप्रत्यक्षहेतवश्च श्रुतिरेव प्रत्यक्षं कारणमस्य धर्म-

---

१. स्वकुटुम्बपोषणे षडहमात्रपर्याप्तधान्यः कुम्भीधान्य इति विज्ञानेश्वरो गोविन्दराजोऽपि । वर्षनिर्वाहोचितधान्यः कुम्भीधान्य इति कुल्लूकः । षाण्मासिकधान्यादिनिचयः इति मेधातिथिः ॥ (मनु० ४. ७.)

२. धर्मातिरेकमूलान्मतिहर्षः इति क. पु.

३. श्लोकोऽयं किञ्चिदन्यथयितो मानवे दृश्यते (मनु० १२. १०९)

स्येति येषां दर्शनमिति विग्रहः । अनेन मीमांसकाः कीर्तिताः । अत एव तदनुगानज्ञास्ते भवन्ति स्मार्तशिष्टागमयोश्श्रुत्यनुमानविद इत्यर्थः । एवं च शास्त्राधिगतो यो धर्मस्सोऽनुष्ठेय इत्यभिप्रायः ॥ ६ ॥

तदभावे दशावरा परिषत् ॥ ७ ॥

अनु०—उपर्युक्त लक्षण वाले शिष्टजनों के न होने पर कम से कम दस सदस्यों की परिषत् धर्म का निर्णय करने में प्रामाणिक होती है ॥ ७ ॥

उक्तलक्षणशिष्टाभावे दशावरा परिषत्; तया यो विधीयते सोऽनुष्ठेय इत्यर्थः ॥ ७ ॥

तच्च परकीयमतेन । स्वमतं प्रदर्शयितुमाह—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

चातुर्वैद्यं विकल्पी च अङ्गविद्धर्मपाठकः ।
आश्रमस्थास्त्रयो विप्राः पर्षदेषा दशावरा ॥ ८ ॥

अनु०—इस विषय में भी यह पद्य उद्धृत किया जाता है—

चार वेदों को जानने वाले चार व्यक्ति, एक विकल्पी अर्थात् मीमांसक, वेद के अङ्गों (व्याकरणादि) का ज्ञाता, धर्मशास्त्र का पाठ करने वाला (अर्थात् धर्म शास्त्र का अर्थ जानने वाला), तीन विभिन्न आश्रमों के तीन ब्राह्मण—इनकी दस सदस्यों वाली परिषत् होती है । ८ ॥

टिप्पणी—चार व्यक्तियों में प्रत्येक एक-एक वेद का ज्ञाता होता है । तीन विभिन्न आश्रमों के ब्राह्मणों 'आश्रमस्थास्त्रयो विप्राः' के विषय में टीकाकार गोविन्द स्वामी का मत है कि वानप्रस्थी वन में निवास करने के कारण परिषद् में नहीं आ सकता । परिव्राजक भिक्षा के लिए ग्राम में आता जाता रहता है, इसी प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी परिषत् में लिया जा सकता है । "आश्रमस्थास्त्रयो मुख्याः" भी पाठ है ।

चतस्र एव विद्याश्चातुर्वैद्यं तेन तद्विदो लक्ष्यन्ते । विकल्पी मीमांसकः । अङ्गं व्याकरणादि तज्ज्ञः । धर्मपाठकः तन्मूलिका तदर्थावगतिरिति पाठग्रहणम् । तदभिज्ञ इत्यर्थः । तान् विशिनष्टि—आश्रमस्थास्त्रयो विप्राः अवानप्रस्थास्त्रयो गृह्यन्ते । वानप्रस्थानां पुनर्वनाधिवासत्वादनधिकारो धर्मोपदेशस्य । परिव्राजकोऽपि भिक्षार्थी ग्राममियादेव । तथा च गौतमः—'प्रागुपौत्तमात्त्रय आश्रमिणः' इति । विप्रा इति क्षत्रियवैश्ययोर्धर्मोपदेशानधिकारप्रदर्शनार्थं विप्रग्रहणम् । 'ब्राह्मणो धर्मान् प्रब्रूयात्' इति वसिष्ठवचनाच्च । 'आश्रमस्था-

त्रयो मुख्याः' इति पाठे नैष्ठिकब्रह्मचारी गृह्यते। [1]यथा धर्मस्कन्धब्राह्मणे ताननुक्रम्य 'सर्वे एते पुण्यलोका भवति' इति। एवंगुणास्त्रय आश्रमिणो दशावरा परिषद् भवति ॥ ८ ॥

अथाऽनुकल्पमाह—

पञ्च वा स्युस्त्रयो वा स्युरेको वा स्यादनिन्दितः।
प्रतिवक्ता तु धर्मस्य नेतरे तु सहस्रशः ॥ ९ ॥

अनु०—अथवा परिषत् मे पाँच या तीन सदस्य हो सकते हैं, यहाँ तक कि पातक आदि दोषो से मुक्त एक श्रेष्ठ आचरण वाला व्यक्ति भी धर्म के विषय में निर्णय दे सकता है, किन्तु उससे भिन्न आचरण वाले पातकादि दोष वाले सहस्रों व्यक्तियो के समूह को भी धर्म के विषय में प्रमाण नही माना जा सकता ॥ ९ ॥

इस संबन्ध में याज्ञवल्क्यस्मृति १.९ मे कहा गया है :—

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत् त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यं स धर्मस्स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः ॥

इसी प्रकार मनुस्मृति १२-१११-११३ में कहा गया है—

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्कि नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्या दशावरा ॥
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥
एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाऽज्ञानादुदितोऽयुतैः ॥

सम्भवापेक्षो विकल्पः। अनिन्दितः पातकादिदोषरहितः। तृतीयो वाशब्दोऽपि शब्दस्याऽर्थे द्रष्टव्यः। आह च—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्विचक्षणः। इति ॥

---

१. छान्दोग्ये त्रयो धर्मस्कन्धाः इत्यारभ्याऽऽम्नात ब्राह्मण धर्मस्कन्धब्राह्मणम्।

२. चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत् त्रैविद्यमेव वा। सा ब्रूते यं स धर्मस्स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः ॥ इति याज्ञवल्क्यः (या. स्मृ. १.९)

त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः। त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद् दशावरा ॥ ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च। त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ एकोऽपि वेदविद्धर्मं य व्यवस्येद्द्विजोत्तमः। स विज्ञेयः परो धर्मो नाऽज्ञानादुदितोऽयुतैः ॥
इति मनुः (म. स्मृ. १२. १११–११३)

अपिशब्दादेकेन न वाच्यम्। वक्ष्यति च 'बहुद्वारस्य धर्मस्य' (१.१३) इति। तुशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ९ ॥

'अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशस्समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ इति ॥ १० ॥

अनु०—व्रतहीन, मन्त्र को न ग्रहण करने वाले, केवल जाति के नाम पर जीविका निर्वाह करनेवाले, सहस्र व्यक्तियों के समूह को भी परिषत् के लक्षण से युक्त नही माना जाता हैं ॥ १० ॥

'नेतरे तु सहस्रशः' इति[२] सामर्थ्ये सिद्धे सत्यारम्भादत्यन्तापद्यव्रतादीननुगृह्णाति। आह च—

जातिमात्रोपजीवी च कामं स्याद् ब्राह्मणब्रुवः।
धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथञ्चन ॥ इति ॥ १० ॥

'नेतरे तु सहस्रशः' इत्युक्तम्, तत्रैव निन्दामाह—

यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
ब्राह्मणश्चाऽनधीयानस्त्रयस्ते नामधारकाः ॥ ११ ॥

अनु०—जैसा काठ का हाथी या चमड़े का कृत्रिम मृग होता है वैसा ही वेदाध्ययन न करने वाला ब्राह्मण भी होता है और ये तीनों केवल जाति का नाम ही धारण करते हैं ॥ ११ ॥

स्पष्टम् ॥ ११ ॥

अत्यन्तापद्यपि एकोद्दिष्टभोक्तृवत् वक्तॄणामपि दोषोऽस्तीति दर्शयितुमाह—

यद्वदन्ति तमोमूढा मूर्खा धर्ममजानतः।
तत्पापं शतधा भूत्वा वक्तॄन् समधिगच्छति ॥ १२ ॥

अनु०—अज्ञान रूपी अन्धकार से घिरे हुए, धर्म को न जानने वाले मूर्ख जिस (पाप कर्म के विषय में किसी प्रायश्चित्त) का विधान करते हैं वह पाप सौ-गुना हो कर उस ढोंगी धर्मवक्ता के ऊपर ही आ पड़ता है ॥ १२ ॥

---

१. प्राजापत्यादिभिः कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिश्च व्रतै रहिताः अव्रताः। अनधीतवेदाः अमन्त्राः। सूत्रमिदं खण्डान्त एव पठितं मूलपुस्तकयोः। पापेभ्यो विप्रमुच्यत इत्यंशस्य द्विरुक्तिरपि दृश्यते।   २. सामर्थ्ये सति इति. क पु.

व्यवहारं प्रायश्चित्तादिकं वा यद्वदन्ति तमसा अन्धकारेणाऽऽविष्टा अजानतः अजानन्तः यस्मिन् पापकर्मणि एभिः प्रायश्चित्तं विहितमिति शेषः ॥१२॥

'एको वा स्यादनिन्दितः' (१.१.९) इति यदुक्तं, तत्राऽऽह—

बहुद्वारस्य धर्मस्य सूक्ष्मा दुरनुगा गतिः ।
तस्मान्न वाच्यो ह्येकेन बहुज्ञेनाऽपि संशये ॥ १३ ॥

अनु०—(श्रुति, स्मृति, सदाचार आदि प्रमाणों पर आश्रित) धर्म के अनेक द्वार है। उसका मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म और कठिन है। इसलिए संशय होने पर एक व्यक्ति को अकेले निर्णय नही देना चाहिए, भले ही वह अनेक विद्याओं का ज्ञाता क्यो न हो ॥ १३ ॥

अनेकश्रुतिस्मृतिसदाचारप्रमाणकत्वाद्धर्मस्य बहुद्वारत्वम् । अत एव चाऽस्य सूक्ष्मत्वं दुरनुगत्वं च । तथा हि—

शाखानां विप्रकीर्णत्वात् पुरुषाणां प्रमादतः ।
नानाप्रकरणस्थत्वात् सूक्ष्मा दुरनुगा गतिः ॥

तस्मात् इत्युपसंहारः ॥ १३ ॥

बहवः पुनः—

धर्मशास्त्ररथारूढा वेदखड्गधरा द्विजाः ।
क्रीडार्थमपि[1] यद् ब्रूयुस्स धर्मः परमःस्मृतः ॥ १४ ॥

अनु०—धर्मशास्त्र-रूपी रथ पर चलने वाले, वेद-रूपी खड्ग को धारण करने वाले द्विज खेल में ही जो कुछ कह दे वह परम धर्म माना जाता है ॥ १४ ॥

शिष्टानां प्राबल्यं प्रदर्शयितुं धर्मशास्त्राणि वेदाश्च रथायुधैरुपमीयन्ते ॥१४॥

शिष्टैर्हि वर्णाश्रमादयो व्यवस्थापिता । तेषु पापं न लिप्यत इत्याह—

यथाऽश्मनि स्थितं तोयं मारुतोऽर्कः प्रणाशयेत् ।
तद्वत्कर्तरि यत्पापं जलवत् संप्रलीयते ॥ १५ ॥

अनु०—जिस प्रकार पत्थर के ऊपर एकत्र जल को वायु और सूर्य सुखा कर नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार (शिष्ट वचन के अनुसार) करने वाले का जो भी पाप होता है, वह जल के समान नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

---

१. अपिशब्दात् कमुत्यं प्रतीयते । यदि विचार्य ब्रूयुः, तर्हि किं वक्तव्यमिति ।

अथैनामधिनोऽप्यवस्थां परिज्ञाय प्रायश्चित्तं विधीयत इत्याह—

शरीरं बलमायुश्च वयः कालं च कर्म च ।
समीक्ष्य धर्मविद्बुद्ध्या प्रायश्चित्तानि निर्दिशेत् ।। १६ ।।

अनु०—शरीर, बल, आयु, अवस्था, समय और कर्म का पूरी तरह से विचार करके ही धर्मज्ञाता विवेकपूर्वक प्रायश्चित्त का विधान करे ।। १६ ।।

शरीरं वातप्रकृतिकं पित्तप्रकृतिकमित्यादि । आयुः ज्ञानं अयतेर्गत्यर्थादौणादिकः उण्प्रत्ययः । वयः बाल्यादिलक्षणम् । कालः शीतोष्णादिलक्षणः । कर्म प्रायश्चित्तस्य निमित्तभूतं सानुबन्धं हिंसादि ।। १६ ।।

इति प्रथमप्रश्ने प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डः ।। १ ।।

प्रथमाध्याये द्वितीयः खण्डः

श्रौतस्मार्तशिष्टागम इति त्रिविधो धर्मो व्याख्येयः । तथा तत्र तत्र व्यवस्थिततया शिष्टाचरितानां धर्माणाम्—

पञ्चधा विप्रतिपत्तिर्दक्षिणतस्तथोत्तरतः ।। १ ।।

अनु०—दक्षिण और उत्तर मे पाँच विषयो मे पारस्परिक विरोध है ।। १ ।।

टिप्पणी—गोविन्दस्वामी ने व्याख्या में दक्षिण से नर्मदा और विन्ध्य के बीच के भूप्रदेश का तथा उत्तर से विन्ध्य से लेकर हिमालय तक का प्रदेश बताया है ।

दक्षिणेन नर्मदामुत्तरेण[1] कन्यातीर्थम् । उत्तरतस्तु दक्षिणेन हिमवन्तमुदग्विन्ध्यस्य । एतद्देशप्रसूतानां शिष्टानां परस्परं पञ्चधा विप्रतिपत्तिः विसंवादः 'यान् पदार्थान् अनुतिष्ठन्ति दाक्षिणात्याः न तानुदीच्याः । यानुदीच्या न तान् दाक्षिणात्याः' इति ।। १ ।।

तत्र प्रथमम्—

यानि दक्षिणतस्तानि व्याख्यास्यामः ।। २ ।।

अनु०—इनमें जो आचरण विशेषतः दक्षिण मे प्रचलित है उनकी हम व्याख्या करेंगे ।। २ ।।

[2]निगदव्याख्यातमेतत् ।। २ ।।

---

१. कन्याकुमारी इति दक्षिणसमुद्रतीरे प्रसिद्धं स्थानम् ।

२. पाठमात्रेणार्थोऽवगम्यते । नात्र व्याख्यानापेक्षेत्यर्थः ।

तत्रेमान्युदाहरणानि--

यथैतदनुपेतेन सह भोजनं स्त्रिया सह भोजनं पर्युषितभोजनं मातुलपितृष्वसृदुहितृगमनमिति ॥ ३ ॥

अनु०--ये विशिष्ट आचरण ये हैः-जिनका यज्ञोपवीत नहीं हुआ है उनके साथ भोजन करना, पत्नी के साथ भोजन, बासी अन्न का भोजन, मामा की पुत्री से विवाह, बुआ (पिता का बहन) की पुत्री से विवाह ॥ ३ ॥

मातुलदुहितृगमनं पितृष्वसृदुहितृगमनमिति सम्बन्धः । ऋज्वन्यत् ॥३ ॥

अथोत्तरतः ऊर्णाविक्रयः शीधुपानमुभयतोदद्भिर्व्यवहारः आयुधीयकं समुद्रसंयानमिति ॥ ४ ॥

अनु--उत्तर मे जो आचरण विशिष्ट है, वे है—ऊन बेचने का व्यापार, मदिरापान, उन पशुओं का विक्रय, जिनके मुख मे ऊपर और नीचे दोनो ओर दाँत होते हैं, अस्त्र-शस्त्र का व्यापार तथा समुद्र की यात्रा ॥ ४ ॥

ऊर्णायास्तद्विकारस्य च कम्बलादेर्विक्रयः । उभयतो दन्ता अश्वादयः । व्यवहारः विक्रयादिः आयुधीयकं शस्त्रधारणम् समुद्रसंयानं नावा द्वीपान्तरगमनम् ॥ ४ ॥

इतरदितरस्मिन् कुर्वन् दुष्यतीतरदितरस्मिन् ॥ ५ ॥

अनु०—जिस प्रदेशों मे जो आचरण प्रचलित हैं उससे भिन्न प्रदेश में उन आचरणों का व्यवहार दोष उत्पन्न करता है ॥ ५ ॥

टि०—दक्षिण की विशिष्ट रीतियों का उत्तर में आचरण करना दोष उत्पन्न करता है । उत्तर के विशिष्ट कर्मों का दक्षिण मे आचरण दोषजनक होता है । इस सम्बन्ध में भट्टकुमारिल के दो वाक्यों को गोविन्दस्वामी ने उद्धृत किया है । "स्वमातुलसुता प्राप्य दाक्षिणात्यस्तु तुष्यति" "अहिच्छत्रब्राह्मण्यस्सुरां पिबन्ति" ।

इतरत् अनुपेतेन सह भोजनादि, इतरस्मिन्नुत्तरापथे कुर्वन् दुष्यति तत्रत्यैश्शिष्टैः दूष्यत इत्यर्थः । एवमूर्णाविक्रयादीनि कुर्वन्नितरत्र । तस्मादनुपेतेन सह भोजनादीनि दाक्षिणात्यैश्शिष्टैराचर्यमाणत्वात् दोषाभावाच्च तैरेव कर्तव्यानि । ऊर्णाविक्रयादीनि चोदीच्यैरेव । तदेतद्भट्टकुमारिलैर्निरूपितम्

(१) स्वमातुलसुतां प्राप्य दाक्षिणात्यस्तु तुष्यति ॥ इति ॥

---

१. शूद्रान्नभोजनेनाऽपि तुष्यन्त्यन्ये द्विजातयः । इति पूर्वार्धम् ।

[1]तथा हि—अहिच्छत्रब्राह्मण्यस्सुरां पिबन्ति ॥ इति च ॥ ५ ॥

ननु किमिति व्यवस्था ? यावता मूलश्रुतिरेप मविशेपेण कल्प्यते यथा [2]होलाकादीनाम् । यथा वा बौधायनीयं धर्मशास्त्रं कैश्चिदेव पाठ्यमानं सर्वाधिकारं भवति । गौतमीयगोभिलीये छन्दोगैरेव पठ्येते, वासिष्ठं तु बह्वृचैः, अथ च सर्वाधिकाराणि । यथा वाऽन्यानि शास्त्राणि यथा वा गृह्यशास्त्राणि सर्वाधिकाराणि, तद्वदनुपनीतसहभोजनादीन्यपि उमानि कस्मान्न भवन्तीत्याशङ्कयाऽऽह—

तत्र तत्र देशप्रामाण्यमेव स्यात् ॥ ६ ॥

अनु०—इन विशिष्ट विषयों में उसी प्रदेश के नियम को प्रमाण मानना चाहिए ॥ ६ ॥

एवं व्यवस्थितविषयैव मूलश्रुतिः कल्प्यते । किन्नामाऽनुपपत्तिर्न कल्पयतीत्यभिप्रायः । तस्माद्व्यवस्थितविपयमेवाऽनुष्ठानं तद्वर्जनं च ।

मिथ्यैतदिति गौतमः ॥ ७ ॥

अनु०—किन्तु यह मिथ्या है, ऐसा धर्मसूत्रकार गौतम का मत है ॥ ७ ॥

टि०—गौतम आदि सूत्रकारों ने इन विशिष्ट स्थानीय आचरण नियमों को प्रामाणिकता नहीं प्रदान की है, वे उन धर्मों को तभी प्रमाण मानते है जब वे श्रुति सम्मत धर्म के अविरुद्ध हों। प्राय सूत्रकारो ने यहाँ उल्लिखित विशिष्ट स्थानीय आचारों के विषय में भी प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है । गोविन्दस्वामी ने अपनी टीका में कतिपय नियमों को उद्धृत किया है ।

गौतमग्रहणमादरार्थम्, नाऽऽत्मीयं मतं पर्युदसितुम् । स ह्येवमाह—'देशजातिकुलधर्माश्चाऽऽम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्' । तद्विरुद्धो देशादिधर्मो न कर्तव्यः । तद्विरुद्धश्चाऽयम् । आह च गृत्समदः—'अनुपनीतसहभोजने द्वादशरात्रमुच्छिष्टभोजने द्विगुणम्' इति । प्रायश्चित्तविधानान्निषेधः कल्प्यते । तथा 'स्त्रिया सह भोजने त्रिरात्रोपवासो घृतप्राशनं चेति' । तथा 'पर्युषितभोजने अहोरात्रोपवासः' इति संवर्तः । तथा मातुलदुहितृगमनेऽप्याह—

---

१. तन्त्रवार्तिके शिष्टाकोपाधिकरणे—अद्यत्वेऽप्याहिच्छत्रमथुरानिवासिब्राह्मणीनां सुरापानम्, इति वाक्यमस्ति । तदेवात्राऽनूदितमिति मन्यामहे ।

२. होलाकादयो देशविशेषेष्वनुष्ठीयमाना अपि न व्यवस्थाविषया. । किन्तु सर्वैरप्यनुष्ठेया इति व्यवस्थापित होलाकाधिकरणे पूर्वमीमांसायाम् । (१.३.८.) होलाका नाम फाल्गुनपौर्णमास्या क्रियमाण उत्सवविशेषः ।

सखिभार्यां समारुह्य मातुलस्याऽऽत्मजां तथा ।
चान्द्रायणं द्विजः कुर्याच्छ्वश्रूमपि तथैव च ॥ इति ॥

तथा विवाहेऽपि—

पञ्चमीं मातृबन्धुभ्यः सप्तमीं पितृबन्धुतः ॥ इति ॥

आह च—

पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्रीयां मातुरेव च ।
मातुश्च भ्रातुराप्तां च गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

एवमूर्णाविक्रयादिष्वप्याम्नायविरोधः प्रसिद्धः । वर्णा तावदपण्येषु पठिता। शीधुपाने गौतमः–'नित्यं मद्यमपेयं ब्राह्मणस्य' इति । तथोभयदन्तव्यवहारे वसिष्ठः–'अश्वलवणमपण्यम्' इति प्रकृत्य 'ग्राम्यपशूनामेकशफाः केशिनश्च' इत्याह । तथा च श्रुतिः–'य उभयादत्प्रतिगृह्णात्यश्वं वा पुरुषं वा वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' इति प्रायश्चित्तम् । तथा आयुधीयकेऽपि 'परीक्षार्थोऽपि ब्राह्मण आयुधं नाऽऽददीत' इति । स्वयमेव पतनीयेषु समुद्रसंयानं (२.१.४१) वक्ष्यति । एवमादीन्यालोच्याऽऽम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणमित्युक्तम् । अतो 'मिथ्यैतदिति गौतमः' इत्युपपन्नं भवति ॥ ७ ॥

एतदेव स्वमतमित्याह—

[1]उभयं चैव नाऽऽद्रियेत ॥ ८ ॥

अनु०—(उत्तर और दक्षिण) दोनों ही प्रदेशों के विशिष्ट रिवाजों का आचरण नहीं करना चाहिए ॥ ८ ॥

च-शब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः । अनुपेतादि सहभोजनमूर्णाविक्रयादि चोभयमपि न कर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ ८ ॥

कस्मादित्याह—

शिष्टस्मृतिविरोधदर्शनात्[2] शिष्टागमविरोधदर्शनाच्च ॥ ९ ॥

अनु०—क्योंकि ये आचरण (मनु आदि) शिष्ट जनों की स्मृतियों के विरुद्ध है तथा शिष्ट जनों की परम्परा के विरुद्ध है ॥ ९ ॥

टि०—यह सूत्र कहीं कहीं खण्डित मिलता है । गोविन्दस्वामी ने शिष्ट का अर्थ मनु से लिया है । "शिष्टो हि मनुः" ।

---

१. उभयं त्वेव नाद्रियेत । तुशब्दः पक्ष, इति. ग. पु.

२. 'शिष्टागमविरोधदर्शनात्' इति नास्ति घ. पुस्तके सूत्रमिदमनुवदत्सु ग्रन्थान्तरेषु च ।

शिष्टागमविरोधस्तावत् स्वयमुदितः 'पञ्चधा विप्रतिपत्तिः' (१. २१.) इत्यत्र । स्मृतिविरोधश्चाऽनुपनीतादिसहभोजने प्रायश्चित्तविधानात् । शिष्टस्मृतिविरोधः मनुविरोधः । शिष्टो हि मनुः । तद्विरोधश्च । तत्स्मृतिः शिष्टस्मृतिः । शिष्टस्मृतिविरोधः सोऽपि दर्शित एव । एकसूत्रतां त्वेके मन्यन्ते । यद्वा होलाकादयो व्यवस्थितदेशविषया अप्यव्यवस्थिताः कर्तव्याः । इत्थमिमेऽपीत्यस्य चोद्यस्य व्यवस्थितदेशश्रुत्यनुमानमुक्तं 'तत्र तत्र देशप्रामाण्यमेव स्यात्' (१.२६.) इति तत्राह 'उभयं चैव नाऽऽद्रियेत शिष्टस्मृतिविरोधदर्शनात्' इति । स च विरोध उक्तः । तस्मादविरुद्धत्वाद्धोलाकाद्यनुष्ठानं सर्वाधिकारकम् । इह विरोधादनुपनीतसहभोजनादिवर्जनं सर्वाधिकारमिति विशेषः । आहुश्च न्यायविदः "विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' इति ॥ ९ ॥

अथ शिष्टदेशानाह—

[१]प्रागदर्शनात् प्रत्यक्कालकवनाद्दक्षिणेन हिमवन्तमुदक्पारियात्रमेतदार्यावर्तं तस्मिन् य आचारस्स प्रमाणम् ॥ १० ॥

अनु०—(सरस्वती नदी के) लुप्त होने के स्थान से पूर्व की ओर कालकवन नाम के वन से पश्चिम हिमालय पर्वत से दक्षिण का और पारियात्र पर्वत से उत्तर का भूभाग आर्यावर्त है, इस भूभाग मे जो आचार-नियम प्रचलित है वही प्रमाण है।

टि०—द्रष्टव्य मनु० २।२२ 'आ समुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् । तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ।'

तत्राऽपि शिष्टस्मृतिविरोधेऽनपेक्ष्यमेव ॥ १० ॥

---

१. अदर्शनः सरस्वत्या नद्या यत्र देशेऽन्तर्धानं स देशः । आर्यावर्तलक्षणं मनुनोक्तम्–आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् । तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ इति ॥ (मनु० २-२२) शूद्राणामनिरवसितानाम् (२. ४. १०) इति पाणिनिसूत्रे भगवान् पतञ्जलिः 'कः पुनरार्यावर्तः ?' इति प्रश्नमुत्थाप्य तत्समाधानत्वेन "प्रागादर्शात् प्रत्यक्कालकवनाद् दक्षिणेन हिमवन्तमुदक्पारियात्रम्" इतीदमेव सूत्रमुददीधरत् इति प्रतिभाति । तत्र "ऽऽदर्शादयः पर्वतविशेषाः" इति कैयटेन व्याख्यातम् । परन्तु बहुषु बौधायनधर्मसूत्रपुस्तकेषु हस्तलिखितेषु मुद्रितेषु च "प्रागदर्शनात्" इत्येव पाठस्समुपलभ्यते । अतः 'यत्प्राग्विनशनादपि' इति मनुवचनानुरोधेन च सूत्रे "अदर्शनात्" इत्येव पाठस्समुचितः, तस्य च यत्र सरस्वती नदी अदर्शनं गता स देशः विनशनाख्य एवाऽर्थ इत्युचितं प्रतिभाति ।

'गङ्गायमुनयोरन्तरमित्येके ॥ ११ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों के अनुसार गगा और यमुना नदियों के बीच का भूप्रदेश आर्यावर्त है ॥ ११ ॥

आर्यावर्तत्वे विकल्पः ॥ ११ ॥

अथाऽप्यत्र भाल्लविनो गाथामुदाहरन्ति ॥ १२ ॥

अनु०—इस सम्बन्ध मे भाल्लविन् शाखा के अनुयायी एक गाथा भी उद्धृत करते हैं ॥ १२ ॥

टि०—गोविन्द स्वामी की टीका मे भाल्लवियों को सामवेद की एक शाखा का बताया गया है।

आर्यावर्तान्तरप्रदर्शनार्थं भाल्लविनः छन्दोगविशेषाः। गाथा श्लोकः ॥१२॥ तमाह—

पश्चात् सिन्धुर्विसरणी सूर्यस्योदयन पुरः।
यावत्[२] कृष्णो विधावति तावद्धि ब्रह्मवर्चसमिति ॥ १३ ॥

अनु०—पश्चिम मे लुप्त होनेवाली नदी पूर्व मे सूर्य के उदय का स्थान—इनके बीच जहाँ तक कृष्णमृग पाया जाता है, वहाँ तक (अध्ययन, ज्ञान, अनुष्ठान से उत्पन्न) ब्रह्मतेज भी पाया जाता है ॥ १३ ॥

टि०—'सिन्धुः विसरणी' का सामान्यतः लुप्त होनेवाली नदी अर्थ लिया गया है, किन्तु 'विकरणी' या 'विकरण' पाठ भी मिलता है जिसका अर्थ विभाजन करनेवाली नदी है। 'सिन्धु-विसरणी' से सरस्वती का अर्थ लेना अधिक संगत प्रतीत होता है।

कृष्णः कृष्णमृगः। ब्रह्मवर्चस अध्ययनज्ञानानुष्ठानाभिजनसम्पत्। म्लेच्छदेशस्त्वतः परम् ॥ १३ ॥

तदाह—

अवन्तयोऽङ्गमगधाः सुराष्ट्रा दक्षिणापथाः।
उपावृत्सिन्धुसौवीरा एते संकीर्णयोनयः ॥ १४ ॥

---

१. अस्य च मूलम्—तैत्तिरीयारण्यके द्वितीयप्रपाठकान्तिमानुवाकस्थं "नमो गङ्गायमुनयोर्मुनिभ्यश्च नमः" इति वाक्यमिति विभावयामः।

२. कृष्णा विधावन्तीति क. पु. अत्र वासिष्ठान्यपि सूत्राणि प्रायश इमान्येवाऽनुकुर्वन्ति।

अनु०—अवन्ति, अङ्ग, मगध, सुराष्ट्र, दक्षिणापथ, उपावृत्, सिन्धु देशों के निवासी तथा सौवीर संकीर्णयोनि (मिश्रित उत्पत्तिवाले) होते हैं ॥ १४ ॥

टि०—इस गाथा का भाव यह है कि इन देशों मे जो नियम या आचार प्रचलित है वे प्रामाणिक नहीं हैं, क्योंकि इन देशों के निवासियों की उत्पत्ति शुद्ध नहीं है।

[1]स्त्रीपु व्यवस्था नाऽस्तीति यावत । अवन्त्यादिषु कल्याणाचारो नाऽस्ति ॥ १४ ॥

किञ्च–केचिद्देशाः प्रवेशार्हा अपि न भवन्ति । तत्प्रवेशे प्रायश्चित्तविधानात् । तत्र दूरोत्सारितमाचारग्रहणमित्याह–

आरट्टान् कारस्करान् पुण्ड्रान् सौवीरान् वंगान् कलिङ्गान् प्रानूनानिति च गत्वा पुनस्तोमेन यजेत सर्वपृष्ठया वा ॥ १५ ॥

अनु—आरट्ट, कारस्कर, पुण्ड्र, सौवीर, वंग, कलिंग, प्रानून—इनमें से किसी प्रदेश की यात्रा करने पर (प्रायश्चित्तस्वरूप) पुनस्तोम या सर्वपृष्ठा इष्टि करनी चाहिए ॥ १५ ॥

टि०—इस सूत्र के अनुसार उपर्युक्त प्रदेशों मे प्रवेश करना पापजनक या दोष का कारण होता है और उसके लिए प्रायश्चित्त करना होता है। अवन्ती प्रयाग से पश्चिमोत्तर प्रदेश, अंग पूर्वी बंगाल, मगध बिहार, सौराष्ट्र दक्षिणी काठियावाड का प्रदेश है। सौवीर सम्भवतः पश्चिमी-दक्षिणी पंजाब के निवासी थे।

आरट्टों का निवासस्थान पंजाब था, कारस्कर सम्भवतः दक्षिण भारतीय थे। कलिंग कृष्णा नदी के मुहाने और उड़ीसा के बीच का प्रदेश है। उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण ७।१८ में तथा महाभारत मे भी है। इस विषय मे ब्यूह्लेर के अंग्रेजी अनुवाद की टिप्पणी द्रष्टव्य है।

[2]पुनस्तोमो नाम एकाहः । इष्टप्रथमसोमस्यैव प्रायश्चित्तमेकाहकाण्डोक्तं द्रष्टव्यम् । 'यदि पद्भ्यामेव विशेषं कुर्वीतैष ह वै पद्भ्यां पापं करोत्यारट्टान् कारस्करान् पुण्ड्रान् सौवीरान् वा गच्छति' इति । [3]सर्वपृष्ठेष्टिस्त्वाहिताग्नि-

---

१. स्त्रीपुंसयोरिति, ग. पु.

२. अथैष पुनस्तोमः "यो बहु प्रतिगृह्य गरगीरिव मन्येत स एतेन यजेत" (ता. ब्रा. १९.४. १) (का. श्रौ. २२.१०.१६) इत्यनेन यो विहितस्सोमयाग एकाहात्मकः सः । एकसुत्याकस्सोमयाग एकाह इत्युच्यते ।

३. बृहत्, रथन्तर वैरूप, वैराज, शाक्वर, रैवताख्यानि, षट् सामानि पृष्ठाख्यस्तोत्रसाधनभूतानि । तत्प्रतिपाद्यगुणविशिष्ट इन्द्रो देवताऽस्या इष्टेरिति कृत्वा इष्टिरियं सर्वपृष्ठेष्टिरिति कथ्यते ।

मात्रस्य। सा च 'य इन्द्रियकामो वीर्यकामस्स्या'दित्यत्र विहिता। अनाहिताग्नेस्तु वक्ष्यति—'प्रतिषिद्धदेशगमन' इति ॥ १५ ॥

पुनरप्याहिताग्नेरेव देशान्तरगमने प्रायश्चित्तमाह—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

पद्भ्यां स कुरुते पापं यः कलिङ्गान् प्रपद्यते।
ऋषयो निष्कृतिं तस्य प्राहुर्वैश्वानरं हविः ॥ १६ ॥

अनु०—इसी विषय मे एक और गाथा कही जाती है—जो कलिङ्ग देश की यात्रा करता है वह पैरों से पाप करता है, उसके प्रायश्चित्त के लिए ऋषियों ने वैश्वानरी इष्टि का विधान किया है ॥ १६ ॥

टि०—कलिंगगमन के लिए १५ के अन्तर्गत उद्धृत गाथा में पुनस्तोम या सर्वपृष्ठ इष्टि का प्रायश्चित्त बताया गया है, उसका अन्य विकल्प वैश्वानरी इष्टि भी है। गोविन्दस्वामी ने एक विशिष्टता प्रदर्शित की है कि आरट्ट आदि में न केवल प्रवेश के लिए अपितु वहाँ के लोगों के साथ बोलने, उठने-बैठने के लिए भी प्रायश्चित्त करना होता है, किन्तु कलिंग मे यात्रामात्र के लिए ही प्रायश्चित्त करना होता है।

वैश्वानरं हविः वैश्वानरेष्टिः। एषा च कलिङ्गगमने सर्वपृष्ठया सह विकल्प्यते। अथ वा—आरट्टादिषु न गमनादेव प्रायश्चित्तं किं तर्हि सम्भाषणसहासनादिभिरपि। कलिङ्गे पुनर्गमनमात्रमिति विशेषः ॥ १६ ॥

अथाऽप्याह—

बहूनामपि दोषाणां कृतानां दोषनिर्णये।
पवित्रेष्टिं प्रशंसन्ति सा हि पावनमुत्तमामिति ॥ १७ ॥

अनु०—अनेक दोषों या पापों के करने पर दूर करने के लिए पवित्रेष्टि की ही प्रशंसा की गयी है ? वही सर्वाधिक पवित्र करनेवाली इष्टि है।

निर्णये नितरां नये अपनोदने। पवित्रेष्टिश्च यज्ञप्रायश्चित्तेषु प्रसिद्धा ॥१७॥

अथैतत्प्रसङ्गादाह—

'वैश्वानरीं व्रातपतीं पवित्रेष्टिं तथैव च।

१. वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् (तै. सं. २.२.६) इति विहितेष्टिर्वैश्वानरी। अग्नये व्रतपतये पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद्य आहिताग्निस्सन्नार्त्यामिव 'परेत्

ऋतावृतौ प्रयुञ्जानः पापेभ्यो विप्रमुच्यते [२]पापेभ्यो विप्रमुच्यत इति ॥ १८ ॥

अनु०—जो वैश्वानरी इष्टि, व्रातपती इष्टि तथा पवित्रेष्टि को क्रमशः प्र ऋतु मे करता है वह सभी पापों से पूर्णतः मुक्त हो जाता है।

पवित्रेष्ट्याः पूर्वत्र ग्रहणं प्रशंसार्थम्। इह तु ऋतावृताविति कालवि नार्थम्। आसामेकैकस्या एव प्रयोगः। द्विरुच्चारणमादरार्थं विशेषज्ञाप वा ॥ १८ ॥

इति प्रथमप्रश्ने प्रथमाध्याये द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

प्रथमाध्याये तृतीयः खण्डः

ब्रह्मचर्यमुपायच्छेत् गुरुशुश्रूषणं तथा।
समिद्भैक्षगुरूक्तीनां प्रायश्चित्तं विधीयते ॥

अथ ब्रह्मचर्यं प्रस्तूयते—तच्च समिदाधान भिक्षाचरणमाचार्योक्त स्वाध्यायाध्ययनं चेति। तच्चैतत् 'ब्राह्मणो वै ब्रह्मचर्यमुपयच्छंश्चतुर्धा भूता (१.४.७) इत्यत्र स्पष्टीकरिष्यति। तत्कियन्तं कालं चरितव्यमित्यत आह-

अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि पौराण वेदब्रह्मचर्यम् ॥ १ ॥

अनु०—वेद के अध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य की अवधि पुराने लोगो ने अड़ता वर्ष की निर्धारित की है।

टि०—यज्ञोपवीत के बाद अड़तालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य वेदाध्ययन के निर्धारित था। पुराण से कृतयुगपुरुष, मनु आदि का अर्थ लिया जाता है। द्र गोविन्दस्वामी। अथवा पुराण से वेद का अर्थ लेंगे और वे 'तत्र भव पौरा अथवा इतिहास पुराण से उत्पन्न।

(तै. सं. २.२.२.२) इति विहितेष्टिर्व्रातपती। अग्नये पवमानाय पुरोडाशम कपालं निर्वपेत, अग्नये पावकाय, अग्नये शुचये, इतीष्टित्रयम्, पूर्वोक्ताभ्यां वैश्वा व्रातपतीभ्यां सहेष्टिपञ्चकं पवित्रेष्टिरित्युच्यते।

पुरातनं पुराणं पौराणं कृतयुगपुरुषचरितम् । किं तत् ? वेदस्वीकरणार्थं[1] ब्रह्मचर्यं उपनयनात्प्रभृत्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षपरिमितं च । तदिदानीन्तनैरपि कर्तव्यमिति वाक्यशेषः । यद्वा— पौराणं पुराणैर्मन्वादिभिरनुष्ठितमाचरितं च । अथ वा-अनादित्वात् पुराणो वेदः तत्र भवं पौराणम् । यद्वा—प्रसिद्धेतिहास-पुराणप्रभवम् ॥ १ ॥

तस्यैव परिमाणान्तरमाह—

चतुर्विंशतिं द्वादश वा प्रतिवेदम् ॥ २ ॥

अनु०—अथवा प्रत्येक वेद के लिए चौबीस या बारह वर्ष के ब्रह्मचर्य का आचरण करे ॥ २ ॥

वर्षाणीत्यनुवर्तते । वाशब्दश्च प्रत्येकमभिसम्बध्यते ॥ २ ॥

संवत्सरावमं वा प्रतिकाण्डम् ॥ ३ ॥

अनु०—अथवा प्रत्येक काण्ड के लिए एक वर्ष के ब्रह्मचर्य का पालन करे ॥३॥

टि०—'संवत्सरावमम्' 'संवत्सराधिकम्' वा गोविन्द स्वामी । काण्ड पाँच हैं—प्राजापत्य, सौम्य, आग्नेय, वैश्वदेव, स्वायम्भुव । ब्यूहलेर ने तैत्तिरीय संहिता के सात काण्डों का निर्देश किया है । द्र० सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, पृ० १४९, टि० ३ ।

प्राजापत्यादीनां [1]पञ्चानामपि काण्डानामेकैकस्मिन् काण्डे संवत्सरावमं वा संवत्सरावधिकमित्यर्थः । प्रतिशब्दो वीप्सार्थः ॥ ३ ॥

ग्रहणान्तं वा ॥ ४ ॥

अनु०—अथवा जब तक वेद का ग्रहण न करले तब तक ब्रह्मचर्य का आचरण करे ॥ ४ ॥

टि०—इस नियम के अनुसार वर्षों की किसी संख्या द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि का निर्देश नहीं किया गया है, अपितु वेद के अध्ययन, अर्थावबोध और ज्ञान को ही आवश्यक माना गया है । जब तक वेदविद्या का ज्ञान और अर्थावबोध न हो जाय तब तक दूसरे आश्रम में प्रवेश नहीं करना चाहिए ।

यावता कालेन वेदस्वीकरणं भवति तावन्तं कालम् । एते च विकल्पास्सामर्थ्यापेक्षया द्रष्टव्याः । एतदुक्तं भवति—यावद्वेदस्वीकरणं तदर्थावबोधश्च न जायते तावन्नाऽऽश्रमान्तरप्रवेशाधिकार इति । तावदधीतवेदैराश्रमान्तर-प्रवेशः कार्यः, स त्वधीतवेदाविप्लुतब्रह्मचर्येण च कार्यः ।

१. प्राजपत्यसौम्याग्नेयवैश्वदेवस्वायम्भुवानि पञ्च काण्डानि । एतेषां स्वरूपं गृह्ये (३. १०.) द्रष्टव्यम् ।

आह च—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेद वाऽपि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥ इति ॥

तथा च श्रुतिः—'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधान गुरोः कर्मातिशेषेणाऽभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे' इत्यादि ॥ ४ ॥

अधुना ग्रहणान्तपक्षमेव स्थापयितुं हेतुमाह—

जीवितस्याऽस्थिरत्वात् ॥ ५ ॥

अनु०—क्योंकि जीवन अनिश्चित है ॥ ५ ॥

टि०—इस सूत्र के अनुसार ब्रह्मचर्य की अवधि बहुत लम्बी नहीं होनी चाहिए क्योंकि आयु अनिश्चित है, और ब्रह्मचर्य की अवधि लम्बी होने पर अग्निष्टोम आदि अनेक यज्ञ कर्मों के लिए समय नही रह जायगा ।

पौराणिकादिवेदब्रह्मचर्यचरणं न कार्यम्, श्रौतस्य कर्मणोऽग्निहोत्रादेर्विच्छेदप्रसङ्गात् । किमिति विच्छेदः जीवितस्याऽस्थिरत्वात् ॥ ५ ॥

ननु कश्चित् कर्ता तावन्तं कालं जीवेदिति तेनैवाऽग्निहोत्रादि करिष्यते । तस्मान्न पूर्वेषां पक्षाणां त्यागो युक्त इत्याशङ्क्य श्रुतिविरोधमेव दर्शयति—

कृष्णकेशोऽग्नीनादधीतेति श्रुतिः ॥ ६ ॥

अनु—श्रुति मे कहा गया है कि केशों के काले रहते ही अग्नियों का आधान करना चाहिए ॥ ६ ॥

अनया श्रुत्या विरोधात्स्मार्तानां पूर्वेषां पक्षाणां त्यागः ॥ ६ ॥

अथेदानीं ब्रह्मचर्यस्य उपनयनानन्तरारम्भं दर्शयितुमनुपनीतस्य शास्त्रचोदितकर्मानधिकारमाह—

नाऽस्य कर्म नियच्छन्ति किञ्चिदा मौञ्जिबन्धनात् ।
वृत्त्या शूद्रसमो ह्येष यावद्वेदेषु जायत इति ॥ ७ ॥

अनु०—मौञ्जीबन्धन (उपनयन संस्कार) के पहले बालक के कर्मों पर धर्माचार्य कोई बन्धन नही रखते । जब तक उसका पुनः जन्म वेद के माध्यम से नहीं होता तब तक वह आचरण से शूद्र के समान होता है ॥ ७ ॥

प्रायशो नियमरूपत्वाद्विधीनां नियच्छन्तीत्युक्तम् । तथा च गौतमः—'यथोपपातमूत्रपुरीषो भवती'ति । ननु किमिति तस्य धर्मानधिकारः ? यावता सोऽपि त्रैवर्णिक एव । सत्यम्, तथाऽपि वृत्त्या शूद्रसमो ह्येषः । वृत्तिर्वर्तनमा-

चारः । तथा च गौतमः—'प्रागुपनयनात्कामचारवादभक्ष' इति । वेदजननमस्योपनयनम् । ननु प्रागुपनयनाच्छूद्रसम इत्यत्राऽतिदेशान्मधुपानादिष्वप्यदोषस्स्यात् । नैतदेवम् , शूद्रसम इत्यतिदेशान्न स्वयं शूद्रः, ततश्च न स्वजात्याश्रयधर्मनिवृत्तिर्भवति । जात्याश्रयश्च मधुपानादिप्रतिषेधः 'मद्यं नित्यं ब्राह्मण' इत्यादिस्मृतेः । अत्र पूर्वेणाऽर्धेन विध्यभावमाह । उत्तरेण च प्रतिषेधाभावम् ॥ ७ ॥

उपनयनस्य कालमाह—

गर्भादिस्सङ्ख्या वर्षाणां तदष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेत् ॥ ८ ॥

अनु०—(उपनयन काल के लिए) वर्षों की संख्या गर्भ के समय से गिनी जाती है, गर्भकाल से आठवें वर्ष मे ब्राह्मण का उपनयन करना चाहिए ॥ ८ ॥

तदष्टमेषु गर्भाष्टमेष्वित्यर्थः । 'छन्दोवत्सूत्राणी'ति व्यत्ययेन परस्मैपदम् । यद्यपि गर्भादिस्सर्वोऽप्युपनयनस्य कालः, तथाऽपि प्राक्पञ्चमादसामर्थ्यान्निवृत्तिः पञ्चमप्रभृतिरिष्यत एव । 'पञ्चमे ब्रह्मवर्चसकामः' इत्य दिश्रुतितस्तदादिरेव गृह्यते ॥ ८ ॥

त्र्यधिकेषु राजन्यमुपनयीत ॥ ९ ॥

अनु०—(ब्राह्मण की अपेक्षा) तीन वर्ष अधिक काल में क्षत्रिय का उपनयन करे । अर्थात् गर्भ से ग्यारहवें वर्ष मे क्षत्रिय का उपनयन होना चाहिए ॥ ९ ॥

गर्भैकादशेष्विति यावत् ॥ ९ ॥

तस्मादेकाधिकेषु वैश्यम् ॥ १० ॥

अनु०—(क्षत्रिय से) एक वर्ष अधिक मे वैश्य का उपनयन करे । अर्थात् गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य का उपनयन हो ॥ १० ॥

गर्भद्वादशेष्वित्यर्थः ॥ १० ॥

अत्राऽपि विशेषमाह—

[२]वसन्तो ग्रीष्मश्शरदित्यृतवो वर्णानुपूर्व्येण ॥ ११ ॥

अनु०—वर्णक्रमानुसार वसन्त, ग्रीष्म और शरद् मे उपनयन की ऋतुएँ होती हैं ॥ ११ ॥

---

१. गर्भे ब्रह्मवर्चसकामम्, इत्यापस्तम्बस्सत्याषाढश्च । गृह्यसूत्रेऽप्येवमेव । मनुस्तु पञ्चममेव स्मरति । मनु २, ३७,

२. Cf सू० १०. ४. of आपस्तम्बगृह्यसूत्र ।

उदगयनमात्रेऽपि केचिदिच्छन्ति । आह चाऽऽश्वलायनः—'उदगयन आपूर्यमाणपक्षे कल्याणे नक्षत्रे चौलकर्मोपनयनगोदानविवाहाः' इति । तस्मादुदगयनेऽपि योग्य नक्षत्रमारभ्य । तदुपनयन कर्तव्यम् । अथ कस्माद्वसन्तादावुपनयनोपसंहारो न भवति ? । उच्यते-उदगयनशब्दानर्थक्यप्रसङ्गान्नोपसंहारो युक्तः । उदगयन एव हि वसन्तो नाऽन्यत्र । तस्माद्वसन्तेऽप्युपनयन कर्तव्यम । वसन्तादिश्रुतिः किमर्था ? [1]विशेषज्ञापनार्था । अतश्च शुक्रास्तमयादिविरोधे सत्यपि वसन्ते कर्तव्यमिति वाक्यार्थः ॥ ११ ॥

गायत्रीत्रिष्टुब्जगतीभिर्यथाक्रमम् ॥ १२ ॥

अनु०—वर्णक्रमानुसार गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती मन्त्रों से उपनयन करना चाहिए ॥ १२ ॥

उपनयीतेति शेषः ॥ १२ ॥

आ षोडशाद् द्वाविंशादाचतुर्विंशादित्यनात्यय एषां क्रमेण ॥ १३ ॥

अनु०—वर्णक्रमानुसार सोलहवें, बाइसवें और चौबीसवें वर्ष तक उपनयन का समय बीता हुआ नहीं माना जाता ॥ १३ ॥

अनात्ययः अनतिक्रमः उपनयनकालस्य ॥ १३ ॥

मौञ्जी धनुर्ज्या शाणीति मेखलाः ॥ १४ ॥

अनु०—वर्ण क्रम के अनुसार ही मूंज की (ब्राह्मण की), धनुष की डोरी (क्षत्रिय की) की तथा पटसन की (वैश्य की) मेखला होती है ॥ १४ ॥

एषां क्रमेणेत्यनुषज्यते । मौञ्जी ब्राह्मणस्य मेखलेत्यादि ॥ १४ ॥

कृष्णरुरुबस्ताजिनान्यजिनानि ॥ १५ ॥

अनु०—वर्णक्रम के अनुसार काले मृग, चितकबरे मृग तथा बकरे का चर्म अजिन होना चाहिए ॥ १५ ॥

एषां क्रमेण । अजिनशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । कृष्णाजिनं ब्राह्मणस्येत्यादि । पुनरजिनग्रहणात् [2]कुशशरजातिकं वा उत्तरीयं स्मृत्यन्तराद्वेदितव्यम् । न त्वेवाऽनुत्तरीयस्स्यादित्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

मूर्धललाटनासाग्रप्रमाणा याज्ञिकस्य वृक्षस्य दण्डाः ॥ १६ ॥

अनु०—वर्णक्रमानुसार सिर, ललाट और नासिका के अग्रभाग तक की ऊँचाई वाले (पलाश आदि) याज्ञिक वृक्षों के दण्ड होने चाहिए ॥ १६ ॥

---

१. प्रशसाज्ञापनार्था इति क० पु. २. कुशरज्ज्वादिक इति ग. पु.

एषां क्रमेणेत्यनुपज्यते । याज्ञिकवृक्षविशेषाः पलाशादयो[1] गृह्य एवोक्ताः । तेषां मध्ये प्रतिगृह्णीयादीप्सितं दण्डम् ॥ १६ ॥

भिक्षाचरणे कर्तव्ये ब्राह्मणस्य तावन्मन्त्रोद्धारमाह—

भवत्पूर्वां भिक्षामध्यां याच्ञान्तां चरेत् सप्ताक्षरां क्षां च[2] हिञ्च न वर्धयेत् ॥ १७ ॥

अनु०—'भवत्' को प्रारम्भ मे 'भिक्षा' को मध्य मे तथा याचनार्थक क्रियापद को अन्त मे रखते हुए सात अक्षर के मन्त्र (वाक्य) का उच्चारण करते हुए भिक्षा चरण करे, किन्तु (भवति भिक्षा देहि' जैसे वाक्य में) क्षा और हि का उच्च स्वर से उच्चारण न करे ॥ १७ ॥

भिक्षामन्त्रं व्यक्तमेवोच्चरेत् भवच्छब्दपूर्वां भिक्षाशब्दमध्यां याच्ञाप्रतिपादकशब्दान्तां सप्ताक्षरां चरेत् । एवं हि 'भवति भिक्षां देहि' इति सम्पन्नो भवति । तत्र च क्षाहिशब्दे न वर्धयेत् नोच्चैराचक्षीतेत्यर्थः । वचने अवचने कण्वनिपातः (?) । उच्चैराचक्षीतेति विधिर्गम्यते । यद्वा–ओदनादिर्देयद्रव्यभेदे दातृभेदे च न वर्धयेत् । द्विवचनबहुवचन प्रयोगो न कर्तव्य इत्यर्थः । एवमुच्चारणमदृष्टार्थं भवति ॥ १७ ॥

अथ वर्णानुपूर्व्येण भिक्षामन्त्रोच्चारणवेलायां भवच्छब्दप्रयोगदेशमाह—

[3]भवत्पूर्वां ब्राह्मणो भिक्षेत भवन्मध्यां राजन्यो भवदन्त्यां वैश्यस्सर्वेषु वर्णेषु ॥ १८ ॥

अनु०—ब्राह्मण (भिक्षा मन्त्र मे) 'भवत्' शब्द को पहले रखते हुए, क्षत्रिय 'भवत्' को मध्य मे रखते हुए तथा वैश्य 'भवत्' को अन्त मे रखते हुए भिक्षाचरण करे और सभी वर्ण से भिक्षा माँगे ॥ १८ ॥

टिप्पणी—सभी वर्ण से यहाँ केवल प्रथम तीन वर्णों से तात्पर्य है, शूद्र से नहीं: 'प्रकृताश्च त्रैवर्णिकाः, ततश्च पर्युदस्तश्शूद्रः ।'–गोविन्दस्वामी ।

ब्राह्मणग्रहणं वर्णान्तरार्थमनुवादः । वर्णग्रहणेनैव सार्ववर्णिकभैक्षाचरणे सिद्धे सर्वग्रहणात् प्रकृतिविषयमिति गम्यते । प्रकृताश्च त्रैवर्णिकाः, ततश्च पर्युदस्तश्शूद्रः । ननु प्रतिलोमपर्युदासार्थः स किमिति न भवति ? भवतु यदि शूद्रान्नभोजनप्रतिषेधपराणि वाक्यानि न स्युः, सन्ति हि तानि ॥ १८ ॥

---

१. बौधायनगृह्ये द्वितीयप्रश्ने षष्ठखण्डे द्रष्टव्यम् । २. 'भि' इत्यपि पाठः ।
३. Cf. आपस्तम्बधर्मसूत्र. १. ३. २८–३०.

ते ब्राह्मणाद्यास्स्वकर्मस्थाः ॥ १९ ॥

अनु०—भिक्षाचरण ब्राह्मण आदि से ही करे जो अपने वर्णानुसार कर्म का आचरण करने वाले हों ॥ १९ ॥

स्वकर्मसु प्रसिद्धाः । तथा चाऽऽह गौतमः—'सार्ववर्णिकं भैक्षाचरणमभिशस्तपतितवर्जमि' ति । ननु 'द्विजातिषु स्वकर्मस्थेषु' इति सूत्रयितव्ये किमिति सूत्रद्वयारम्भः ? सत्यम्, अयं ह्याचार्यो नातीव ग्रन्थलाघवप्रियो भवति । अथवा आरम्भसामर्थ्यादेव प्रशस्ताभावे सत्यप्रशस्तद्विजातिष्वपि न दोष इति गम्यते ।

आह च मनुः—

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।
ब्रह्मचार्याहरेद् भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥
सर्वं हि विचरेद् ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
गौतमीयेऽपि सर्ववर्णग्रहणमप्रशस्तपरिग्रहार्थमेव ॥ १९ ॥

उक्तं भिक्षाचरणं ब्रह्मचर्ये । अथ समिदाधानमाह—

सदाऽरण्यात्समिध आहृत्याऽऽदध्यात् ॥ २० ॥

अनु०—प्रतिदिन वन से समिध् लाकर उनका अग्नि के ऊपर आधान करे ॥ २० ॥

अग्नाविति शेषः । अरण्यग्रहणं ससमित्कदेशप्रदर्शनार्थम् ॥ २० ॥

सत्यवादी ह्रीमाननहङ्कारः ॥ २१ ॥

अनु०—ब्रह्मचारी सत्यभाषी, लज्जाशील तथा अहङ्कार हीन होवे ॥ २१ ॥

स्यादिति शेषः ॥ २१ ॥

[1]पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी ॥ २२ ॥

अनु०—(गुरु से) पहले सोकर उठे और रात्रि में गुरु के सोने के बाद शयन करे ॥ २२ ॥

गुरोस्स्यादिति शेषः ॥ २२ ॥

सर्वत्राऽप्रतिहतगुरुवाक्योऽन्यत्र पातकात् ॥ २३ ॥

अनु०—उन कर्मों के आदेशों को छोड़कर, जिनके करने से पतित होने का विधान है, गुरु के सभी आदेशों का तत्काल पालन करना चाहिए ॥ २३ ॥

---

१. Cf आपस्तम्बधर्म १

गुरोर्वाक्यप्रतिघातः तदर्थाकरणं विडम्बनं वा । सोऽत्र दृष्टादृष्टार्थेषु कर्मसु । यद्वा—विद्याग्रहणात् प्रभृत्यूर्ध्वं च । अन्यत्र पातकात् पतनीयात् यस्मिन् गुरूक्तकर्माणि कृते ब्रह्महत्यादिना पतितो भवति तद्वर्जयेदित्यभिप्रायः ।

[1]यावदर्थसम्भाषी स्त्रीभिः ॥ २४ ॥

अनु०—स्त्रियों के साथ उतनी ही बात करे जितना प्रयोजन हो ॥ २४ ॥

बहुभाषणादतिप्रसङ्गस्सम्भवेदिति ॥ २४ ॥

नृत्तगीतवादित्रगन्धमाल्योपानच्छत्रधारणाञ्जनाभ्यञ्जनवर्जी ॥२५॥

अनु०—नृत्य, गीत, वादन, सुगन्धित द्रव्य का प्रयोग, मालाधारण, जूते और छाते का प्रयोग, आँखों में अंजन का प्रयोग, (सिर पर या शरीर पर) अभ्यञ्जन का प्रयोग—इन सबका वर्जन करे ॥ २५ ॥

वादित्रं पटहादि, गन्धश्चन्दनादि, माल्यं पुष्पादि, गन्धादिषु च त्रिषु धारणशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते—गन्धधारणमित्यादि । उपानद्ग्रहणं पादुकाया अप्युपलक्षणार्थम् । अञ्जनमक्ष्णोः । अभ्यञ्जनं शिरसि ।

दक्षिणं दक्षिणेन सव्यं सव्येन चोपसंगृह्णीयाद्दीर्घमायुः स्वर्गं चेच्छन् ॥ २६ ॥

अनु०—यदि दीर्घ आयु और स्वर्ग की इच्छा हो तो (गुरु के) दाहिने पैर को दाहिने हाथ से तथा बायें पैर को बाँये हाथ से स्पर्श करता हुआ प्रणाम करे ॥२६॥

टिप्पणी—आपस्तम्ब धर्म० १.२.५.२१ तथा विष्णु० २७.१५ में गुरु के चरण स्पर्श का नियम विशेष रूप से द्रष्टव्य है । कुछ पुस्तकों में इस सूत्र को दो भागों में विभक्त कर दिया गया है । आपस्तम्ब १.२.४.१५ में भी इसी प्रकार का अदृष्ट फल संयुक्त है ।

दक्षिणं पादं दक्षिणेन पाणिना स्पृशेत् । इतरं चेतरेण । तदभिमुख एव । आह च—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ॥ इति ॥

दीर्घमायुर्ध्यायन् स्वर्गं च ॥ २६ ॥

'असावहं भो' इति श्रोत्रे संस्पृश्य मनस्समाधानार्थम् ॥ २७ ॥

अनु०—प्रणाम के समय अपने चित्त को एकाग्र करने के लिए कानों का स्पर्श करते हुए तथा 'असौ अहं' (अपना नाम लेकर) भोः' कहना चाहिए ॥ २७ ॥

१. *Cf* आपस्तम्बधर्म १. ३. १६.

उपसंग्रहणवेळायां च स्वश्रोत्रसंस्पर्शः कर्तव्यः चित्तसमाधानार्थम्। तत्र मन्त्रः—'असावहं भोः' इति। अस्मीति वाक्यसमाप्तिः। असावित्यात्मीयनामग्रहणम्। [1]गोविन्दशर्मा नामाऽस्मीति प्रयोगः॥ २७॥

पादयोः कियान् देश उपसंग्राह्य इत्यत आह—

[2]अधस्ताज्जान्वोरा पद्भ्याम्॥ २८॥

अनु०—(पैरों का कितना भाग स्पर्श करे इस विषय में नियम है कि) घुटनों से नीचे पैरों तक के भाग का स्पर्श करना चाहिए॥ २८॥

उपसंगृह्णीयादिति शेषः॥ २८॥

तत्राऽपवादमाह—

नाऽऽसीनो नाऽऽसीनाय न शयानो न शयानाय नाऽप्रयतो नाऽप्रयताय॥ २९॥

अनु०—ब्रह्मचारी बैठे हुए अथवा बैठे हुए गुरु को, स्वयं लेटे हुए या लेटे हुए गुरु को, स्वयं अपवित्र रहने पर या गुरु के अपवित्र रहने पर प्रणाम न करे॥२९॥

उपसंगृह्णीयादित्यनुवर्तते। अप्रयतोऽशुचिः॥ २९॥

[3]**काममन्यस्मै साधुवृत्ताय गुरुणाऽनुज्ञातः॥ ३०॥**

अनु०—ब्रह्मचारी यदि चाहे तो गुरु की आज्ञा से अन्य उत्तम आचरण वाले विद्वान् के चरणों का भी स्पर्श कर सकता है॥ ३०॥

टि०—प्रायः सभी पुस्तकों में यह सूत्र ऊपर के सूत्र २६ के अंश के रूप में आया है, किन्तु टीका के आधार पर इसे ३० वें सूत्र के स्थान पर रखा गया है। द्रष्टव्य-पाद टिप्पणी।

गुरोरन्यस्मै साधुवृत्ताय अनुष्ठानपराय विदुषे गर्वनुज्ञया तत्सन्निधावप्युपसंगृह्णीयात्। कामग्रहणान्निवृत्तिरपि प्रतीयते। असन्निधौ तु विनाऽप्यनुज्ञया कुर्यादेव॥ ३०॥

---

१. अत्र ग्रन्थकर्ता प्रयोगप्रदर्शनव्याजेन स्वनाम निर्दिशति।

२. 'सकुष्ठिकमुपसंगृह्णीयात्' इत्यापस्तम्बः। सगुल्फमित्यर्थः। १५. २१.

३. सूत्रमिदं २६ सूत्रानन्तरमेव पठितं सर्वेष्वपि मूलपुस्तकेषु। व्याख्यानपुस्तकेषु तु सर्वत्राऽत्रैव पठितमुचितं च।

[1]शक्तिविषये मुहूर्तमपि नाऽप्रयतस्स्यात् ॥ ३१ ॥

अनु०—(ब्रह्मचारी या अन्य व्यक्ति भी आचमन या स्नान से शुद्धि करना) संभव हो तो एक क्षण भी अपवित्र न रहे ।। ३१ ।।

शक्ताविति वक्तव्ये विषयग्रहणं ब्रह्मचारिणोऽन्यस्य वा प्राप्त्यर्थम् । स्नाननिमित्ते स्नायादेव, आचमननिमित्तेऽप्याचामेदिति ॥ ३१ ॥

अथ पर्युदस्यति—

समिद्धार्युदकुम्भपुष्पान्नहस्तो नाऽभिवादयेद्यच्चाऽन्यदप्येवं युक्तम् ॥३२॥

अनु०—समिध् लिये हुए, हाथ में जल का घड़ा, पुष्प या अन्न लिये रहने पर या इसी प्रकार अन्य (पितृ देवता अग्नि संबन्धी) कार्य में संलग्न होने पर इसी प्रकार के कर्मों में संलग्न गुरु का अभिवादन न करे ।। ३२ ।।

समिद्धारी समित्पाणिः । उदकुम्भादिषु हस्तशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । एवं युक्तं पितृदेवताग्निकार्यादिषु व्यापृतो व्यापृतमपि नाऽभिवादयेत् ॥ ३२ ॥

न समवायेऽभिवादनमत्यन्तशः ॥ ३३ ॥

अनु०—गुरु के अत्यन्त समीप स्थित होकर अभिवादन न करे ।। ३३ ।।

अत्यन्तशस्समवायेऽत्यन्तसमीपे स्थित्वेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

भ्रातृपत्नीनां युवतीनां च गुरुपत्नीनां जातवीर्यः ॥ ३४ ॥

अनु०—युवावस्था प्राप्त करने पर भाई की युवती पत्नी या गुरु की युवती पत्नी का चरण स्पर्श कर अभिवादन न करे ।। ३४ ।।

टि०—सूत्र में 'च' शब्द से अन्य निकट संबन्ध वाली युवती स्त्रियों यथा चाची आदि का ग्रहण करना चाहिए ।

'न समवायेऽत्यन्तश' इति वर्तते । जातवीर्यो जातशुक्लः । चशब्दात्पितृव्यादिपत्नीनामपि युवतीनाम । स्थविराणां बालानां च न दोषः ॥ ३३ ॥

नौशिलाफलककुञ्जरप्रासादकटकेषु चक्रवत्सु चाऽदोषं सहासनम् ॥३५॥

अनु०—नौका, शिला, फलक, हाथी, मकान की छत, चटाई या पहियेदार यानों पर उनके (अर्थात् गुरु, उनकी पत्नी आदि के) साथ बैठने में कोई दोष नहीं होता ।। ३५ ।।

टि०—इस सूत्र से यह अर्थ ध्वनित है कि इन स्थानों के अतिरिक्त अन्यत्र एक साथ बैठने से दोष उत्पन्न होता है ।

---

१. समानाकारमेव सूत्रमापस्तम्बीये । Cf with आपस्तम्बधर्म. १. १५ ८.

चक्रवन्तो रथशकटादयः। इतरे प्रसिद्धाः। एषु गुरुणा तत्पत्न्याभिर्वा सहासनं अदोषं दोषावहं न भवति। एषु सहासनाभ्युपगमादन्यत्र सदोषं सहासनमिति गम्यते ॥ ३५ ॥

प्रसाधनोच्छादनस्नापनोच्छिष्टभोजनानीति गुरोः ॥ ३६ ॥

अनु०—गुरु के प्रसाधन, उच्छादन (छत्र धारण) तथा स्नान कराने का कार्य करे तथा उनके उच्छिष्ट अन्न का भोजन करे ॥ ३६ ॥

टि०—सूत्र में 'इति' शब्द से इसी प्रकार के अन्य गुरु-सेवापरक कार्यों का ग्रहण होता है—जैसे पीठ मलना, पैर दबाना आदि।

शिष्येण कार्याणीति शेषः। प्रसाधनं मण्डनम्। उच्छादनं छत्रधारणम्। स्नपनं गात्रमलापकर्षणम्। इतिकरणात् पादमर्दनपृष्ठधावनादयो गृह्यन्ते ॥३६॥

उच्छिष्टवर्जं तत्पुत्रेऽनूचाने वा ॥ ३७ ॥

अनु०—गुरु को पुत्र यदि अनूचान (वेद की एक शाखा का अङ्गों सहित अध्ययन कर चुका हो तो उसकी भी सेवा करे किन्तु उसके उच्छिष्ट अन्न का भोजन न करे ॥ ३७ ॥

उच्छिष्टभोजनवर्जं कार्यम्। अनूचाने चाऽगुरुपुत्रेऽपि। अनूचानः एकशाखायास्साङ्गध्यायी। वाशब्दोऽवधारणार्थः, अनूचान एवेति ॥ ३७ ॥

प्रसाधनोच्छादनस्नापनोच्छिष्टवर्जं च तत्पत्न्याम् ॥ ३८ ॥

अनु—प्रसाधन, उच्छादन, स्नपन तथा उच्छिष्ट भोजन को छोड़कर गुरु की पत्नी की भी सेवा करे ॥ ३८ ॥

टि०—यहाँ गुरु की युवती पत्नी का अभिप्राय है अर्थात् वृद्धों की वैसी सेवा भी करे।

युवत्यामिति शेषः। स्थविराया उच्छादनादिप्राप्त्यर्थोऽयमारम्भः ॥ ३८ ॥

[1]धावन्तमनुधावेद्गच्छन्तमनुगच्छेत्तिष्ठन्तमनुतिष्ठेत् ॥ ३९ ॥

अनु०—गुरु के दौड़ने पर उनके पीछे दौड़े, उनके चलते रहने पर पीछे चले, उनके खड़े रहने पर उनके निकट खड़ा रहे ॥ ३९ ॥

ऋज्वेतत् ॥ ३९ ॥

नाऽप्सु श्लघमानस्स्नायात् ॥ ४० ॥

अनु०—जल में क्रीडा करते हुए स्नान न करे ॥ ४० ॥

---

1. Cf with आपस्तम्बधर्मसूत्र १. ६. ७-९.

श्लाघनं विकत्थनं तच्च क्रीडनं करताडनादिः। तथा च वसिष्ठः—'न पादेन पाणिना वा जलमभिहन्यान्न जलेन जलम्' इति ॥ ४० ॥

दण्ड इव प्लवेत् ॥ ४१ ॥

अनु०—जल में सीधा दण्ड की भाँति तैरे ॥ ४१ ॥

अप्सूद्वर्तनप्रतिषेधोऽयम् ॥ ४१ ॥

अब्राह्मणादध्ययनमापदि ॥ ४२ ॥

अनु०—आपत्ति काल में (अर्थात् ब्राह्मण गुरु उपलब्ध न होने पर) ब्राह्मणेतर वर्ण के गुरु से (ब्राह्मण के अभाव में क्षत्रिय गुरु से और क्षत्रिय के अभाव में वैश्य गुरु से) विद्या ग्रहण करे ॥ ४२ ॥

टि०—अब्राह्मण से शूद्र का भी ग्रहण नहीं होगा। 'शूद्र से कभी भी लौकिकी विद्या भी नहीं ग्रहण करनी चाहिए।'—गोविन्द स्वामी।

कुर्यादिति शेषः। आपत् ब्राह्मणाभावः। अध्ययनं श्रवणस्याऽपि प्रदर्शनार्थम्। ब्राह्मणाभावे क्षत्रियात्, तदभावे वैश्यात्। अब्राह्मणग्रहणात् त्रैवर्णिका गृह्यन्ते। ततश्च न कदाचिच्छूद्राल्लौकिक्यपि विद्या ग्रहीतव्या ॥ ४२ ॥

क्षत्रियवैश्ययोरपि—

शुश्रूषाऽनुव्रज्या च यावदध्ययनम् ॥ ४३ ॥

अनु०—जब तक अध्ययन करे तब तक ही उस अब्राह्मण (क्षत्रिय, वैश्य वर्ण के) गुरु की प्रसाधन आदि सेवा करे ॥ ४३ ॥

तावत्। शुश्रूषा प्रसाधनादि। अनुव्रज्या अनुगमनम् ॥ ४३ ॥

अयुक्तमेतदिति चेत्—

तयोस्तदेव पावनम् ॥ ४४ ॥

अनु०—उन दोनों का (शिष्य और उपाध्याय का) यह संबन्ध स्वतः ही वर्ण व्यतिक्रम दोष को पवित्र करने वाला होता है ॥ ४४ ॥

पावनं शुचिहेतुः। एवं कृतेऽपि शिष्योपाध्याययोर्वर्णधर्मव्यतिक्रमदोषो-नाऽस्तीत्यभिप्रायः ॥ ४४ ॥

भ्रातृपुत्रशिष्येषु चैवम् ॥ ४५ ॥

अनु०—इसी प्रकार गुरु के भ्राता, पुत्र तथा अन्य शिष्यों के प्रति भी (अध्ययन काल तक) सेवाकार्य करे ॥ ४५ ॥

उपसंग्रहणवेलायां च स्वश्रोत्रसंस्पर्शः कर्तव्यः चित्तसमाधानार्थम् । तत्र मन्त्रः—'असावहं भोः' इति । अस्मीति वाक्यसमाप्तिः । असावित्यात्मीयनाम-ग्रहणम् । [1]गोविन्दशर्मा नामाऽस्मीति प्रयोगः ॥ २७ ॥

पादयोः कियान् देश उपसंग्राह्य इत्यत आह—

[2]अधस्ताज्जान्वोरा पद्भ्याम् ॥ २८ ॥

अनु०—(पैरों का कितना भाग स्पर्श करे इस विषय में नियम है कि) घुटनों से नीचे पैरों तक के भाग का स्पर्श करना चाहिए ॥ २८ ॥

उपसंगृह्णीयादिति शेषः ॥ २८ ॥

तत्राऽपवादमाह—

नाऽऽसीनो नाऽऽसीनाय न शयानो न शयानाय नाऽप्रयतो नाऽप्रयताय ॥ २९ ॥

अनु०—ब्रह्मचारी बैठे हुए अथवा बैठे हुए गुरु को, स्वयं लेटे हुए या लेटे हुए गुरु को, स्वयं अपवित्र रहने पर या गुरु के अपवित्र रहने पर प्रणाम न करे ॥२९॥

उपसंगृह्णीयादित्यनुवर्तते । अप्रयतोऽशुचिः ॥ २९ ॥

[3]काममन्यस्मै साधुवृत्ताय गुरुणाऽनुज्ञातः ॥ ३० ॥

अनु०—ब्रह्मचारी यदि चाहे तो गुरु की आज्ञा से अन्य उत्तम आचरण वाले विद्वान् के चरणों का भी स्पर्श कर सकता है ॥ ३० ॥

टि०—प्रायः सभी पुस्तकों में यह सूत्र ऊपर के सूत्र २६ के अंश के रूप में आया है, किन्तु टीका के आधार पर इसे ३० वें सूत्र के स्थान पर रखा गया है। द्रष्टव्य-पाद टिप्पणी ।

गुरोरन्यस्मै साधुवृत्ताय अनुष्ठानपराय विदुषे गुर्वनुज्ञया तत्सन्निधावप्युपसंगृह्णीयात् । कामग्रहणान्निवृत्तिरपि प्रतीयते । असन्निधौ तु विनाऽप्यनुज्ञया कुर्यादेव ॥ ३० ॥

---

१. अत्र ग्रन्थकर्ता प्रयोगप्रदर्शनव्याजेन स्वनाम निर्दिशति ।

२. 'सकुष्ठिकमुपसंगृह्णीयात्' इत्यापस्तम्बः । सगुल्फमित्यर्थः । १५. २१.

३. सूत्रमिदं २६ सूत्रानन्तरमेव पठितं सर्वेष्वपि मूलपुस्तकेषु । व्याख्यानपुस्तकेषु तु सर्वत्राऽत्रैव पठितमुचितं च ।

'शक्तिविषये मुहूर्तमपि नाऽप्रयतस्स्यात् ॥ ३१ ॥

अनु०—(ब्रह्मचारी या अन्य व्यक्ति भी आचमन या स्नान से शुद्धि करना) संभव हो तो एक क्षण भी अपवित्र न रहे ॥ ३१ ॥

शक्ताविति वक्तव्ये विषयग्रहणं ब्रह्मचारिणोऽन्यस्य वा प्राप्त्यर्थम् । स्नाननिमित्ते स्नायादेव, आचमननिमित्तेऽप्याचामेदिति ॥ ३१ ॥

अथ पर्युदस्यति —

समिद्धार्युदकुम्भपुष्पान्नस्तो नाऽभिवादयेद्यच्चाऽन्यदप्येवं युक्तम् ॥३२॥

अनु०—समिध् लिये हुए, हाथ में जल का घड़ा, पुष्प या अन्न लिये रहने पर या इसी प्रकार अन्य (पितृ देवता अग्नि संबन्धी) कार्य में संलग्न होने पर इसी प्रकार के कर्मों में संलग्न गुरु का अभिवादन न करे ॥ ३२ ॥

समिद्धारी समित्पाणिः । उदकुम्भादिषु हस्तशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । एवं युक्तं पितृदेवताग्निकार्यादिषु व्यापृतो व्यापृतमपि नाऽभिवादयेत् ॥ ३२ ॥

न समवायेऽभिवादनमत्यन्तशः ॥ ३३ ॥

अनु०—गुरु के अत्यन्त समीप स्थित होकर अभिवादन न करे ॥ ३३ ॥

अत्यन्तशस्समवायेऽत्यन्तसमीपे स्थित्वेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

भ्रातृपत्नीनां युवतीनां च गुरुपत्नीनां जातवीर्यः ॥ ३४ ॥

अनु०—युवावस्था प्राप्त करने पर भाई की युवती पत्नी या गुरु की युवती पत्नी का चरण स्पर्श कर अभिवादन न करे ॥ ३४ ॥

टि०—सूत्र में 'च' शब्द से अन्य निकट संबन्ध वाली युवती स्त्रियों यथा चाची आदि का ग्रहण करना चाहिए।

'न समवायेऽत्यन्तश' इति वर्तते । जातवीर्यो जातशुक्लः । चशब्दात्पितृव्यादिपत्नीनामपि युवतीनाम् । स्थविराणां बालानां च न दोषः ॥ ३३ ॥

नौशिलाफलककुञ्जरप्रासादकटकेषु चक्रवत्सु चाऽदोषं सहासनम् ॥३५॥

अनु०—नौका, शिला, फलक, हाथी, मकान की छत, चटाई या पहियेदार यानों पर उनके (अर्थात् गुरु, उनकी पत्नी आदि के) साथ बैठने में कोई दोष नहीं होता ॥ ३५ ॥

टि०—इस सूत्र से यह अर्थ ध्वनित है कि इन स्थानों के अतिरिक्त अन्यत्र एक साथ बैठने से दोष उत्पन्न होता है।

---

१. समानाकारमेव सूत्रमापस्तम्बीये । Cf with आपस्तम्बधर्म. १. १५ ८.

चक्रवन्तो रथशकटादयः। इतरे प्रसिद्धाः। एषु गुरुणा तत्पत्नीभिर्वा सहासनं अदोषं दोषावहं न भवति। एषु सहासनाभ्युपगमादन्यत्र सदोषं सहासनमिति गम्यते ॥ ३५ ॥

प्रसाधनोच्छादनस्नापनोच्छिष्टभोजनानीति गुरोः ॥ ३६ ॥

अनु०—गुरु के प्रसाधन, उच्छादन (छत्र धारण) तथा स्नान कराने का कार्य करे तथा उनके उच्छिष्ट अन्न का भोजन करे ॥ ३६ ॥

टि०—सूत्र में 'इति' शब्द से इसी प्रकार के अन्य गुरु-सेवापरक कार्यों का ग्रहण होता है—जैसे पीठ मलना, पैर दबाना आदि।

शिष्येण कार्याणीति शेषः। प्रसाधनं मण्डनम्। उच्छादनं छत्रधारणम्। स्नपनं गात्रमलापकर्षणम्। इतिकरणात् पादमर्दनपृष्ठधावनादयो गृह्यन्ते ॥३६॥

उच्छिष्टवर्जं तत्पुत्रेऽनूचाने वा ॥ ३७ ॥

अनु०—गुरु को पुत्र यदि अनूचान (वेद की एक शाखा का अङ्गों सहित अध्ययन कर चुका हो तो उसकी भी सेवा करे किन्तु उसके उच्छिष्ट अन्न का भोजन न करे ॥ ३७ ॥

उच्छिष्टभोजनवर्जं कार्यम्। अनूचाने चाऽगुरुपुत्रेऽपि। अनूचानः एकशाखायास्साङ्गध्यायी। वाशब्दोऽवधारणार्थः, अनूचान एवेति ॥ ३७ ॥

प्रसाधनोच्छादनस्नापनोच्छिष्टवर्जं च तत्पत्न्याम् ॥ ३८ ॥

अनु—प्रसाधन, उच्छादन, स्नपन तथा उच्छिष्ट भोजन को छोड़कर गुरु की पत्नी की भी सेवा करे ॥ ३८ ॥

टि०—यहाँ गुरु की युवती पत्नी का अभिप्राय है अर्थात् वृद्धों की वैसी सेवा भी करे।

युवत्यामिति शेषः। स्थविराया उच्छादनादिप्राप्त्यर्थोऽयमारम्भः ॥ ३८ ॥

[1]धावन्तमनुधावेद्गच्छन्तमनुगच्छेत्तिष्ठन्तमनुतिष्ठेत् ॥ ३९ ॥

अनु०—गुरु के दौड़ने पर उनके पीछे दौड़े, उनके चलते रहने पर पीछे चले, उनके खड़े रहने पर उनके निकट खड़ा रहे ॥ ३९ ॥

ऋज्वेतत् ॥ ३९ ॥

नाऽप्सु श्लघमानस्स्नायात् ॥ ४० ॥

अनु०—जल में क्रीडा करते हुए स्नान न करे ॥ ४० ॥

---

१. Cf with आपस्तम्बधर्मसूत्र १. ६. ७-९.

श्लाघनं विकत्थनं तच्च क्रीडनं करताडनादिः । तथा च वसिष्ठः—'न पादेन पाणिना वा जलमभिहन्यान्न जलेन जलम्' इति ॥ ४० ॥

दण्ड इव प्लवेत् ॥ ४१ ॥

अनु०—जल में सीधा दण्ड की भाँति तैरे ॥ ४१ ॥

अप्सूद्वर्तनप्रतिषेधोऽयम् ॥ ४१ ॥

अब्राह्मणादध्ययनमापदि ॥ ४२ ॥

अनु०—आपत्ति काल में (अर्थात् ब्राह्मण गुरु उपलब्ध न होने पर) ब्राह्मणेतर वर्ण के गुरु से (ब्राह्मण के अभाव में क्षत्रिय गुरु से और क्षत्रिय के अभाव में वैश्य गुरु से) विद्या ग्रहण करे ॥ ४२ ॥

टि०—अब्राह्मण से शूद्र का भी ग्रहण नहीं होगा । 'शूद्र से कभी भी लौकिकी विद्या भी नहीं ग्रहण करनी चाहिए ।'—गोविन्द स्वामी ।

कुर्यादिति शेषः । आपत् ब्राह्मणाभावः । अध्ययनं श्रवणस्याऽपि प्रदर्शनार्थम् । ब्राह्मणाभावे क्षत्रियात्, तदभावे वैश्यात् । अब्राह्मणग्रहणात् त्रैवर्णिका गृह्यन्ते । ततश्च न कदाचिच्छूद्राल्लौकिक्यपि विद्या ग्रहीतव्या ॥ ४२ ॥

क्षत्रियवैश्ययोरपि—

शुश्रूषाऽनुव्रज्या च यावदध्ययनम् ॥ ४३ ॥

अनु०—जब तक अध्ययन करे तब तक ही उस अब्राह्मण (क्षत्रिय, वैश्य वर्ण के) गुरु की प्रसाधन आदि सेवा करे ॥ ४३ ॥

तावत् । शुश्रूषा प्रसाधनादि । अनुव्रज्या अनुगमनम् ॥ ४३ ॥

अयुक्तमेतदिति चेत्—

तयोस्तदेव पावनम् ॥ ४४ ॥

अनु०—उन दोनों का (शिष्य और उपाध्याय का) यह संबन्ध स्वतः ही वर्ण व्यतिक्रम दोष को पवित्र करने वाला होता है ॥ ४४ ॥

पावनं शुचिहेतुः । एवं कृतेऽपि शिष्योपाध्याययोर्वर्णधर्मव्यतिक्रमदोषो नाऽस्तीत्यभिप्रायः ॥ ४४ ॥

भ्रातृपुत्रशिष्येषु चैवम् ॥ ४५ ॥

अनु०—इसी प्रकार गुरु के भ्राता, पुत्र तथा अन्य शिष्यों के प्रति भी (अध्ययन काल तक) सेवाकार्य करे ॥ ४५ ॥

शुश्रूषाऽतिदिश्यते यावदध्ययनम्। यवीयसामित्युपरितनसूत्रात् प्रतिकर्षो द्रष्टव्यः ॥ ४५ ॥

[1]ऋत्विक्छ्वशुरपितृव्यमातुलानां तु यवीयसां प्रत्युत्थायाऽभिभाषणम् ॥ ४६ ॥

अनु०—अपने से कम अवस्था वाले ऋत्विक्, श्वशुर, चाचा, मामा के आगमन पर (उनका चरण स्पर्श न कर) आसन से उठकर स्वागतार्थं शब्दों का उच्चारण करे ॥ ४६ ॥

टि०—तुलना० आपस्तम्बधर्म० १.१४.१०

अयमपि नियमोऽध्यापकानामेवर्त्विगादीनाम्। अभिभाषणं स्वागतादिशब्दप्रयोगः ॥ ४६ ॥

प्रत्यभिवाद इति कात्यः ॥ ४७ ॥

अनु०—कात्य नाम के धर्मशास्त्री का मत है कि कम अवस्था वाले ऋत्विक् आदि को अभिवादन का उत्तर उसी प्रकार से देना चाहिए ॥ ४७ ॥

टि०—गोविन्द स्वामी के अनुसार ऋत्विक् आदि को अभिवादन करना चाहिए।

कतस्य ऋषेरपत्यं कात्यः। स एवं मन्यते स्म-ऋत्विगादिभिः प्रत्यभिवादः कर्तव्य इति। एषां प्रत्यभिवादनविधानादितरैरभिवादनं कर्तव्यमिति गम्यते ॥ ४७ ॥

तत्र हेतुमाह—

[2]शिशावाङ्गिरसे दर्शनात् ॥ ४८ ॥
धर्मार्थौ यत्र न स्याताम् ॥ ३ ॥

अनु०—क्योंकि शिशु आङ्गिरस के उपाख्यान से स्पष्ट है ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—शिशु आङ्गिरस की कथा मनुस्मृति २. १५१–१५३ में उल्लिखित है। शिशु आङ्गिरस ने अपने पिता को वेद का अध्यापन किया तथा उन्हें "पुत्रकाः" कहकर संबोधित किया।

यह कथा ताण्ड्यमहाब्राह्मण १३.३.२४ में भी दी गयी है।

---

१. Cf with आपस्तम्बधर्म. १. १४ १०

२. ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥

शिशुः किलाऽऽङ्गिरसः पितॄनध्यापयामास। तान् 'पुत्रकाः' इत्यामन्त्रयामास, तच्च न्याय्यमेवेति देवा ऊचुः। अनेनाऽपि प्रकारेण ज्ञानत एव ज्यैष्ठ्यं न वयस्त इति दर्शयति ॥ ४८ ॥ ३ ॥

इति प्रथमप्रश्ने द्वितीयाध्याये तृतीयः खण्डः

प्रथमप्रश्ने द्वितीयाध्याये चतुर्थखण्डः

अनर्हाय विद्या न दातव्येत्याह—

[1]धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा।
विद्यया सह मर्तव्यं न चैनामूषरे वपेत् ॥ १ ॥

अनु०—यदि धर्म या अर्थ की उपलब्धि न हो, अथवा (शिष्य में) उचित सेवाभाव न हो, तो उस विद्या के साथ ही मर जाना श्रेयस्कर है, किन्तु उसे ऊसर में बोना नहीं चाहिए। (अर्थात् अयोग्य, सेवाभाव विहीन शिष्य को नहीं प्रदान करना चाहिए ॥ १ ॥)

यथा कृषीवलश्शुभं बीजमूषरे न वपति। तथा शुश्रुषादिवर्जिते विद्या न दातव्येत्यर्थः ॥ १ ॥

अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥
ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्चैतान् समेत्योचुर्न्याय्यं वश्शिशुरुक्तवान् ॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥

इति मनौ (म, २, १५०-१५४)

ताण्ड्यमहाब्राह्मणे-शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत् स पितॄन् पुत्रका इत्यमन्त्रयत तं पितरोऽब्रुवन्नधर्मं करोषि यो नः पितॄन् सतः पुत्रका इत्यामन्त्रयस इति सोऽब्रवीदहं वाव पिताऽस्मि यो मन्त्रकृदस्मीति ते देवेष्वपृच्छन्त ते देवा अब्रुवन्नेष वाव पिता योऽमन्त्रकृतदिति तद्वै स उदजयदिति श्रुतम्। (ता, ब्रा, १३, ३, २४) मनुना सूत्रकारेण चाऽनुसंहितं वेदितव्यम्।

1. Cf with मनु २ ११२

अयोग्याध्यापने दोषमाह—

अग्निरिव कक्षं दहति ब्रह्मपृष्टमनादृतम् ।
तस्माद्वै शक्यं न ब्रूयात् ब्रह्म मानमकुर्वतामिति ।। २ ।।

अनु०—जिज्ञासा करके प्राप्त वेद अनादृत होने पर अध्येता को उसी प्रकार भस्म कर देता है जिस प्रकार अग्नि घर को। अतएव वेदविद्या का उपदेश ऐसे शिष्यों को नहीं देना चाहिए जो यथासंभव उस विद्या का मान न करें।। २ ।।

[1]शक्यं मानमिति सम्बन्धः। वैशब्दः पादपूरणः। ब्रह्म विद्या मानं पूजा ।। २ ।।

ब्रह्मचर्यविधावेवेतिहासमाह—

[2]**अत्रैवाऽस्मै वचो वेदयन्ते ।। ३ ।।**

अनु०—इसी विषय में ब्रह्मचारी को यह उपदेश दिया गया है ।। ३ ।।

एवेत्येवमित्येतस्मिन्नर्थे। एवमस्य ब्रह्मचारिण इतिहासरूपं वचो वेदयन्ते वाजसनेयिनः। तच्च वक्ष्यमाणम् ।। ३ ।।

[3]**ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजाः प्रायच्छत् तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत्सोऽब्रवीदस्तु मह्यमप्येतस्मिन् भाग इति यामेव रात्रिं समिधं नाऽऽहराता इति ।। ४ ।।**

अनु०—ब्रह्म ने सृष्ट प्राणियों को मृत्यु को दे दिया, किन्तु केवल ब्रह्मचारी को नहीं दिया। मृत्यु ने कहाः 'मुझे भी इस ब्रह्मचारी में अंश मिलना चाहिए' ब्रह्म ने कहा—जिस रात्रि यह समिदाहरण न करे उसी रात्रि तुम्हें इसमें अंश मिलेगा अर्थात् तुम इसे नष्ट कर सकोगे ।। ४ ।।

टि०—समिदाहरण से यहाँ अग्नीन्धन, वेदाध्ययन, गुरुशुश्रूषा आदि आवश्यक आचार नियमों का भी अर्थ ग्राह्य है। यह शतपथब्राह्मणे ११.२.६ से उद्धृत है।

ब्रह्मशब्देन जगत्कारणरूपमुच्यते, वेदसम्बन्धात्। तत् मृत्यवे प्रजाः प्रददौ। किमर्थम्? मारयितुम्। प्रयच्छदपि तस्म ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत् आत्मसन्निकर्षात्। अथ मृत्युराह—सोऽब्रवीदस्तु मह्यमप्येतस्मिन् भाग इति। ब्रह्मचारिण्यपि[4] मारणाय मम प्रवेशोऽस्त्वित्यर्थः। ततो ब्रह्माऽब्रवीत्सा रात्रि-

---

१. न ब्रूयादिति सम्बन्धः, इति ग. पु.

२. एवास्मै, इति क, पु, एते वास्मै, इति ङ पु,

३. गोपथब्राह्मणे (१. २. ६.) द्रष्टव्यम्।

४. मरणधर्मप्रवेशोऽस्तु इति, क, पु.

स्तवाऽवसरः यामेव रात्रिं समिधं नाऽऽहराता इति । लिङर्थे लेड् भवति । समिदाहरणमग्नीन्धनम् । तच्च भिक्षाचरणवेदाध्ययनगुरुशुश्रूषादीनामपि प्रदर्शनार्थम् ॥ ४ ॥

उपसंहरति—

तस्माद् ब्रह्मचारी यां रात्रिं समिधं नाऽऽहरति आयुष[1] **एव तामवदाय वसति ॥ ५ ॥**

अनु०—अतएव ब्रह्मचारी जिस रात्रि को समिदाहरण कार्य नहीं करता उस रात्रि को अपनी आयु से काटकर निकाल देता है ॥ ५ ॥

आयुषः खण्डमिति शेषः । द्वितीयार्थे वा षष्ठी । यथा[2] 'द्विरैन्द्रवायवस्य भक्षयति' इति ॥ ५ ॥

अथाऽग्नीन्धनादिचतुष्टयमपि विदधाति—

तस्माद् ब्रह्मचारी समिधमाहरेन्नेदायुषोऽवदाय वसानीति ॥६॥

अनु०—अतएव ब्रह्मचारी समिध अग्नि के ऊपर रखकर अग्नीन्धन करे नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि वह अपनी आयु ही कम करते हुए रात्रि बिताने लगे ॥६॥

नेत्येष इदित्येतेन सम्प्रयुज्यते परिभवे गम्यमाने । यथा—'नेन्मे वाक्प्राणै-रनुपक्ता सत्' इति । आयुषोऽवदाय न वसानीति परिभवेनाऽग्नीन्धनादि-चतुष्टयं कुर्यादित्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ दीर्घसत्रसंस्तवेन ब्रह्मचर्यप्रशंसा—

दीर्घसत्रं ह वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति ॥ ७ ॥

अनु०—जो ब्रह्मचर्य ग्रहण करता है वह एक दीर्घ सत्र ही आरम्भ करता है ॥ ७ ॥

दीर्घसत्रं[3] शाक्यानामयनादि ॥ ७ ॥

---

१. आयुष एतामवदाय, इति ग. पु.

२. ज्योतिष्टोमे— ऐन्द्रवायवनामकः कश्चन ग्रहोऽस्ति । स, इन्द्रवायुभ्यां गृह्यते हूयते च। सर्वेषामपि ग्रहाणां च होमानन्तरं 'सदसि भक्षयन्ति' इत्यनेन भक्षो विहितः। भक्षणं च सकृदेव । विशेषाश्रवणात् । ऐन्द्रवायवे तु द्विर्भक्षणमनेन वचनेन विधीयते । तत्र ऐन्द्रवायवमिति द्वितीयस्थाने ऐन्द्रवायवस्येति षष्ठी यथा तथेत्यर्थः ।

३. तत्र षट्त्रिंशत्संवत्सरानुष्ठेयः शाक्याना (क्त्याना) मयनं नाम सत्रविशेषः । (अनेकदिनसाध्यः सोमयागो द्विविधस्सत्रात्मकोऽहीनात्मकश्चेति । तत्र त्रयोदशदिन-प्रभृति सहस्रसंवत्सरपर्यन्तकालसाध्यस्सत्रात्मकः । द्विरात्रप्रभृति एकादशरात्र-पर्यन्ताहर्गणसाध्योऽहीनः) तत्र प्रथममहः प्रायणीयं अन्तिममुदयनीयमित्युच्येते । ते

सत्रस्य प्रायणीयोदयनीयावतिरात्रौ स्तः। उभयतोऽतिरात्रत्वात् सत्राणाम्। मध्ये चाऽन्यान्यहानि, तदिह कथमिति ? आह—

स याम्रुपयन् समिध आदधाति सा प्रायणीयाऽथ यां स्नास्यन् सोदयनीयाऽथ या अन्तरेण सत्र्या एवाऽस्य ताः ॥ ८ ॥

अनु०—वह जिस रात्रि को उपनयन के बाद पहली बार समिदाधान करता है वह सत्र की प्रायणीय नाम के अतिरात्र के समान होती है, जिस रात्रि को स्नान करने की तैयारी करते समय अन्तिम बार समिदाधान करता है वह रात्रि उदयनीय अतिरात्र के समान होती है। इन दोनों रात्रियों के बीच जो रात्रियाँ होती हैं वे सत्र की रात्रियाँ ही होती हैं ॥ ८ ॥

यां रात्रिमुपयन्नुपनीयमानस्समिध आदधाति 'आयुर्दा देव जरसम्' इति। यां च स्नास्यन् 'इमं स्तोममर्हते जातवेदसे' इति। तदिह प्रायणीयोदयनीयौ रात्रिप्रधानत्वात् निर्देशस्य प्रायणीयोदयनीयशब्दाभ्यां स्त्रीलिङ्गोपादानमदोषः। याश्च ते अन्तरेण रात्रयस्तासु यास्सायंप्रातस्समिध आधीयन्ते तानि सत्रियाण्यहानीत्युपमीयन्ते ॥ ८ ॥

ब्राह्मणो ह वै ब्रह्मचर्यमुपयंश्चतुर्धा भूतानि प्रविशत्यग्निं पदा मृत्युं पदाऽऽचार्यं पदाऽऽत्मन्येव चतुर्थः पादः परिशिष्यते। तं स यदग्नौ समिधमादधाति य एवाऽस्याग्नौ पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति। तं संस्कृत्याऽऽत्मन्धत्ते स एनमाविशत्यथ यदात्मानं दरिद्रीकृत्याह्रीर्भूत्वा भिक्षते ब्रह्मचर्यं चरति य एवाऽस्य मृत्यौ पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति तं संस्कृत्याऽऽत्मन्धत्ते स एनमाविशत्यथ यदाचार्यवचः करोति य एवाऽस्याऽऽचार्ये पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति तं संस्कृत्याऽऽत्मन्धत्ते स एनमाविशत्यथ यत्स्वाध्यायमधीते य एवाऽस्याऽऽत्मनि पादस्तमेव तेन परिक्रीणाति तं संस्कृत्याऽऽत्मन्धत्ते स एनमाविशति न ह वै स्नात्वा भिक्षेताऽपि ह वै स्नात्वा भिक्षां चरत्यपि ज्ञातीनामशनायाऽपि पितृणामन्याभ्यः क्रियाभ्यः स यदन्यां भिक्षितव्यां न विन्देताऽपि वा स्वामेवाऽऽचार्यजायां भिक्षेताऽथो स्वां मातरं नैनं सप्तम्यभिक्षिताऽतीयात् ॥

प्रथमोत्तमे द्वे अप्यहनी अतिरात्रसंस्थाके। सर्वेषां सत्राणां आद्येऽहन्यन्तिमे चाऽतिरात्रसंस्थाकत्वं विहितम्। तदेवानुसन्धीयतेऽत्र व्याख्यात्रा।

भैक्षस्याऽचरणे दोषः पावकस्याऽसमिन्धने । सप्तरात्रमकृत्वैतदव-कीर्णिव्रतं चरेत् ॥ तमेवं विद्वांसमेवं चरन्तं सर्वे वेदा आविशन्ति ॥९॥

अनु०—ब्रह्मचर्य धारण करते हुए ब्राह्मण सभी भूतों में चार प्रकार से प्रवेश करता है। अपने एक चतुर्थांश से अग्नि में, एक चतुर्थांश द्वारा मृत्यु में, एक चतुर्थांश द्वारा आचार्य में प्रवेश करता है, चौथा चतुर्थांश आत्मा में ही अवशिष्ट रह जाता है। जब वह अग्नि पर समिध् का आधान करता है तब वह उसके द्वारा अपने उस अंश को खरीद लेता है जो अग्नि में प्रविष्ट हुआ रहता है; उस अंश का संस्कार करके उसे अपने में ही स्थापित करता है और वह अंश उसमें प्रवेश कर जाता है। जब वह अपने को दरिद्र बनाकर, लज्जा का परित्याग करके, भिक्षा माँगता और ब्रह्मचर्य का पालन करता है, तब वह उसके द्वारा अपने उस पाद को खरीद लेता है जो मृत्यु में प्रविष्ट हुआ रहता है; उसका संस्कार करके उसे अपने में स्थापित करता है और वह अंश उसमें प्रवेश करता है। जब वह आचार्य के आदेश का पालन करता है, तब वह उसके द्वारा आचार्य में प्रविष्ट अपने चतुर्थांश का परिक्रयण कर लेता है, उस अंश का संस्कार कर उसे अपने में स्थापित करता है और वह अंश उसमें प्रवेश कर जाता है। जब वह वेद का अध्ययन करता है तब वह उसके द्वारा उस अंश का परिक्रयण कर लेता है जो आत्मा में प्रविष्ट हुआ रहता है। उसका संस्कार कर उसे अपने में स्थापित करता है। और वह अंश उसमें प्रवेश कर जाता है। (ब्रह्मचर्य-समाप्ति पर) स्नान करने के बाद भिक्षाचरण न करे। यदि स्नान करने के बाद भी भिक्षाचरण करे तो यदि कोई अन्य ऐसी स्त्री न हो जिससे भिक्षा माँगी जा सके तो वह अपनी गुरुपत्नी से या अपनी माता से भिक्षा माँगे। बिना भिक्षा माँगे सातवीं रात्रि न बिताये।

भिक्षाचरण न करने पर तथा अग्नि पर समिदाधान न करने पर दोष होता है। यदि वह सात दिन-रात्रि तक भिक्षाचरण और समिदाधान न करे तो ब्रह्मचर्य भङ्ग का अवकीर्णिव्रत प्रायश्चित्तस्वरूप करे। जो इस प्रकार जानता है और इस प्रकार आचरण करता है उसमें सभी वेद प्रवेश करते हैं ॥ ९ ॥

टि०—इस अंश में "अपि ह वै भिक्षां चरत्यपि··· क्रियाभ्यः" का अर्थ स्पष्ट नहीं है।

ब्राह्मणग्रहणं त्रैवर्णिकोपलक्षणार्थम्। भूतशब्देनाग्निं मृत्युमाचार्यमात्मानं चाऽऽह। पादश्च तेजः आयुः प्रज्ञा बलमिति। तत्राद्यैस्त्रिभिः पादैरग्न्यादीन् प्रविशति। अतस्त्वात्मन्येवाऽस्य चतुर्थः पादः परिशिष्यते। एवंभूतं विप्रं सर्वे वेदा आविशन्ति ॥ ९ ॥

न केवलं ब्रह्मचर्यानुष्ठाने ब्रह्मचारिणो वेदग्रहणमेव फलम्। किं तर्हि स्नातकावस्थायां दीप्तिरपीत्याह—

यथा ह वा अग्निस्समिद्धो रोचत एवं ह वा एष स्नात्वा रोचत य एवं विद्वान् ब्रह्मचर्यं चरतीति ब्राह्मणमिति ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

अनु०—जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि चमकती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्यावसान का स्नान करने पर वह व्यक्ति चमकता है जो इस प्रकार जानते हुए ब्रह्मचर्य का आचरण करता है। ऐसा ब्राह्मण का वाक्य है ॥ १० ॥

'यथा ह वा' इत्यादि 'चरति' इत्येतदन्तं ब्राह्मणम्। अन्यत्राप्येवंजातीय-कनिपातप्रयोगे ब्राह्मणपाठ इति द्रष्टव्यम्। रोचते दीप्यते ॥ १० ॥

इति प्रथमप्रश्ने द्वितीयाध्याये चतुर्थः खण्डः।

प्रथमप्रश्ने तृतीयाध्याये पञ्चमः खण्डः

'स्नात्वा रोचते' (१. ४. १०) इति स्नानप्रयुक्तान् धर्मानाह—

अथ स्नातकस्य ॥ १ ॥

अनु०—अब स्नातक के आचार-नियमों का वर्णन किया जाता है ॥ १ ॥

टि०—स्नातक तीन प्रकार के बताये गये हैं—वेदस्नातक, व्रतस्नातक, वेदव्रत स्नातक। समावर्तन के बाद ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए और तत्काल विवाह करना चाहिए, क्योंकि बिना आश्रम के एक दिन भी नहीं रहना चाहिए। इस विषय में स्मृति का आदेश द्रष्टव्य है, किन्तु यहाँ अविवाहित स्नातक के विषय में नियम दिया गया है। 'यावद् वेदस्वीकरणं ब्रह्मचारिणो नियमानुपालनम् अत ऊर्ध्वं धर्मजिज्ञासाऽवस्थायां स्नातकधर्मावसरः"—गोविन्दस्वामी।

प्राक्पाणिग्रहणाद्धर्मा वक्ष्यन्त इति शेषः। त्रयो हि स्नातका भवन्ति—वेद-स्नातको व्रतस्नातको वेदव्रतस्नातक इति। ननु समावर्तनानन्तरमेव भार्या-मधिगच्छेत्, न तु तूष्णीं स्थातव्यम्। तथा हि—

अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः।
आश्रमेण विना तिष्ठन् प्रायश्चित्तीयते नरः ॥

जपे होमे तथा दाने स्वाध्याये विप्रभोजने।
नाऽसौ फलमवाप्नोति कुर्वाणोऽप्याश्रमच्युतः ॥ इति।

चत्वार एवाऽऽश्रमधर्मास्सूत्रकारैस्समाम्नाताः, न च स्नातको नाम तेषां मध्ये कश्चिदाश्रमी विद्यते। आचार्येणाऽप्युक्तम्—'यत्र यत्र कामयते तदेतीत्येतत्समावर्तनम्' इति। एवं ब्रुवता समावर्तनानन्तरमाश्रमप्राप्तिरेव दर्शिता। नैष दोषः—भार्याऽधिगमने यतमानस्याऽपि कदाचिद्भार्याग्रहणं न सम्भाव्येत, परचित्ताधीनत्वात्तस्य। तस्यामवस्थायामिमे वक्ष्यमाणा धर्मा वेदितव्याः। किञ्च—यावद्वेदस्वीकरणं ब्रह्मचारिणो नियमानुपालनं, अत ऊर्ध्वं धर्मजिज्ञासाऽवस्थायां स्नातकधर्मावसरः। तस्माच्चोर्ध्वं दारसङ्ग्रही, इत्यविरोधः[1]। आहुश्च न्यायविदः—'अस्नानादिनियमपर्यवसानं वेदाध्ययनसमकालमाहुः' इति।

तथा—

तस्माद् गुरुकुले तिष्ठन् मधुमांसाद्यवर्जयन्।
जिज्ञासेताऽविरुद्धत्वाद्धर्ममित्यवगम्यते ॥ इति।

सोऽयं स्नातकः—

[2]अन्तर्वास्युत्तरीयवान् ॥ २ ॥

अनु०—अन्तर्वास (नीचे का वस्त्र, अधोवस्त्र) और उत्तरीय धारण करे ॥२॥

स्यादिति शेषः। अन्तर्वासः कटिसूत्रम्। तद्वानन्तर्वासी स चोत्तरीयवान् स्यादित्यर्थः ॥ २ ॥

वैणवं दण्डं धारयेत् ॥ ३ ॥

अनु०—बाँस का दण्ड धारण करे ॥ ३ ॥

अङ्गुष्ठप्रमाणा [3]मूर्धपरिमिता यष्टिर्दण्डः ॥ ३ ॥

सोदकं च कमण्डलुम् ॥ ४ ॥

अनु०—जल से युक्त कमण्डलु धारण करे ॥ ४ ॥

धारयेदित्यनुवर्त्तते ॥ ४ ॥

द्वियज्ञोपवीती ॥ ५ ॥

अनु०—दो यज्ञोपवीत पहने ॥ ५ ॥

स्यादिति शेषः। द्वे यज्ञोपवीते यस्येति विग्रहः ॥ ५ ॥

---

१. विवाहानन्तरमपि स्नातकत्वस्याऽनपायात् एतेषां धर्माणां प्राप्तिरस्त्येवेति साम्प्रदायिकाः ॥

२. 'अन्तर्वास उत्तरीयम्' इति मूलपुस्तकेषु।　　३. मुखसंमिता. इति. ग, पु.।

उष्णीषमजिनमुत्तरीयमुपानहौ छत्रं चौपासनं दर्शपूर्णमासौ च ॥६॥

अनु०—उष्णीष (पगड़ी) अजिन का उत्तरीय, जूता और छत्र धारण करे अग्नि का आधान करे, दर्श और पूर्णमास का स्थालीपाक करे ॥ ६ ॥

एतेऽप्यस्य भवेयुरिति शेषः। उष्णीषं शिरोवेष्टनं, अजिनमुत्तराय उभयमपि भवेदित्यर्थः। औपासनं एकाग्निपरिचरणं, तदेवौपासनशब्देनाऽऽह—दर्शपूर्णमासौ च स्थालीपाकविधानेन कर्तव्यौ ॥ ६ ॥

पुर्वसु च केशश्मश्रुलोमनखवापनम् ॥ ७ ॥

अनु०—पर्वों पर केश, दाढ़ी-मूँछ, लोम को बनवावे तथा नखोंको कटवाये॥७॥

कर्तव्यमिति शेषः। केशा मूर्धजाः। श्लश्रुमुखजम। लोमगुह्यप्रदेशजम्। नखाः करजादयः ॥ ७ ॥

तस्य वृत्तिः ॥ ८ ॥

अनु०—अब उस स्नातक की जीवन-वृत्ति का विधान किया जाता है ॥ ८ ॥

टि०—गोविन्द के अनुसार 'तस्य' से गृहस्थ का भी अर्थ गृहीत होता है।

तस्य स्नातकस्य वृत्तिः यात्रा जीवनोपायो वक्ष्यते। प्रकृतेऽपि स्नातके तस्य ग्रहणं वृत्तिव्यतिरिक्तधर्माणां गृहस्थस्याऽपि प्रवेशार्थम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मणराजन्यवैश्यरथकारेष्वामं लिप्सेत ॥ ९ ॥

अनु०—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और रथकारसे विना पका हुआ अन्न माँगे ॥९॥

आमग्रहणात् पक्वप्रतिषेधः। आमाभावे पक्वयाचनं चाऽनुज्ञायते। तथा च वसिष्ठः 'क्षुधा परीतस्तु किञ्चिदेव याचेत' इति प्रक्रम्य 'धान्यमन्नं वा न तु स्नातकः क्षुधाऽवसीदेदित्युपदेशः' इति। क्षुन्निवृत्तिसमर्थस्य द्रव्यस्यैव विधिः ॥ ९ ॥

तदभावे—

भैक्षं वा ॥ १० ॥

अनु०—अथवा अनेक व्यक्तियों से भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करे ॥ १० ॥

टि०—गोविन्दस्वामी के अनुसार इस सूत्र का यह भाव है कि विपत्ति में अनेक लोगों से भी भिक्षा माँग सकता है।

भिक्षाणां समूहो भैक्षं, आपदि बहुभ्यो याचेतेत्यर्थः ॥ १० ॥

याच्ञावस्थायाम्—

वाग्यतस्तिष्ठेत् ॥ ११ ॥

अनु०—भिक्षाचरण के समय मौन रहे ॥ ११ ॥

स्वस्तिवचनमपि न कुर्यादित्यभिप्रायः। 'न ह वै स्नात्वा भिक्षेत' इत्यस्यैवाऽयमनुवाद ॥ ११ ॥

सर्वाणि चाऽस्य देवपितृसंयुक्तानि [1]पाकयज्ञसंस्थानि भूतिकर्माणि कुर्वीतेति ॥ १२ ॥

अनु०—इस भिक्षा से प्राप्त अन्न द्वारा देवताविषयक, पितृविषयक पाकयज्ञ (पञ्चमहायज्ञ) करे जिनसे आयु आदि की वृद्धि एवं कल्याण होता है ॥ १२ ॥

देवपितृभ्यां संयुक्तशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। ते च पञ्चमहायज्ञाः। पाकयज्ञसंस्थानि [2]अष्टकाहोमादयः। भूतिकर्माणि आयुष्यचरुरित्यादयः। इति शब्दः प्रकारवचनः। एवंप्रकारा अस्य भैक्षात् होमाः कर्तव्याः। अप्राणिनो हि षष्ठी पञ्चम्यर्थे भवति 'यूपस्य स्वरुं करोति' इति यथा ॥ १२ ॥

अथ फलार्थवादः—

एतेन विधिना प्रजापतेः परमेष्ठिनः परमर्षयः परमां काष्ठां गच्छन्तीति बौधायनः ॥ १३ ॥

अनु०—इस विधि से महर्षि लोग प्रजापति परमेष्ठी के परम लोक को जाते हैं ऐसी बौधायन की उक्ति है ॥ १३ ॥

परमे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी प्रजापतिः। तस्य स्थानं परमा काष्ठा। परमर्षयो वसिष्ठादयः। बौधायनः काण्वायनः। आहस्मेति शेषः। [3]आत्मानमेवाऽऽचार्य आह। आत्मनो वा आचार्यम्। यद्वा—मनोः भृगुवत्तस्य शिष्यो ग्रन्थकर्ता। विचलितशाखा वा काचिद्बोधायनसंज्ञिता ॥ १३ ॥

इति प्रथमप्रश्ने तृतीयाध्याये पञ्चमः खण्डः

---

१. यज्ञिक. इति. क. पु.

२. पौषमाघफाल्गुनमासीयापरपक्षाष्टमीषु क्रियमाणा होमा अष्टकाहोमाः। ते च गृह्ये (बौ २. १०) विहिताः। आयुष्यचरुरायुष्यहोमाख्यः तत्रैव (बौ गृ. २. ९) विहितः ॥

३. आत्मानमेवाऽभिवदन्त्याचार्याः इति क. पु.

प्रथमप्रश्ने चतुर्थाध्याये षष्ठः खण्डः

'सोदकं च कमण्डलुम्' (१. ३. ४) इत्युक्तम् ; तत्राह—

अथ कमण्डलुचर्यामुपदिशन्ति (वेदविदः[1]) ॥ १ ॥

अनु०—(वेद के ज्ञाता) कमण्डलु धारण करने का उपदेश देते हैं ॥ १ ॥

टिप्पणी—कोष्ठक में दिया गया 'वेदविदः' शब्द मूल पुस्तक में नहीं पाया जाता । कमण्डलु मिट्टी का पात्र है ।

चर्या चरणं धारणादि । मृन्मयो हि कमण्डलुः । तत्र मृन्मयोपघातेऽभिदाहश्शुद्धिहेतुराम्नातः । अथ पुनः कमण्डलोश्शुद्ध्यन्तरविधित्सयेदमारभ्यते ॥ १ ॥

[2]छागस्य दक्षिणे कर्णे पाणौ विप्रस्य दक्षिणे ।
अप्सु चैव कुशस्तम्बे पावकः परिपठ्यते ॥

तस्माच्छौचं कृत्वा पाणिना परिमृजीत पर्यग्निकरणं हि तत् ।
'उद्दीप्यस्व जातवेद' इति पुनर्दाहाद्विशिष्यते ॥ २ ॥

अनु०—वेद में यह कहा गया है कि बकरे के दाहिने कान में, ब्राह्मण के दाहिने हाथ में, जल में तथा कुश के स्तबक में अग्नि रहता है ।

टि०—अत एव शरीर की शुद्धि करने के बाद कमण्डलु को (दाहिने) हाथ से चारो ओर 'उद्दीप्यस्व जातवेद' आदि (तैत्तिरीय आरण्यक १०.१.४) मन्त्र से मार्जन करे । यह पर्यग्निकरण कहलाता है और उस पात्र को अग्नि पर गरम करने की अपेक्षा अधिक शुद्धिकारक माना जाता है ॥ २ ॥

---

१. वेदविद इति नास्ति मूलपुस्तकेषु ।

२. अजायां होतव्यम् । आग्नेयी वा एषा यदजा ।
अग्नावेवास्याऽग्निहोत्रं हुतं भवति ।
यद्यजां न विन्देत् । ब्राह्मणस्य दक्षिणे हस्ते होतव्यम् ।

एष वा अग्निर्वैश्वानरो यद्ब्राह्मणः । ⋯यदि ब्राह्मणं न विन्देत् । दर्भस्तम्बे होतव्यम् ।

अग्निवान् वै दर्भस्तम्बः । अग्नावेवास्याऽग्निहोत्रं हुतं भवति ।

यदि दर्भान्न विन्देत् । अप्सु होतव्यम् । आपो वै सर्वा देवताः । देवतास्वेवाऽस्याऽग्निहोत्रं हुतं भवति (तै. आ. ३. ७. ३.)

इत्ययं वेदभागोऽस्य सूत्रस्य मूलभूत इत्यवगन्तव्यम् ।

अजः छागः । स्तम्बस्सङ्घातः । एतेषु चतुर्ष्वग्निः पठ्यते वेदेषु[1] आधाने—'आग्नेयी वा एषा यदजा' इत्येवमादिषु । तस्माद् ब्राह्मणस्याऽपि दक्षिणे हस्तेऽग्निर्विद्यते । एवं च कमण्डलोरशुचिभावे प्राप्ते तं दक्षिणेन पाणिना परिमृजेत् 'उद्दीप्यस्व' इति मन्त्रेण । पर्यग्निकरणं तद्भवति । तच्च पुनर्दाहाद्विशिष्टतरं शौचमापादयतीत्यर्थः ॥ २ ॥

अत्राऽपि किञ्चित्संस्पृष्टं मनसि मन्यते कुशैर्वा तृणैर्वा प्रज्वाल्य प्रदक्षिणं परिदहनम् ॥३॥

अनु०—इस विषय में भी यदि मन में ऐसी धारणा हो कि पात्र कुछ अशुद्ध हो गया है तो कुशस्तबक या अन्य प्रकार के तृणों को जलाकर दाहिने हाथ को नीचे करते हुए, चारो ओर से गरम करे ॥ ३ ॥

कमण्डलोरेवाऽशुचिसंस्पर्शाशङ्कायां कुशैर्वा विश्वामित्रतृणैर्वाऽग्नौ प्रदीप्तैः प्रदक्षिणतः परिदहनं कर्तव्यम् । परितो दहनं परिदहनम् ॥ ३ ॥

अत ऊर्ध्वं श्ववायसप्रभृत्युपहतानामग्निवर्ण इत्युपदिशन्ति ॥ ४ ॥

अनु०—पात्रों के कुत्ता, कौआ या अन्य अपवित्र पशु-पक्षी द्वारा छुए जाने पर उन्हें उतनी देर तक अग्नि पर रखा जाये जब तक वे अग्नि के वर्ण के न हो जाँय ॥ ४ ॥

श्वादिभिरुपघाते पर्यग्निकरणं कृत्वा अत ऊर्ध्वं यथाऽग्निवर्णो भवति तथा दग्धव्य इत्युपदिशन्ति आचार्या इति शेषः ॥ ४ ॥

[2]मूत्रपुरीषलोहितरेतःप्रभृत्युपहतानामुत्सर्गः ॥ ५ ॥

अनु०—मूत्र, मल, रक्त, रेतस् आदि अपवित्र पदार्थों द्वारा अशुद्ध कमण्डलुओं का त्याग कर देना चाहिए ॥ ५ ॥

एतैरुपहतानां कमण्डलूनामुत्सर्गस्त्यागः । व्यक्त्यपेक्षया बहुवचनम् ॥ ५ ॥

यदा कमण्डलुर्भग्नस्स्यात्, तदा किं कुर्यादित्यत्राह—

भग्ने कमण्डलौ व्याहृतिभिश्शतं जुहुयात् ॥ ६ ॥

अनु०—कमण्डलु के फूट जाने पर व्याहृतियों का उच्चारण करते हुए सौ बार हवन करे ॥ ६ ॥

---

१. इमानि वाक्यानि नाऽऽधानप्रकरणे श्रूयन्ते । अतः कथमत्राऽऽधाने इति लिखितं व्याख्यात्रेति न प्रतीमः ।

२. सूत्रमिदमेतद्व्याख्या च नास्ति ग. पुस्तके ।

आज्येनेति शेषः ॥ ६ ॥

जपेद्वा ॥ ७ ॥

अनु०—अथवा व्याहृतियों का उतनी ही बार जप करे ॥ ७ ॥

व्याहृतीरेव ॥ ७ ॥

"भूमिर्भूमिमगान्माता मातरमप्यगात् । भूयास्म पुत्रैः पशुभिर्यो नो द्वेष्टि स भिद्यता"मिति कपालानि संहृत्याऽप्सु प्रक्षिप्य सावित्रीं दशावरां कृत्वा पुनरेवाऽन्यं गृह्णीयात् ॥ ८ ॥

अनु०—"भूमिर्भूमिमगन्माता मातरमप्यगात् । भूयास्म पुत्रैः पशुभिर्यो नो द्वेष्टि स भिद्यताम्" (भूमि भूमि को प्राप्त हुई, माता माता के पास गयी, हम पुत्र, पशुओं से वृद्धि प्राप्त करें, जो हम से द्वेष करता है वह नष्ट हो जाय) इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए टूटे हुए कमण्डलु के टुकडों को एकत्र कर जल में फेंक दे, कम से कम दस बार गायत्री का जप करे और फिर दूसरा कमण्डलु ग्रहण करे ॥ ८ ॥

टिप्पणी—मन्त्र में 'भूमिः' शब्द मिट्टी से बने कमण्डलु का और 'भूमिम्' प्रकृति अर्थात् पृथ्वी तत्त्व का बोधक है । 'माता मातरम् अगात्' से घट के भीतर परिमित आकाश के अपने मूल आकाश तत्त्व में विलीन होने का तात्पर्य है ।

भूमिर्भूमिगादिति वामदेव ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । भिन्नानि मृन्मयानि [1]प्रतिपाद्यानि । भूमिविकाराणां प्रकृतिलयविज्ञानं क्रियते । प्रथमान्तो भूमिशब्दः पात्रमाह । द्वितीयान्तः प्रकृतिम् । कपालानि स्वप्रकृतौ लीनानि । माता मातरमप्यगात् । य एवमन्तःपरिमिताकाशो मृत्पिण्डः कमण्डलुः घटादिरूपेण निर्मितोऽसावपि स्वप्रकृतिमगात् । ततः किमायातमस्माकम् ? वयं तु पुत्रैः पशुभिर्भूयास्म । आशिषि लिङ् । यो नोऽस्मान् द्वेष्टि स एव हि भिद्यतामिति । अनेन मन्त्रेण कमण्डलुकपालानामप्सु प्रक्षेपणं प्रतिपत्तिः । अथाऽन्यं गृह्णन् सावित्रीं दशावरां कृत्वा जपित्वा गृह्णीयात् ॥ ८ ॥

किञ्च—

वरुणमाश्रित्य 'एतत्ते वरुण पुनरेव तु मामो'मित्यक्षरं ध्यायेत् ॥ ९ ॥

अनु०—वरुण देवता का आश्रय लेकर 'एतत्ते वरुण पुनरेव तु माम् ओम्' (हे वरुण, यह तेरा है, दूसरा फिर मुझे प्राप्त होवे') मन्त्र का उच्चारण करते हुए अक्षर का ध्यान करे ॥ ९ ॥

---

१. प्रतिपत्तिसंस्कारेण संस्कार्याणीत्यर्थः । कार्योपयुक्तस्य उपयुक्तशेषस्य वा वस्तुनो विहितदेशे प्रक्षेपणं प्रतिपत्तिः ।

टि०—अक्षर का ध्यान करने का तात्पर्य यह हो सकता है कि उस कमण्डलु के अविनश्वर होने का ध्यान करे या उस कमण्डलु को अविनश्वर समझे।

वरुणमाश्रित्य वरुणं प्राप्य ध्यात्वा 'एतत्ते वरुण पुनरेव तु मामोम्' इति ग्रहणमन्त्रः। तस्याऽयमर्थः—यद्तत्कपालं मयाऽप्सु संक्षिप्तं तत्तव वरुण भवतु, अपरं कमण्डलुद्रव्यं पुनर्मामेतु। भग्नस्तु कमण्डलुस्त्वाम्, इति ओमित्यक्षरं ध्यायेत्। ओमिति ब्रह्मणो नाम, तेन हि सर्वमोतं प्रोतं च भवति। अक्षरमपि तदेव न क्षरति न विनश्यतीति। ध्यायेत् अनुस्मरेत् ॥ ९ ॥

अथ कमण्डलुग्रहणवेलायामपादानकारकवर्णविशेषात् प्रायश्चित्तविशेषः—

शूद्राद् गृह्य शतं कुर्याद्वैश्यादर्धशतं स्मृतम्।
क्षत्रियात्पञ्चविंशत्तु ब्राह्मणाद् दश कीर्तिताः ॥ १० ॥

अनु०—यदि कमण्डलु किसी शूद्र वर्ण के पुरुष से प्राप्त किया गया हो तो सौ बार (गायत्री का) जप करे, यदि किसी वैश्य से ग्रहण किया गया हो तो पचास बार जप करे, क्षत्रिय से ग्रहण करने पर पच्चीस बार जप करे और ब्राह्मण से ग्रहण करने पर दस बार जप करे ॥ १० ॥

प्रणवो गायत्री वा सङ्ख्याविषया ॥ १० ॥

रात्रावुदकग्रहणे मीमांसा—

अथाऽस्तमिते आदित्य उदकं गृह्णीयान्न गृह्णीयादिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः ॥ ११ ॥

अनु०—वेद का अध्ययन या पाठ करने वाले लोग इस विषय में शङ्का उठाते हैं कि सूर्य के अस्त होने पर जल ग्रहण करना चाहिए अथवा नहीं ग्रहण करना चाहिए ॥ ११ ॥

संशयार्थी प्रकृतप्लुतिः। तत्राऽग्रहणपक्षश्रेयान्; कुतः? पौराणिकवचनात्। तथाहि—

कार्मयोग्यो जनो नैव नैवाऽऽपश्शुद्धिकारणम्।
यस्मिन्ननुदिते तस्मै नमो देवाय भास्वते ॥ इति ॥

श्रुतेश्च 'अपो निशि न गृह्णीयात्' इति ॥ ११ ॥

गृह्णीयादित्येतदपरम् ॥ १२ ॥

अनु०—(रात्रि को जल) ग्रहण करना चाहिए ऐसा श्रेष्ठ मत है ॥ १२ ॥

न विद्यते परं दर्शनं यस्मात्तदपरं सिद्धान्त इत्यर्थः। अनियतकालत्वान्मूत्रपुरीषादेरवश्यकर्तव्यत्वाच्चोदकसाध्यशौचानां 'शक्तिविषये मुहूर्तमपि नाऽप्रयतस्स्यात्' (१. ३. ३१) इति वचनाच्च ग्रहणमेव साधीयः ॥ १२ ॥

यत्तु पुराणं श्रुतिश्च 'अपो निशि न गृह्णीयात्' इति, तत्र परिहारमाह—

यावदुदकं गृह्णीयात्तावत्प्राणानायच्छेत् ॥ १३ ॥

अनु०—जब तक जल ग्रहण करता रहे तब तक प्राणवायु को रोके रहे ॥१३॥

उदकग्रहणवेलायाम् ॥ १३ ॥

कथं प्राणायामेन परिहार इत्याशङ्क्याऽऽह—

अग्निर्ह वै ह्युदकं गृह्णाति ॥ १४ ॥

अनु०—इस प्रकार अग्नि ही जल को ग्रहण करता है ॥ १४ ॥

टि०—'इस प्रकार प्राणवायु को रोकने पर वायु प्रबल हो जाता है और अग्नि उत्पन्न होता है। अग्नि के उत्पन्न होने पर रात्रि में भी आदित्य का अभाव नहीं होता।'–गोविन्द स्वामी।

कथं प्राणायामे सत्युदकं गृह्णात्यग्निः ? कथं वा तेनाऽऽदित्यसन्निधिर्भवति ? इति चेत्; उच्यते—निरोधे सति वायुर्बलवान् जायते, ततोऽग्निः। तथा च वक्ष्यति—

निरोधाज्जायते वायुर्वायोरग्निर्हि जायते।
तापेनाऽऽपोऽधिजायन्ते ततोन्तश्शुध्यते त्रिभिः" (४.१.२४) इति।

अनुभावोऽपि तथैव दृश्यते। अग्नौ सत्यादित्यसन्निधिर्भवतीति शक्यते वक्तुम्। तथा च श्रुतिः-'आदित्योऽग्निं यन्नक्तमनुप्रविशति सोऽन्तर्धीयते' इति। तथा—'रात्रावर्चिरेवाऽग्नेर्ददृशे न धूमः' इति। दूरभूयस्त्वानभवोऽपि तथैव भवति ॥ १४ ॥

कमण्डलूदकं पुनरात्मन एव शुद्धिकारणं, न पितृसंयुक्तादिकर्मभ्य इत्याह—

कमण्डलूदकेनाऽभिषिक्तपाणिपादो यावदार्द्रं तावदशुचिः परेषामात्मानमेव पूतं करोति नाऽन्यत्कर्म कुर्वीतेति विज्ञायते ॥ १५ ॥

अनु०—वेद में कहा गया है कि कमण्डलु के जल से हाथ-पैर धोने वाला व्यक्ति दूसरों के लिए उस समय तक अशुद्ध रहता है जब तक उसके हाथ-पैर गीले रहते हैं। वह स्वयं को पवित्र करता है। उसे (कमण्डलु के जल से) दूसरा कार्य नहीं करना चाहिए ॥ १५ ॥

अन्यत्रापि विज्ञायते इत्युक्तं श्रुतिपाठ इत्यवगन्तव्यम् ॥ १५ ॥

अपि वा प्रतिशौचमामणिबन्धाच्छुद्धिरिति बौधायनः ॥ १६ ॥

अनु०—अथवा प्रत्येक बार हाथ-पैर धोने के समय (दूसरे जल से) कलाई तक हाथ धोने पर शुद्धि होती है ऐसा बौधायन का मत है ॥ १६ ॥

प्रतिशौचं जलान्तरेणाऽऽमणिबन्धात् ॥ १६ ॥

इति प्रथमप्रश्ने चतुर्थाध्याये षष्ठः खण्डः

प्रथमप्रश्ने चतुर्थेऽध्याये सप्तमः खण्डः

अथाऽप्युदाहरन्ति—

कमण्डलुर्द्विजातीनां शौचार्थं विहितः पुरा ।
ब्रह्मणा मुनिमुख्यैश्च तस्मात्तं धारयेत्सदा ॥
ततश्शौचं ततः पानं सन्ध्योपासनमेव च ।
निर्विशङ्केन कर्तव्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ॥ १ ॥

अनु०—इस विषय में निम्नलिखित पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

प्राचीन काल में द्विजातियों की शुद्धि के लिए कमण्डलु का विधान ब्रह्मा तथा प्रमुख मुनियों ने किया, अतएव कमण्डलु सदैव धारण करना चाहिए । जो अपने कल्याण की कामना करता हो उसे बिना शङ्का के कमण्डलु से ही शरीर की शुद्धि करनी चाहिए उसी से जल पीना चाहिए और उसी से सन्ध्योपासन भी करना चाहिए ॥ १ ॥

कमण्डलूदकेन शौचं अपानदेशमलनिर्हरणादिकम् । पानसन्ध्योपासने दृष्टादृष्टकार्योपलक्षणार्थे ॥ १ ॥

कथमनेनाऽन्तःकरणेन देवतापूजादि कुर्यादित्याशङ्का न कार्या—

कुर्याच्छुद्धेन मनसा न चित्तं दूषयेद् बुधः । सह कमण्डलुनोत्पन्नस्स्वयंभूस्तस्मात्कमण्डलुनाऽऽचरेत् ॥ २ ॥

अनु०—बुद्धिमान् व्यक्ति को (कमण्डलु से उपर्युक्त सभी कार्य) शुद्ध मन से करना चाहिए और अपने चित्त को दूषित नहीं करना चाहिए । स्वयंभू ब्रह्मा कमण्डलु के साथ ही उत्पन्न हैं अतएव कमण्डलु से जल का व्यवहार करना चाहिए ॥२॥

टि०—कमण्डलु का व्यवहार सभी प्रकार के जल के प्रयोग में किया जा सकता है इसी नियम को इस सूत्र द्वारा पुष्ट किया गया है । यह सूत्र मानसिक पवित्रता को प्रधानता देता है और कमण्डलु की सभी प्रकार के कार्यों के लिए उपयोगिता को असन्दिग्ध प्रमाणित करता है ।

शास्त्रलक्षणेष्वर्थेषु सामान्यतो दृष्ट्या भ्रान्तिर्न कार्या । विशिष्टोत्पत्त्या च कमण्डलुप्रशंसैव । आचरेत् अनुतिष्ठेत् जलकार्यम् ॥ २ ॥

मूत्रपुरीषे कुर्वन् दक्षिणे हस्ते गृह्णाति सव्ये आचमनीयम् ॥३॥

अनु०—मूत्र और मलत्याग करते समय कमण्डलु को दाहिने हाथ में रखे और आचमन करते समय बायें हाथ में ॥ ३ ॥

मूत्रपुरीषयोराचमने च नियमः। अनुपयोगकाले यथासौकर्यं भवति तथा गृह्णीयादित्यर्थः ॥ ३ ॥

एतत्सिध्यति साधूनाम् ॥ ४ ॥

अनु०—ये (कमण्डलु-विषयक) नियम साधुओं (विद्वानों) के विषय में लागू होते हैं ॥ ४ ॥

एतस्मिन् कमण्डलौ ये धर्मा अभिहितास्ते साधूनां सिध्यन्ति नेतरेषाम्। साधवश्च निर्विशङ्कितशास्त्रार्थाः ॥ ४ ॥

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयन्नाह—

यथा हि सोमसंयोगाच्चमसो मेध्य उच्यते ।
अपां तथैव संयोगान्नित्यो मेध्यः कमण्डलुः ॥ ५ ॥

अनु०—जिस प्रकार सोमरस के संयोग से यज्ञिय पात्र चमस को पवित्र बताया जाता है, उसी प्रकार जल के संयोग से कमण्डलु भी सदैव पवित्र रहता है ॥ ५ ॥

मेधो यज्ञः, तदर्हो मेध्यः ॥ ५ ॥

यस्मात् 'कमण्डलूदकेनाऽभिषिक्तपाणिपादो यावदार्द्रं तावदशुचिः परेषाम् (१. ४. १४) इत्युक्तं, तस्मात्—

पितृदेवाग्निकार्येषु तस्मात्तं परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

अनु०—इस कारण पितृ, देव तथा अग्नि संबन्धी कार्यों में कमण्डलु का प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥ ६ ॥

टि०—इस सूत्र का निर्देश उपर्युक्त षष्ठ खण्डान्तर्गत सूत्र १५ की ओर है, जिसमें कमण्डलु से हाथ-पैर धोने पर उनके गीले रहने तक अशुद्धि मानी गयी है।

कमण्डलूदकं यस्माच्छुद्धिकारणम्—

तस्माद्विना कमण्डलुना नाऽध्वानं व्रजेन्न सीमान्तं न गृहाद् गृहम् ॥ ७ ॥

अनु०—(चूँकि कमण्डलु शुद्धि के लिए आवश्यक है) इस कारण कमण्डलु के विना यात्रा नहीं करनी चाहिए, ग्राम की सीमा की ओर नहीं जाना चाहिए और न एक घर से दूसरे घर को ही जाना चाहिए ॥ ७ ॥

मूत्रोत्सर्गादेरनियतकालत्वात् ॥ ७ ॥

पदमपि न गच्छेदिषुमात्रादित्येके ॥ ८ ॥

यदिच्छेद्धर्मसन्ततिमिति बौधायनः ॥ ९ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि कमण्डलु के विना बाण की दूरी से एक पद भी आगे नहीं जाना चाहिए ॥ ८ ॥

अनु०—बौधायन का मत है कि यदि अपने धर्म का अनवरत पालन करता रहना चाहे तो कमण्डलु के विना कहीं न जाये ॥ ९ ॥

सन्ततिरविच्छेदः ॥ ९ ॥

ऋग्विधमृग्विधानं वाग्वदति ऋग्विधमृग्विधानं वाग्वदति ॥ १० ॥

अनु०—इस विषय में वाक् (ब्राह्मण ग्रन्थ) के अनुसार एक ऋचा भी (कमण्डलुविषयक नियम की) पुष्टि करती है ॥ १० ॥

टि०—गोविन्द स्वामी ने वाक् का अर्थ ब्राह्मण किया है और इस सन्दर्भ में "तस्यैषा भवति । यत्ते शिल्पं कश्यपरोचनावत्" उद्धृत किया है ।

संभवतः कमण्डलु की शुद्धि-अशुद्धि एवं धार्मिक कर्मों के लिए उसकी उपयोगिता पर इस धर्मसूत्र में अन्य धर्मसूत्रों की अपेक्षा अधिक सामग्री प्रस्तुत की गयी ।

वागिति ब्राह्मणमुच्यते । अस्मिन्नर्थे ऋगप्यस्तीति ब्राह्मणमाहेत्यर्थः । स यथा—'तस्यैषा भवति । यत्ते शिल्पं कश्यप रोचनावत्' इति ॥ १० ॥

इति प्रथमप्रश्ने चतुर्थोऽध्याये सप्तमः खण्डः

प्रथमप्रश्ने पञ्चमाध्याये अष्टमः खण्डः

कमण्डलुशौचप्रसङ्गेनाऽन्यद्रव्यविषयमपि शौचमारभ्यते—

अथाऽतश्शौचाधिष्ठानम् ॥ १ ॥

अनु०—अब शुद्धि के दूसरे कारणों या साधनों का वर्णन किया जाता है ॥१॥

अधिष्ठानं निधानं कारणमित्यनर्थान्तरम् । शोध्यद्रव्यं वा ॥ १ ॥

अद्भिश्शुद्ध्यन्ति गात्राणि बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ।

अहिंसया च भूतात्मा मनस्सत्येन शुध्यतीति ॥ २ ॥

अनु०—जल से शरीर शुद्ध होता है, बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है; अहिंसा से भूतात्मा पवित्र होता है और मन सत्य से शुद्ध होता है ॥ २ ॥

टि०—वाणी, मन और शरीर से प्राणियों को दुःख न देना अहिंसा है; कर्मों के कर्ता को भूतात्मा कहा जाता है। मन सङ्कल्प विकल्पात्मक है और सत्य से तात्पर्य है यथाभूतार्थ वचन।—गोविन्द स्वामी।

अद्ग्रहणं मृदादीनामप्युपलक्षणार्थम्। गात्रग्रहणं पार्थिवद्रव्यान्तरप्रदर्शनार्थम्। बुद्धिरन्तरात्मा। सा च व्यवसायात्मिका। ज्ञानं तत्त्वावबोधः। तस्मिन् सति रागादिक्षयादन्तरात्मा शुद्धो भवति। वाङ्मनःकायैर्भूतानां दुःखस्याऽनुत्पादनं अहिंसा, तया च भूतात्मा शुध्यति। स पुनः कर्मणां कर्ता। आह च मनुः—

यः करोति कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः। इति॥

सङ्कल्पविकल्पात्मकं मन इत्युच्यते। सत्यं तु यथाभूतार्थवचनम्॥ २॥

एवं च सति—

मनश्शुद्धिरन्तश्शौचम्॥ ३॥

अनु०—मन की शुद्धि को आन्तरिक शौच कहा जाता है॥ ३॥

तत्र ज्ञानेन सत्येन या शुद्धिरुक्ता तदन्तश्शौचमिति वेदितव्यम्। अन्यद्बहिश्शौचम्॥ ३॥

तदेव तावद्व्याख्यास्यामः—

बहिश्शौचं व्याख्यास्यामः॥ ४॥

अनु०—अब बाह्य शौच की व्याख्या की जायगी॥ ४॥

टि०—इस प्रकार शौच या शुद्धि दो प्रकार की है: आभ्यन्तर या आन्तरिक तथा बाह्य शौच।

विविधाऽऽख्या विस्तर इत्यर्थः॥ ४॥

बाह्यस्याऽचेतनस्य गात्रादेरशुचिभावे पुरुषस्याऽप्यशुचित्वं भवतीति तदर्थं बाह्यशौचमारभ्यते। अद्भिरेवाऽऽचमनं क्रियत इति तदेव प्रथममारभ्यते—

कौशं सौत्रं वा त्रिस्त्रिवृद्यज्ञोपवीतमानाभेर्दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य सव्यमवधाय शिरोऽवदध्यात्॥ ५॥

अनु०—यज्ञोपवीत कुश का बना हो, अथवा सूत का बना हो, और तीन बार त्रिगुण किया गया हो। नाभि के ऊपर तक, दाहिनी भुजा को ऊपर उठाकर, बायीं भुजा को नीचे करके तथा सिर को नीचे करके यज्ञोपवीत धारण करे॥ ५॥

टि०—यज्ञोपवीत उपर्युक्त विधि से इन अवसरों पर अवश्य धारण करे। गुरुओं,

वृद्धों, अतिथियों की पूजा, होम, जप कर्म, भोजन, आचमन तथा स्वाध्याय। इसके विपरीत विधि से प्राचीनावीत होता है जिसका उल्लेख अगले सूत्र में किया गया है।

कुशविकारः कौशम्; सूत्रस्य विकारः, सौत्रम्। तच्च सूत्रं कार्पासमयम्। त्रिरिति क्रियाभ्यावृत्तिगणने सुच् भवतीति। त्रिवृदिति च त्रिगुणं भवति। एतदुक्तं भवति— नवकृत्वस्संपादयेदिति। यज्ञार्थमुपवीतं उपव्यानं विन्यासविशेषः। यज्ञग्रहणं गुरूपासनादेरपि प्रदर्शनार्थम्। तथा चाऽऽपस्तम्बः—'उपासने गुरूणां वृद्धानामतिथीनां होमे जप्यकर्मणि भोजन आचमने स्वाध्याये च यज्ञोपवीती स्यात्' इति। आनाभेः, आढ्यायादायाम्, ऊर्ध्वं नाभेरित्यर्थः। दक्षिणं बाहुमवधाय बाहोरधस्तात्कृत्वा शिरोऽवदध्यात् दक्षिणं बाहुं शिरश्चोपरि गृह्णीयादित्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'दक्षिणं बाहुमुद्धरतेऽवधत्ते सव्यमिति यज्ञोपवीतम्' इति च ॥ ५ ॥

विपरीतं पितृभ्यः ॥ ६ ॥

अनु०—इसके विपरीत (दाहिनी भुजा को नीचे करके बायीं को ऊपर उठाकर तथा सिर नीचे करके) पितृकर्म में धारण किया जाय ॥ ६ ॥

दक्षिणबाहुमधस्तात्कृत्वा सव्यं बाहुमुत्थाय शिरोऽवदध्यात्। श्रुतिरपि 'एतदेव विपरीतं प्राचीनावीतम्' इति। पितॄनुद्दिश्य यत्क्रियते तत्रतद्भवति॥६॥

कण्ठेऽवसक्तं निवीतम् ॥ ७ ॥

अनु०—यदि यज्ञसूत्र कण्ठ में ही लटकाकर धारण किया जाय तो निवीत कहलाता है ॥ ७ ॥

मनुष्याणां भवति। ऋषीणामित्येवेदमुक्तं भवति ॥ ७ ॥

अधोऽवसक्तमधोवीतम् ॥ ८ ॥

अनु०—यदि यज्ञसूत्र नाभि से नीचे लटका कर धारण किया जाय तो अधोवीत कहलाता है ॥ ८ ॥

नाभेरधोऽवसक्तमधःक्षिप्तमधोवीतं भवति। एतदेव 'संवीतं मानुषम्' इति चोच्यते। मनुष्यकार्येषु कर्तव्यम्, तानि चाऽञ्जनाभ्यञ्जनोद्वर्तनादीनि ॥ ८ ॥

आचमनादिशौचाङ्गतया यज्ञोपवीतमुक्तम्। इदानीं तदेव शौचमाह—

प्राङ्मुख उदङ्मुखो वाऽऽसीनश्शौचमारभेत। शुचौ देशे दक्षिणं बाहुं जान्वन्तरा कृत्वा प्रक्षाल्य पादौ पाणी चाऽऽमणिबन्धात् ॥ ९ ॥

अनु०—शौच का कर्म पूर्व की ओर मुख करके अथवा उत्तर की ओर मुख

करके पवित्र स्थान पर बैठकर करे। दाहिनी बाहु को दोनों घुटनों के बीच रखते हुए पैरों को धोवे और फिर मणिबन्धन तक दोनों हाथों को धोवे ॥ ९ ॥

टि०—गोविन्द स्वामी के अनुसार सूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द से मूत्रादि से अपवित्र बने शरीर के अन्य अंगों के प्रक्षालन का नियम भी इस सूत्र द्वारा निर्दिष्ट है।

शौचमिहाऽऽचमनमभिप्रेतम्। शुचावित्येव सिद्धे देशग्रहणं पादुकाद्यारूढेनाऽऽचमनं न कर्तव्यमिति बोधयितुम्। अनेकपुरुषोन्नाय्योदे। आसीनग्रहणं शयनादिनिवृत्त्यर्थम्। प्रक्षाल्य पाणी पादौ चेति चशब्दान्मूत्राद्युपहतं गात्रान्तरमपि प्रक्षाल्येति गम्यते ॥ ९ ॥

पादप्रक्षालनोच्छेषणेन नाऽऽचामेद्यद्याचामेद् भूमौ स्रावयित्वाऽऽचामेत् ॥ १० ॥

अनु०—पैर धोने के बाद बचे हुए जल से आचमन न करे। यदि आचमन करना ही हो तो उसमें से कुछ जल भूमि पर गिराकर तब अवशिष्ट जल से आचमन करे ॥ १० ॥

यत्पात्रस्थोदकेन पादप्रक्षालनं कृतं तदवशिष्टं पादप्रक्षालनोच्छेषणं तेनाऽऽचमनं न कार्यम्। अन्यस्याऽसम्भवे तेनाऽपि यद्याचामेद्भूमौ स्रावयित्वाऽऽचामेत्। तस्माद्भूमौ किञ्चिदुदकं विस्राव्याऽऽचमनं कार्यम् ॥ १० ॥

आचमन एव पाण्यवयवविशेषविधित्सयाऽऽह—

ब्राह्मणेन तीर्थेनाऽऽचामेत् ॥ ११ ॥

अनु०—ब्राह्म तीर्थ से आचमन करे ॥ ११ ॥

किं तद्ब्राह्मं तीर्थम्?

अङ्गुष्ठमूलं ब्राह्मं तीर्थम् ॥ १२ ॥

अनु०—अगूँठे के मूल भाग को ब्राह्म तीर्थ कहते हैं ॥ १२ ॥

तस्याऽङ्गुष्ठमूलस्योत्तरतो मेखला ॥ २१ ॥

एतत्प्रसङ्गात्पितृतर्पणाद्यर्थमन्यान्यपि तीर्थान्याह—

अङ्गुष्ठाग्रं पित्र्यमङ्गुल्यग्रं दैवमङ्गुलिमूलमार्षम् ॥ १३ ॥

अनु०—अगूँठे के अग्र भाग को पित्र्य तीर्थ, अङ्गुलियों के अग्रभाग को दैवतीर्थ तथा अङ्गुलियों के मूल भाग को आर्ष तीर्थ कहते हैं ॥ १३ ॥

---

१. इतः सूत्रान्तरं पुस्तकान्तरेषु।

अङ्गुल्यङ्गुष्ठयोर्मध्यं पित्र्यम् । तथा च वसिष्ठः-'प्रदेशिन्यङ्गुल्योरन्तरे पित्र्यम्' इति । अङ्ज्वन्यत् ॥ १३ ॥

इदानीमाचमन एव किञ्चित्पर्युदस्यति—

नाऽङ्गुलीभिर्न संबुद्बुदाभिर्न सफेनाभिर्नोष्णाभिर्न क्षाराभिर्न लवणाभिर्न कटुकाभिर्न कलुषाभिर्न विवर्णाभिर्न दुर्गन्धरसाभिः ॥ १४ ॥

अनु०—अङ्गुलियों से निकले हुए, बुल-बुले से युक्त, फेन वाले, गरम किये गये, किसी अन्य वस्तु को मिलाकर क्षार बनाये गये, नमक से युक्त, कड़वे, गन्दे, बदले हुए रंग वाले, दुर्गन्ध वाले जल से आचमन न करे ॥ १४ ॥

टि०—गोविन्द स्वामी के अनुसार यदि ये दोष स्वभावतः आये हों तो वह जल अयोग्य नहीं होता, उदाहरण के लिए सूर्य की किरणों द्वारा उष्ण बना जल, स्वभाव से खारा जल, वर्षा के कारण गन्दा बना जल, आचमन के लिए अयोग्य नहीं माना जाता ।

अङ्गुलीस्राविताभिः अद्भिर्नाऽऽचामेत् इति सम्बन्धः । बुद्बुदः स्फोटः । सफेनाः सडिण्डीराः । उष्णाभिः अग्निना, नाऽऽदित्यरश्मिभिः । क्षाराश्च द्रव्यान्तरसंक्रमणात्, न स्वभावतः । कालुष्यमपि कारणान्तरेण, न वर्षादिना । विवर्णत्वमपि तथा, न तु भूगुणेन ॥ १४ ॥

अथाऽऽचमन एव कर्तुरवस्थाः पर्युदस्यन्ते—

न हसन्न जल्पन्न तिष्ठन्न विलोकयन्न प्रह्वो न प्रणतो न मुक्तशिखो न प्रावृतकण्ठो न वेष्टितशिरा न त्वरमाणो नाऽयज्ञोपवीतो न प्रसारितपादो नाऽऽबद्धकक्ष्यो न बहिर्जानुः शब्दमकुर्वन् त्रिरपो हृदयंगमाः पिबेत् ॥ १५ ॥

अनु०—हँसते हुए आचमन न करे, बोलते हुए आचमन न करे, खड़े हो कर न करे, चारो ओर देखते हुए न करे, सिर या शरीर को झुकाए हुए आचमन न करे, शिखा खोल कर अथवा कण्ठ को वस्त्र से ढककर आचमन न करे, सिर को आच्छादित करके आचमन न करे, जल्दीबाजी में, यज्ञोपवीती हुए बिना, पैरों को फैलाकर, कटि को वस्त्र से बाँधे हुए, दाहिने हाथ को घुटनों से बाहर किये हुए आचमन न करे, कोई शब्द किये बिना तीन बार इस प्रकार जल पिये जो जल हृदय तक पहुंचे ॥ १५ ॥

प्रह्वः अधोमुखः । प्रणतो वक्रकायः । ननु 'आसीनश्शौचमारभेत' इत्युक्तम् किमिति तिष्ठतः प्रतिषेधः ? उच्यते—तत्र उपवीतसाहचर्यादासनयोगविधानं

त्रैवर्णिकाधिकारं स्यात् । ततश्च स्त्रीशूद्राणां स्थानादियोगिनामप्याचमनं प्राप्येत, तन्माभूदिति पुनर्ग्रहणम् । अथ वा अत्यन्तापदि तत्प्रह्वताभ्यनुज्ञानाय । प्रह्वा—हसनजल्पनादिप्रतिषेधार्थं दृष्टान्तत्वेनोपन्यासः । 'आबद्धकक्ष्यः कृतासनबन्धः' बहिर्जानुः जान्वोर्बहिर्गतदक्षिणबाहुः । यथा च गोतमः—'दक्षिणं बाहुं जान्वन्तरा कृत्वा' इति । त्रिःपाने क्रियमाणे एकैकस्याम् आवृत्तौ हृदयङ्गमाभिरद्भिर्भवितव्यम् , ततश्च पाणिपूरणोदकेन पानं कार्यम् । अन्यदतिरोहितम् ॥ १५ ॥

[1]त्रिः परिमृजेद् द्विरित्येके ॥ १६ ॥

अनु०—तीन बार (मुख से बाहर निकले हुए जल को) पोंछे । कुछ आचार्यों का मत है कि केवल दो बार परिमार्जन करे ॥ १६ ॥

आस्यात् बहिर्भूतमुदकं त्रिः परिमृजेत्, द्विरित्येके । परिमार्जन एव द्विरभ्यासो न पानेऽपि । उत्तरत उभयग्रहणात् ॥ १६ ॥

[2]सकृदुभयं स्त्रियाश्शूद्रस्य च ॥ १७ ॥

अनु०—स्त्री और शूद्र आचमनार्थ जल का पान तथा परिमार्जन केवल एक-एक बार ही करे ॥ १७ ॥

उभयं पानं मार्जनं च स्त्रीशूद्रयोरसकृत्सकृत् ॥ १७ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति—

[3]गताभिर्हृदयं विप्रः कण्ठ्याभिः क्षत्रियश्शुचिः ।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्स्यात् स्त्रीशूद्रौ स्पृश्य चाऽन्तत इति ॥ १८ ॥

अनु०—इस विषय में धर्मशास्त्रज्ञ निम्नलिखित पद्य उद्धृत करते हैं—ब्राह्मण हृदय तक पहुँचे हुए जल से शुद्ध होता है, क्षत्रिय कण्ठ तक पहुँचे हुए जल से। वैश्य मुख में पहुँचे हुए जल से शुद्ध होता है । स्त्री और शूद्र ओठ से ही जल स्पर्श कर पवित्र हो जाते हैं ॥ १८ ॥

---

१. त्रिरोष्ठौ परिमृजेत् द्विरित्येके इत्यापस्तम्बः (आप० ध० १. १५. ३. ४) एवं चौष्ठस्यैव परिमार्जनं कण्ठतो वदति सूत्रकार आपस्तम्बः । अत्र तु व्याख्याता बहिर्भूतस्योदकस्य परिमार्जनस्याऽयं विधिरित्यभिप्रैति ।

२. सकृदुभयं शूद्रस्य स्त्रियाश्च. अ. पु. पा. त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् । शारीरं शौचमिच्छन् हि स्त्री शूद्रस्तु सकृत् सकृत् ॥ इति मनुः (म.५.१३९)

३. हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः । वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ इति मनुः (२. ६२) अनेन श्लोकेन साकं सूत्रस्य महत्साहश्यमस्त्यवलोकनीयम् ।

टि०—द्रष्टव्य-मनु० २.६२ हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः। वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥

वर्णान्तरस्योदकपरिमाणान्तरविधानादेव हृदयङ्गमविधिर्विप्रस्येति प्राप्ते पुनर्विप्रग्रहणमितरवर्णार्थमनुवादः। हृदयादुपरि कण्ठः। तस्मादुपरि काकलम्। तस्मादुपर्योष्ठमिति प्रतिवर्णं स्थाननिर्देशः। स्त्रीशूद्रयोरप्यास्यप्रक्षेप उदकस्य द्रष्टव्यो न स्पर्शनमात्रम् ॥ १८ ॥

दन्तवद्दन्तसक्तेषु दन्तवत्तेषु धारणा।
स्रस्तेषु तेषु नाऽऽचामेत्तेषां संस्राववच्छुचिरिति ॥ १९ ॥

अनु०—दाँतों के समान ही दाँतों में लगी जल की बूँदों को दाँतों के समान ही (शुद्ध) समझा जाता है। उनके मुख से बाहर निकलने पर आचमन न करे। उनके मुख से निकल जाने से ही शुद्धि हो जाती है ॥ १९ ॥

टि०—द्रष्टव्य, मनु० ५.१९ दन्तवद्दन्तलग्नेषु जिह्वास्पर्शे शुचिर्न तु। परिच्युतेषु तत्स्थानात् निगिरन्नेव तच्छुचिः ॥

दन्तवद्दन्तसक्तेषु उदकबिन्दुषु। किमुक्तं भवति? दन्तवत्तेषु धारणा कार्या। बहिर्गतजलस्य परिमार्जनविधानादन्तर्गतस्य दोषाभाव इत्यभिप्रायः। संस्रावः लाला ॥ १९ ॥

अमुमेवाऽर्थं परकीयमतेन द्रढयितुमाह—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

[1]दन्तवद्दन्तलग्नेषु यच्चाऽप्यन्तर्मुखे भवेत्।
आचान्तस्याऽवशिष्टं स्यान्निगिरन्नेव तच्छुचिरिति ॥ २० ॥

अनु०—इसकी पुष्टि के लिए एक अन्य पद्य उद्धृत करते हैं—दाँतों के समान ही दाँतों में चिपकी हुई वस्तुएँ, अथवा जो मुख के भीतर गयी हुई वस्तु होती है, अथवा आचमन के बाद भी जो कुछ जलबिन्दु आदि मुख में अवशिष्ट होता है उसके निगल लेने से ही शुद्धि हो जाती है ॥ २० ॥

आचमनोत्तरकालं यदास्येऽवशिष्टमुपलभ्यते जलावशिष्टमवहार्यं द्रव्यं तन्निगिरन् प्रवेशयन्नेव तच्छुचिः, भवतीति शेषः ॥ २० ॥

---

१. दन्तवद्दन्तलग्नेषु जिह्वास्पर्शे शुचिर्न तु। परिच्युतेषु तत्स्थानात् निगिरन्नेव तच्छुचिः ॥ इति मनुः (म. ५. १९)

तथाऽऽचमने किञ्चिद्विधित्सयाऽऽह—

खान्यद्भिस्संस्पृश्य पादौ नाभिं शिरः सव्यं पाणिमन्ततः ॥ २१ ॥

अनु०—सिर के छिद्रों (चक्षु आदि इन्द्रियों) का स्पर्श करके, दोनों पैरों, नाभि, सिर और बायें हाथ का स्पर्श करे ॥ २१ ॥

टि०—किन अङ्गुलियों से किस अंग का स्पर्श करना चाहिए इस संबन्ध में गोविन्द स्वामी ने दो पद्य उद्धृत किये हैं । यह स्पर्शविधि आचमन-नियम का ही अंग है ।

खानि शीर्षण्यानि चक्षुरादीनीन्द्रियाणि । कुतः ? स्मृत्यन्तरदर्शनात् 'ऊर्ध्वं वै पुरुषस्य नाभ्यै' इति वक्ष्यति—

अङ्गुष्ठनामिकाभ्यां तु चक्षुषी समुपस्पृशेत् ।

उभाभ्यां प्रत्येकमिति शेषः । एवमुत्तरत्राऽपि योज्यम् ॥

प्रदेशिन्यङ्गुष्ठाभ्यां तु नासिके समुपस्पृशेत् ॥
कनिष्ठिकाङ्गुष्ठाभ्यां तु श्रवणे समुपस्पृशेत् ।
पादावभ्युक्ष्य सर्वाभिः नाभिमङ्गुष्ठकेन तु ॥
दद्यात्तु मूर्ध्नि सर्वाभिस्सव्ये पाणौ ततो जलम् ॥ इति ॥ २१ ॥

गात्राणां शौचमुक्तम् । सम्प्रति तत्सम्बन्धिनो द्रव्यस्याऽऽह । तत्र यद्द्रव्यहस्तश्चेदुच्छिष्टो भवति तस्य द्रव्यस्य किं शौचमित्यत आह—

तैजसं चेदादायोच्छिष्टी स्यात्तदुदस्याऽऽचम्याऽऽदास्यन्नद्भिः प्रोक्षेत् ॥ २२ ॥

अनु०—यदि धातु निर्मित पात्र को हाथ में लिये हुए अपवित्र हो जाय तो उसे रखकर आचमन करे, और उसे ग्रहण करते समय उस पर जल छिड़के ॥ २२ ॥

तेजसा हेतुभूतेन यत्क्रियते तत्तैजसं तद्धस्तस्तु उच्छिष्टो भवति, निधाय च तद्द्रव्यमाचम्याऽऽदास्यन् तद्द्रव्यं अद्भिः प्रोक्षेत् । स च तद्द्रव्यं च प्रयतं भवति ॥ २२ ॥

अथ चेदन्नेनोच्छिष्टी स्यात् तदुदस्याऽऽचम्याऽऽदास्यन्नद्भिः प्रोक्षेत् ॥ २३ ॥

अनु०—यदि हाथ में अन्न लिये हुए अशुद्ध हो जाय, तो उसे रखकर आचमन करे और उसे पुनः ग्रहण करते समय उस पर जल छिड़के ॥ २३ ॥

पृथगारम्भस्तैजसेनाऽन्नस्य वैलक्षण्यप्रदर्शनार्थः । पूर्वत्र तैजसहस्तस्याऽ-

प्रायत्ये संजाते शौचमुक्तम्। इह तु पात्रान्तरान्नहस्तस्य शौचमिति विशेषः। तथा च वसिष्ठः—

चरन्नभ्यवहार्येषु उच्छिष्टं यदि संस्पृशेत्।
भूमौ निधाय तत्पात्रमाचम्य प्रचरेत्पुनः॥ इति॥ २४॥

अथ चेदद्भिरुच्छिष्टी स्यात् तदुदस्याचम्यादास्यन्नद्भिः प्रोक्षेत्॥ २४॥

एतदेव विपरीतममत्रे॥ २५॥

अनु०—यदि हाथ में जल लिये हुए अशुद्ध हो जाय तो उसे रखकर आचमन करे और ग्रहण करते समय जल छिड़के॥ २४॥

अनु०—यह मिट्टी के पात्र के विषय में बताये गये नियम के विपरीत है॥२५॥

टि०—यहाँ तात्पर्य यह है कि मिट्टी का पात्र यदि अपवित्र हो जाय तो उसे फिर ग्रहण नहीं किया जाता। अन्य प्रकार के पात्रों का पुनः अग्नि से दाह किया जाता है।

अमत्रं मृन्मयपात्रमिहाऽभिप्रेतम्। तस्याऽत्यन्तोपहतस्योदसनमात्रमेव नाऽऽदानमित्यर्थः। इतरस्य पुनर्दाह एव॥ २४–२५॥

वानस्पत्ये विकल्पः॥ २६॥

अनु०—लकड़ी के पात्रों के विषय में विकल्प नियम है। (अर्थात् उसका त्याग भी किया जा सकता है और पुनः ग्रहण भी किया जा सकता है)॥ २६॥

वानस्पत्ये वार्क्षे पात्रेऽप्रयते सति [1]आदानमुदसनं वा विकल्पः उपहतिविशेषापेक्षया। आचमनं तु स्थितमेव॥ २६॥

पुरुषेण संयुक्तद्रव्यस्याऽप्रायत्ये शौचमुक्तम्। अधुना वियुक्तावस्थायामाह—

[2]तैजसानामुच्छिष्टानां गोशकृन्मृद्भस्मभिः परिमार्जनमन्यतमेन वा॥ २७॥

अनु०—अशुद्ध हुए धातु के पात्रों को गोबर, मिट्टी, और भस्म से अथवा इनमें से किसी एक से मले॥ २७॥

---

१. आदानस्य विकल्पः, इति क० पु०

२, See. मनु from. ५. ११४ to १२४. कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः। श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः॥ क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च। शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा॥ इति स्मृत्यन्तरवचनमेतत्संवादि।

उपघातापेक्षया द्रव्याणां समुच्चयविकल्पौ द्रष्टव्यौ । उदकं पुनस्सर्वत्रानुवर्तते ॥ २७ ॥

अथ विशिष्टानां तैजसानां शौचान्तरमाह—

ताम्ररजतसुवर्णानामम्लैः ॥ २८ ॥

अनु०—ताँबे चाँदी और सोने के पात्रों के अपवित्र होने पर उनको अम्ल से शुद्ध करे ॥ २८ ॥

परिमार्जनमित्यनुवर्तते । सलेपानामेतत् । निर्लेपानां तु पूर्वोक्तानामन्यतमेनैव । तथा च वसिष्ठः—'अद्भिरेव काञ्चनं पूयते तथा रजतम्' इति ॥ २८ ॥

अमत्राणां दहनम् ॥ २९ ॥

अनु०—(स्पर्श मात्र से दूषित) मिट्टी के पात्रों का अग्नि पर दाह करने से शुद्धि होती है ॥ २९ ॥

स्पर्शमात्रादुच्छिष्टानां मृन्मयानां पुनर्दाहः शौचमाम्नातम् । अनर्हाप्रायत्ययुक्तस्पर्शे तु प्रोक्षणमेव ॥ २९ ॥

दारवाणां तक्षणम् ॥ ३० ॥

अनु०—लकड़ी के बने पात्रों के दूषित होने पर उनको छीलने पर शुद्धि होती है ॥ ३० ॥

शौचमित्यनुवर्तते ॥ ३० ॥

वैणवानां गोमयेन ॥ ३१ ॥

अनु०—बाँस से बने हुए उपकरणों की शुद्धि गोबर से होती है ॥ ३१ ॥

परिमार्जनमिति शेषः । विदलादीनामशुचिस्पृष्टानामेतत् ॥ ३१ ॥

फलमयानां गोवालरज्ज्वा ॥ ३२ ॥

अनु०—फल (बिल्व, नारिकल आदि) से बने हुए पात्रों की शुद्धि गौ के केशों से बनी रज्जु से रगड़ने पर होती है ॥ ३२ ॥

बिल्वनालिकेरादिफलविकाराणां गोवालरज्ज्वा । परिमार्जनम् । रज्जुग्रहणं बालबहुत्वोपलक्षणार्थम् । तथा च वसिष्ठः—'गोवालैः (परिमार्जनं) फलमयानाम्' ॥ इति ॥ ३२ ॥

कृष्णाजिनानां बिल्वतण्डुलैः ॥ ३३ ॥

अनु०—काले मृग का चर्म घिसे हुए बिल्व और चावल के लेप द्वारा शुद्ध होता है ॥ ३३ ॥

बिल्वतण्डुलान् पिष्ट्वाऽवलेपनं कार्यमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

कुतपानामरिष्टैः ॥ ३४ ॥

अनु०—कुतपानाम के पर्वतीय बकरे के रोम से बनी वस्तुओं की शुद्धि रीठी से होती है ॥ ३४ ॥

कुतपा नाम पार्वतीयच्छागरोमनिर्मिताः कम्बला उच्यन्ते । [1]अरिष्टैः पूयवृक्षफलैः ॥ ३४ ॥

और्णानामादित्येन ॥ ३५ ॥

अनु०—ऊन के वस्त्रों की शुद्धि सूर्य की किरणों से होती है ॥ ३५ ॥

ऊर्णा अविलोमानि । तद्विकाराणां प्रावरणादीनामादित्यातपेन शुद्धिः ॥३५॥

[2]क्षौमाणां गौरसर्षपकल्केन ॥ ३६ ॥

अनु०—रेशमी वस्त्रों की शुद्धि पीले सरसों के लेप से होती है ॥ ३६ ॥

क्षुमा अतसी तद्विकाराणाम ॥ ३६ ॥

मृदा चेलानाम् ॥ ३७ ॥

अनु०—सूती वस्त्रों की शुद्धि मिट्टी से होती है ॥ ३७ ॥

कार्पासमयानां मृदा शुद्धिः ॥ ३७ ॥

चेलवत् चर्मणाम् ॥ ३८ ॥

अनु०—(कृष्णमृग चर्म के अतिरिक्त अन्य) चर्म से बने वस्त्रादि की शुद्धि भी सूती वस्त्र के समान ही (मिट्टी से) होती है ॥ ३८ ॥

कृष्णाजिनव्यतिरिक्तानामिति शेषः ॥ ३८ ॥

[3]तैजसवदुपलमणीनाम् ॥ ३९ ॥

अनु०—पत्थरों और मणियों की शुद्धि धातुनिर्मित पदार्थों के समान ही (गोबर, मिट्टी, भस्म से) होती है ॥ ३९ ॥

---

१. रीठी इति भाषायाम् ।

२. "गौरसर्षपकल्केन क्षौमजानाम्" इति वसिष्ठः (व० ३–५०)

३. तैजसवदुपलमणीनां, मणिवच्छङ्खशुक्तीनां, दारुवदस्थ्नां रज्जुविदलचर्मणां चेलवच्छौचम् । इति वसिष्ठः (व० ३–४९)

उपलानां मणीनां च गोशकृदादिभिश्शुद्धिः ॥ ३९ ॥

दारुवदस्थ्नाम् ॥ ४० ॥

अनु०—अस्थिनिर्मित पदार्थों की शुद्धि काष्ठ की वस्तुओं के समान ही (छीलकर) होती है ॥ ४० ॥

तक्षणमित्यर्थः ॥ ४० ॥

क्षौमवच्छङ्खशृङ्गशुक्तिदन्तानाम् ॥ ४१ ॥

अनु०—शङ्ख, सींग, सीप और हाथी दाँत की वस्तुओं की शुद्धि रेशमी वस्त्र के समान (पीले सरसों के लेप द्वारा) होती है ॥ ४१ ॥

गौरसर्षपकल्केन शौचं कार्यम् ॥ ४१ ॥

पयसा वा ॥ ४२ ॥

अनु०—अथवा दूध से धोने से भी उनकी शुद्धि होती है ॥ ४२ ॥

प्रक्षालनमिति शेषः ॥ ४२ ॥

चक्षुर्घ्राणानुकूल्याद्वा मूत्रपुरीषासृक्शुक्लकुणपस्पृष्टानां पूर्वोक्तानामन्यतमेन त्रिस्सप्तकृत्वः परिमार्जनम् ॥ ४३ ॥

अनु०—यदि देखने या सूँघने में अनुकूल प्रतीत होते हों तो मूत्र, मल, रक्त, वीर्य, या मृतक शरीर से दूषित पदार्थों को ऊपर बताये गये (गोबर आदि) किसी भी पदार्थ से तीन सात-सात बार करके परिमार्जन करे ॥ ४३ ॥

टि०—मूत्रादि से शरीरस्थ बारह प्रकार के मलों का उल्लेख है। इनकी गणना गोविन्दस्वामी ने अपनी व्याख्या में की है। यहाँ केवल इन मलों से स्पृष्ट वस्तुओं की शुद्धि का ही नियम दिया गया है।

मूत्रादिग्रहणं द्वादशमलप्रदर्शनार्थम्। तानि च मनुना प्रदर्शितानि—

वसा शुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रविट्कर्णविण्णखाः।
श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥

पूर्वोक्तानां गोशकृदादीनामन्यतमेन शौचम्। एतच्च परिमार्जनं तैजसानामुच्छिष्टगात्रदुष्टानां वेदितव्यम्। परिमार्जनमुल्लेखनं पुनः-करणमिति यथोपघात कर्तव्यम्। तथा च शङ्खः[1]—'कुणपरेतोऽसृङ्मूत्रपुरीषोपहतानां आवर्तनमुल्लेखनं भस्मना परिमार्जनमुत्सर्गः' ॥ इति। अत्राऽऽवर्तनशब्देन पुनः करणमुच्यते। तत्रैवं व्यवस्था—स्पृष्टमात्राणां त्रिस्सप्तकृत्वः परिमार्जनम्।

१. मुद्रितशङ्खस्मृतौ नास्तीदं वचनम्।

अल्पकालोपहतानामुल्लेखनम् । चिरकालोपहतानामावर्तनम् । अत्यन्तोपहतानां त्याग इति ॥ ४३ ॥

अतैजसानामेवंभूतानामुत्सर्गः ॥ ४४ ॥

अनु०—जो वस्तुएँ धातुनिर्मित न हों और इस प्रकार मूत्रादि के संसर्ग से अपवित्र हों उनका त्याग कर देना चाहिए ॥ ४४ ॥

एवंभूतानामित्यन्तमलिनानां त्यागः । तेषामेव 'यथासम्भवमुत्सेदनं तन्मात्रच्छेदश्च' इति शङ्खवचनात् ॥ ४४ ॥

वचनाद्यज्ञे चमसपात्राणाम् ॥ ४५ ॥

अनु०—वेद के वचनानुसार यज्ञीय चमसपात्र उच्छिष्ट दोष से अशुद्ध नहीं होता ॥ ४५ ॥

टि०—ब्यूह्लेर के अनुसार इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा—चमस आदि पात्रों की यज्ञ में शुद्धि वेदोक्त नियम के अनुसार करनी चाहिए ।

चमसानां पात्राणामुच्छिष्टस्पर्शदोषो नाऽस्तीति शेषः । मूत्राद्युपहतानां तु त्याग एव ॥ ४५ ॥

किं तद्वचनमित्यत आह—

न सोमेनोच्छिष्टा भवन्तीति श्रुतिः ॥ ४६ ॥

अनु०—सोम के स्पर्श से (पुरुष, चमस पात्र या अन्य पात्र) दूषित नहीं होते हैं, ऐसा श्रुतिवचन है ॥ ४६ ॥

सोमेनोच्छिष्टाः पुरुषास्सोमाश्चमसाश्चाऽन्यानि च पात्राणि उच्छिष्टानि न भवन्तीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

इदानीं संक्षिप्याऽऽह—

[1]कालोऽग्निर्मनसश्शुद्धिरुदकाद्युपलेपनम् ।
अविज्ञातं च भूतानां षड्विधं शौचमुच्यत इति ॥ ४७ ॥

अनु०—समय का बीतना, अग्नि, मन की शुद्धि, जल तथा अन्य उसी प्रकार के द्रव, (गोबर आदि द्वारा) लेपन और अशुद्धि का ज्ञान न होना-इन छः प्रकारों से वस्तुओं की शुद्धि बतायी गयी है ॥ ४७ ॥

कालदशावाशौचादौ शुद्धिसाधनं भवति । तथाऽन्यत्राऽपि तैजसानां

१. श्लोकोऽयं किञ्चिदेवाऽन्यथयितं वासिष्ठे दृश्यते । See व० ध० २३. २७.

पात्राणां मूत्राद्युपहतानां गोमूत्रे सप्तरात्रं परिशायनमिति । अग्निरपि मृन्मयस्य शुद्धिहेतुः । मनसश्शुद्धिरनातङ्कः परितोष इत्यादि । तदपि प्रायश्चित्तादौ सहकारीति । तथा च मनुः—

यस्मिन् कर्मण्यस्य कृते मनसस्स्यादलाघवम् ।
तस्मिन् तावत्ततः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥ इति ॥

तथोदकैस्सवर्णरजतादि शुध्यति । अन्यान्यपि यानि प्रातिस्विकानि शोधकानि कालगोवालबिल्वतण्डुलादीनि तेषामपि स्नानप्रोक्षणप्रक्षालनादिषु यथाद्रव्यं योजनीयम् । तथा भूमेरुपलेपनादि वक्ष्यते । अविज्ञातं च प्रत्यक्षादिना प्रमाणेनाऽनवगतदोषमपि शुध्यति । एवं षड्विधं शौचं भवति ॥ ४७ ॥

अधुनाऽन्यदपि शौचविधौ परकीयमतेन कारणमाह—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

कालं देशं तथाऽऽत्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम् ।
उपपत्तिमवस्थां च विज्ञाय शौचं शौचज्ञः कुशलो धर्मेप्सुः समाचरेत् ॥४८॥

अनु०—इस विषय में धर्मशास्त्रज्ञ निम्नलिखित पद्य भी उद्धृत करते हैं—शुद्धि के नियमों को जानने वाला, बुद्धिमान् तथा धर्माचरण करने के लिए प्रयत्नशील व्यक्ति (अशुद्धि के) समय, स्थान का, अपना, द्रव्य का, द्रव्य के प्रयोजन का, अशुद्धि के कारण तथा अशुद्धि या अशुद्ध वस्तु की स्थिति का भली भाँति विचार कर शौच के नियमों का पालन करता है ॥ ४८ ॥

कालो ग्रीष्मादिः शीतोष्णादिमल्लक्षणः । देशः कान्तारादिः । द्रव्यं शोध्यं मृन्मयादि । द्रव्यप्रयोजनमुदकाहरणादि । उपपत्तिः न्यायः । अवस्था स्थितिरातुरादिका । चशब्दात् कर्तारमपि ज्ञात्वा, शौचज्ञः मन्वाद्यनेकाविरुद्धशास्त्रार्थज्ञः । कुशलः प्रवीणः ऊहापोहसमर्थः । अस्मिन् कालेऽस्मिन् देशेऽस्य द्रव्यस्याऽस्मै प्रयोजनायाऽस्मात् कारणादस्यामवस्थायामस्य पुरुषस्यैतावच्छौचमिति यो वेद स कुशलः धर्मजिज्ञासुस्समाचरेत् विदध्यात् । एतदन्यत्राऽपि दण्डप्रायश्चित्तादौ द्रष्टव्यम् ॥ ४८ ॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने पञ्चमोऽध्यायः ।

प्रथमप्रश्ने षष्ठोऽध्यायः

इदानीं दृष्टदोषाणामपि केषांचिद्द्रव्याणां शौचमापादयितुमाह—

[1]नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्यं यच्च प्रसारितम् ।
ब्रह्मचारिगतं भैक्षं नित्यं मेध्यमिति श्रुतिः ॥ १ ॥

अनु०—कारु (कारीगर) का हाथ नित्य शुद्ध रहता है, विक्रय के लिए फैलायी गयी वस्तु भी सदा शुद्ध होती है, तथा ब्रह्मचारी के हाथ में गया हुआ भिक्षा से प्राप्त अन्न सदैव शुद्ध होता है ऐसी वेद की उक्ति है ॥ १ ॥

हस्तादन्येन पादादिना स्पर्शने दोषः । आपणगतैः विक्रीतुं पण्यं प्रसारितम् । श्रत्युपन्यासः सामान्यतो दृष्टया प्रक्षाळनाद्याशङ्कानिवृत्त्यर्थः ॥ १ ॥

किञ्च—

[2]वत्सः प्रस्नवने मेध्यः शकुनिः फलशातने
स्त्रियश्च रतिसंसर्गे श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥ २ ॥

अनु०—दूध पेन्हाते समय (गौ को उपस्नुत करते समय) गाय का बछड़ा शुद्ध होता है, वृक्ष से फल गिरते समय पक्षी पवित्र होता है, संभोग क्रिया के समय स्त्रियाँ पवित्र होती हैं और शिकार में मृग को पकड़ते समय कुत्ता शुद्ध होता है ॥२॥

टि०—इस पद्य का भाव है कि तत्तत् क्रिया में इन प्राणियों के मुख से या श्वास, लार आदि से स्पृष्ट होने पर भी अशुद्धि का दोष नहीं होता । गौ के दूध दुहते समय बछड़ा जो थन से दुग्धपान करता है उससे दुग्ध अशुद्ध नहीं माना जाता, किन्तु अन्य समय पर बछड़े के मुख से स्पृष्ट होने पर अशुद्धि मानी जाती है । कौआ आदि पक्षी यदि काटकर फल गिरावे तो वह अशुद्ध नहीं होता, किन्तु फल के गिरने पर यदि पक्षी उसे छूता है तो फल अशुद्ध माना जायगा । इसी प्रकार यदि शिकार में कुत्ता मृग आदि पशु को काटता है तो वह अशुद्ध नहीं समझा जायगा, अन्यथा कुत्ते के मुख से स्पृष्ट होने पर अशुद्धि मानी जाती है । रतिकाल में स्त्री के मुख या श्वास से स्पर्श अशुद्धिजनक नहीं होता । इस संबन्ध में गोविन्द स्वामी ने वसिष्ठधर्म सूत्र से तीन पद्य उद्धृत किये हैं ।

अत्र 'पक्षिजग्धं गवाऽऽघ्रातमवधूतमवक्षुतम्'

---

१. श्लोकोऽयं समानानुपूर्वीको मनौ दृश्यते । cf. म. ५. १२९.

२. श्लोकोऽयं समानानुपूर्वीक एव वासिष्ठे दृश्यते । cf. व. ध. २८. ८. किञ्चिदेवाऽन्यथयितो मनौ । See मनु. ५. १३०.

इत्येवमाद्यालोचनया जुगुप्सा नैव कर्तव्या । दोहकालादन्यत्र वत्सालीढेऽपि दोषः । तथा शातनग्रहणात् वृक्षात्पतितस्य शकुनिजग्धस्य भक्षणे दोषः । रतिसंसर्गग्रहणात् अन्यत्र स्त्रीणां श्वासलालास्वादने दोषः । तत्राऽपि स्वभार्याया एव । तथा मृगयाया अन्यत्र श्वलीढस्य दोषः । तथा च वसिष्ठः—

श्वहताश्च मृगा वन्याः पातितं च खगैः फलम् ।
बालैरनुपरिक्रान्तं स्त्रीभिराचरितं च यत् ॥
प्रसारितं च यत्पण्यं ये दोषः स्त्रीमुखेषु च ।
मशकैर्मक्षिकाभिश्च लीढं चेन्नाऽवहन्यते ॥
क्षितिस्थाश्चैव या आपो गवां तृप्तिकराश्च याः ।
परिसङ्ख्याय तान् सर्वान् शुचीनाह प्रजापतिः ॥ इति ॥ २ ॥

आकराश्शुचयस्सर्वे वर्जयित्वा सुराकरम् ।
अदूष्यास्सन्तता धारा वातोद्धूताश्च रेणवः ॥ ३ ॥

अनु०—सुरा निर्माण के स्थान को छोड़कर अन्य सभी वस्तुओं के उत्पत्ति स्थान या निर्माण के साधन पवित्र होते हैं। बहते हुए जल की धारा और वायु द्वारा उड़ायी गयी धूल अदूष्य होती है ॥ ३ ॥

आकरा उत्पत्तिस्थानानि । गुडक्षौद्रादीनां दुष्टदोषाणां न तत्र शङ्का कार्येत्यभिप्रायः । सुराकरं तु वर्जयेत्, स्पर्शनगन्धग्रहणादीनां प्रतिषेधात् । अदूष्यास्सन्तता एव धाराः । अशुचिस्पृष्टा अपि जलप्रस्रवणादयः अदूष्याः । विच्छिन्नास्तु दूष्याः । अत एतद्गम्यते विच्छिन्नया करकादिधारया नाऽऽचामेदिति। वायूत्थापिताश्चेदवस्करादिदेशादुत्थापिता अप्यदूष्या एव रेणवः ॥ ३ ॥

किञ्च—

अमेध्येषु च ये वृक्षा उप्ताः पुष्पफलोपगाः ।
तेषामपि न दुष्यन्ति पुष्पाणि च फलानि च ॥ ४ ॥

अनु०—पुष्प और फल देने वाले जो वृक्ष या पौधे अपवित्र स्थानों पर उगते हैं उनके भी फूल और फल दूषित नहीं होते हैं ॥ ४ ॥

वृक्षग्रहणं पुष्पग्रहणं चौषधिशाखादीनामप्युपलक्षणार्थम् ॥ ४ ॥

किञ्च—

चैत्यवृक्षं चितिं यूपं चण्डालं वेदविक्रयम् ।
एतानि ब्राह्मणस्स्पृष्ट्वा सचेलो जलमाविशेत् ॥ ५ ॥

अनु०—पवित्र स्थान पर स्थित वृक्ष को, चिता, यज्ञीय यूप, चण्डाल या वेद

को बेचने वाले व्यक्ति को छूने पर ब्राह्मण वस्त्रों को धारण किये हुए ही जल में प्रवेश कर स्नान करे ॥ ५ ॥

स्पष्टमेतत् ॥ ५ ॥

किञ्च—

आत्मशय्याऽऽसनं वस्त्रं जायाऽपत्यं कमण्डलुः ।
शुचीन्यात्मन एतानि परेषामशुचीनि तु ॥ ६ ॥

अनु०—अपनी ही शय्या, अपना आसन, अपने वस्त्र, अपनी पत्नी, अपने बच्चे और अपना कमण्डलु-ये सभी अपने लिए पवित्र होते हैं, किन्तु दूसरों के लिए ये सभी अपवित्र होते हैं ॥ ६ ॥

स्पष्टमेतत् ॥ ६ ॥

आसनं शयनं यानं[1] नावः पथि तृणानि च ।
[2]चण्डालपतितस्पृष्टं मारुतेनैव शुध्यति ॥ ७ ॥

अनु०—आसन शय्या, यान, नौका, मार्ग और घास चण्डाल या पतित व्यक्ति द्वारा स्पृष्ट होने पर वायु से ही शुद्ध हो जाते हैं ॥ ७ ॥

टी०—गोविन्दस्वामी के अनुसार यदि आसन और शय्या आदि को चण्डाल या पतित ने छू दिया हो तभी उसकी शुद्धि वायु द्वारा अपने आप मानी जाती है अन्यथा यदि वे उन पर बैठे या सोए हों तो शुद्धि करनी पड़ती है ।

पन्थानो भूमिविषयाः । नौः दारुमयी फलका । आन्दोलिकादीन्यपि द्रव्याणीति केचित् । एषामन्यतमानीत्यध्याहार्यम् । तत्राऽपि स्पर्शनमात्रेऽदोषः । एतदध्यासनादिषु तु यथादोषं शौचं कर्तव्यम् ॥ ७ ॥

किञ्च—

खलक्षेत्रेषु यद्धान्यं कूपवापीषु यज्जलम् ।
अभोज्यादपि तद्भोज्यं यच्च गोष्ठगतं पयः ॥ ८ ॥

अनु०— जो अनाज खलिहान में हो जो जल कूप या तालाब में हो तथा जो दूध गायों के रहने के स्थान पर हो वह ऐसे व्यक्ति से भी, जिसका अन्न खाना निषिद्ध है, लेकर प्रयोग में लाया जा सकता है । ॥ ८ ॥

१, नौः पन्थाश्च, इति क. पु.

२. 'श्वचण्डाल' इति. ई. व्यतिरिक्तेषु मूलपुस्तकेषु.

टी०—यदि खलिहान में कोई ऐसा व्यक्ति जिसका अन्न अभोज्य बताया गया है अन्न उठाकर देता है तो वह अन्न दूषित नहीं माना जाता। इसी प्रकार कुएँ या तलाब से कोई इस प्रकार का व्यक्ति जल निकाल रहा हो तो वह ग्राह्य है और गाय के दुहे जाते समय दुहने के स्थान पर कोई उपर्युक्त व्यक्ति दूध देता हो तो वह दूध अशुद्ध नहीं माना जाता। गोविन्द स्वामी ने अपनी व्याख्या में यह निर्देश दिया है कि यदि पतित या चण्डाल ने इन पदार्थों में हाथ लगाया हो तो ये पदार्थ दूषित हो जाते हैं।

अभोज्यान्नैः पुरुषैर्निष्पादितेषु खलक्षेत्रधान्यादिषु पुनश्च साधारणत्वेन सङ्कल्पितेष्वेतद् द्रष्टव्यम्। तत्राऽपि पतितचण्डालपरिगृहीतं दुष्टमेव। गोदोहन-वेलायामेव परिगृहीतं पयो भोज्यम्, गोष्ठगतत्वविधानात्॥ ८॥

किञ्च—

[1]त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन्।
अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते॥ ९॥

अनु०—देवों ने ब्राह्मणों के लिये शुद्धि के तीन उपाय बनाये—प्रत्यक्षतः दोष का ज्ञान न होना, जल से प्रक्षालन तथा वाणी द्वारा प्रस्तुत पदार्थ के निर्दोष होने की प्रशंसा॥ ९॥

ब्राह्मणग्रहणं प्रदर्शनार्थम्, पुराकल्पप्रशंसैषा। अदृष्टं प्रत्यक्षादिभिरनव-गतदोषम्, उपहतानुपहताशङ्कायामद्भिर्निर्णिक्तं प्रक्षालितम्, तथा वाचा प्रशस्तं च। आह च वसिष्ठः—'वाचा प्रशस्तमुपयुञ्जीत' इति। वाक्प्रशस्तान्यद्भिः प्रोक्ष्योपयुञ्जीतेति॥ ९॥

[2]आपः पवित्रं भूमिगताः गोतृप्तिर्यासु जायते।
अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः॥ १०॥

अनु०—पृथ्वी पर एकत्र हुए जिस जल से गायें अपनी प्यास बुझाती है, वह यदि अपवित्र पदार्थ से बहुत अधिक मिश्रित न हो, या दुर्गन्धयुक्त गँदले रंग या बुरे स्वाद का न हो तो पवित्र होता है॥ १०॥

अमेध्येन पुरीषादिना। भूगुणव्यतिरिक्तगन्धवर्णरसान्विताः वर्ज्या इत्यर्थः॥ १०॥

---

१. श्लोकोऽयं समानानुपूर्वीक एव मनौ दृश्यते॥ cf. मनु. ५. १२७.

२. श्लोकोऽयं किञ्चिदेवाऽन्यथयितो मनावुपलभ्यते। cf. मनु. ५. १२८.

भूमिगता इत्युक्तम्, तत्प्रसङ्गादाह—

[1]भूमेस्तु सम्मार्जनप्रोक्षणोपलेपनावस्तरणो-
ल्लेखनैर्यथास्थानं दोषविशेषात् प्रायत्यम् ॥ ११ ॥

अनु०—भूमि की शुद्धि स्थान के अनुसार तथा अशुद्धिदोष की मात्रा के अनुसार झाडू आदि से झाड़ने, जल से धोने, लीपने (दर्भ आदि के) अवस्तरण, (कुदाली आदि से) खोदने-खुरचने से— इनमें से एक, दो, तीन या एकसाथ सभी विधियों से होती है ॥ ११ ॥

भवेदिति शेषः। सम्मार्जनं समूहन्या। प्रोक्षणं त्वद्भिः। उपलेपनं गोमयादिना। अवस्तरणं दर्भादिभिः। उल्लेखनं खनित्रैः।

आह च मनुः—

सम्मार्जनेनाऽञ्जनेन सेचनोल्लेखनेन च।
गवां च परिवासेन भूमिश्शुध्यति पञ्चभिः ॥ इति ॥

यथास्थानं यथादेशम्, दोषविशेषात् दोषगुरुलघुतापेक्षया सम्मार्जनादीनां व्यस्तसमस्तापेक्षया प्रायत्यं शुचित्वं भवति। तत्रैकेन क्वचिच्छुद्धिः, क्वचिद् द्वाभ्याम्, क्वचित्त्रिभिः क्वचित्समस्तैरिति द्रष्टव्यम् ॥ ११ ॥

तत्र क्वचित्प्रोक्षणस्यैव शुद्धिहेतुतामाह—

अथाऽप्युदाहरन्ति ॥ १२ ॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

अनु०—इस सम्बन्ध में धर्मशास्त्रज्ञ निम्नलिखित पद्य भी उद्धृत करते हैं— ॥ १२ ॥

षष्ठाध्याये दशमः खण्डः

गोचर्ममात्रमब्बिन्दुः ॥

गोचर्ममात्रमब्बिन्दुः भूमेश्शुद्ध्यति पातितः।
समूढमसमूढं वा यत्राऽमेध्यं न लक्ष्यत इति ॥ १ ॥

अनु०—गिराया गया (या न झाड़ा गया) हो जल का एक बिन्दु बैल के चर्म के

---

१. खननाद्दहनाद्वर्षाद्गोभिराक्रमणादपि। चतुर्भिश्शुध्यते भूमिः पञ्चमाच्चोपलेपनात् ॥ इति वसिष्ठः। (व. ध. ३. ५१)

बराबर भूमि के भाग को चाहे वह झाड़ा गया हो, यदि उस भूमि पर कोई अपवित्र पदार्थ दृष्टिगोचर न हों तो पवित्र कर देता ।। १ ।।

अब्बिन्दुः जललवः पातितः शुध्यतीति अन्तर्नीतणिजर्थो द्रष्टव्यः । समूढं सम्मार्जन्या । असमूढं स्पर्शादिशिष्टं देशं गोचर्ममात्रप्रमाणं यत्र गोशतमावेष्टते, यत्र देशे, अमेध्यं पुरीषादि न लक्ष्यते तमिति शेषः ।। १ ।।

परोक्षमधिश्रितस्याऽन्नस्याऽवद्योत्याऽभ्युक्षणम् ।। २ ।।

अनु०—खाने वाले की दृष्टि से परोक्ष में पकाये गये अन्न को जलती हुई अग्नि दिखानी चाहिए तथा उसके चारों ओर जल छिड़कना चाहिए ।। २ ।।

टि०—ब्यूह्लेर ने अपने अनुवाद में यह सुझाया है कि यहाँ परोक्ष पकाये गये अन्न से शूद्र द्वारा पकाये गये अन्न का तात्पर्य है "ऐसा प्रतीत होता है कि यह नियम आर्यों के निरीक्षण के बिना ही शूद्रों द्वारा पकाये गये अन्न की ओर संकेत करता है। क्योंकि आपस्तम्ब सूत्रों में भी उसी शब्द 'परोक्षम्' 'आँख से परे' का प्रयोग है और निश्चित रूप से उसी स्थिति का निर्देश है, इस बात के लिए कोई कारण नहीं कि ब्राह्मण रसोइए द्वारा बनाये गये भोजन को खाने से पहले पवित्र किया जाय।"—ब्यूह्लेर, वही, पृ० १७२ टि० किन्तु गोविन्द स्वामी ने यह सुझाया है कि शङ्का होने पर ही उपर्युक्त विधि से भोजन की शुद्धि की जाती है: 'शङ्कापदमापन्नस्य शुद्धिर्भवति।' शङ्का न होने की स्थिति में ऊपर बतायी गयी १.९.९ की तीन विधियों से शुद्धि हो ही जाती है।

परोक्षं भोक्तुरसमक्षमधिश्रितस्य पक्वस्याऽन्नस्याऽवद्योत्याऽभ्युक्षणं शङ्कापदमापन्नस्य शुद्धिर्भवति । अनाशङ्कितस्य तु 'त्रीणि देवाः पवित्राणि' (१.९.९.) इत्युक्तम् ।। २ ।।

तथापणीयानां च भक्ष्याणाम् ।। ३ ।।

अनु०—इसी प्रकार बाजार की खाने योग्य वस्तुओं की भी शुद्धि होती है ।।३।।

टि०—बाजार की खाद्य वस्तुओं के अन्तर्गत गोविन्द ने लड्डू, अपूप, मोदक आदि तैयार बनी हुई मिठाइयों का उल्लेख किया है।

आपणं वाणिजां पण्यस्थानम् ; क्रयविक्रयस्थानमित्यर्थः । तत्र भवा आपणेया भक्ष्या [1]लड्डुकापूपसक्तुमोदकादयः उत्तरापथवासिनां प्रसिद्धाः । तेषामवद्योत्याऽभ्युक्षणम् । तथा च शङ्खः—"आकरजानामभ्युक्षितानां घृतेनाऽभिघारितानामभ्यवहरणीयानां पुनः पचनमेव स्नेहद्रव्यसमानाम् इत्यादिना ।।३।।

---

१. मण्डकेति. क. पु.

न केवलमवद्योतनाद्येव शौचाकारम्। किं तर्हि? दातुश्श्रद्धापि। तां च पुराकल्परूपेण प्रशंसति—

बीभत्सवः शुचिकामा हि देवा नाऽश्रद्दधानाय हविर्जुषन्त इति ॥ ४ ॥

अनु०—देवता स्वभावतः अशुद्धि से घृणा करने वाले, और पवित्रता के पक्षपाती होते हैं। वे श्रद्धाहीन व्यक्ति द्वारा अर्पित हवि को नहीं ग्रहण करते हैं ॥ ४ ॥

टि०—इस सूत्र द्वारा मन की श्रद्धा को पवित्रता का हेतु माना गया है।

बीभत्सवोऽपि सन्तः अश्रद्धानात् पुरुषाद्धविर्न जुषन्ते न सेवन्ते। तस्मान्नूनं श्रद्धाऽपि शुद्धिकारणमित्यवगम्यते ॥ ४ ॥

किञ्च—

शुचेरश्रद्दधानस्य श्रद्दधानस्य चाऽशुचेः।
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥
प्रजापतिस्तु तानाह न समं विषमं हि तत्।
हतमश्रद्दधानस्य श्रद्धापूतं विशिष्यत इति ॥ ५ ॥

अनु०—श्रद्धाहीन पवित्र व्यक्ति के तथा श्रद्धासमन्वित अपवित्र व्यक्ति के अन्न के विषय में विचार करके देवों ने दोनों को समान बनाया। प्रजापति ने उन देवों से कहा—ये दोनों प्रकार के अन्न समान नहीं हैं, विषम हैं। श्रद्धाहीन व्यक्ति का अन्न व्यर्थ है, श्रद्धा से पवित्र अन्न श्रेयस्कर है ॥ ५ ॥

टि०—इस सूत्र के भाव पर विचार करते ही रामकथा के अन्तर्गत राम का शबरी के जूठे बेर खाने के विषय में प्रसिद्ध उपाख्यान दृष्टान्तस्वरूप प्रस्तुत हो जाता है। कृष्ण के संबन्ध में भी अनेक ऐसे उपाख्यान हैं जिनमें उन्हें श्रद्धालु के अन्न का पक्षपाती दर्शाया गया है।

दीर्घकालं मीमांसित्वा विचार्य देवैः शुचेरश्रद्धानस्य अशुचेश्श्रद्धानस्य च तयोरसमीकरणे कृते देवान् प्रजापतिरब्रवीत्-विषमसमीकरणमेतद्युष्माभिः कृतं तथा मा कार्ष्टेति। किं तत्र कारणमित्याह—हतमश्रद्धानस्य। तस्मात् श्रद्धापूतमेव विशिष्यते इति ॥ ५ ॥

किञ्च—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

अश्रद्धा परमः पाप्मा श्रद्धा हि परमं तपः।
तस्मादश्रद्धया दत्तं हविर्नाऽश्नन्ति देवताः ॥ ६ ॥

अनु०—इस संबन्ध में भी धर्मशास्त्रकार निम्नलिखित उद्धरण देते हैं—अश्रद्धा सबसे बड़ा पाप है, श्रद्धा परम तप है। इस कारण श्रद्धा के बिना ही अर्पित किये गये हवि को देवता ग्रहण नहीं करते ॥ ६ ॥

श्रद्धा आदरः कौतूहलं आस्तिक्यम्। यस्मादश्रद्धैवम्भूता तस्मादश्रद्धया न दातव्यमिति शेषः। आह च कृष्णो धनञ्जयाय—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ ६ ॥

श्रद्धारहितः पुनः—

इष्ट्वा दत्त्वाऽपि वा मूर्खः स्वर्गं न हि स गच्छति ॥ ७ ॥

अनु०—(श्रद्धाहीन) मूर्ख व्यक्ति यज्ञ करके या दान देकर भी स्वर्ग को नहीं जाता ॥ ७ ॥

स्पष्टमेतत् ॥ ७ ॥

मूर्ख इत्युक्तम्, कोऽसावित्यत आह—

शङ्का(१)पिहितचारित्रो यस्स्वाभिप्रायमाश्रितः।
शास्त्रातिगः स्मृतो मूर्खो धर्मतन्त्रोपरोधनादिति ॥ ८ ॥

अनु०—जिस व्यक्ति का आचरण शङ्का (विवेकहीनता) द्वारा बाधित होता है, जो अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करता है, जो शास्त्रों में उक्त नियमों का अतिक्रमण करता है—वह धर्मनियमों के अनुष्ठान का विरोध करने के कारण मूर्ख कहा गया है ॥ ८ ॥

शङ्का कृत्याकृत्यविवेकशून्यता, श्रेयस्संशयात्। तया पिहितं चारित्रमनुष्ठानं यस्य स यथोक्तः। ततश्च शास्त्रतो निश्चित्य हेयोपादेयौ (२)चाऽवेक्ष्य विवेकाभावे स्वाभिप्रायमाश्रितः स्वेच्छाचारी भवतीत्यर्थः। एतस्मादेव शास्त्रातिगश्च भवति शास्त्रार्थमतीत्य गच्छति। तथाऽप्युक्तम्, यतो भगवद्गीतासूक्तम्—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ॥ इति।

एवंविधो यः पुरुषः स मूर्खस्स्मृतः। को हेतुः? धर्मतन्त्रोपरोधनादिति। धर्मस्य तन्त्रमनुष्ठानं तस्योपरोधो भवति ॥ ८ ॥

श्रद्धा यथा द्रव्याणां शुद्धिहेतुः, एवं प्रक्षालनमपीत्येतद्दर्शयन्नाह—

शाकपुष्पफलमूलौषधीनां तु प्रक्षालनम् ॥ ९ ॥

---

१. विहृतेति. क. पु. २. अनवेक्ष्य. इति ग. पु.

अनु०—किन्तु शाक, पुष्प, फल, मूल, वनस्पतियों का जल से प्रक्षालन करना चाहिए ॥ ९ ॥

तुशब्दो विशेषप्रायत्यप्रदर्शनार्थः। तच्चाऽस्पृश्यप्रदर्शनार्थम्। तत्र चैतद्विधानम्। एतेषां पुनः मूत्राद्युपहतानामल्पानां त्यागः, बहूनां तन्मात्रत्यागः, शिष्टानां प्रक्षालनमभ्युक्षणं वा ॥ ९ ॥

मूत्रपुरीषोपहतस्य शरीरावयवस्य शौचं वक्तुं मूत्रपुरीषकरणं तावदाह—

'शुष्कं तृणमयाज्ञिकं काष्ठं लोष्टं वा तिरस्कृत्याऽहोरात्रयोरुदग्दक्षिणामुखः प्रावृत्य शिर उच्चरेदवमेहेद्वा ॥ १० ॥

अनु०—यज्ञ में काम न आने वाली सूखी हुई घास, यज्ञ में काम न आने वाली लकड़ी का टुकड़ा, अथवा मिट्टी का ढेला भूमि पर रखकर, दिन में उत्तर की ओर मुख कर तथा रात्रि में दक्षिण की ओर मुख कर, तथा सिर को वस्त्र से ढँककर मल और मूत्र का त्याग करे ॥ १० ॥

अयाज्ञिकं शुष्कं तृणादि तिरस्कृत्याऽन्तर्धाय भूमिम्, अहन्युदङ्मुखो रात्रौ दक्षिणामुखः प्रावृत्य शिर उच्चरेदवमेहेद्वा मूत्रपुरीषे च। तथा च वसिष्ठः—'भूमिमयज्ञियैस्तृणैरन्तर्धाय मूत्रपुरीषे कुर्यात्' इति ॥ १० ॥

मूत्रे मृदाऽद्भिः प्रक्षालनम् ॥ ११ ॥

अनु०—मूत्र त्याग करने पर (मूत्रेन्द्रिय का) मिट्टी तथा जल से (एक बार) प्रक्षालन करे ॥ ११ ॥

लिङ्गस्य कार्यमिति शेषः। सकृदिति च ॥ ११ ॥

त्रिः पाणेः ॥ १२ ॥

अनु०—हाथ को मिट्टी तथा जल से तीन बार धोए ॥ १२ ॥

मृदाऽद्भिः प्रक्षालनमित्यनुवर्तते। तत्राऽपि सव्यस्य सकृत्। 'उभयोर्द्विर्द्वि-रि'ति विनिर्देशः कल्प्यः ॥ १२ ॥

तद्वत्पुरीषे ॥ १३ ॥

अनु०—इसी प्रकार मल त्याग करने पर भी प्रक्षालन करे ॥ १३ ॥

---

१. शिरः प्रावृत्य कुर्वीत शकृन्मूत्रविसर्जनम्। अयज्ञियैरनार्द्रैश्च तृणैस्संछाद्य मेदिनीम् ॥ इति कात्यायनः। See मनु also. ४. ४९।

मृदाऽद्भिः प्रक्षालनमतिदिश्यते । 'मूत्रपुरीषे च' इति वक्तव्ये 'तद्वत्' इत्यतिदेशो विशेषविवक्षया ॥ १३ ॥

तमाह—

पर्यायास्त्रिस्त्रिः पायोः पाणेश्च ॥ १४ ॥

अनु०—(मल त्याग कर) पायु (अर्थात् अपान प्रदेश) तथा हाथों का प्रक्षालन मूत्र त्याग-विषयक प्रक्षालन के तिगुने बार प्रक्षालन किया जाता है ॥१४॥

टि०—यहाँ गोविन्द स्वामी ने सूत्र में 'पायोः' पाठ ग्रहण किया है, जब कि सभी मूल पुस्तकों में 'पादयोः' पाठ उपलब्ध होता है। मूत्र त्याग के संबन्ध में जो प्रक्षालन की विधि बतायी गयी है वह मलत्याग में तीन बार की जाय। पहले एक बार मिट्टी से अपान प्रदेश का प्रक्षालन हो फिर हाथ का, इसी प्रकार तीन बार करे। इस संबन्ध में गोविन्द स्वामी ने मनु, दक्ष, और वसिष्ठ के मतों को उद्धृत किया है।

पायुरपानप्रदेशः। मूत्रे यदुक्तं तेन पुरीषे त्रिरावृतेन भवितव्यम्। पूर्वं पायोस्सकृत् मृद् दातव्या, सकृच्च पाणेः। एवं त्रिरावर्तते। तत्रैवं मानवम्—

> एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकस्मिन् करे दश।
> उभयोस्सप्त दातव्या मृदश्शुद्धिमभीप्सता॥ इति।

तथाऽपरं वासिष्ठं मतम्—

> एका लिङ्गे तिस्रो वामे (करे तिस्रः) उभाभ्यां द्वे च मृत्तिके।
> पञ्चाऽपाने दशैकस्मिन्नुभयोस्सप्त मृत्तिकाः॥ इति।

दक्षस्तु मृत्तिकापरिमाणमुपदिशति—

> अर्धप्रसृतिमात्रा तु प्रथमा मृत्तिका स्मृता।
> द्वितीया च तृतीया च तदर्धार्धा प्रकीर्तिता॥

तत्र विरुद्धेषु विकल्पः, अविरुद्धेषु समुच्चयो द्रष्टव्यः। 'मलापकर्षणेऽभ्यस्य' इत्येतत्तु सर्वत्र सममित्युच्यते॥ १४॥

मूत्रवद्रेतस उत्सर्गे ॥ १५ ॥

अनु०—वीर्य का उत्सर्ग होने पर भी मूत्रत्याग के समान ही प्रक्षालन करे ॥ १५ ॥

शुक्रस्योत्सर्गेऽपि मूत्रवच्छौचमेव ॥ १५ ॥

नीवीं विस्रस्य परिधायाऽप उपस्पृशेत् ॥ १६ ॥

आर्द्रं तृणं (१)गोमयं भूमिं वा समुपस्पृशेत् ॥ १७ ॥

अनु०—नीवी (धोती के बन्धन) को खोलने पर या वस्त्र पहनते समय नीवी बन्धन बाँधने के बाद जल का स्पर्श करे अथवा भीगी हुई घास, गोबर या भूमि का स्पर्श करे ॥ १६-१७ ॥

परिहितस्य वाससो बन्धो नीवी । अपामुपस्पर्शनं प्रक्षालनं वा सम्भवापेक्षो विकल्पः ॥ १६-१७ ॥

नाभेरधस्स्पर्शनं कर्मयुक्तो वर्जयेत् ॥ १८ ॥

अनु०—देव, पितृ सम्बन्धी धार्मिक कर्म करते समय शरीर के नाभि से नीचे के भाग का स्पर्श न करे ॥ १८ ॥

देवपितृसंयुक्तं कर्म कुर्वाण इत्यर्थः ॥ १८ ॥

तत्र कारणमाह—

"ऊर्ध्वं वै पुरुषस्य नाभ्यै मेध्यमवाचीनममेध्यमि"ति श्रुतिः ॥१९॥

अनु०—पुरुष की नाभि से ऊपर का भाग पवित्र होता है और नीचे का भाग अपवित्र होता है ऐसा वेद का वचन है ॥ १९ ॥

टि०—द्रष्टव्य-तैत्तिरीय संहिता ६. १. ३. ४

पुरुषस्य नाभ्या ऊर्ध्वं मेध्यम् । अवाचीनमधस्तात्, अमेध्यम् , अयज्ञार्हमित्यर्थः ॥ १९ ॥

शूद्राणामार्याधिष्ठितानामर्धमासि ³मासि वा वपनम् ॥ २० ॥

अनु०—आर्यों की सेवा में रहनेवाले शूद्रों का अर्धमास (१५ दिनों) में अथवा पूरे मास में एक क्षौर होना चाहिए ॥ २० ॥

टि०—ब्यूह्लेर ने यहाँ पुनः इस बात का संकेत किया है कि शूद्र द्विजातियों के यहाँ रसोइये का कार्य भी करते थे । आपस्तम्ब धर्म सूत्र २. १. २. ४-५ से भी यही अभिप्राय ध्वनित है ।

---

१. गां भूमिमिति आ. ग. पु.

२. ज्योतिष्टोमे दीक्षाप्रकरणे यजमानस्य मेखलाबन्धनविधिसमीपे श्रुतोऽयमर्थवादः । कटिप्रदेशे मेखला बद्धव्या । तस्यां च बद्धायां शरीरे मेध्यामेध्ययोः स्थानयोर्विभागो भवतीति ॥ नाभ्यै इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ।

३. मासि मासीति. घ. पु.

कार्यमिति शेषः। आर्याधिष्ठिताः आर्याच्छात्रादि शुश्रूषवः ॥ २० ॥

आर्यवदाचमनकल्पः ॥ २१ ॥

अनु०—उनके आचमन का नियम आर्यों के समान ही हो ॥ २१ ॥

तेषामिति शेषः। कल्पः प्रयोगः। 'आसीनस्त्रिः पिबेत्' (१. ८. १५) इत्यादि। एवं च 'स्त्रीशूद्रौ तु सकृत्' इत्येतदनार्याधिष्ठितशूद्रविषयं द्रष्टव्यम्। ननु सर्व एव शूद्रा आर्याधिष्ठिताः। तथा च वक्ष्यति—'शूद्रेषु पूर्वेषां परिचर्या' (१. १८. ५) इति सत्यम्—तथाऽपि परिचर्यायामतिक्रमस्तम्भाव्यते। सन्ति हि केचिच्छूद्राः स्वतन्त्रा एव शिल्पजीविनश्च, तस्मादनवद्यम्। आर्यो ब्राह्मणोऽभिप्रेतो न क्षत्रियवैश्यौ, तत्रैतत्स्यात्। आर्यवदिति वतिप्रत्ययेनाऽऽचमनधर्माणां सर्वेषामतिदेशे सत्युपवीतादीनामपि प्राप्तिस्स्यात्। नेत्याह—त्रैवर्णिकप्रधानत्वादुपनयनस्य, तत्प्रयुक्तत्वाच्चोपवीतस्य, न शूद्रस्य प्राप्तिः। तस्मादुपवीतादिवर्जितस्याऽतिदेशोऽयम् ॥ २१ ॥

वर्णधर्मप्रसङ्गादिदमन्यदुच्यते मा भूत्तत्प्रसारणमिति—

वैश्यः कुसीदमुपजीवेत् ॥ २२ ॥

अनु०—वैश्य ब्याज पर रुपया उठाकर जीविका चला सकता है ॥ २२ ॥

कुसीदो वृद्ध्यर्थं द्रव्यस्य प्रयोगः ॥ २२ ॥

तमेव विस्तारयति—

पञ्चविंशतिस्त्वेव पञ्चमाषकी स्यात् ॥ २३ ॥

अनु०—किन्तु पच्चीस (कार्षापण) मूलधन पर पाँच पण (कार्षापण का बीसवाँ भाग) प्रतिमास ब्याज होना चाहिए ॥ २३ ॥

माषो नाम कार्षापणस्य विंशतितमो भागः। 'विंशो भागः पणस्य परिकीर्तितः' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात्। पञ्चविंशतिसङ्ख्यानां कार्षापणानां प्रतिमासं पञ्च माषा वृद्धिरित्यर्थः ॥ २३ ॥

एतदतिक्रमे दोषमाह—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

'यस्समर्घमृणं गृह्य महार्घं यः प्रयोजयेत्।

---

१. See. प्रजापतिस्मृति. श्लो० ८८. श्लोकद्वयमपीदं वासिष्ठे दृश्यते। तत्र ऋणं गृह्य इत्यत्र 'धान्यमुद्धृत्य' इति पठ्यते। अन्यत् सर्वं सममेव। See वा. ध. २. ४६.

स वै वार्धुषिको नाम सर्वधर्मेषु गर्हितः ॥
वृद्धिं च भ्रूणहत्यां च तुलया समतोलयत् ।
अतिष्ठद् भ्रूणहा कोट्यां वार्धुषिस्समकम्पतेति ॥ २४ ॥

अनु०—इस विषय में निम्नलिखित उद्धृत करते हैं—

जो अल्प वृद्धि पर धन लेकर अधिक वृद्धि पर लगाता है वह वार्धुषिक (सूद-खोर) कहलाता है और वह सभी धर्मों में निन्दित है। (ब्रह्मा ने) ब्याज लेने तथा भ्रूण अर्थात् गर्भपात के पापों को एक साथ तराजू में तोला। गर्भपात करने वाला ऊपर उठ गया और सूदखोर नीचे झूलने लगा ॥ २४ ॥

टि०—धर्म शास्त्रानुसार अल्प वृद्धि ही उचित मानी गयी है। वार्धुषिक या सूदखोर उसे कहा गया है जो एक महाजन से कम ब्याज पर धन लेकर दूसरे जरूरत मन्द लोगों की कठिन स्थिति का लाभ उठाकर उसी ऋण में लिये गये धन को बहुत ऊँचे ब्याज की दर पर उधार देता है। ऐसा कर्म भ्रूणहत्या की अपेक्षा भी अधिक पापजनक और गर्हित है।

अर्घो वृद्धिः, समित्ययमुपसर्गो गृह्यते। अनेन सम्पद्यते य एकस्य हस्ता-ल्लघीयस्या वृद्धया द्रव्यं गृहीत्वाऽन्यस्मै भूयस्यै प्रयच्छति स एको वार्धुषिकः। अपरस्तु परेणोपायार्जितं द्रव्यं पूर्वसूत्रोक्तात् परिमाणात् भूयस्यै प्रयच्छति। अयमर्थो द्वितीयेन यच्छब्देन लभ्यते। तत्र निन्दा—सर्वधर्मेषु गर्हित इत्यादि। यो य इति वीप्सया ब्राह्मणादन्येषां निषेधो द्रष्टव्यः ॥ २४ ॥

[1]गोरक्षकान् वाणिजकान् तथा कारुकुशीलकान् ।
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥ २५ ॥

अनु०—गो आदि पशुओं के रक्षक, व्यापार करने वाले, कारीगरी का अभि-नय करने वाले नट (और चारण) का कार्य करने वाले, सन्देशवाहक भृत्यों का काम करने वाले तथा सूदखोर ब्राह्मणों को शूद्र मानकर उनके साथ व्यवहार करे ॥ २५ ॥

टि०—इन व्यवसायों में रत ब्राह्मण यदि वेदशास्त्र का उच्च विद्वान् भी हो तो उसे शूद्रवत् समझा जायेगा। गोविन्द स्वामी के अनुसार इस सूत्र में विप्र शब्द से ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय और वैश्य भी अभिप्रेत है।

---

१. Cf. मनु ८· १०२. गोरक्षणजीविनः, वाणिज्यजीविनः, कारुकर्मजीविनः, इत्यादि, वृद्धयाजीवो वार्धुषिकः ।

गोरक्षकान् विप्रानधीतवेदानपि । एतेन क्षत्रियवैश्यावपि व्याख्यातौ । शूद्रवदाचरेत् । गोरक्षकादिब्राह्मणहिंसायामपि ब्रह्महत्या भवत्येव । साक्षिशपथे तावत् विशेषः—

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ इति ॥

तथा दिव्येऽपि 'अग्नि जलं वा शूद्रस्य' इति ॥ २५ ॥

वृद्धिप्रयोगे तु स्वयमेव वक्ष्यति—

कामं तु परिलुप्तकृत्याय कदर्याय नास्तिकाय पापीयसे पूर्वौ दद्याताम् ॥ २६ ॥

अनु०—किन्तु प्रथम दो वर्णों अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय यदि चाहें तो धार्मिक कृत्यों को न करने वाले, कंजूस, नास्तिक और पापी व्यक्ति को इच्छानुसार (अधिक) वृद्धि पर धन दे सकते हैं ॥ २६ ॥

टि०—कदर्य से ऐसे व्यक्ति का निर्देश है जो धन होते हुए भी द्रव्यार्जन में रत है । वेद और ब्राह्मणों के निन्दक को नास्तिक कहा गया है । पापीयान् से गोविन्द स्वामी ने शूद्र अर्थ लिया है ।

परिलुप्तकृत्यो विच्छिन्नाचारः । कदर्यः सत्यपि द्रव्ये द्रव्यार्जनस्वभावः । नास्तिको वेदब्राह्मणनिन्दकः । पापीयान् शूद्रः । एतेभ्यो यथाकामं भूयस्यै वृद्ध्यै पूर्वौ वर्णौ ब्राह्मणक्षत्रियौ दद्याताम् । यः पुनस्स्मृतिषु ब्राह्मणस्य वार्धुष्यप्रतिषेधस्स कृतकृत्यविषयो द्रष्टव्यः ॥ २६ ॥

परिलुप्तकृत्यप्रसङ्गादन्यदुच्यते—

अयज्ञेनाऽविवाहेन वेदस्योत्सादनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ २७ ॥

अनु०—यज्ञ न करने, शास्त्रानुसार विवाह न होने, वेदाध्ययन को उपेक्षित करने तथा ब्राह्मण का अतिक्रमण करने से उच्च कुल भी निकृष्ट हो जाते हैं ॥२७॥

विवाहश्शास्त्रलक्षणभार्यापरिग्रहलाभः । वेदस्योत्सादनमनध्ययनम् अधीतवेदस्योपेक्षया वा नाशः । ब्राह्मणातिक्रमं तु शातातप आह—

प्रत्यासन्नमधीयानं ब्राह्मणं यस्त्वतिक्रमेत् ।
भोजनाच्चैव दानाच्च दहत्यासप्तमं कुलम् ॥ इति ।

कुलान्युत्कृष्टान्यपि निकृष्टतां यान्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

इदानीं मूर्खब्राह्मणातिक्रमे दोषो नाऽस्तीत्याह—

[1]ब्राह्मणातिक्रमो नास्ति मूर्खे मन्त्रविवर्जिते ।
ज्वलन्तमग्निमुत्सृज्य न हि भस्मनि हूयते ॥ २८ ॥

अनु०—मूर्ख, मन्त्रों के ज्ञान से शून्य (केवल जन्मना ब्राह्मण के घर में उत्पन्न) ब्राह्मण की उपेक्षा करने में दोष नहीं होता, क्योंकि यज्ञ में जलती हुई अग्नि को छोड़कर भस्म में हवन नहीं किया जाता ॥ २८ ॥

मूर्खलक्षणमुक्तं 'शाखातिगस्मृतो मूर्खः' (१. १०. ८) इत्यत्र । तथा च वसिष्ठः—

[2]यस्य चैव गृहे मूर्खो दूरे च स्याद् बहुश्रुतः ।
बहुश्रुताय दातव्यं मूर्खे नाऽस्ति व्यतिक्रमः ॥ २८ ॥

[3]गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ।
कुलान्यकुलतां यान्ति यानि हीनानि मन्त्रतः ॥
मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि ॥ २९ ॥
कुलसङ्ख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥ ३० ॥

अनु०—मन्त्रों के ज्ञान से हीन जो कुल होते हैं वे गाय-बैल, अश्व और यान रखने से, कृषि कर्म करने से तथा राजा के यहाँ सेवा कार्य करने से अकुलता को प्राप्त होते हैं । मन्त्रों से समृद्ध कुल स्वल्पधन होकर भी कुल गिने जायंगे और बड़ी कीर्ति अर्जित करेंगे ॥ २९-३० ॥

किञ्च—

गोभिरश्वैश्चेत्यत्र संव्यवहारेणेत्यध्याहार्यम् ॥ २९-३० ॥

---

१. श्लोकोऽयं सदृशानुपूर्वीक एव वासिष्ठे दृश्यते. See. व. ध. ३. ११. एवमेव लघुशातातपोऽपि. See. लघुशातातप. श्लो० ७७. ।

२. लघुशातातप also. ७६.

३. कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च । कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः । गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥ अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम् । कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः ॥ मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि । कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥ इति मनौ See मनु० ३. ६३–६६.

अधुना नानाविधानां पुरुषार्थानां परस्परविरोधं दर्शयित्वा हेयोपादेयविवेकायाऽऽह—

[1]वेदः कृषिविनाशाय कृषिर्वेदविनाशिनी ।
शक्तिमानुभयं कुर्यादशक्तस्तु कृषिं त्यजेत् ॥ ३१ ॥

अनु०—वेद का अध्ययन-अध्यापन कृषि कर्म को नष्ट कर देता है और कृषि कर्म वेद ज्ञान का विनाश करता है। जिस व्यक्ति में दोनों कार्य कर लेने की क्षमता हो वह दोनों करे किन्तु जिसमें दोनों कार्य करने की शक्ति न हो वह कृषि का परित्याग कर दे ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—बौधायन धर्मसूत्र का दृष्टिकोण विशेषतः उल्लेखनीय है। यह उस काल की ओर संकेत करता है जब ब्राह्मण वेदाध्ययन के साथ-साथ कृषि भी करने लगे थे। किन्तु बौधायन० के विचार से दोनों कार्य करने के लिए प्रचुर साधन अपेक्षित थे और ये दोनों व्यवसाय स्वभावतः परस्पर विरोधी हैं। इनमें धर्मशास्त्रानुसार वेदाध्ययन या वेदाध्यापन का कर्म श्रेयस्कर है। मनु ने भी स्पष्ट कहा है कि उन सभी कर्मों का त्याग कर देना चाहिए जो स्वाध्याय में विघ्न उपस्थित करते हैं।

कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥
शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः ।
गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥
अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम् ।
कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः ॥

मनु० ३। ६३–६५

कृषिग्रहणं वेदतदर्थज्ञानविरोधप्रदर्शनार्थम् ॥ आह च मनुः—
सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ॥ इति ॥ ३१ ॥

वेदोत्सादनप्रसङ्गादिदमन्यदुच्यते—

न वै देवान् पीवरोऽसंयतात्मा रोरूयमाणः ककुदी समश्नुते ।
चलत्तुन्दी रभसः कामवादी कृशास इत्यणवस्तत्र यान्ति ॥३२॥

---

१. अत्र मनुर्विरुन्धे । See मनु० १०. ८३, ८४.
कृषिर्वेदविनाशाय वेदः कृषिविनाशनः । इति ई. पु.

अनु०—स्थूल, अनियन्त्रित चित्त वाला, शब्द करने वाला या गानप्रिय, बैलों के सहारे जीविका चलाने वाला, प्राणियों को आघात पहुँचाने वाला, तीखे स्वभाव-वाला तथा स्वच्छन्द बोलने वाला, दुर्बलों को कष्ट देने वाला और अणुवत् क्षुद्र व्यक्ति निःसन्देह कदापि देवों के लोक को नहीं पहुँचते, किन्तु वहीं जाते हैं जहाँ उत्पन्न होते हैं अर्थात् इस लोक में ही चक्कर काटते रह जाते हैं ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—उपर्युक्त अनुवाद गोविन्दस्वामी की व्याख्या के अनुसार है। ब्यूह्लर ने अन्तिम पंक्ति 'कृशास इत्यणवः तत्र यान्ति' को भिन्न वाक्य के रूप में ग्रहण किया है और इस अर्थ में अनुवाद किया है : 'किन्तु जो (तपस्या एवं व्रत से दुर्बल बनकर) अणुओं के समान हल्के हैं वे वहाँ जाते हैं।' इस प्रकार ब्यूह्लेर ने 'कृशासः इत्यणवः' बहुवचन को यान्ति के साथ जोड़ा है। गोविन्द स्वामी के अनुसार 'कृशासः' का अर्थ है दुर्बलों को पीड़ित करने वाला (कृशान् दुर्बलान् अशक्तान् अस्यति क्षिपति बाधते इति कृशासः। इसी प्रकार 'अणवः' का अर्थ है क्षुल्लकाः क्षुद्रा इत्यर्थः। किन्तु यहाँ एकवचन तथा बहुवचन का अन्तर विशेष रूप से द्रष्टव्य है। संभवतः 'अणवः तत्र यान्ति' को अलग वाक्य मानकर 'अणु के समान हल्के व्यक्ति ही वहाँ अर्थात् देवलोक को जाते हैं' ऐसा अर्थ करना अधिक संगत होगा। 'पीवरः' से 'अणवः' का विपर्यास भी उचित ही है। गोविन्द स्वामी के अनुसार इन शब्दों की व्याख्या इस प्रकार होगी। पीवरः—दूसरे के मांस से अपने मांस की वृद्धि करने वाला; असंयतात्मा—असंयत बुद्धि वाला, निषिद्ध कर्म में प्रवृत्ति रखने वाला, मन को संयत करने में असमर्थ; रोरूयमाणः—नरगानप्रिय, गन्धर्वविद्या आदि गाने बजाने में मन रमाने वाला; ककुदी—ककुदी अर्थात् बैल से जीविका चलाने वाला; चलत्तुन्दी=चलतः प्राणिनः यस्तुदति हिनस्ति, प्राणियों को जो कष्ट पहुँचाता है, मारता है, प्राणिघातक, रभसः—तीक्ष्ण, वाणी, शरीर, कर्म में उग्र या तीखा; कामवादी—यथेष्ट बोलने वाला, बेमतलब अविचारित भाषण करने वाला।

पीवरोऽतिपीनः परमांसेन स्वमांसं वर्धयन्। आह च मनुः—

> स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
> अनभ्यर्च्य पितॄन् देवांश्च ततोऽन्योऽस्त्यपुण्यकृत् ॥ इति ॥

प्यायतेर्वृद्धिकर्मण औणादिकः क्वरच्प्रत्ययः। असंयतात्मा असंयतबुद्धिः निषिद्धकर्माभिमुखं मनो निरोद्धुमक्षम इत्यर्थः। रोरूयमाणः रौतेश्शब्दकर्मणः क्रियासमभिव्याहारे यङ्प्रत्ययो द्रष्टव्यः। नरगानप्रियः गान्धर्वादिष्वा-सक्तमना इत्यर्थः। ककुदी ककुद्मान् स च बलीवर्दः, तदुपजीवीत्यर्थः। चलत्तुन्दी चलतः प्राणिनो यस्तुदति हिनस्ति तदुपजीवीत्यर्थः।

प्राणिघातक इति यावत्। यद्वा चलत्तुन्दी चलदुदरः। उदरपूरणपरायणः। रभसस्तीक्ष्णो वाक्कायकर्मभिः दीर्घवैरो वा। कामवादी यथेष्टवादी निर्विशङ्कमसदर्थ्यं च यो भाषते। कृशासः कृशान् दुर्बलानशक्तानस्यति क्षिपति बाधते इति कृशासः। इतिशब्दः प्रकारवचनः। अणवः क्षुल्लकाः क्षुद्रा इत्यर्थः। एते देवान्न समश्नुवते। किं तर्हि कुर्वन्ति? तत्र यान्ति यत्र जाताः, इहैव परिभ्रमन्तीत्यर्थः॥ ३२॥

असंयतात्मेत्युक्तम्, तत्राऽपवादमाह—

यद्यौवने चरति विभ्रमेण सद्वाऽसद्वा यादृशं वा यदा वा।
उत्तरे चेद्वयसि साधुवृत्तस्तदेवाऽस्य भवति नेतराणि॥३३॥

अनु०—जो पुरुष युवावस्था में भूल करता हुआ जिस प्रकार का जहाँ भी अच्छा या बुरा कर्म करता है वह यदि उसके बाद की अवस्था में उत्तम आचरण करता है तो वह उत्तम आचरण ही पुण्य फल उत्पन्न करने वाला होता है, पूर्व अवस्था के दूसरे कर्मों का कोई फल नहीं होता॥ ३३॥

टि०—यह सूत्र स्पष्टतः अधिक उदारवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। युवावस्था में पथभ्रान्त होकर, विभ्रमवश मनुष्य जो कुछ भला-बुरा कर्म करता है उन कर्मों का उस समय कोई फल नहीं रह जाता जब वह युवावस्था के बाद उत्तम आचरण अपना लेता है। इस प्रकार युवावस्था में किये गये प्रतिषिद्ध कर्मों को पुनः न करना भी स्वतः प्रायश्चित्त है। यौवन में व्यामोह का प्राधान्य रहता है, अतः मनुष्य कर्म के उचित अनुचित स्वरूप का या समय का ठीक निर्णय नहीं कर पाता और स्वभावतः निषिद्ध कर्म करता है, किन्तु सुबह का भूला यदि शाम को घर लौट आये तो भूला हुआ नहीं समझा जाता।

उत्तरं वयः पञ्चाशद्वर्षादुपरि एतस्योर्ध्वम्। आचार्याभिमतं 'ऊनषष्टेश्च वर्षेभ्यो ह्यष्टाभ्यश्च मासेभ्यः' एतस्मादर्वाग्यौवनम्। सद्वाऽसद्वेति विहितप्रतिषिद्धोभयाभावः। यादृशं वेति प्रकारानियमः। यदा वेति कालानियमः। अयमत्राऽर्थः—यौवनोद्धतः पुरुषो व्यामोहात्पूर्वस्मिन् वयसि साध्वसाधु वाऽत्यन्तनिकृष्टमपि कर्म यदा आचरति, स चेदुत्तरस्मिन् वयसि साधुवृत्तः कल्याणाचारो भवति प्रतिषिद्धं परिहाप्य स्वविहितमनुतिष्ठति तदेवाऽस्य फलदं भवति नेतराणि दुष्कृतानि पूर्ववयोऽनुष्ठितानि। अनेन च प्रायश्चित्ताल्पत्वं स्थापितं भवति। न पुनरकरणमेव प्रायश्चित्तस्य॥ ३३॥

तदाह—

शोचेत मनसा नित्यं दुष्कृतान्यनुचिन्तयन्।

तपस्वी चाऽप्रमादी च ततः पापात्प्रमुच्यते ॥ ३४ ॥

अनु०—मनुष्य अपने दुष्कर्मों को याद करता हुआ नित्य पश्चात्ताप करे, तपस्वी बने, धर्मकार्यों में प्रमाद का त्याग करे तब वह अपने पापों से मुक्त होता है ॥ ३४ ॥

इत्थं शोचेत मनसा–अहो कष्टं मया कृतम्, धिङ्मां कामचारमदीर्घदर्शिनम्, का मे गतिः? का मे त्राणभूमिरिति, अत ऊर्ध्वमीदृशं कर्म न करिष्यामीति दुष्कृतान्यनुचिन्तयन् अनुस्मरन्नित्यर्थः। तपस्वी कृच्छ्रादिकृत्। अप्रमादी पापस्य कर्मणः पुनरसेविता। तस्माद्यौवनकृतात्पापात् प्रमुच्यते नैतत्कुर्यात् पुनरिति निवृत्त्या पूयते तत इति। तथा च वसिष्ठः—

ख्यापनेनाऽनुतापेन तपसाऽध्ययनेन च।
पापकृन्मुच्यते पापाद्दानाद्वाऽपि प्रमुच्यते इति ॥ ३४ ॥

स्थाविरे सुवृत्तस्य पुरुषस्य यौवने विभ्रमकृतानि पापानि दोषांशकल्पादनल्पतां न लभन्त इत्युक्तम्, तत्प्रसङ्गादिदमन्यदनाशङ्कनीयमुच्यते—

स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः परान्।
न तैरुच्छिष्टभावस्स्यात्तुल्यास्ते भूमिगैस्सहेति ॥ ३५ ॥

अनु०—जो व्यक्ति दूसरों को जल देकर आचमन कराता हो उसके पैरों को यदि जल की बूँदें (पृथ्वी पर गिरकर छिटक कर) स्पर्श करती हों तो उनसे किसी प्रकार की अशुद्धि नहीं होती, क्योंकि वे बूंदे पृथ्वी पर एकत्र जल के समान ही शुद्ध होती हैं ॥ ३५ ॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने दशमः खण्डः ॥ १० ॥

भूमौ पतिताः पुनरुत्थाय बिन्दवः परानाचामयतः पादौ स्पृशन्ति चेत् ते पुरुषं नोच्छिष्टं कुर्वन्ति भूमिगैस्तुल्या इत्यभिधानादन्यत्राऽपि[1] भूमिगतजलमदोषमिति गम्यते। पादग्रहणादन्यत्रोच्छिष्टभावो भवत्येव ॥३५॥ १० ॥

पञ्चमाध्याये एकादशः खण्डः

सपिण्डेष्वादशाहम्।

स्पर्शनिमित्ताशौचमभिधायाऽधुना तदभावेऽप्याशौचप्रतिपिपादयिषयाऽऽह—

---

१. अभूमिगतजलसंसर्गो दोष इति गम्यत इति ग. पु.

सपिण्डेष्वादशाहमाशौचमिति जननमरणयोरधिकृत्य ग्दीक्षितब्रह्मचारिवर्जम्[१] ॥ १ ॥

अनु०—जन्म और मृत्यु के समय सपिण्डों के लिए दस दिन विधान (धर्मशास्त्रज्ञों ने) किया है, किन्तु ऋत्विक्, सोमयज्ञ की कर लेने वाले यज्ञकर्ता तथा ब्रह्मचारी के लिए आशौच नहीं होता ॥

टि०—तात्पर्य यह है कि यज्ञ कराने वाला ऋत्विक् के, सोमयज्ञ इष्टि कर लेने वाला यज्ञकर्ता के या वेदाध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी में किसी की मृत्यु हो भी जाय तो इन लोगों के लिए आशौच होता। उपर्युक्त दश दिन के आशौच का नियम ब्राह्मणवर्ण वे क्षत्रियों के लिए ग्यारह दिन का आशौच होता है। आशौच की आदि देने का निषेध है।

समानः पिण्डो येषां ते सपिण्डाः स्मृतिशास्त्रकाराः यद्दश जननं मरणं चाऽधिकृत्य वदन्ति। न [१]सर्वं त्र्यहाद्याशौचवच च स्मृत्यन्तरे यदतिदेशवचनम् 'जननेऽप्येवमेव स्यात्' इति तिदेशिकमिति मन्तव्यम्। आशौचे तु सम्प्राप्ते दानादिष्वनधिक

तथा च वृद्धमनुः—

> उभयत्र दशाऽहानि कुलस्याऽन्नं न भुज्यते।
> दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्तते ॥
> कुमारजन्मदिवसमेकं कुर्यात्प्रतिग्रहम्।
> आयान्ति देवपितरस्तत्र त बोधयन्ति च ॥
> तस्मात्तद्दिवसः पुण्यः पितृवंशविवर्धनः ॥ इ

ब्राह्मणविषयमेतद्दशाहाशौचवचनम्। क्षत्रियादीनां तु एका

अथ सापिण्ड्यस्वरूपमाह—

[२]सपिण्डता त्वासप्तमात्सपिण्डेषु ॥ २ ॥

अनु०—सपिण्डता सपिण्डों में सातवीं पीढ़ी के पुरुष तक होती

टि०—अपने से पहले के छठे पुरुष तक सपिण्डता मानी जाती आगे पुनः विचार किया गया है।

न निवर्तत इति शेषः। तत्स्वात्मानमधिकृत्य प्रागूर्ध्वं च

१. सर्वत्र दशाहाशौचवचनमपि इति ग. पु.

२. सपिण्डता त्वासप्तमात्, आदन्तजननाद्वोदकोपस्पर्शनम्। इति ए

भवति। तत्सन्ततिषु चोभयतोऽपि सप्तमे निवर्तते। सापिण्ड्यस्य संक्षेपोक्तिरेषा, विस्तरस्तु वक्ष्यते 'अपि च प्रपितामहः' इत्यत्र। ननु त्रिपुरुषमेव सापिण्ड्यं सम्भाव्यते, पितृपितामहप्रपितामहानां पिण्डदानवचनात्। उच्यते—पित्रादिषु त्रिषु जीवत्सु येभ्यः पिता ददाति तेभ्यः पुत्रो ददातीति परेभ्यः त्रिभ्यः पिण्डदानं सम्भाव्यते, अत उपपद्यते सप्तमे निवृत्तिरिति ॥ २ ॥

साम्प्रतं म्रियमाणवयोवस्थाविशेषापेक्षयाऽऽशौचमाह—

[1]आसप्तमासादादन्तजननाद्वोदकोपस्पर्शनम् ॥ ३ ॥

अनु०—सातवाँ मास पूरा होने से पहले या दाँतों के निकलने से पहले बच्चों की मृत्यु होने पर सपिण्डों को स्नान मात्र करना चाहिए ॥ ३ ॥

सप्तममासादर्वागादन्तजननाद्वा बालेषु मृतेषूदकोपस्पर्शनं स्नानमात्रमेव सपिण्डानाम्। यत्तु तस्मिन्नप्येकाहाशौचं तेन सहाऽस्य विकल्पः ॥ ३ ॥

किञ्च—

पिण्डोदकक्रिया प्रेते नाऽत्रिवर्षे विधीयते।
आदन्तजननाद्वाऽपि दहनं च न कारयेत् ॥ ४ ॥

अनु०—तीन वर्ष की अवस्था पूरी करने से पहले मृत अथवा दाँत निकलने से पहले मृत बच्चे के लिए पिण्ड और उदक दान की क्रिया का विधान नहीं है। इसी प्रकार ऐसे मृत बच्चे के शव की दाहक्रिया भी न कराये ॥ ४ ॥

तृतीयवर्षमप्रविष्टस्याऽजातदन्तस्य वा पिण्डोदकक्रिया न कर्तव्या। दहनं च, अवध्योर्द्वयोः स्नेहापेक्षया विकल्पः।

नाऽत्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया।
जातदन्तस्य वा कुर्यान्नाग्निं वाऽपि कृते सति ॥

तथा—

नाऽस्य कार्योऽग्निसंस्कारो नाऽपि कार्योदकक्रिया इति ॥ ४ ॥

स्त्रीषु मृतासु कथमित्याह—

अप्रत्तासु च कन्यासु प्रत्तास्वेके ह कुर्वते।
लोकसंग्रहणार्थं हि यदमन्त्रास्स्त्रियो मताः ॥ ५ ॥

अनु०—अविवाहिता कन्याओं के लिए भी पिण्डोदक दान की क्रिया न करे;

---

१. सपिण्डेष्वासप्तमासादादन्त इत्यादि सूत्रं पठितं ग, पुस्तके,

कुछ लोग विवाहिता पुत्रियों की मृत्यु पर पिण्डोदक दान की क्रिया करते हैं, किन्तु ऐसा लोगों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए करते हैं, क्योंकि स्त्रियों को मन्त्रों से कोई संबन्ध नहीं होता ऐसा माना जाता है ॥ ५ ॥

टि०—विवाहिता पुत्रियों के लिए पिण्डोदक दान की क्रिया उसके पति के सपिण्ड ही करते हैं। विवाहिता या अविवाहिता मृत स्त्रियों के पिण्डोदक दान कर्म में मन्त्रों का व्यवहार नहीं किया जाता।

अप्रत्तास्वित्यत्र न पिण्डोदकक्रियेत्यनुवर्तते। प्रत्तास्वेके ह कुर्वत इति। पितृ-सपिण्डाभिप्रायमेतत्। तथाऽयं हेतुः—लोकसङ्ग्रहणार्थं हीति। लोकसङ्ग्रहणं महाजनवशीकारः। तस्मात्प्रत्तासु विकल्पः। आह च याज्ञवल्क्यः—

कामोदकं सखिप्रत्तास्वस्त्रीयश्वशुरर्त्विजाम् ॥ इति ॥

भर्तृसपिण्डाः पुनरूढानां कुर्वीरन्नेव। तथा च वसिष्ठः—'प्रत्तानामितरे कुर्वीरन् ताश्च तेषाम्' इति। ऊढानां च अमन्त्रिकैवोदकक्रिया। आह च मनुः—

[1]अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ इति ॥ ५ ॥

[2]स्त्रीणां कृतविवाहानां त्र्यहाच्छुध्यन्ति बान्धवाः।
यथोक्तेनैव कल्पेन शुध्यन्ति च सनाभयः ॥ इति ॥ ६ ॥

अनु०—मृत विवाहिता स्त्रियों के बान्धव तीन दिन के बाद ही शुद्ध हो जाते हैं किन्तु उनके सहोदर भाई पूर्वोक्त नियम के अनुसार ही शुद्ध होते हैं ॥ ६ ॥

टि०—इस सूत्र पर गोविन्द की टीका नहीं है, उनकी मूल पुस्तक में इसका अभाव है।

द्रव्यसाध्यत्वात् पिण्डदानादेर्मृतस्य रिक्थं लब्ध्वा पिण्डदानादिकं कुर्यादिति विवेक्तुं सपिण्डसकुल्यविवेकक्रमं तावदाह—

अपि च प्रपितामहः पितामहः पिता स्वयं सोदर्या भ्रातरः सवर्णायाः पुत्रः पौत्रः प्रपौत्रस्तत्पुत्रवर्जं तेषां च पुत्रपौत्रमविभक्तदायं सपिण्डानाचक्षते ॥ ७ ॥

---

१. श्लोकोऽयं ख. घ. पुस्तकयोरेवमनूदितः—
अमन्त्रिकाः क्रियाः कार्याः स्त्रीषु प्रत्तास्वशेषतः।
.................................यथाविधि ॥ इति।

२. सूत्रमिदं ई० पुस्तकव्यतिरिक्तेषु सर्वेषु मूलपुस्तकेषूपलभ्यते, परन्तु न कुत्राऽपि व्याख्यानपुस्तकेषु।

अनु०—प्रपितामह, पितामह, पिता, स्वयम् एक ही माता पिता से उत्पन्न अपने भाई, सवर्णा पत्नी से उत्पन्न पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र को, सपिण्ड कहा गया है, किन्तु प्रपौत्र के पुत्र को सपिण्डों में नहीं गिना जाता, इनमें भी पुत्र और पौत्र पिता के साथ अविभक्तदाय वाले होते हैं ॥ ७ ॥

टि०—गोविन्द स्वामी ने इस सूत्र की व्याख्या में अर्थविषयक कठिनाई नहीं दूर की है। 'पुत्रपौत्रमविभक्तदायम्' विशेषतः विचारणीय है। ब्यूह्लेर ने कोलेब्रूक के 'दायभाग' ११.१.३७ का उल्लेख करते हुए पाठभेद का निर्देश किया है, 'तेषां च पुत्रपुत्रम्' 'अविभक्तदायादान्' अन्य पाठान्तर हैं। इसका ब्यूह्लेर ने यह अर्थ सुझाया है कि पिता अपने पुत्र और पौत्र के साथ अविभक्त रूप से श्राद्ध के समय चौथे पुरुष द्वारा दिये गये पिण्डदान को ग्रहण करता है।

सापिण्ड्य एव किञ्चिद्वक्तव्यमस्तीति मत्वाऽत्रापि चेत्याह। उक्तस्यैव विस्तारोऽयं प्रपितामह इत्यादि। परिभाषा चैषा द्रष्टव्या ॥ ७ ॥

विभक्तदायानपि सकुल्यानाचक्षते ॥ ८ ॥

अनु०—विभक्तदाय वाले पुरुषों को सकुल्य कहते हैं ॥ ८ ॥

टि०—गोविन्द स्वामी के अनुसार सपिण्डों में ही जब सम्बन्ध विशेष का ज्ञान नहीं होता तो उन्हें सकुल्य कहते हैं। सम्बन्धमात्र का ज्ञान होने पर सकुल्य होते हैं। "जीमूतवाहन के अनुसार सकुल्या प्रपितामह के पहले के तीन तथा प्रपौत्र के बाद के तीन पुरुषों को कहते हैं।"—ब्यूह्लेर की टिप्पणी। इस दृष्टि से ब्यूह्लेर की पूर्ववर्ती सूत्र की टिप्पणी समीचीन प्रतीत होती है।

एषा च परिभाषा। एतदुक्तं भवति—विभक्ताविभक्तशब्दौ व्यत्यस्तौ कार्यौ। सम्बन्धविशेषज्ञाने सति सपिण्डा उच्यन्ते। संबंधमात्रज्ञाने सकुल्याः। अतश्च सकुल्या अपि सपिण्डा एव, द्रव्यपरिग्रहे तु विशेषोऽस्ति ॥ ८ ॥

तदाह—

असत्स्वन्येषु तद्गामी ह्यर्थो भवति ॥ ९ ॥

अनु०—जब (औरस पुत्र आदि) कोई सम्बन्धी नहीं रह जाता तो मृत पुरुष की सम्पत्ति सपिण्डों को प्राप्त होती है ॥ ९ ॥

अन्येष्वौरसादिषु पुत्रेषु ॥ ९ ॥

सपिण्डाभावे सकुल्यः ॥ १० ॥

अनु०—सपिण्डों के अभाव में वह सम्पत्ति सकुल्य को प्राप्त होती है ॥ १० ॥

ऋत्व्वेतत् ॥ १० ॥

तदभावे पिताऽऽचार्योऽन्तेवास्यृत्विग्वा हरेत् ॥ ११ ॥

अनु०—सकुल्यों के अभाव में सम्पत्ति पिता तुल्य आचार्य, उनके अभाव में अन्तेवासी शिष्य और उसके अभाव में यज्ञ करानेवाला ऋत्विज सम्पत्ति को ग्रहण करे ॥ ११ ॥

टि०—पिताऽऽचार्य से पितृस्थानीय या पितातुल्य आचार्य का अर्थ ग्रहण किया गया है। आचार्य पिता-स्थानीय होता है इस सम्बन्ध में गोविन्द स्वामी ने वसिष्ठ ध० सू० के वचनों का उल्लेख किया है। इस सूत्र में 'वा' शब्द यह प्रदर्शित करता है कि आचार्य, शिष्य और ऋत्विज् में पूर्व के अभाव में बाद वाला अधिकारी होता है।

वाशब्दो विकल्पार्थः। स च व्यवस्थया। सा च पूर्वपूर्वाभावे उत्तरोत्तर इति। पिता पितृस्थानीयः। अनेन पुत्रस्थानीयोऽपि लक्ष्यते। स च दाहादिसंस्कारकर्ता; कथम्? तथाऽऽह वसिष्ठः—'सपिण्डाः पुत्रस्थानीया वा तस्य धनं विभजेरन्' इति। इतरथा सकुल्याभावे पिता गृह्णीयादित्युक्ते पूर्वापरविरोधस्स्यात्। तस्मात् पितृशब्देन पितृस्थानीयः पुत्रस्थानीयो ग्रहीतव्यः ॥ ११ ॥

तदभावे राजा सत्स्वं त्रैविद्यवृद्धेभ्यः संप्रयच्छेत् ॥ १२ ॥

अनु०—उसके अभाव में राजा ब्राह्मण के धर्म को तीनों वेदों के विद्वानों को प्रदान करे ॥ १२ ॥

टि०—सूत्र में 'सत्स्वम्' से गोविन्द स्वामी ने सत् से ब्राह्मण का अर्थ लेकर ब्राह्मण का धन राजा वेदविद्या के विद्वानों को दे, अन्य वर्ण के ऐसे व्यक्ति के धन को राजा स्वयं ग्रहण कर सकता है। 'सत्स्वम्' के स्थान पर 'तत्स्वम्' भी पाठ है जिसका अर्थ होगा, 'उस धन को' या 'उस व्यक्ति के धन को'। किन्तु अगले सूत्र में ब्राह्मण के धन के विषय में तो स्पष्टतः विधान कर ही दिया गया है।

सदिति ब्राह्मणं प्रति निर्दिशति। इतरवर्णस्वं तु सर्वाभावे राजैवाऽऽददीत ॥ १२ ॥

न त्वेव कदाचित्स्वयं राजा ब्राह्मणस्वमाददीत ॥ १३ ॥

अनु०—किन्तु राजा ब्राह्मण के धन को कदापि स्वयं न ग्रहण करे ॥ १३ ॥

अस्मिन् पक्षे परकीयमतेन दोषमाह—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

[1]ब्रह्मस्वं पुत्रपौत्रघ्नं विषमेकाकिनं हरेत् ।
न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते ॥
तस्माद्राजा ब्राह्मणस्वं नाऽऽददीत कदाचन ।
परमं ह्येतद्विषं यद्ब्राह्मणस्वमिति ॥ १४ ॥

अनु०—इस विषय में निम्नलिखित पद्य उद्धृत करते हैं—

ब्राह्मण की सम्पत्ति उसे ग्रहण करनेवाले को पुत्र, पौत्र के साथ नष्ट कर देती है, विष तो एक ही व्यक्ति के प्राण का हरण करता है। विष विष नहीं है, वस्तुतः विष तो ब्राह्मण की सम्पत्ति है। इस लिए राजा ब्राह्मण के धन को कदापि ग्रहण न करे, ब्राह्मण का धन परम विष होता है ॥ १४ ॥

राजग्रहणमुपलक्षणार्थम्, अन्यो वा ब्राह्मणस्वं नाऽऽददीत । न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते । इयांस्तु विशेषः । [2]ब्रह्मस्वं पुत्रपौत्रघ्नं विषमेकाकिनं हरेत् ॥ १४ ॥

प्रसक्तानुप्रसक्तं परिसमाप्याऽधुना प्रकृतमुच्यते—

जननमरणयोस्सन्निपाते समानो दशरात्रः ॥ १५ ॥

अनु०—यदि जन्म और मृत्यु दोनों एक साथ ही हों तो दोनों के लिए केवल एक ही बार दश (दिन एवं) रात्रि का आशौच होता है ॥ १५ ॥

सन्निपातस्समवायः । अन्तरेण निमित्तेन दशाहे वर्तमाने इतरस्याऽपि निमित्तस्य तत्राऽन्तःपातः । तथा चेत् पूर्वाशौचप्रयुक्ततन्त्रमध्यपातित्वादितरत्प्रसजति, न पृथग्दशरात्रं प्रयुङ्क्ते इत्यभिप्रायः । एवं त्र्यहादिष्वपि । तत्र भूयसा सहाऽल्पीयो गच्छति न त्वल्पीयसा भूयः । [3]अपेक्षितप्रयुक्तिसांनिध्याभावात् । तत्र सजातीयस्यैव प्रसङ्ग इति केचित् । तथा च गौतमः—[4]"तज्जातीयमेवाऽऽपतेत् तच्चेदन्तः पुनरापतेच्छेषेण शुद्ध्येरन्" ।

---

१. अत्र मूलपुस्तकेषु व्याख्यानपुस्तकेषु च परस्परं पाठेषु वैमत्यं दृश्यते । परन्तु अर्थतो भेदाभावात् कश्चन पाठः स्वीकृतः ।

२. विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्वं पुत्रपौत्रकमिति ग. पु.

३. प्रेक्षावत्प्रवृत्तितान्निध्याभावादिति घ. पु.

४. तच्चेदन्त इत्येतदाद्येव सूत्रम्. गौ. ध. पुस्तके ।

इत्युक्तवान्। तस्माज्जनने जननं मरणे मरणमिति निवेशस्सिद्धो भवति। आचार्यस्त्वनादृत्य तच्छब्दं जननमरणयोरिति वदन् विजातीयस्याऽपि-प्रसङ्गं मन्यते ॥ १५ ॥

तत्र विशेषमाह—

अथ यदि दशरात्रास्सन्निपतेयुराद्यं दशरात्रमाशौचमा नवमाद् दिवसात् ॥ १६ ॥

अनु०—यदि दस (दिन और) रात्रि का आशौच काल के पूरा होने के पहले (दश दिन का या तीन रात्रियों का) दूसरा आशौच आ पड़े तो प्रथम आशौच काल ही दोनों के लिए आशौच काल होता है किन्तु ऐसी स्थिति में दूसरा आशौच कारण (जन्म या मृत्यु) प्रथम आशौच काल के नवें दिन से पहले ही घटित हुआ हो तभी दोनों के लिए पूर्ववर्ती आशौच काल पर्याप्त समझना चाहिये ॥ १६ ॥

आङत्राऽभिविधौ। यदि दशरात्रे वर्तमाने दशमाद्दिवसादर्वाक् दशाहं त्रिरात्रादयो वा निपतेयुः तदा प्रक्रान्तस्य शेषेणैव शुद्धिर्भवतीत्यर्थः। दशमे चेदहनि सन्निपतेयुरन्यदाशौचं कल्प्यम्। तच्च गौतमवचनात्। स आह—'रात्रिशेषे द्वाभ्याम्, प्रभाते तिसृभिः' इति। प्रभाते प्रकर्षेण भाते दशमस्य उषःप्रभृति उदयादर्वाक् परिपात इत्यभिप्रायः। उदिते तु यथाप्राप्तमेव ॥ १६ ॥

जननमरणयोरित्युक्तं, तत्र निर्देशक्रमेण जनने तावद्विशेष उच्यते—

जनने तावन्मातापित्रोर्दशाहमाशौचम् ॥ १७ ॥

अनु०—जन्म के अवसर पर माता और पिता के लिए दस दिन का आशौच तो होता ही है ॥ १७ ॥

यदि सर्वे सपिण्डा वृत्तवन्तो भवेयुः तदा मातापित्रोरेव दशाहाशौचम् ॥ १७ ॥

अपि चेत्पिता वृत्तवान् तत्राऽऽह—

मातुरित्येके तत्परिहरणात् ॥ १८ ॥

अनु०—कुछ लोगों का मत है कि जन्म के अवसर पर आशौच केवल प्रसूतामाता के लिए ही होता है क्योंकि उसी से स्पर्शादि का परहेज रखा जाता है ॥ १८ ॥

यस्मात्प्रसूतिकां लोकः परिहरति तस्मात् तस्या एव जननाशौचं न जनकस्येति ॥ १८ ॥

पितुरित्यपरे शुक्लप्राधान्यात् ॥ १९ ॥

अनु०—अन्य लोगों का मत है कि इस अवसर पर पिता का ही आशौच होता है, क्योंकि सन्तानोत्पत्ति में पिता के वीर्य की ही प्रधानता होती है ॥ १९ ॥

न हि शुक्लमन्तरेण भवन्तीति ॥ १९ ॥

ननु क्षेत्रमन्तरेणाऽपि प्रजा न भवन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—

अयोनिजा अपि पुत्राश्श्रूयन्ते ॥ २० ॥

अनु०—क्योंकि श्रुति में अयोनिज (माता के गर्भ से न उत्पन्न होने वाले) पुत्रों का उल्लेख है ॥ २० ॥

टि०— यथा अगस्त्य, वसिष्ठ। उर्वशी को देखकर मित्रावरुण देवों का वीर्य वासतीवर नामके यज्ञ-कलश में गिरा जिससे अगस्त्य और वसिष्ठ उत्पन्न हुए।

इस कथा के विषय में सायणाचार्य ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं।

तयोरादित्ययोस्सत्रे दृष्ट्वाऽप्सरसमुर्वशीम्।
रेतश्चस्कन्द तत्कुम्भे न्यपतत् वासतीवरे ॥
तेनैव तु मुहूर्तेन वीर्यवन्तौ तपस्विनौ।
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च तत्रर्षी सम्बभूवतुः।
बहुधा पतितं रेतः कलशे च जले स्थले ॥
स्थले वसिष्ठस्तु मुनिस्सम्भूत ऋषिसत्तमः।
कुम्भे त्वगस्त्यस्सम्भूतो जले मत्स्यो महाद्युतिः ॥
उदियाय ततोऽगस्त्यः शम्यामात्रो महातपाः।

अगस्त्यवसिष्ठादयः। तथा हि—'मित्रावरुणयोर्दीक्षितयोरुर्वशीमप्सरसं

---

१. तयोरगस्त्यवसिष्ठयोराख्यायिकावेदकाः श्लोकाः सायणाचार्यैरेवमुदाहृताः:- तयोरादित्ययोस्सत्रे दृष्ट्वाऽप्सरसमुर्वशीम्। रेतश्चस्कन्द तत्कुम्भे न्यपतत् वासतीवरे। तेनैव तु मुहूर्तेन वीर्यवन्तौ तपस्विनौ। अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च तत्रर्षी सम्बभूवतुः। बहुधा पतितं रेतः कलशे च जले स्थले। स्थले वसिष्ठस्तु मुनिस्सम्भूत ऋषिसत्तमः। कुम्भे त्वगस्त्यस्सम्भूतो जले मत्स्यो महाद्युतिः। उदियाय ततोऽगस्त्यः शम्यामात्रो महातपाः। इति।

मन्त्रस्याऽयमर्थः—उत अपि च हे वसिष्ठ त्वं मैत्रावरुणः मित्रावरुणयोः पुत्रोऽसि। हे ब्रह्मन्! वसिष्ठ उर्वश्याः तन्नाम्न्याः अप्सरसः सम्बन्धिनो मनसोऽधि जातः। मित्रावरुणयोरुर्वशीविषयकान्मानससङ्कल्पाज्जात इत्यर्थः। विश्वे देवाः कलशे स्कन्नं रेतोरूपं त्वा पुष्कराख्ये स्थाने दैव्येन देवसम्बन्धिना ब्रह्मणा वेदराशिनाऽधारयन् इति ॥

दृष्ट्वा वासतीवरे कलशे रेतो न्यपतत् । ततोऽगस्त्यवसिष्ठावजायेतामिति । तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—

[1]उताऽसि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः ।

द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त ॥ इति ॥ २० ॥

अतस्स्वमतमेवोपसंहरति—

मातापित्रोरेव तु संसर्गसामान्यात् ॥ २१ ॥

अनु०—किन्तु अन्तिम मत यही है कि माता और पिता दोनों के लिये आशौच होना चाहिए, क्योंकि सन्तानोत्पत्ति में दोनों का समान संसर्ग होता है ॥ २१ ॥

संसर्गः सम्बन्धः प्रजोत्पत्त्युपायभूतः । स चोभयोस्समानो यस्मात् ॥२१॥

अधुना क्रमप्राप्ते मरणे सत्युदकक्रियाप्रयोगक्लृप्तिरुच्यते—

मरणे तु यथाबालं पुरस्कृत्य यज्ञोपवीतान्यपसव्यानि कृत्वा तीर्थमवतीर्य सकृत्सकृत् त्रिर्निमज्ज्योत्तीर्याऽऽचम्य तत्प्रत्ययमुदकमासिच्याऽत एवोत्तीर्याऽऽचम्य गृहद्वार्यङ्गारमुदकमिति संस्पृश्याऽक्षारलवणाशिनो दशाहं कटमासीरन् ॥ २२ ॥

अनु०—मृत्यु के समय मृत के सम्बन्धी अवस्था के अनुसार कम आयु वालों को आगे कर, यज्ञोपवीत को दाहिने कन्धे के ऊपर (तथा बायीं भुजा के नीचे) कर, घाट पर जल में उतरें । एक-एक कर तीन बार डुबकी लगायें, जल से निकल कर आचमन करें और मृत व्यक्ति को उद्दिष्ट कर जल प्रदान करें । फिर किनारे पर आकर आचमन करें, अपने घर के द्वार पर अङ्गार, जल आदि इसी प्रकार की वस्तु का स्पर्श कर दश दिन तक क्षार, नमक आदि का भोजन न करते हुए चटाई पर सोयें ॥ २२ ॥

टि०—'सकृत् सकृत्' से यह तात्पर्य है कि जल में डुबकी लगाने, जल से निकलने

---

१. अयमर्थ एतत्प्रोपरितनमन्त्रेणाऽपि स्पष्टं प्रतिपाद्यते—

सत्रे ह जाता विषिता नमोभिः कुम्भे रेतस्सिषिचतुस्समानम् ।

ततो ह मान उदियाय मध्यात्ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम् ॥

ऋ. सं. ५. ३. २४. ३.

ज्योतिष्टोमादिषु सोमयागेषु अभिषवकाले आसेचनार्थं अभिषुतस्य सोमरसस्याऽल्पत्वात् तेन सह मेलनार्थं च नद्यादितीर्थेभ्य आहृत्य कुम्भेषु आपस्संरक्ष्यन्ते । ता वसतीवर्य इत्युच्यन्ते । यत्र तास्सन्ति स कुम्भो वासतीवरः ॥ मानः अगस्त्यः ।

आचमन करने तथा उदकाञ्जलि देने के कार्य अलग-अलग तीन बार किये जायेंगे। 'अङ्गारमुदकमिति' में इति से गोबर पीले सरसो आदि का भी ग्रहण हो जाता है जिसका उल्लेख याज्ञवल्क्य ने किया है। प्रायश्चित्ताध्याय—

इति संश्रुत्य गच्छेयुर्गृहं बालपुरःसराः।
विदश्य निम्बपत्राणि नियता द्वारि वेश्मनः॥ १२॥
आचम्याग्न्यादिसलिलं गोमयं गौरसर्षपान्।
प्रविशेयुः समालभ्य कृत्वाऽश्मनि पदं शनैः॥ १३॥

(मेरे अनुवाद सहित संस्करण, पृ० ४०१ चौखम्भा प्रकाशन)

यथाबालं यो यो बालस्तं तं पुरस्कृत्य कनिष्ठप्रथमा इति यावत्। अपसव्यानि अप्रदक्षिणानि प्राचीनावीतानि कृत्वा। कथं यज्ञोपवीतानि भवन्ति चेत्? भूतगत्येति ब्रूमः। अन्यत्राऽपि प्रेतकृत्येष्वेवमेव भवितव्यम्। सकृद्ग्रहणं प्रतिनिमज्जनोन्मज्जनं उत्तीर्योत्तीर्येत्यर्थः। तत्प्रत्ययं प्रेतप्रत्ययं प्रेतं प्रत्याय्य प्रेतस्य नामग्रहणपूर्वकं उद्देशं कृत्वेत्यर्थः। प्रत्ययमित्याभीक्ष्ण्ये णमुल्प्रत्ययो द्रष्टव्यः। गृहप्रवेशावस्थायां पुनर्गृहद्वारे अङ्गारमुदकं च संस्पृश्य बालपुरस्सराः गृहं प्रविशेयुः। इतिशब्देन प्रकारवाचिना स्मृत्यन्तरेणोक्तं समुच्चिनोति। एवं हि याज्ञवल्क्य आह—

आचम्याऽग्नयादिसलिलं गोमयं गौरसर्षपान्।
विदश्य निम्बपत्राणि गृहान् बालपुरस्सराः॥
प्रविशेयुस्समालभ्य कृत्वाऽश्मनि पदं शनैः॥ इति॥

ततः प्रभृति दशाहमक्षारलवणाशिनो भवेयुः। यावदाशौचं कटे तृणप्रस्तरे आसीरन् उपविशेयुः। पिण्डदानमपि प्रतिदिवसं कार्यम्॥ २२॥

एकादश्यां द्वादश्यां वा श्राद्धकर्म॥ २३॥

अनु०—ग्यारहवें अथवा बारहवें दिन श्राद्धकर्म करे॥ २३॥

कुर्वीतेति शेषः। योऽप्ययमेकोद्दिष्टादेः ज्योतिश्शास्त्रे कालो विहितः सोऽनिष्क्रान्ततत्कालस्य वेदितव्यः॥ २३॥

शेषक्रियायां लोकोऽनुरोद्धव्यः॥ २४॥

अनु०—शेष क्रियाओं को करते समय लोक-नियमों का ही अनुसरण करना चाहिए॥ २४॥

अत्राऽपि प्रेतस्य शेषक्रियायाः कर्तव्यायाः लोको महाजनः ऽनुरोद्धव्यः। नग्नप्रच्छादनश्राद्धं दाहादिषु। अत्राऽपि न केवलं दाहक्रियायामेव। तत्र हि बहुशब्दे उदकमुक्तं, यच्चातः स्त्रिय आहुस्तत्कुर्वन्ति' इति। तथाऽन्यैरप्युक्तं 'स्त्रीभ्यस्सर्ववर्णेभ्यश्च धर्मशेषान् प्रतीयात्' इति॥ २४॥

अत्राऽप्यसपिण्डेषु यथाऽऽसन्नं त्रिरात्रमहोरात्रमेकाहमिति कुर्वीत ॥ २५ ॥

अनु०—इस स्थिति में जो सपिण्ड न हों उनमें भी संबन्ध की निकटता के अनुसार तीन दिन-रात्रि, एक दिन-रात्रि अथवा एक दिन का या उससे कम समय का आशौच होता है ॥ २५ ॥

टी०—इस विषय में गौतम धर्मसूत्र में भी असपिण्डों के लिये पक्षिणी आशौच (दो दिन और उनके मध्य की रात्रि, या दो रात्रियाँ और उनके मध्य के दिन) होता है।

'असपिण्डे योनिसंबन्धे सहाध्यायिनि च' इत्यादि २.५.१८

देखिये मेरे अनुवाद सहित संस्करण, चौखम्बा प्रकाशन, पृ० १४८

साम्प्रतं सपिण्डाशौचं कर्तव्यम् । तत्र तावत्समानोदकाशौचमुच्यते—इतिकरणात् सद्यश्शौचम् । अहोरात्रशब्देन पक्षिण्युपक्षिप्ता । वृत्तस्वाध्याया-पेक्षश्चाऽयं विकल्पः । वृत्तनिमित्तानि चाऽध्ययनविज्ञानानि कर्माणीति द्व्येकगु-णनिर्गुणानां व्युत्क्रमेणैते पक्षा भवन्ति ॥ २५ ॥

आचार्योपाध्यायतत्पुत्रेषु त्रिरात्रं[1] पक्षिण्येकाहम् ॥ २६ ॥

अनु०—आचार्य, उपाध्याय और उनके पुत्रों की मृत्यु पर क्रमशः तीन रात और दिन का पक्षिणी (दो रात्रि और मध्यवर्ती दिन, या दो दिन और मध्यवर्ती रात्रि), तथा एक दिन का आशौच होता है ॥ २६ ॥

टि०—मूल पुस्तकों में 'पक्षिण्येकाहम्' पाठ नहीं है। गोविन्द स्वामी की प्रति में यही पाठ है, जिसके अनुसार उन्होंने व्याख्या की है। गौतम धर्मसूत्र में आचार्य, आचार्यपत्नी, यजमान और शिष्य की मृत्यु पर तीन दिन का आशौच विहित है। २.५.२६, पृ० १५१ पर।

आचार्ये मृते त्रिरात्रम् । उपाध्याये पक्षिणी । तयोः पुत्रेष्वेकाहम् ॥ २६ ॥

ऋत्विजां च ॥ २७ ॥

अनु०—ऋत्विज् की मृत्यु पर भी तीन दिन और रात्रि का आशौच होता है ॥

चशब्दाद्याज्यस्य च । त्रिरात्रमृत्विजां च ॥ २७ ॥

शिष्यसतीर्थसब्रह्मचारिषु त्रिरात्रमहोरात्रमेकाहमिति कुर्वीत ॥२८॥

अनु०—शिष्य, समान गुरुवाले, साथ ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करने वाले की

---

१. पक्षिण्येकाहमिति नाऽस्ति मूलपुस्तकेषु सर्वेष्वपि ।

मृत्यु पर तीन दिन-रात्रि का, एक दिन-रात्रि का या एक दिन का या उससे भी कम का आशौच होता है ॥ २८ ॥

टि०—तीर्थ का अर्थ है गुरु, सतीर्थ से एक ही गुरु वाले अर्थ लिया गया है 'समानो गुरुः यस्य इति'। व्यूह्लेर ने इसके दूसरे प्रकार के अर्थ एक ही उपाध्याय से विद्या ग्रहण करने वाले, का निर्देश कर, पाणिनि ४.४.११७ की काशिका वृत्ति का सन्दर्भ दिया है।

अत्राऽपि त्रिरात्रमहोरात्रं पक्षिणीति । तीर्थशब्देन गुरुरुच्यते समानो गुरुर्यस्येति विग्रहः । सब्रह्मचारी सहाध्यायी । एषु मृतेषु यथोक्तं त्रिरात्रादिर्भवति ॥ २८ ॥

गर्भस्रावे गर्भमाससम्मिता रात्रयः स्त्रीणाम् ॥२९॥

अनु०—गर्भस्राव होने पर जितने मास का होकर गर्भ मृत हुआ हो उतने दिन और रात्रियों का आशौच स्त्रियों (उस स्त्री) के लिए होता है ॥ २९ ॥

त्रिमासे गर्भस्रुतो भवति यदि तावन्त्यहोरात्राणि । एवं चतुर्थादिष्वपि । स्त्रीग्रहणात् जननादर्वाक् वृत्ते न पुरुषस्याऽऽशौचम् ॥ २९ ॥

परशवोपस्पर्शनेऽभिसन्धिपूर्वं सचेलोऽपः स्पृष्ट्वा सद्यश्शुद्धो भवति ॥ ३० ॥

अनु०—विना जाने-बूझे दूसरे के शव को छू देने पर पहनें हुए वस्त्रों के साथ स्नान करने पर तत्काल शुद्ध हो जाता है ॥ ३० ॥

टि०—'परशव' से असपिण्ड के शव से तात्पर्य है। अभिसन्धि का अर्थ है 'जान-बूझ कर, इच्छापूर्वक अनभिसन्धि'—विना ज्ञान के। यहाँ जल के स्पर्श से जल में स्नान का अर्थ लिया जायगा। गौतम ने भी वस्त्रों सहित स्नान का नियम बताया है 'पतितचण्डालसूतिकोदक्याशवस्पृस्टितत्स्पृष्टयुपस्पर्शने सचैलोदकोपस्पर्शनाच्छुध्येत्। २.३.२८. पृ० १५१ पर।

परशवः असपिण्डशवः । कथम् ? असवर्णशवस्पर्शने वहने चोभयत्राऽऽशौचान्तरविधानात् । अभिसन्धिः कामः, तदभावोऽनभिसन्धिः । अपां स्पर्शनमवगाहनम् । तत्सद्य एव कुर्वीत, न विलम्बयेत् ॥ ३० ॥

अभिसन्धिपूर्वं त्रिरात्रम् ॥ ३१ ॥

अनु०—जान बूझ कर शव का स्पर्श करने पर तिन दिन तथा रात्रि का आशौच होता है ॥ ३१ ॥

अनन्तरोक्तविषय एव ॥ ३१ ॥

ऋतुमत्यां च ॥ ३२ ॥

अनु०—रजस्वला स्त्री के स्पर्श पर भी उपर्युक्त नियम समझना चाहिये ॥३२॥

टि०—रजस्वला स्त्री के स्पर्श पर भी अनजान में स्पर्श का तथा जान बूझ कर स्पर्श के अनुसार अशुद्धिकाल का नियम समझना चाहिए।

ऋतुमती रजस्वला। तत्स्पर्शेऽपि अभिसन्ध्यनभिसन्धिकृतो विभागो [1]वेदितव्यः। चशब्दस्तत्स्पृष्टिन्यायानुकर्षणार्थः। आह च मनुः—

दिवाकीर्त्यमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति॥ इति॥

दिवाकीर्त्यश्चण्डालः। अत्राऽयं विशेषः—अबुद्धिपूर्वं संस्पर्शे द्व्योरसनानम्। बुद्धिपूर्वं तु त्रयाणामिति केचित्॥ ३२॥

[2]"यस्ततो जायते सोऽभिशस्त" इति व्याख्यातान्यस्यै व्रतानि ॥३३॥

---

१. भवेदिति ग. पु.

२. 'यस्ततो जायते सोऽभिशस्तो यामरण्ये तस्यै स्तेनो यां पराचीं तस्यै ह्रीतमुख्य-प्रगल्भो या स्नाति तस्या अप्सु मारुको याऽभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मा या प्रलिखते तस्यै खल-तिरपस्मारी याऽऽङ्क्ते तस्यै काणो या दतो धावते तस्यै श्यावदन् या नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी या कृणत्ति तस्य क्लीबो या रज्जुं सृजति तस्या उद्बन्धुको या पर्णेन पिबति तस्या उन्मादुको या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वस्तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेदञ्जलिना वा पिबेदखर्वेण वा पात्रेण प्रजायै गोपीथाय'॥ तै. सं. २. १. इति तैत्तिरीय-संहितायां द्वितीयकाण्डे पञ्चमप्रपाठकेऽऽग्नीषोमीयपुरोडाशयागविधानार्थं वृत्रासुरवध-रूपोपाख्यानवर्णनाय प्रवृत्ता श्रुतिः ततः पूर्वं इन्द्रस्य वृत्रहनने प्रवृत्तिहेतुदिदर्श-यिषयाऽऽख्यायिकां प्रदर्शयति। सा चेत्थम्—विश्वरूपो नाम त्वष्टुः पुत्रो देवानां पुरोहित आसीत्। सोऽसुराणां भागिनेयः। अतस्स सर्वेषु कर्मसु प्रत्यक्षेण देवानां हविर्दापयन् परोक्षतया रहस्यसुरेभ्योऽपि स्वमातुलेभ्यो दापयामास। तदिन्द्रो विज्ञाय तस्य शिरश्चिच्छेद। तस्य च ब्राह्मणत्वेन समनन्तरमेवेन्द्रं ब्रह्महत्याऽऽविवेश। तेन चाऽत्यन्तं बिभ्यदिन्द्रः स्वीयां ब्रह्महत्यां परिहर्तुकामस्तां त्रिधा विभज्यैकं तृतीयांशं पृथिव्यामाधातुमैच्छत्। साऽपि संवत्सरादर्वाक् स्वखातपरिपूरणं प्रतिवरं ततः प्राप्य तं तृतीयांशं स्वीचकार। स एवोषरं स्थानमभवत्।

एवं वृक्षा अपि संवत्सरादर्वाक् स्वेषां छिन्नप्रतिरोहणं प्रतिवरं लब्ध्वा ब्रह्म-हत्यांशं प्रत्यगृह्णन्। स निर्यासरूपेण पर्यणमत्।

तथा स्त्रियोऽपि यावत्प्रसूति पुरुषसंगसहिष्णुतारूपं प्रतिवरं ततो लब्ध्वा ब्रह्म-हत्यांशं स्वीचक्रुः। स एव तासां मासिकं रजस्समभूत्। यतस्तत् ब्रह्महत्यारूपम्, अतो

अनु०—'जो रजस्वला स्त्री से पुत्र उत्पन्न होता है वह अभिशस्त कहा गया है' इसकथन के साथ रजस्वला स्त्री के व्रतों की व्याख्या की गयी है ॥ ३३ ॥

टि०—"यस्ततो जायते सोऽभिशस्तः" द्वारा तैत्तिरीय संहिता २.५.१ की ओर संकेत किया गया है, जिसमें रजस्वला स्त्री के विविध निषिद्ध कार्य करने पर उत्पन्न सन्तान में विविध शारीरिक दोषों का उत्पन्न होना निर्दिष्ट है।

'यस्ततः' इत्यादिना 'प्रजायै गोपीथाय' इत्येवमन्तेन ब्राह्मणवाक्येन रजस्वलाया व्रतान्युक्तानि । तानि तया परिपालनीयानीत्यर्थः । तथा च वसिष्ठः—'त्रिरात्रं रजस्वलाऽशुद्धिर्भवेत्' इत्येवमादिना प्रपञ्चितवान् ॥३३॥

वेदविक्रयिणं यूपं पतितं चितिमेव च ।
स्पृष्ट्वा समाचरेत्स्नानं श्वानं चण्डालमेव च ॥ ३४ ॥

वेद का विक्रय करने वाले व्यक्ति, यज्ञ के यूप, पतित, चिता, कुत्ता तथा चण्डाल का स्पर्श करने पर स्नान करे ॥ ३४ ॥

टि०—वेदविक्रय स्वर्ण आदि लेकर वेदप्रदान । पतित के उल्लेख से उपपातक से दूषित व्यक्तिओं का भी अर्थ लिया जायगा।

हिरण्यादिग्रहणपूर्वकं वेदप्रदानं विक्रयो लक्षणया । चितियूपयोस्त्वप्रवृत्तौ प्रयोगे स्पर्शनम् । पतितग्रहणमुपपातकानामप्युपलक्षणम् । श्वग्रहणं च सृगालादीनाम्, चण्डालग्रहणं प्रतिलोमानाम् ॥ ३४ ॥

रजस्वलया संव्यवहारादिकं न कार्यम् । यदि तया सह सङ्गच्छेत तदा अभिशस्तादयः पुत्रा जायेरन् । या वा अभ्यञ्जनादिकं करोति तस्या दुश्चर्मादयस्सुता उत्पद्येरन् । अतः प्रजासंरक्षणार्थं पूर्वनिरुक्तकर्माण्यकुर्वाणा दिनत्रयं व्रतमनुतिष्ठेदिति ।

वाक्यस्याऽयमर्थः—'यस्ततः' इत्यतः पूर्वं "यां मलवद्वाससं सम्भवन्ति" इति वाक्यम् मलवद्वासा रजस्वला । यदि रजस्वलां गच्छेत् पुरुषः, ततो यः पुत्र उत्पद्यते सः अभिशस्तादिर्भवतीति अभिशस्तो मिथ्यापवादग्रस्तः । अत्र सर्वत्राऽपि "तस्यै" इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । अरण्ये तद्गमने तस्याः पुत्रः स्तेनो जायते । या पराङ्मुखी तस्याः पुत्रस्सभायां ह्रीमान् । प्रथमदिनत्रयमध्ये स्नानेऽप्सु मरणशीलः, अभ्यञ्जने कुष्ठी. चित्रादिविलेखने केशरहितः (खल्वाटः) अक्ष्णोरञ्जने काणः, दन्तधावने मलिनदन्तः, नखनिकृन्तने कुनखः, तृणादिच्छेदने (क्लीबः) षण्डः, रज्जुनिर्माणे उद्बन्धनमरणवान्, ह्रस्वपात्रेण पाने ह्रस्वकायश्च पात्रेणोदकपाने उन्मत्तः । अत उत्पत्स्यमानप्रजासंरक्षणायैव दिनत्रयावधिकमेतद् व्रतं रजस्वलयाऽवश्यमनुष्ठेयमिति ॥ अयमर्थो वासिष्ठेऽपि धर्मसूत्रे यथावद् स्मृतः (cf वसिष्ठ. ध. अ. ५.) तत्राऽपि द्रष्टव्यः ।

ब्राह्मणस्य व्रणद्वारे पूयशोणितसम्भवे ।
क्रिमिरुत्पद्यते तत्र प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥३५॥
गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
त्र्यहं स्नात्वा च पीत्वा च क्रिमिदष्टः शुचिर्भवेत् ॥३६॥

यदि ब्राह्मण के मवाद और रक्त से भरे चोट या फोड़े पर क्रिमि उत्पन्न हो जाय तो उसका प्रायश्चित्त किस प्रकार से किया जायगा ? क्रिमि उत्पन्न होने पर गाय का मूत्र, गाय का गोबर, दूध, दधि, घृत, कुश के साथ (उबाले गये) जल तीन दिन स्नान कर पीने पर शुद्ध होता है।

टि०—सूत्र में 'क्रिमिदष्टः' है। गोविन्द स्वामी के अनुसार यह नियम केवल क्रिमि के काटने पर ही नहीं, अपितु अपने शरीर में उत्पन्न क्रिमि के काटने पर है। अथवा यह प्रायश्चित्त फोड़े या चोट पर क्रिमि उत्पन्न होने की स्थिति में विहित है।

नैतत्क्रिमिदंशनमात्रे चोद्यते । क तर्हि ? स्वशरीरोत्पन्नक्रिमिदंशे । इतरथा प्रश्नोत्तरानुपपत्तेः । यद्वा—व्रणद्वारे क्रिमीणामुत्पत्तिमात्रे एतत्प्रायश्चित्तम्, न दंशने ॥ ३५–३६ ॥

शुनोपहतस्सचेलोऽवगाहेत ३७ ॥

अनु०—कुत्ते के छू देने पर वस्त्रों को पहने हुए स्नान करे ॥ ३७ ॥

शुनोपहतः शुना स्पृष्टः नाभेरूर्ध्वमिति शेषः ॥ ३७ ॥

अथ वाऽऽह—

प्रक्षाल्य वा तं देशमग्निना संस्पृश्य पुनः प्रक्षाल्य पादौ चाऽऽचम्य प्रयतो भवति ॥ ३८ ॥

अथवा जिस अंग का कुत्ते ने स्पर्श किया हो उसे धोकर फिर उसे अग्नि से स्पर्श कराये, पैरों को धोकर आचमन करने पर शुद्ध होता है ॥ ३८ ॥

टि०—गोविन्द स्वामी ने उपर्युक्त वस्त्र सहित स्नान का नियम उस अवस्था के लिए बताया है जब कुत्ते ने नाभि से ऊपर स्पर्श किया हो। गौतम ने भी कुत्ते के स्पर्श पर वस्त्र सहित स्नान का प्रायश्चित्त बताया है, २. ५. ३०, पृ० १५३ ।

किन्तु अन्य आचार्यों का मत भी उद्घृत किया है जिनके अनुसार जिस अंग को छुए हो उसे धोने से ही शुद्धि हो जाती है यदुपहन्यादित्येके २. ५. ३१.

संभवतः गोविन्द स्वामी ने नाभि से ऊपर स्पर्श पर वस्त्रसहित स्नान का नियम जातूकर्ण्य की इस व्यवस्था के आधार पर निर्दिष्ट किया हो—

ऊर्ध्वं नाभेः करौ मुक्त्वा स्पृशत्यङ्गं खरो यदि ।
स्नानं तत्र विधानार्थं शेषे प्रक्षाल्य शुध्यति ॥

कुत्रचिदिदं प्रायश्चित्तं भवति ? स्नानाशक्तौ वा पादौ प्रक्षाल्य पुनराचामेदिति सम्बन्धः ॥ ३८ ॥

शुना दष्टस्य कथमित्यत आह—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

शुना दष्टस्तु यो विप्रो नदीं गत्वा समुद्रगाम् ।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥
सुवर्णरजताभ्यां वा गवां शृङ्गोदकेन वा ।
नवैश्च कलशैस्स्नात्वा सद्य एव शुचिर्भवेत् ॥ ३९ ॥

इस विषय में निम्न लिखित पद्य भी उद्धृत किये जाते हैं—

जिस ब्राह्मण को कुत्ते ने काट लिया हो वह समुद्र में मिल जाने वाली नदी में स्नान कर, सौ बार प्राणायाम कर घी का भक्षण करने पर शुद्ध होता है । अथवा सोने या चाँदी के बर्तनों में लाये गये या गाय के सींग में लाये गये जल से अथवा मिट्टी के नये घड़ों में लाये गये जल से स्नान करने पर तत्काल शुद्ध हो जाता है ।

श्वाधिकारेपुनः श्वग्रहणं श्वापदादीनां प्रदर्शनार्थम् । नदीं गत्वा स्नात्वा चेति शेषः । सुवर्णरजतेति । इदमपि शुना दष्टस्यैव । कनकरजतनिर्मितेन पात्रेण नवैश्च मृन्मयैर्वा कलशैः स्नानमेकः कल्पः । गवां शृङ्गोदकेन नवैश्च कलशैरित्यपरः ॥ ३९ ॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने एकादशः खण्डः ॥ ११ ॥

पञ्चमाध्याये द्वादशः खण्डः

एवं तावत्प्राणिविशेषैर्दष्टस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् । अथेदानीं प्राणिविशेषे[1] भक्षणं प्रतिषेधति—

अभक्ष्याः पशवो ग्राम्याः ॥ १ ॥

---

१. भक्षणप्रतिषेधमाह ग. पु.

अनु०—ग्राम्य (पालतू) पशु अभक्ष्य होते हैं ॥ १ ॥

सप्त ग्राम्याः पशवः गोश्वाजाविकं पुरुषश्च गर्दभश्च उष्ट्रस्सप्तमोऽश्वमुष्टैके ब्रुवते ॥ १ ॥

क्रव्यादाश्शकुनयश्च ॥ २ ॥

अनु०—मांसभक्षी पशु और (पालतू) पक्षी अभक्ष्य होते हैं ॥ २ ॥

टि०—क्रव्यादाः = मांसभक्षी का संबन्ध 'शकुनयः' के साथ भी लिया जा सकता है। सूत्र में 'च' के प्रयोग के आधार पर गोविन्द स्वामी 'शकुनयः' के साथ भी 'ग्राम्याः' पद को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार यहाँ पालतू पक्षियों से तात्पर्य है।

क्रव्यं मांसं तददन्तीति क्रव्यादाः । शकुनयः काकाः शकुन्ता वा ग्राम्यानुकर्षणार्थश्चकारः । एतेषां भक्ष्यत्वेन कामतः प्राप्तानां प्रतिषेधः । तथा च श्रुतिः—'स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति' इति मुख्यप्राणेन पृष्टे ऊचुः 'यत्किञ्चिदिदमाश्वभ्य आशकुनिभ्य इति होचुः' इति आह च मनुः—

प्राणस्याऽन्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत् ॥ इति ॥

अतस्सर्वमिदं भक्ष्यत्वेन प्राप्तं तन्निवारणार्थं प्रकरणारम्भः ॥ २ ॥

तथा कुक्कुटसूकरम् ॥ ३ ॥

अनु०—इसी प्रकार (ग्राम्य) कुक्कुट और सूकर का मांस अभक्ष्य होता है ॥ ३ ॥

टि०—यहाँ 'तथा' से 'ग्राम्याः' पद की अनुवृत्ति समझी जायगी। पक्षियों के विषय में गौतम ध० सू० में अलग-अलग उल्लेख किया गया है: 'काककङ्कगृध्रश्येना जलजा रक्तपादतुण्डा ग्राम्यकुक्कुटसूकराः' २. ८. २९. मेरे अनुवाद सहित चौखम्बा संस्करण, पृ० १८६।

तथाशब्दोऽपि ग्राम्यानुकरणार्थ एव । कुक्कुटसूकरमिति द्वन्द्वैकवद्भावः ॥ ३ ॥

साम्प्रतं ग्राम्यपशुविषयप्रतिषेधापवादमाह—

अन्यत्रा[१] जाविकेभ्यः ॥ ४ ॥

अनु०—बकरा और भेड़ को छोड़कर अन्य ग्राम्य पशुओं के भक्षण के विषय में ही निषेध समझना चाहिए ॥ ४ ॥

प्रत्येकं बहुवचनं जात्याख्यायामन्यतरस्यां भवति । अजाविकौ भक्ष्यौ ॥

---

१. अन्यत्राऽजाविभ्यः इति क. पु. अन्यत्राऽजेभ्यः इति ख. पु.

भक्ष्याः श्वाविड्गोधाशशशल्यककच्छपखड्गाः खड्गवर्जाः पञ्च पञ्चनखाः ॥ ५ ॥

अनु०—श्वाविट्-गोधा (गोह), खरगोश, शल्यक, कच्छप और खड्ग इनमें खड्ग के अतिरिक्त पाँच नखवाले पाँच पशु भक्ष्य होते हैं ॥ ५ ॥

टि०—सूत्र में पहले खड्ग को एक साथ गिनाकर 'पञ्च पञ्चनखाः' 'खड्गवर्जाः' कहकर विकल्प नियम प्रस्तुत किया गया है। खड्ग का मांस भक्षण करने के विषय में विवाद है, जिसका उल्लेख गोविन्द स्वामी ने अपनी व्याख्या में किया है और वसिष्ठ के वाक्य को उद्धृत किया है 'खड्गे तु विवदन्ते'। श्वाविट्-कुत्ते जैसा मृग है; शल्यक एक विशेष प्रकार का सूअर है; गोधा गोह को कहते हैं। खड्ग भी एक विशेष प्रकार का मृग है 'खड्गो मृगविशेषः' 'शल्यको वराहविशेषो यस्य नाराचाकाराणि लोमानि। गोधा कृकलासाकृतिर्महाकायः'—गौतम ध० सू० पर २.८.२७ हरदत्त कृत मिताक्षरा। 'पञ्चनखाश्चाशल्यकशशश्वाविड्गोधाखड्ग कच्छपाः' वही, पृ० १८६.

[1]परिसङ्ख्यैषा। कामत एवैषामपि भक्ष्यत्वे प्राप्ते भक्ष्येतरनिषेधार्थम्। पञ्चपञ्चनखग्रहणाच्च सजातीयपरिसंख्यैषा गम्यते। श्वाविडादीन् षडनुक्रम्य पञ्चग्रहणात् षष्ठस्य परिसङ्ख्यायां विकल्पः। तच्च स्पष्टीकृतम्-खडगवर्जा इति। तथा च वसिष्ठः—'खड्गे तु विवदन्ते' इति। आचार्येणाप्युक्तं 'खड्गश्श्राद्धे पवित्रम्' इति। एवमुत्तरेष्वपि खडगवत् यथासम्भवं योजना। श्वाविडः श्वसदृशमृगाः। शल्यकाः वराहविशेषाः। ऋज्वन्यत् ॥ ५ ॥

तथर्श्यहरिणपृषतमहिषवराह [2]कुलुङ्गाः कुलुङ्गवर्जाः पञ्च द्विखुरिणः ॥ ६ ॥

अनु०—इसी प्रकार श्वेत खुर वाला मृग (नील गाय), सामान्य हरिण, धारीदार चर्म वाला हरिण, भैंसा, जंगली सूअर, काले रंग का मृग-इनमें काले रंग के मृग को छोड़ पाँच दोखुरे जानवर भक्ष्य होते हैं ॥ ६ ॥

टि०—इस सूत्र में भी कुलुङ्ग के विषय में विवाद है अन्य दो खुर वाले पशु भक्ष्य हैं।

भक्ष्या इत्यनुवर्तते। पूर्ववत्परिसंख्या ॥ ६ ॥

---

१. उभयोस्समुच्चित्य प्राप्तावितरनिवृत्तिः परिसंख्या। २. कुलङ्ग इति मु. पु.

पशवो गताः । पक्षिण आरभ्यन्ते—

पक्षिणस्तित्तिरिकपोतकपिञ्जलवाध्रीणसमयूरवारणा वारणवर्जाः पञ्च विविष्किराः ॥ ७ ॥

अनु—तित्तिर, कबूतर, कपिञ्जल, वाध्रीणस, मयूर और वारण में वारण को छोड़ पाँच तोड़-तोड़ कर खाने वाले पक्षी भक्ष्य होते हैं ॥ ७ ॥

टि०—यहाँ भी वारण पक्षी के भक्षण को संदिग्ध समझना चाहिए। 'भक्ष्याः प्रतुदविष्किरजालपादाः' गौतम० २. ८. ३५, पृ० १८८।

अस्मिन्नपि षट्के वारणे विकल्पः। विकीर्य विकीर्य भक्षयन्तीति विविष्किराः। अन्यत्पूर्ववत् ॥ ७ ॥

मत्स्याःसहस्रदंष्ट्रचिलिचिमो वर्मी बृहच्छिरोरोमशकरिरोहितराजीवाः॥८॥

अनु—सहस्रदंष्ट्र, चिलिचिम, वर्मी, बृहच्छिरस्, रोमशकरि, रोहित और राजीव मछलियाँ भक्ष्य होती हैं ॥ ८ ॥

टि०—वसिष्ठ १४-४१-४२ में इन मत्स्यों के भक्ष्य होने का नियम है। नामों के विषय में विभिन्न पुस्तकों में कुछ अन्तर है, उदाहरण के लिए सूत्र के प्रस्तुत पाठ में 'रोमशकरि' नाम उपलब्ध है, किन्तु 'मशकरि' नाम भी कुछ लोगों ने ग्रहण किया है। द्र० ब्यूहलेर की टिप्पणी। गोविन्द स्वामी ने भी इन नामों को स्पष्ट न कर लिखा है कि इनके विषय में निषादों आदि से जानकारी प्राप्त करनी चाहिए।

भक्ष्या इत्यनुवर्तते। उक्तेषु पशुमृगपक्षिमनुष्येषु अप्रसिद्धनामकाः निषादेभ्योऽवगन्तव्याः ॥ ८ ॥

उक्तो जङ्गमेषु भक्षणविशेषः। अथ स्थावरेष्वाह—

अनिर्दशाहसन्धिनीक्षीरमपेयम् ॥ ९ ॥

अनु०—जिस गाय, भैंस, बकरी आदि को ब्याए हुए दस दिन न हुए हों अथवा जो गर्भिणी अवस्था में दुही जा रही हो उसका दूध अपेय होता है ॥ ९ ॥

टि०—द्रष्टव्य वसिष्ठ १४. ३४-३५; गौतम० २. ८. २२ 'गोश्च क्षीरमनिर्दशायाः सूतके' २३, अजामहिष्योश्च, २५ 'स्यन्दिनीयमसूसंधिनीनां च'। संधिनी की गोविन्द स्वामी की व्याख्या स्पष्ट है: जो गर्भिणी स्थिति में दुही जाती है और प्रातः न दुहने पर सायं दुही जाती है। स्थानीय बोलियों में ऐसी गायों के विशेष नाम होते हैं।

गोमहिष्यजानामिति शेषः। प्रसवादारभ्य नातिक्रान्तदशाहमनिर्दशाहं क्षीरम्। सन्धिनी पुनः या गर्भिणी दुह्यते या वा सायमदुग्धा प्रातर्दुह्यते प्रातरदुग्धा वा सायम् ॥ ९ ॥

विवत्साऽन्यवत्सयोश्च ॥ १० ॥

अनु—जिस गो का बछड़ा न हो, अथवा जो दूसरी गौ के बछड़े को दूध पिलाती हो उसका दूध अपेय होता है ॥ १० ॥

टिप्पणी—क्षीर के निषेध के साथ ही दधि आदि क्षीर विकारों का भी निषेध समझना चाहिए। इस संबन्ध में गोविन्द स्वामी ने वसिष्ठ के वचन का उल्लेख करते हुए विस्तृत विचार किया है।

क्षीरमपेयमित्यनुवर्तते। विवत्सा विगतवत्सा। विवत्सान्यवत्सासन्धिनीनां क्षीरमपेयम्, न पुनस्तद्विकारं दध्याद्यपि। कुत एतत्? वसिष्ठवचनात्। यदाह सः—'सन्धिनीक्षीरमवत्साक्षीरम्' इत्यभक्ष्यप्रकरणे। कथमनेन दध्याद्यनुग्रहो भवति? अयं तावत् न्यायः सर्वत्र निषेधे द्रव्यशुद्धौ वेदितव्यः—प्रकृतिग्रहणे विकारस्याऽपि ग्रहणं विकारग्रहणे च प्रकृतेरिति। यत्पुनरपण्यप्रकरणे 'क्षीरं च सविकारम्' इति विकारग्रहणं कृतं तत्राऽयमभिप्रायः—विकाराणां दधिघृतादीनां क्षीरजातेर्जात्यन्तरत्वात् पायसादिशब्दव्यापादेन दधिघृतनवनीतादिशब्दान्तरत्वाच्च विकारग्रहणमन्तरेण तद्बुद्धिर्न जायत इति। अन्यत्र त्वन्यतरग्रहणेऽन्यतरग्रहणं भवत्येव। इह तु वसिष्ठवचने क्षीराधिकारे सत्येव पुनः क्षीरग्रहणं तद्विकाराभ्यनुज्ञानार्थम् ॥ १० ॥

[1]आविकमौष्ट्रिकमैकशफम् ॥ ११ ॥

अनु०—भेड़, ऊँटनी और एक खुरवाले पशुओं का दूध अपेय होता है ॥ ११ ॥

टि०—एक खुर वाले पशु जैसे अश्व। द्र० गौतम. २.८.२४: 'नित्यमाविकमपेयमौष्ट्रमैकशफं च'।

क्षीरमपेयमित्यनुवर्तते। एकशफा एकखुरा अश्वादयस्तेषां पय ऐकशफम् ॥ ११ ॥

उक्तानामपेयानां पयसां प्रसङ्गाल्लाघवाच्च प्रायश्चित्तमाह—

अपेयपयःपाने कृच्छ्रोऽन्यत्र गव्यात् ॥ १२ ॥

अनु०—गौ के दूध के अतिरिक्त कोई और अपेय दूध पी लेने पर प्रायश्चित्त के रूप में कृच्छ्र व्रत करे ॥ १२ ॥

अविशेषितः कृच्छ्रशब्दः प्राजापत्ये वर्तते ॥ १२ ॥

गव्ये त्रिरात्रमुपवासः ॥ १३ ॥

---

१. आविकमौष्ट्रिकमैकशफमपेयम् इत्येवं क. पुस्तके मूलपुस्तकेषु च समुपलभ्यते पाठः, तथापि ग. पुस्तकपाठ एव स्वरसतां मन्वानैरस्म एवाऽस्माभिर्निवेशितः।

अनु०—गौ का अपेय दूध पीने पर तीन (दिन और) रात्रि उपवास करे॥१३॥

द्वयमेतद्बुद्धिपूर्वविषयम्। अबुद्धिपूर्वे तु पूर्वस्मिन् त्रिरात्रं गव्ये तूपवासः। आह च मनुः—'शेषेषूपवसेदहः' इति ॥ १३ ॥

पर्युषितं शाकयूषमांससर्पिःशृतधानागुडदधिमधुसक्तुवर्जम् ॥ १४ ॥

अनु०—शाक, यूष, मांस, घृत, भूने गये अन्न, गुण, दही और सत्तू इन तैयार खाद्य वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य बासी अन्न नहीं खाना चाहिए ॥ १४ ॥

टि०—पर्युषित का अर्थ है उषःकालान्तरित; उषाकाल से पहले का, रात्रि का, बासी।

पर्युषितमुषःकालान्तरितम्। शाकयूषादिवर्जं पक्वं पर्युषितमभक्ष्यमिति सम्बन्धः॥ १४ ॥

[1]शुक्तानि ॥ १५ ॥

अनु०—खट्टी बनी हुई खाद्य वस्तुएं अभक्ष्य होती है॥ १५ ॥

टि०—दधि खट्टा होने पर भी भक्ष्य होता है।

शुक्तानि च दधिवर्जम्। आह च मनुः—

दधि भक्ष्यं तु शुक्तेषु सर्वं च दधिसम्भवम्।
यानि चैवाऽभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैश्शुभैः॥ इति ॥ १५ ॥

तथाजातो गुडः ॥ १६ ॥

अनु०—इसी प्रकार खट्टा हुआ गुड़ अभक्ष्य होता है॥ १६ ॥

टि०—'भक्ष्य अभक्ष्य' का निर्देश करके भोजन की शुद्धि का नियम बताया गया है; भोजन की शुद्धि से ही सत्त्व अर्थात् आत्मा की शुद्धि होती है। आत्मा की शुद्धि से स्थिर स्मृति उत्पन्न होती है और उससे वेदाध्ययन का अधिकार होता है—गोविन्द। इसी प्रसंग में अगला सूत्र है।

तथाजातश्शुक्तत्वेन जात इत्यर्थः। गुडस्य पृथक्करणं अपक्वस्याऽपीक्षुरसस्य शुक्तस्य प्रतिषेधार्थम्॥ १६ ॥

भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणेनाऽऽहारशुद्धिरुक्ता। तच्छुद्धेर्हि[2] सत्त्वशुद्धिर्भवति। सत्त्वशुद्धौ च ध्रुवा स्मृतिर्जायते। अतश्चाऽध्ययनेऽधिकार इत्यत आह—

---

१. शुक्तानि तथाजातो गुडः, इत्येकसूत्रतया चकारवर्जं पठितं मूलपुस्तकेषु।

२. आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः। सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, इति स्मरणात्।

श्रावण्यां पौर्णमास्यामाषाढ्यां वोपाकृत्य तैष्यां माघ्यां वोत्सृजेयुरुत्सृजेयुः ॥ १७ ॥

अनु०—श्रावण या आषाढ मास की पौर्णमासी को वेदाध्ययन आरम्भ करने की उपाकर्म क्रिया कर तिष्य नक्षत्र से युक्त पौर्णमासी को या माघ की पौर्णमासी को वेदाध्ययन का उत्सर्ग करे ॥ १७ ॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने दशमः खण्डः ॥ १२ ॥

श्रवणेन नक्षत्रेण श्रविष्ठया वा युक्ता पौर्णमासी श्रावणी। श्रावणशब्दोऽत्र नक्षत्रद्वयप्रदर्शनार्थः। तथाऽऽह—

चित्रादितारकाद्वन्द्वैः पूर्णपर्वेन्दुसङ्गतैः।
मासाश्चैत्रादिका ज्ञेयाः त्रिस्त्रिषष्ठान्त्यसप्तमैः ॥

इति। एवमेव द्वादश पौर्णमास्यो द्रष्टव्याः। उपाकर्मोत्सर्जनं च गृह्य (३. १.) एवोक्तम् ॥ १७ ॥

इति बौधायनीयधर्मसूत्रविवरणे गोविन्दस्वामिकृते
पञ्चमोऽध्यायः

अथ षष्ठोऽध्यायः

एवं मानवपुरुषार्थतया शौचाधिष्ठानमुक्तम्, अथेदानीं क्रत्वर्थतयाऽऽह—

शुचिमध्वरं देवा जुषन्ते ॥ १ ॥

अनु०—देवता पवित्र यज्ञ को ही ग्रहण करते हैं ॥ १ ॥

अध्वर इति यज्ञनाम। ध्वरः हिंसाकर्म तत्प्रतिषेधोऽध्वरः। जुषन्ते सेवन्ते। देवग्रहणं पितॄणामप्युपलक्षणार्थम् ॥ १ ॥

किमित्येवम् ?

शुचिकामा हि देवाश्शुचयश्च ॥ २ ॥

अनु०—क्योंकि देवता पवित्रता चाहते हैं और स्वयं पवित्र होते हैं ॥ २ ॥

हिशब्दो हेतौ शुचिकामत्वात् शुचित्वाच्चेत्यर्थः ॥ २ ॥

[1]प्रपञ्चोऽयं भूय तत्संग्रहार्थः—

[2]शुची वो हव्या मरुतश्शुचीनां शुचिं हिनोम्यध्वरं शुचिभ्यः। ऋतेन सत्यमृतसाप आयञ्छुचिजन्मानश्शुचयः पावका इति ॥ २ ॥

१. प्रपञ्चोऽयं ग. पुस्तके नास्ति।   २. ऋ. सं. ५. ४. २४. १.

अनु०—यह इस ऋचा में कहा गया है, हे मरुतों, पवित्र तुम लोगों के लिए पवित्र हव्य है; पवित्र तुम्हारे लिए मैं पवित्र यज्ञ अर्पित करता हूँ। पवित्र यज्ञ का सेवन करने वाले, पवित्र जन्म वाले, दूसरों को पवित्र करने वाले=मरुतों या देव गणों ने ऋत द्वारा सत्य को प्राप्त किया ॥ ३ ॥

टि०—उपयुक्त अर्थ गोविन्दस्वामी के अनुसार है। 'ऋतेन यज्ञेन सत्यं परं पुरुषार्थम् अमृतस्वरूपं स्वर्गापवर्गाख्यम् आयन् प्राप्नुयुः'—गोविन्द। व्यूलर ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'उचित प्रकार से सत्यनिष्ठ (यज्ञकर्ता) के पास आये।' यह ऋचा ऋग्वेद ७. ५६. १२ है तथा तैत्तिरीय-ब्राह्मण २.८.५.५ में भी आता है। अन्तिम वाक्य की व्याख्या सायण ने इस प्रकार की है।

ऋगेषा देवानां शुचित्वमभिवदतीति विज्ञियते। वसिष्ठस्यार्षं त्रिष्टुप्छन्दः। मरुतो देवताः। हे मरुतः! वो युष्माकं शुचीनां सतां हव्यान्यपि शुचीनि योग्यानि भवन्ति। तस्मात् शुचिभ्यो युष्मभ्यं शुचिमेवाऽध्वरं यज्ञं प्रहिणोमि प्रतनोमि। यस्मादेवं वयं मरुतां कृतवन्तस्तस्मात्तेऽपि मरुतः ऋतेन यज्ञेन सत्यं परं पुरुषार्थममृतस्वरूपं स्वर्गापवर्गाख्यं आयन् प्राप्नुयुः। किंविशिष्टास्ते? ऋतसापः शुचिजन्मानश्शुचयः पावकाश्च; ऋतसापः यज्ञसेविनः। उक्तं च 'शुचिं हिनोम्यध्वरम्' इति। शुचि जन्म येषां ते शुचिजन्मानः स्वयं शुचयः पावनहेतवश्च द्रव्याणाम्। तथा चोक्तम्—'चण्डालपतितस्पृष्टं मारुतेनैव शुध्यति' (१, ९. ८) इति ॥ ३ ॥

अहतं वाससां शुचि तस्माद्यत्किञ्चेज्यासंयुक्तं स्यात्सर्वं तदहतेन वाससा कुर्यात् ॥ ४ ॥

अनु०—नये, पहले न धारण किये गये वस्त्रों को पहनने पर यज्ञकर्ता पवित्र रहता है, अत एव जो कुछ यज्ञिय कर्म करना हो उसे नये वस्त्र धारण कर करना चाहिए ॥ ४ ॥

अहतमनुपभुक्तं अभिनवं शुचि स्यादित्यध्याहारः। इज्या यागः यत्किञ्चिदिति वीप्सावचनात् इष्टिपशुचातुर्मास्यादीनाम् ॥ ४ ॥

'अहतेन वाससा कुर्यात्' इत्युक्तम्, तत्रानहतस्य वाससः साक्षात् करणत्वं न स्यात्, तन्निराकरणायाऽऽह—

प्रक्षालितोपवातान्यक्लिष्टानि वासांसि पत्नीयजमानावृत्विजश्च परिदधीरन् ॥ ५ ॥

अनु०—यजमान, उसकी पत्नी और यज्ञ कराने वाला ऋत्विज् ये सभी धोये गये, वायु से सूखे हुए तथा न फटे हुए वस्त्र पहने ॥ ५ ॥

टि०—गोविन्द स्वामी के अनुसार सूत्रस्थ 'च' शब्द से यज्ञक्रिया देखने वालों के लिए भी उपर्युक्त प्रकार के वस्त्र धारण करने का नियम समझना चाहिए।

तत्र संस्कारेणाऽनहतवाससोऽपि करणत्वमित्यभिप्रायः। उपवातानि शोषितानीत्यर्थः। अक्लिष्टानि अच्छिन्नानि अच्छिद्राणि वा। तानि च शुक्लानि भवन्ति, उत्तरत्र लोहितवास इति विशेषश्रवणात्। चशब्दादुपद्रष्ट्रादयोऽप्येवंभूतानि वासांसि परिदधीरन्निति गम्यते ॥ ५ ॥

एवं प्रक्रमादूर्ध्वम् ॥ ६ ॥

अनु०—प्रक्रम (आरम्भिक) क्रियाओं के बाद इस प्रकार से किया जाता है ॥ ६ ॥

आपवर्गादिति शेषः। प्रक्रम उपक्रमः। उपक्रमादारभ्याऽऽपवर्गादेवंभूतैर्वासोभिर्भवितव्यमित्यभिप्रायः ॥ ६ ॥

दीर्घसोमेषु सत्रेषु चैवम् ॥ ७ ॥

अनु०—दीर्घ सोमयज्ञों तथा सत्रों में भी इसी प्रकार किया जाता है ॥ ७ ॥

[1]दीर्घसोमास्सत्राणि च प्रसिद्धानि। चशब्द एकाहाहीनोपसङ्ग्रहार्थः। एवमित्यतिदेशः। 'यत्किञ्चेज्यासंयुक्तम्' इत्यस्य विस्तरोऽयम् ॥ ७ ॥

किमेष एवोत्सर्गः ? नेत्याह—

यथा समाम्नातं च ॥ ८ ॥

अनु०—अन्य अवसरों पर उस अवसर के नियम के अनुसार अन्य प्रकार के वस्त्र धारण करने चाहिए ॥ ८ ॥

शुक्लाद्वाससोऽन्यदपि यद्यथा समाम्नातं तथा कर्तव्यमिति ॥ ८ ॥

---

१. उक्थ्यषोडश्यतिरात्रसंस्थाः दीर्घसोमपदवाच्याः। तासां प्रकृतिभूताग्निष्टोमापेक्षयाऽधिककालसाध्यत्वात्। अनेकदिनसाध्याः सोमयागास्सत्राहीनपदवाच्याः। तत्र द्विरात्रप्रभृत्येकादशदिनसाध्यक्रतुपर्यन्ता अहीनाः। त्रयोदशरात्रप्रभृति सहस्रसंवत्सरान्तास्सत्राणि। द्वादशरात्रस्तु सत्राहीनोभयात्मकः। तत्र सत्रे सर्वे यजमाना एव सप्तदशावरा मिलित्वा यजमानकार्यमृत्विक्कार्याणि च कुर्युः। अत एव तत्र दक्षिणाऽपि नास्ति। एकाहस्तूक्तः।

तदाह—

यथैतदभिचरणीयेष्विष्टिपशुसोमेषु लोहितोष्णीषा लोहितवाससश्चर्त्विजः प्रचरेयुः चित्रवाससश्चित्रासङ्गाः वृषाकपाविति च ॥ ९ ॥

अनु०—जैसे आभिचारिक इष्टियों में, पशुयज्ञों तथा सोमयज्ञों में ऋत्विज् लाल रंग की पगड़ी और लाल रंग के वस्त्र धारण कर क्रियाओं का सम्पादन करे। वृषाकपि के मन्त्रों का उच्चारण करते समय अनेक रंग वाले वस्त्र तथा बहुरंगी उत्तरीय धारण करे ॥ ९ ॥

टि०—'विहिसोतोरसृक्षत' आदि ऋग्वेद १०-८६ के मन्त्र वृषाकपि द्वारा दृष्ट हैं। चित्रासङ्ग 'आसङ्ग' अर्थात् उत्तरीय। गोविन्द के अनुसार सूत्रस्थ 'च' से अन्य प्रकार की आभिचारिक क्रियाओं का भी ग्रहण होता है।

अभिचरणीयेषु अभिचारसाधनेषु उष्णीषं शिरोवेष्टनं वासः परिधानं चित्रं नानावर्णं आसङ्ग उत्तरीयम्। अभिचरणीया इष्टयः—[1] 'आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेदभिचरन्' इत्याद्याः। पशवः[2] 'ब्राह्मणस्पत्यं तूपरमालभेत' इत्याद्याः। सोमाः श्येनादयः। वृषाकपिः 'विहि सोतोरसृक्षत' इति सूक्तम्। इतिशब्दचशब्दौ 'अभिचरन् दशहोतारं जुहुयात्' इत्येवमादीनामुपसङ्ग्रहणार्थौ ॥ ९ ॥

अग्न्याधाने क्षौमाणि वासांसि तेषामलाभे कार्पासिकान्यौर्णानि वा भवन्ति ॥ १० ॥

अनु०—अग्न्याधान के समय (यजमान और उसकी पत्नी) रेशमी वस्त्र धारण करे, उनके न मिलने पर कपास के या ऊन के वस्त्रों का प्रयोग होता है ॥ १० ॥

पत्नीयजमानयोरेतद्विधानम् ॥ १० ॥

'अहतं वाससां शुचि' (१. १३. ४) इत्युक्तम्। इदानीमुपहतान्यपि वासांस्यभ्य[3]नुजानन् तेषां मूत्रादिसर्गे शौचमाह—

मूत्रपुरीषलोहितरेतःप्रभृत्युपहतानां मृदाऽद्भिरिति प्रक्षालनम् ॥ ११ ॥

---

१. इयमाग्नावैष्णवेष्टिः 'आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेदभिचरन्त्सरस्वत्याज्यभागा स्यात् बार्हस्पत्यश्चरुः' इति विहिता वेदितव्या। सा च द्वितीयद्वितीये नवमानुवाके तैत्तिरीयसंहितायाम्।

२. तूपरः शृङ्गरहितः पशुः।

३. अभ्यनुज्ञातुम् ग. पु.।

अनु०—मूत्र, मल, रक्त, रेतस् आदि अमेध्य द्रव्यों से अशुद्ध हुए वस्त्रों को मिट्टी जल आदि से धोना चाहिए ।। ११ ।।

इतिशब्दः प्रकारवचनो गोशकृदादीन्यपि प्रदर्शयति । पुरीषार्थेषु वासस्स्वेतत् यथासम्भवं द्रष्टव्यम् ।। ११ ।।

वासोवत्तार्प्यवृकलानाम् ।। १२ ।।

अनु०—तृपा नाम के वृक्ष की छाल से तथा वृकल से बने वस्त्रों का (अपवित्र होने पर) मिट्टी जल आदि से प्रक्षालन करे ।। १२ ।।

तृपानाम वृक्षास्सन्ति तेषां त्वचा निर्मितमाच्छादनं तार्प्यमित्युच्यते । वृकलाश्शाकका: (वृक्षविशेषाः) । एतेषामपि मृदाऽद्भिरिति प्रक्षालनम् ।। १२ ।।

वल्कलवत्कृष्णाजिनानाम् ।। १३ ।।

अनु०—काले मृगचर्म की शुद्धि वल्कल वस्त्र के समान होती है ।। १३ ।।

वल्कलशब्देनाऽप्याच्छादनविशेष उच्यते, 'चीरवल्कलधारिणाम्' इत्येवमादिषु दर्शनात् । तद्वत्कृष्णाजिनानामपि यथाशौचं वेदितव्यम् । ननु वल्कानां शौचं नोक्तम्, अतः कथं तद्वदित्यतिदेशः ? उच्यते—इदं 'वल्कलवत्कृष्णाजिनानाम्' इत्युपमिते सति कृष्णाजिनवद्वल्कलानामित्ययमर्थ उपमानोक्त्याऽत्र विधित्सितः । अत एव तद्वदिति वतिप्रत्ययस्य षष्ठ्या सह व्यत्ययः कृष्णाजिनवद्वल्कलानामिति । [1]यथा 'सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति' इत्यत्र द्वितीयातृतीययोः । एवं च वल्कलानामपि बिल्वतण्डुलैरेव शुद्धिः ।। १३ ।।

इदं चाऽन्यत्—

न परिहितमधिरूढमप्रक्षालितं प्रावरणम् ।। १४ ।।

अनु०—उस उत्तरीय को जिसे कटि के नीचे पहना गया हो या जिसके ऊपर सोया या लेटा गया हो, बिना धोए ऊपर न ओढे ।। १४ ।।

भवेदिति शेषः । परिहितं कौपीनप्रदेशे । अधिरूढं तल्पास्तरणार्थे । एतदुभयमप्रक्षालितं प्रावरणमुत्तरीयं न कुर्यात् ।। १४ ।।

---

१. दर्शपूर्णमासयोर्वेद्यां हविरासादनार्थमास्तरितस्य प्रस्तराख्यस्य दर्भमुष्टिविशेषस्य कर्मान्तेऽग्निप्रक्षेपणरूपं प्रहरणं विहितं 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरती'ति । तेन प्राप्ते प्रहरणे 'प्रस्तरेण सह साहित्यं शाखाया विधीयते'—सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति इति । तत्र प्रस्तरेण सह शाखां प्रहरेत् इति वक्तव्ये शाखया सह प्रस्तरं प्रहरतीति यथोक्तं तद्वदित्यर्थः । शाखा वत्सापाकरणोपयुक्ता पलाशशाखा ।

नाऽपल्पूलितं मनुष्यसंयुक्तं देवत्रा युञ्ज्यात् ॥ १५ ॥

अनु०—देवता के कार्य में मनुष्य द्वारा काम में लायी गयी वस्तु को शिला के ऊपर हाथ से पीटे बिना प्रयुक्त न करे ॥ १५ ॥

पल्पूलितं हस्तेन शिलायां ताडितम्। अपल्पूलितमनेवंभूतं वासश्चर्मादि मनुष्यैरुपयुक्तं देवत्रा देवेषु न कुर्यात्। देवतार्थेषु कर्मस्विति यावत्[1]। यथाऽधिषवणचर्मादि। तत्र ह्याहतं चर्म इत्यवचनात् मनुष्यैरुपयुक्तमपि पल्पूलितं चेदुपस्तीर्यमित्येव ॥ १५ ॥

अधुना देशशुद्धिमाह—

घनाया भूमेरुपघात उपलेपनम् ॥ १६ ॥

अनु०—कठोर भूमि के दूषित होने पर उसको (गोबर से) लीपने पर शुद्धि हो जाती है ॥ १६ ॥

महावेदिनिर्माणावस्थायामिति शेषः। तत्र हि 'वेदिकारा वेदिं कल्पयन्ते' इति शौचं नोक्तम्। शिलातलतया घनायाः मूत्राद्युपघाते गोमयेनोपलेपनं शौचम् ॥ १६ ॥

सुषिरायाः कर्षणम् ॥ १७ ॥

अनु०—भुरभुरी मिट्टी वाली भूमि के अशुद्ध होने पर उसको जोतने से शुद्धि होती है ॥ १७ ॥

तस्मिन्नेव विषये सुषिरायाः सच्छिद्राया मृद्व्या उपघाते कर्षणाच्छुद्धिः॥१७॥

क्लिन्नायाः मेध्यमाहृत्य प्रच्छादनम् ॥ १८ ॥

अनु०—अपवित्र गीली मिट्टी की शुद्ध मिट्टी लाकर उससे प्रच्छादन करने पर शुद्धि होती है ॥ १८ ॥

क्लिन्ना आर्द्रा। तस्या उपघाते तृणादिना मृदा च प्रच्छादनं कार्यम्। किमर्थम् ? दग्धुम्। एवं हि कृते[2] सत्यादौ भूसंस्कारो भवति ॥ १८ ॥

चतुर्भिश्शुध्यते भूमिर्गोभिराक्रमणात्खननाद्दहनादभिवर्षणाच्च ॥ १९ ॥

---

१. सोमलतातो रसनिष्कासनमभिषवकर्म। तदर्थं कृष्णाजिने सोमलतां निक्षिप्याऽऽहन्युः चूर्णीभावाय। तच्चर्माऽधिषवणचर्मोच्यते।

२. तस्या दाहसंस्कारो भवति ग. पु.।

अनु०—भूमि चार प्रकार से शुद्ध होती है—गायों के पैर पड़ने, खोदने, आग जलाने तथा वर्षा होने से ॥ १९ ॥

अत्यन्तोपहताया भूमेरेतच्छौचम् । तत्र वेदिविमानकाले सन्निकर्षविप्रकर्षापेक्षयोपघातविशेषापेक्षया चाऽभिवर्षणादीनां व्यस्तसमस्तकल्पना ॥ १९ ॥

अथेदानीमत्यन्तोपहताया आह—

पञ्चमाच्चोपलेपनात् षष्ठात्कालात् ॥ २० ॥

अनु०—पाँचवे, गाय के गोबर से लीपने से तथा छठे, समय बीतने से स्वतः भूमि की शुद्धि होती है ॥ २० ॥

उपलेपनमुक्तम् । सोमसूर्यांशुमारुतैर्या शुद्धिः सा कालात् शुद्धिः ॥ २० ॥

असंस्कृतायां भूमौ न्यस्तानां तृणानां प्रक्षालनम् ॥ २१ ॥

अनु०—(जल आदि को छिड़क कर) शुद्ध न की गयी भूमि पर रखे गये कुशादि तृणों को धोना चाहिए ॥ २१ ॥

[1]प्रोक्षणादिसंस्कारविहीनायां भूमौ न्यस्तानामत्यन्ताल्पानां तृणानां बर्हिरादीनां प्रक्षालनं कार्यम् ॥ २१ ॥

परोक्षोपहतानामभ्युक्षणम् ॥ २२ ॥

अनु०—परोक्ष में अशुद्ध हुए कुशादि तृणों पर जल छिड़कना चाहिए ॥ २२ ॥

तृणानामेव यज्ञार्थं समुपहतानामेतत्[2] ॥ २२ ॥

एवं क्षुद्रसमिधाम् ॥ २३ ॥

अनु०—इसी प्रकार इन्धन के छोटे-छोटे टुकड़ों को भी इसी विधि से शुद्ध करना चाहिए ॥ २३ ॥

क्षुद्रसमिधोऽङ्गुलिपरिमिताः अनिध्मा इति यावत् ॥ २३ ॥

महतां काष्ठानामुपघाते प्रक्षाल्याऽवशोषणम् ॥ २४ ॥

अनु०—लकड़ी के बड़े टुकड़ों के दूषित होने पर उन्हें धोकर सुखाने से शुद्धि होती है ॥ २४ ॥

टि०—गोविन्द स्वामी के अनुसार यज्ञोपयोगी लकड़ी के विषय में ही यह नियम है ।

---

१. उपलेपादीनामन्यतमेनासंस्कृतायाम् ग. पु. । २. शुद्रोपहतानामिति ग. पु. ।

याज्ञिकानामेव काष्ठानां 'अथाऽग्न्यागारधातीध्मं प्रणयनीम्, औदुम्बरान् महापरिधीन्' इत्येवमादावुपयोक्तव्यानां पादादिभिरुपहतानामेतत् ॥ २४ ॥

बहूनां तु प्रोक्षणम् ॥ २५ ॥

अनु०—किन्तु लकड़ी के टुकड़ों की ढेरी पर जल छिड़क देने से ही शुद्धि होती है ॥ २५ ॥

टि०—'तेषामेव मूत्राद्युपघाते त्याग एव' मूत्रादि से दूषित होने पर उनका भी त्याग कर देना चाहिए।

इध्मादिव्यतिरिक्तानां पूर्वस्मिन् विषये प्रोक्षणं तद्गतबहुत्वे। तेषामेव मूत्राद्युपघाते त्याग एव ॥ २५ ॥

दारुमयानां पात्राणामुच्छिष्टसमन्वारब्धानामवलेखनम् ॥ २६ ॥

अनु०—काष्ठ के पात्रों के अपवित्र व्यक्तियों द्वारा छू लिये जाने पर उनको घिसने-रगड़ने से ही शुद्धि होती है ॥ २६ ॥

जुह्वादीनामुच्छिष्टपुरुषस्पृष्टानां दार्वादीनामवलेखनं घर्षणम्। अशुचिभिः समन्वारम्भः स्पर्शः। 'चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च' इति मानवमपूर्वं वेदितव्यम्॥२६॥

उच्छिष्टलेपोपहतानामवतक्षणम् ॥ २७ ॥

अनु०—यदि काष्ठपात्र उच्छिष्ट से दूषित हो गये हों तो उसे बसुला आदि से खुरचने या गढ़ने पर शुद्धि होती है ॥ २७ ॥

तेषामेवाऽस्मिन्निमित्ते अवतक्षण वाश्यादिनाऽयस्मयेनाऽनुकर्षणं तस्मिन् कृतेऽपि तत्पात्रं यदि स्वकार्यक्षम भवति। अक्षमस्य तु श्रौतेनोपायेन त्याग एव ॥ २७ ॥

मूत्रपुरीषलोहितरेतःप्रभृत्युपहतानामुत्सर्गः ॥ २८ ॥

अनु०—मूत्र, मल, रक्त, रेतस् आदि अमेध्य वस्तुओं से अपवित्र हुए (काष्ठ-पात्रों) का त्याग कर देना चाहिए ॥ २८ ॥

टिप्पणी—गोविन्द के अनुसार इन अमेध्य वस्तुओं से दूषित कुश, इंधन आदि का भी त्याग कर देना चाहिए।

इध्माबर्हिरादीनामप्ययं विधिर्द्रष्टव्यः। प्रभृतिशब्देनाऽत्र निर्दिष्टानां द्वादशमलानां ग्रहणं कृतम ॥२८॥

'दारुमयानाम्' इत्यादिसूत्रद्वयस्याऽपवादमुपक्रमते—

तदेतदन्यत्र निर्देशात् ॥ २९ ॥

अनु०—जहाँ कोई विशिष्ट नियम निर्दिष्ट न हो वहाँ इन नियमों का पालन करना चाहिए ॥ २९ ॥

तत्तदवलेखनादिविधाननिर्देशात् अन्यत्राऽऽहृत्य विधानादृते न भवतीत्यर्थः। न्यायसिद्धेऽर्थे सूत्रारम्भः किमर्थं इति चेत्—समुच्चयशङ्कानिवृत्त्यर्थं इति ब्रूमः। कथं पुनर्विशेषविहिते सामान्यविहितस्याऽवलेखनादेः समुच्चयशङ्का? शौचभूयस्त्वस्याऽपेक्षितत्वात्। तद्वा कथमिति चेत्? 'शुचिमध्वरं देवा जुषन्ते' (१३.१.) इति सूत्रद्वयस्थश्रुतदर्शनस्य प्रयोजकत्वादिति ॥ २९ ॥

निर्देशमिदानीमाह—

[1]अथैतदग्निहोत्रे घर्मोच्छिष्टे च दधिघर्मे च कुण्डपायिनामयने चोत्सर्गिणामयने च दाक्षायणयज्ञे चैडादधे च चतुश्चक्रे च ब्रह्मौदनेषु च तेषु सर्वेषु दर्भैरद्भिः प्रक्षालनम् ॥ ३० ॥

---

१. अग्निहोत्रे प्रधानाहुत्यनन्तरं "अथोदङ् पर्यावृत्य प्राचीनदण्डया स्रुचा भक्षयति" (बौ. श्रौ. ३६.) इत्यग्निहोत्रहवण्यैव शेषभक्षणं विहितम्। तत्राऽग्निहोत्रहवण्या उच्छिष्टसंस्पर्शेऽपि अद्भिः प्रक्षालनादेव तस्याश्शुद्धिः। नान्यत् शुद्ध्यर्थमपेक्ष्यत इत्यर्थः। परन्तु इदमग्निहोत्रहवण्या उच्छिष्टकरण, 'अग्निहोत्रहवण्याश्च लेहो लीढापरिग्रहः' इति कलिवर्ज्यप्रकरणे उक्तत्वात् कलौ निषिद्धम् ॥

प्रवर्ग्ये "यावन्तः प्रवर्ग्यर्त्विजस्तेषूपहवमिष्ट्वा यजमान एव प्रत्यक्षं भक्षयति" (बौ श्रौ. ९ ११.) इति विहितं घर्मभक्षणम्। तथैव प्रवर्ग्यवति सोमे "दधिघर्मं भक्षयन्ति" (बौ. ध. १७) इति विहितो दधिघर्मभक्षः ॥

कुण्डपायिनामयनाख्यः संवत्सरसाध्यः यज्ञविशेषः। तत्रर्त्विजामेकस्मिन्नेव चमसे सोमभक्षणं विहितम्। एवमुत्सर्गिणामयनमपि सत्रविशेष एव। तत्र "अग्नैन्द्रं सान्नाय्यं समुपहूय भक्षयन्ति" इति सान्नाय्यभक्षणं पात्रेणैव विहितम्। (बौ. श्रौ. १६–२१,२२)।

दाक्षायणयज्ञो नाम दर्शपूर्णमासविकृतिविशेषः। तत्राऽपि "अग्नैन्द्रं सान्नाय्यं समुपहूय भक्षयन्ति" (बौ. श्रौ १७.५१.) इति विहितम्।

एवं ऐडादधचतुश्चक्रावपीष्टिविशेषावेव दर्शपूर्णमासविकृतिभूतौ। इमावपि बोधायनाचार्यैस्सप्तदशप्रश्ने (१७–५२. ५३.) विहितौ, तत्रापि पूर्ववत् भक्षणं "ऐन्द्रं सान्नाय्यं समुपहूय भक्षयन्ति" इति विहितम्। अत्र सर्वत्राऽपि पात्रस्योच्छिष्टसंस्पर्शेऽपि अद्भिः प्रक्षालनादेव शुद्धिरित्यर्थः। दाक्षायणैडादधचतुश्चक्रशब्दाः कर्मनामधेयानि। जैमिनिस्त्वाचार्यः दाक्षायणशब्देन दर्शयोगे आवृत्तिरूपगुणविधिमेव मनुते। कात्यायनोऽप्येवम्। आपस्तम्बबोधायनौ तु दर्शपूर्णमासतः कर्मान्तरमेवेच्छतः। अतश्च दाक्षायणेन दृष्टत्वात् दाक्षायणयज्ञः इति। एवमिडादधस्याऽप्यैडादधः। चतुश्चक्रशब्दव्युत्पत्तिस्त्वाचार्येणैव "स एव चतुश्चक्रो भ्रातृव्यघ्नो यज्ञः" इत्या-

अनु०—उदाहरण के लिए निम्नलिखित अवसरों पर कुश और जल से धोने ी शुद्धि बतायी गयी है। अग्निहोत्र में घर्मोच्छिष्ट, दधिघर्म, कुण्डपायिनायन, ।र्गिणामयन, दाक्षायणयज्ञ, ऐडादध, चतुश्चक्र, ब्रह्मौदन ॥ ३० ॥

टि०—अग्निहोत्र में आहुति के बाद हवणी से ही शेष हवि का भक्षण किया ा है। सोमयज्ञ में दधिघर्म का भक्षण होता है। कुण्डपायिनामयन नामका वर्ष का विशेष सत्र होता है उसमें ऋत्विज चमस से ही भक्षण करते हैं। उत्सर्गि-यन भी एक विशेष सत्र है इसमें पात्र से ही सान्नाय्य अन्न का भक्षण होता है। ायणयज्ञ दर्शपूर्णमास का ही एक रूप है। उसमें भी सान्नाय्य अन्न का भक्षण ा है। ऐडादध चतुश्चक्र विशेष प्रकार की इष्टियाँ तथा दर्शपूर्णमास के ही रूप इनमें भी सान्नाय्य का भक्षण होता है। इस प्रकार के भक्षण के बाद चमस या पात्र की शुद्धि कुश और जल द्वारा प्रक्षालन करने से हो जाती है। बौधायन त सूत्र, तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र में ये विशिष्ट यज्ञ तथा इष्टियाँ वर्णित है।

शौचमित्यनुवर्तते। चतुश्चक्रो नाम 'इष्टकोणमध्ये वसन्ते यजन्ते। ेडादधः। अन्यत् प्रसिद्धम्। यथैतदिति निपातावुदाहरणसूचनार्थौ। कर्मस्वग्निहोत्रहवण्यादीनामुच्छिष्टसमन्वारब्धे लेपोपघाते च दर्भैरद्भिः ालनमेव शौचं नावलेखनादि। ब्रह्मौदनेष्विति बहुवचनमाश्वमेधिका-ुपसङ्ग्रहणार्थम। तत्र यद्यपि ब्रह्मौदनभोजनपात्रस्य सकृद्भोजने कृते : कर्तौ नोपयोगः। तथाऽपि दर्भैरद्भिः प्रक्षालनं शौचम्, नेतरत्, अद्भिः ालनमेवेत्यभिप्रायः ॥ ३० ॥

किञ्च—

सर्वेष्वेव सोमभक्षेष्वद्भिरेव मार्जालीये प्रक्षालनम् ॥ ३१ ॥

अनु०—सभी सोमयज्ञों मे चमस आदि का मार्जालीय पर जल से ही प्रक्षालन ना चाहिए ॥ ३१ ॥

ग्रहचमसरोमभक्षेषु 'मार्जालीयेऽद्भिः प्रक्षालनं न दर्भैरिति ॥ ३१ ॥ ामेव—

मूत्रपुरीषलोहितरेतःप्रभृत्युत्सर्गः ॥ ३२ ॥

इति बौधायनधर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने त्रयोदशः खण्डः ॥ १३ ॥

ा दर्शिता तत एवोऽवगन्तव्या। अस्यैव च वसिष्ठयज्ञः, केशियज्ञः, सार्वसेनियज्ञः ापि संज्ञान्तराणि ॥ (बौ. श्रौ. १७.५४.)

१. मार्जालीयो नाम सौमिकवेदेर्दक्षिणभागेऽवस्थितः स्थानविशेषः ॥

अनु०--मूत्र, मल, रक्त, रेतस् आदि से दूषित होने पर इन चमसों या यज्ञ पात्रों का त्याग कर देना चाहिए ॥ ३२ ॥

उपहतानामित्यध्याहारः। प्रभृतीत्यनेन श्लेष्मादिसङ्ग्रहः। ननु ग्रहचमसानामप्येवंभूताना जुह्वादिवदुत्सर्गे प्राप्ते किमर्थं प्रयत्नः? उच्यते—'यथाहि-सोमसंयोगाच्चमसो मध्ये उच्यते' इति दृष्टान्तबलात्। ग्रहचमसानां मूत्रादि-संसर्गेऽपि सोमसंयोग एव शुद्धिकारणमित्याशङ्कानिराकरणार्थो यत्नः ॥ ३२ ॥

प्रथमप्रश्ने चतुर्दशः खण्डः

मृन्मयानां पात्राणाम् ॥

मृन्मयानां पात्राणामुच्छिष्टसमन्वारब्धानामवकूलनम् ॥ १ ॥

अनु०—अपवित्र व्यक्तियों के स्पर्श से अशुद्ध हुए, मिट्टी के पात्रों को कुश की अग्नि मे दिखाना चाहिए ॥ १ ॥

आज्यस्थाल्यादीनामुच्छिष्टसमन्वारब्धानां अवकूलनं कुशाग्निना स्पर्शः ॥ १ ॥

उच्छिष्टलेपोपहतानां पुनर्दहनम् ॥ २ ॥

मूत्रपुरीषलोहितरेतःप्रभृत्युपहतानामुत्सर्गः ॥ ३ ॥

अनु०—उच्छिष्ट के लेप से युक्त पात्रो को पुनः जलाना चाहिए ॥ २ ॥

अनु०—मूत्र, पुरीष, रक्त, रेतस् आदि से दूषित हुए मिट्टी के पात्रों को फेक दे ॥ ३ ॥

अतिरोहितमेव ॥ २-३ ॥

तैजसानां पात्राणां पूर्ववत्परिमृष्टानां प्रक्षालनम् ॥ ४ ॥

परिमार्जनद्रव्याणि गोशकृन्मृद्भस्मेति ॥ ५ ॥

अनु०—धातु के बने पात्रो के अपवित्र व्यक्तियों द्वारा छुए जाने पर रगड़ कर धो वें ॥ ४ ॥

अनु०—उसको रगडने मे प्रयुक्त की जाने वाली वस्तुएँ है : गाय का गोबर, मिट्टी और भस्म आदि ॥ ५ ॥

तैजसानां हिरण्मयादीनां उच्छिष्टसमन्वारब्धानां गोशकृन्मृद्भस्मभिः परिमृज्य प्रक्षालनम् ॥ ४-५ ॥

मूत्रपुरीषलोहितरेतःप्रभृत्युपहतानां पुनः करणम् ॥ ६ ॥

अनु०—मूत्र, मल, रक्त, रेतस आदि से दूषित हुए धातु के वर्तनों का फिर से ढालने या बनाने पर उनकी शुद्धि होती है ।। ५ ।।

रुक्महिरण्मयादीनां मूत्राद्युपहतानामेतत् ।। ६ ।।

गोमूत्रे वा सप्तरात्रं परिशायनम् ।। ७ ।।

अनु०—अथवा उसे सात दिन-रात गाय के मूत्र में डुबो देना चाहिए ।। ७ ।।

अगूढार्थमिदम् ।। ७ ।।

अस्मिन्नेव विषये—

महानद्यां वैवम् ।। ८ ।।

अनु०—अथवा एक बड़ी नदी में इसी प्रकार सात दिन-रात तक डाल देना चाहिए ।। ८ ।।

सप्तरात्रं परिशायनमित्येव । याः स्वनाम्नैव समुद्रं गच्छन्ति ता महानद्यः । [1]एते विकल्पाः सन्निकर्षविप्रकर्षापेक्षया व्यवस्थाप्याः ।। ८ ।।

एवमश्ममयानाम् ।। ९ ।।

अनु०—इसी प्रकार पत्थर के पात्रों को (जल में डालना चाहिए) ।। ९ ।।

टि०—ब्यूहलेर ने इस सूत्र को अगले सूत्र के साथ ग्रहण कर गोबाल से घर्षण से ही शुद्धि बता दिया है । इसे अलग पढ़ने पर पूर्ववर्ती सूत्र का नियम ही अनुवर्तित होगा ।

दृषदादिष्वश्ममयेषु परिशायनं द्वितीयम् । एवमिति निर्देशेन पुनः करणमपि । यद्वा—मृन्मयशौचस्यैतदनुकर्षणम् ।। ९ ।।

अधुना यज्ञभाजनानां फलादीनां शुद्धिः—

अलाबुबिल्वविनालानां गोवालैः परिमार्जनम् ।। १० ।।

अनु०—लौकी, बिल्व, बाँस के विनाल नामक पात्रों के दूषित होने पर उनको गाय के केशों के गुच्छे से रगड़ना चाहिए ।। १० ।।

अलाबुः स्रुचां भाजनम् । बिल्वं यवमतीषु प्रोक्षणीषु यूपावटादिषु चोपयोक्तव्यानां यवानाम् । विनालं वेणुविदलमयादिकं दीर्घभाजनमुच्यते । तच्च प्रणीताप्रणयनादीनाम् । उच्छिष्टसमन्वारब्धानां चैतत् ।। १० ।।

नलवेणुशरकुशव्यूतानां गोमयेनाऽद्भिरिति प्रक्षालनम् ।। ११ ।।

---

१. एतत्स्थाने, कालः कलशादीनामुपयोगः कालसन्निकर्षविप्रकर्षापेक्षया व्यवस्थाप्या इति पाठो. ग: पु.

अनु०—नरकुल, बाँस, शर और कुश से बुनकर बनाये गये उपकरणों को गाय के गोबर, जल आदि से धोना चाहिए ॥ ११ ॥

टि०—गोविन्द के अनुसार इन उपकरणों के उच्छिष्ट से दूषित होने पर ही प्रक्षालन नियम है। 'इति' शब्द से गोमूत्र का भी ग्रहण उन्हों ने माना है।

इदं पुनरुच्छिष्टलेपोपहतानाम्। नलशब्दो वेत्रे भाष्यते। शेषाः प्रसिद्धाः। एतैः व्यूता ओतप्रोतभावेन सम्यं तता इतिशब्दस्तु गोमूत्रोपलक्षणार्थः ॥ ११ ॥

अथ प्रदेयद्रव्येषु—

व्रीहीणामुपघाते प्रक्षाल्याऽवशोषणम् ॥ १२ ॥

अनु०—बिना कूटे हुए धान के दूषित हो जाने पर उसे धोकर सुखाना चाहिए ॥ १२ ॥

टि०—गोविन्द के अनुसार यह नियम चण्डाल आदि के स्पर्श से एक द्रोण से अल्प धान के दूषित होने पर समझना चाहिए। धान की मात्रा अधिक होने पर केवल जल छिड़क देना पर्याप्त होता है।

सतुषोपलक्षणमेतत्। उपघातश्चण्डालादिस्पर्शः द्रोणादल्पतरस्येदमुक्तम्। बहूनां तु प्रोक्षणं तथाविधानामेव ॥ १२ ॥

तण्डुलानामुत्सर्गः ॥ १३ ॥

अनु०—(मूत्रादि से दूषित) चावल को फेंक देना चाहिए ॥ १३ ॥

टि०—अधिक मात्रा हो तो जितना दूषित हुआ हो उतना निकाल कर फेंकने नियम समझना चाहिए।

मूत्राद्युपहतानामल्पानामिति शेषः। बहूनां तावन्मात्रस्त्याग इति (१. १४ १५) वक्ष्यति ॥ १३ ॥

एवं सिद्धहविषाम् ॥ १४ ॥

अनु०—इसी प्रकार तैयार हवि के दूषित होने पर भी उसका त्याग कर देना चाहिए ॥ १४ ॥

एवं चरुपुरोडाशादीनामुपघाते त्याग एवाऽर्थः। स एव च हविर्दोषो भवति ॥ १४ ॥

महता श्वायसप्रभृत्युपहतानां त देशं पुरुषान्नमुद्धृत्य "पवमा

---

१. "पवमानस्सुवर्जनः पवित्रेण विचर्षणिः" इत्यादिः "जातवेदा मोर्जयन्त्या पुनातु" इत्यन्तोऽनुवाकः तैत्तिरीयब्राह्मणे प्रथमाष्टके चतुर्थप्रपाठकेऽष्टमो द्रष्टव्यः।

नस्सुवर्जन" इत्येतेनाऽनुवाकेनाऽभ्युक्षणम् ॥ १५ ॥

अनु०—अधिक मात्रा न कुत्ता, कौआ आदि द्वारा दूषित होने पर उस स्थान से पुरुष के लिये अन्न निकाल कर फेंक दे और शेष पर 'पवमानस्सुवर्जन' (तैत्तिरीय ब्रा० १, ४,८), आद अनुवाक का उच्चारेण करते हुए जल छड़के ॥ १५ ॥

टि०—'पवमानस्सुवर्जनः पवित्रेण विचर्षणिः' से 'जातवेदा मोर्जयन्त्या पुनातु' अनुवाक है।

अवशिष्टानामिति शेषः। प्रभृतिशब्दः पतितादिसंग्रहार्थः ॥ १५ ॥

मधूदके पयोविकारे पात्रात् पात्रान्तरानयने शौचम् ॥ १६ ॥

अनु०—(दधि, मधु, घृत, जल, धाना या लावा) से निर्मित मधूदक, दूध के बने आमिक्षा आदि अशुद्ध व्यक्ति द्वारा छुए जाने पर एक पात्र से दूसरे पात्र मे रख देने पर शुद्ध हो जाते हैं ॥ १६ ॥

[1]"दधि मधु घृतमापो धानाः' इत्यत्र मधूदके। पयोविकारः आमिक्षा। एतेषां पुरुषदोषमात्रदुष्टानाम्। तच्चोच्छिष्टस्पर्शमात्रम्। अत्र तु विकारग्रहणात् पयसश्शौचान्तरं कल्प्यम् ॥ १६ ॥

तैलमपि प्रतिनिधित्वेन यज्ञेषु प्राप्तम्। यद्वा—

एवं तैलसर्पिषी उच्छिष्टसमन्वारब्धे उदकेऽवधायोपयोजयेत् ॥ १७ ॥

अनु०—इसी प्रकार अशुद्ध व्यक्ति द्वारा छुए गये तेल और घृत को जल मे रख कर तब काम में लाना चाहिये ॥ १७ ॥

'तैलं दधि पयस्सोमो यवागूरोदनं घृतम्।
तण्डुला मांसमापश्च दशद्रव्याण्यकामतः॥

इत्यभियुक्तापरिगणितमुख्य एवेति।

पात्रान्तरानयनमिति निर्दिश्यते। उदकेऽवधानं विशेषः। स च तैलसर्पिषोर्यथाऽऽत्मविनाशो भवति तथा कार्यः ॥ १७ ॥

अथाऽग्नीनां शौचमाह—

अमेध्याभ्याधाने समारोप्याऽग्निं मथित्वा पवमानेष्टिं कुर्यात् ॥१८॥

अनु०—अग्नि में मूत्र, पुरीष आदि अमेध्य के पड़ जाने से अरणियों से अग्नि मन्थन कर अग्नि उत्पन्न करे और पवमान इष्टि करे ॥ १८ ॥

---

१. चित्रेष्टिद्रव्यमिदम्।

अमेध्य मूत्रपुरीषादि तस्याऽग्निषु प्रक्षेपोऽभ्याधानम्। तस्मिन् सति अरण्योस्समारोप्य मथित्वाऽग्नीन् विहृत्य पवमानेष्टौ कृतायां तावद्दोषः परिहृतो भवति। एकाग्नौ चैतद्द्रष्टव्यम्। तत्र च पुरोडाशस्थाने चरुर्भवेत्॥ १८॥

अथ यज्ञाङ्गानां प्राबल्यदौर्बल्यविवेकायाऽऽह—

शौचदेशमन्त्रावृदर्थद्रव्यसंस्कारकालभेदेषु पूर्वपूर्वप्राधान्यं पूर्वपूर्वप्राधान्यम्॥ १९॥

अनु०—शुद्धता, स्थान, मन्त्र, क्रिया का क्रम, वस्तु, द्रव्य, उसका संस्कार और काल— इनमे भेद होने पर पूर्व पूर्व वाला प्रधान माना जाता है॥ १९॥

इति बौधायनधर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने चतुर्दशः खण्डः॥ १४॥

एतेषु भेदेषु विरोधेषु पूर्वस्य पूर्वस्य प्राबल्यं परस्य दौर्बल्यं चार्थविप्रकर्षाद्वेदितव्यम्। यथाऽग्निष्टोमे प्रागुदक्प्रवणो देशो मूत्रोपहतो लभ्यते अनेवंभूतश्च गोभिराक्रान्तोऽग्निदग्धश्च विद्यते, तयोरन्यतरस्मिन्नेव प्राचीनवंशादौ कर्तव्ये दक्षिणाप्रत्यक्प्रवणोऽपि गोभिराक्रान्तोऽग्निदग्धश्च कर्तव्यः। कस्मात्? शौचप्राधान्यात्। तद्धि पूर्वेण सन्निकृष्टतरम्, अदुष्टत्वात्। प्रागुदक्प्रवणं पुनर्दुष्टत्वात् विप्रकृष्टम। दिङ्मात्रमेतदुदाहरणे प्रदर्शितम्। एवं 'देशयोर्मन्त्रावृतोः'[1] इत्यादि द्वन्द्वशो द्रष्टव्यम्। आवृत् प्रयोग[1]प्राशुभावः॥ ५०॥

इति बौधायनधर्मसूत्रविवरणे गोविन्दस्वामिकृते

प्रथमप्रश्ने षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

सप्तमोऽध्यायः

पुनरपि क्रत्वर्थमेव किञ्चिदुच्यते—

[2]उत्तरत उपचारो विहारः॥ १॥

अनु०—जिस स्थान पर यज्ञ की अग्नि हो उस स्थान पर उत्तर की ओर से जाना चाहिए॥ १॥

उपचारस्सञ्चारः ऋत्विग्यजमानानाम्। विहृता अग्नयो यस्मिन् देशे स विहारः, यस्य विहारस्योत्तरत उपचारो भवति स तथोक्तः। ऋत्विग्यजमाना उत्तरतोऽग्नीनां सञ्चरेयुरिति यावत्॥ १॥

---

१. प्राशुभावः शैघ्र्यम्।

२. cf. आपस्तम्बयज्ञपरिभाषासूत्र खं. सू. १०.

तथाऽपवर्गः ॥ २ ॥

अनु०—इसी प्रकार उत्तर की ओर वहाँ से नकलें ॥ २ ॥

अयमपि बहुव्रीहिरेव। उत्तरतो निर्गम इत्यर्थः ॥ २ ॥

तदपवदति—

विपरीतं पित्र्येषु ॥ ३ ॥

अनु०—पित्र्य कर्मों में इसके विपरीत (दक्षिण से जाने और निकलने का) नियम होता है ॥ ३ ॥

कर्मस्विधि शेषः। उपचारापवर्गौ दक्षिणतः कुर्यादित्युक्तं भवति ॥ ३ ॥

पादोपहतं प्रक्षालयेत् ॥ ४ ॥

अनु०—पैरो के स्पर्श से दूषित पात्रादि को धोवे ॥ ४ ॥

पात्रादि ॥ ४ ॥

अङ्गमुपस्पृश्य सिचं वाऽप उपस्पृशेत् ॥ ५ ॥

अनु०—शरीर के अङ्ग का अथवा वस्त्र के छोर का स्पर्श करने पर जल का स्पर्श करे ॥ ५ ॥

अङ्गं शरीरम्, सिक् परिहितं वासः अत्रोपस्पर्शः स्पर्शमात्रमेव नाऽऽचमनादि ॥ ५ ॥

एवं छेदनभेदनखनननिरसनपित्र्यराक्षसनैर्ऋतरौद्राभिचरणीयेषु ॥ ६ ॥

अनु०—इसी प्रकार यज्ञ में किसी वस्तु को काटने, तोड़ने, खोदने या हटाने के बाद, पितरों, राक्षसों, निर्ऋति, रुद्र को आहुति देने तथा आभिचारिक क्रिया करने के बाद जल का स्पर्श करे ॥ ६ ॥

एतेष्वपि कृतेषु अपामुपस्पर्शनमिति। छेदनं[1] "आच्छिनत्याच्छेत्ता ते मारिषमिति" इत्यादि। भेदनम्[2] 'तस्मिन् स्फ्येन प्रहरति इत्यादिष्वदृष्टसंस्का-

---

१. दर्शपूर्णमासयागयोस्तदुपयोगिबर्हिषां मध्ये प्रथमलवनीयस्य प्रस्तराख्यस्य मुष्टिविशेषस्य छेदनमनेन विधीयते। तत्र 'आच्छेत्ता ते मा रिषम्' इति मन्त्रः। 'आच्छिनत्ति' इति विधिः।

२. दर्शपूर्णमासयोरेव वेदिनिर्माणव्यापारान्तर्गतोऽयं कश्चन व्यापारः। यत्र स्थाने वेदिर्निर्मातुमिष्यते ततः पश्चिमदेशे प्राङ्मुखस्तिष्ठन् अध्वर्युः स्फ्यं (अरत्निमात्रः

रेषु खननं [1]"तं स खनति वा खानयति वा" इत्यादि। निरसनं [2]"तृणं वा निरस्यति" इत्यादि। तत्र पुनर्वचनम्[3]निरूपित दशहोत्रा (?) यौगपद्यनिवृत्त्यर्थम्। पित्र्यं[4] 'स्वधा पितृभ्य ऊर्भव' इत्यादि। राक्षस [5]'रक्षसां भागोऽसि' इत्यादि। नैर्ऋतं[6] 'नैर्ऋतेन पूर्वेण प्रचरति' इत्यादि। रौद्रं [7]मन्थिसंस्रावहोमानि। अभिचरणीयानि[8] 'यं यजमानो द्वेष्टि' इत्येवं चोदितानि ॥ ६ ॥

खड्गाकारः खादिरवृक्षनिर्मितस्साधनविशेषः स्फय इत्युच्यते) हस्तेनाऽऽदाय वेदिस्थाने उदीचीनाग्रं कुशं निधाय तदुपरि स्फयेन प्रहरणमनेन वाक्येन विधीयते। तदत्र भेदनपदेनाऽभिप्रेतमन्यच्चैतादृशम्। (बौ. ध. १.११)

१. अग्नीषोमीयादिषु पशुयागेषु पशुबन्धनार्थमपेक्षितस्य यूपस्य निखननं कर्तव्यम्। तदर्थमभिकाङ्क्षितस्य गर्तस्य खननमनेन विधीयते। तमवटमध्वर्युः स्वयं वा खनेदाग्नीध्रेणर्त्विजा वा खानयेत् इति सूत्रार्थः ॥ (बौ.श्रौ. ४.२.)

२. दर्शपूर्णमासयोः पुरोडाशार्थं शकटे आहृतानां व्रीहीणां यवानां वाऽऽवरणमपादाय तत्रस्थस्य तृणादेर्धान्यशूकस्य वाऽपादानमनेन विधीयते। किंशारु धान्यशूकम्। (बौ.श्रौ. १.४.) ३. अपिरोपित इति पाठो ग. पु

४. दर्शपूर्णमासयोरेव वेदेरिध्माबर्हिषा च प्रोक्षणं विधाय प्रोक्षणशिष्टानामपां वेद्यामेव निनयनं विधीयते—"अतिशिष्टाः प्रोक्षणीर्निनयति दक्षिणायै श्रोणेरोत्तरोत्तरायै श्रोणेः स्वधा पितृभ्य ऊर्भव बर्हिषद्भ्य ऊर्जा पृथिवीं गच्छतेति"। निनयनमिदं पित्र्यम् ॥ (बौ. श्रौ. १.१२.)

५. दर्शपूर्णमासयोरेव पुरोडाशार्थमवहतानां व्रीहीणां तुषान् तण्डुलेभ्यः पृथक्कृत्य तान् निरस्यति। तदेतत् विहितम्—इमां दिशं निरस्यति रक्षसां भागोऽसीति। तदिदं राक्षसम्। (बौ. श्रौ. १.६.) ६. निर्ऋतियागो राजसूयादौ प्रसिद्धः।

७. सोमयागे मन्थिग्रहो नाम कश्चन ग्रहः। तस्य प्रधानहोमानन्तरं आहवनीयस्योत्तरार्धे एकदेशस्रावणरूपो होमो विहितः—अथ प्रतिप्रस्थातोत्तरार्धे आहवनीयस्य मन्थिनस्संस्रावं जुहोत्येष ते रुद्र भागो यं निरयाचथास्तं जुषस्व विदेर्गौपत्यँ रायस्पोषँ सुवीर्यँ संवत्सरीणां स्वस्तिँ स्वाहेति"स रुद्रदेवताकत्वाद्रौद्रः। (बौ. ७.१४)

८. सोमयागे सोमाधारभूत (हविर्धान) शकटस्थापनार्थं दक्षिणहविर्धानमण्टपमध्ये चत्वारो गर्ताः क्रियन्ते। तत उद्धृतान् पांसून जनसञ्चाररहिते देशे क्षिपेत्। तत्काले यो यजमानस्य द्विषन् तं मनसा ध्यायेदिति विहितम्—"अत्रैतान् पांसूनञ्चरे परावपत्यथ यं यजमानो द्वेष्टि तं मनसा ध्यायति" इति ॥ (बौ. श्रौ. ६. २८.) तदेतदभिचरणीयम्।

[1]न मन्त्रवता यज्ञाङ्गेनाऽऽत्मानमभिपरिहरेत् ॥ ७ ॥

अनु०—यज्ञ के किसी ऐसे उपकरण को, जिसका प्रयोग मन्त्रोच्चारण के साथ किया जाता हो, अपने को बीच में कर अग्नि से दूर न करे ॥ ७ ॥

टि०—उपर्युक्त अर्थ गोविन्द स्वामी की व्याख्या के आधार पर है। ब्यूह्लेर ने 'अपने चारो ओर न घुमाए' ऐसा अर्थ किया है। किन्तु अगले सूत्र को देखने पर गोविन्द स्वामी का अर्थ संगत प्रतीत होता है।

मन्त्रवद्यज्ञाङ्गं स्रुक्स्रुवादि। तेनाऽऽत्मानं नाऽभिपरिहरेत् आत्मनो बहिर्न कुर्यादग्नेः पात्रस्य चान्तरतस्स्वयं न भवेदिति यावत् ॥ ७ ॥

तत्र कारणमाह—

अभ्यन्तराणि यज्ञाङ्गानि ॥ ८ ॥

अनु०—यज्ञ के उपकरण (यज्ञ से ऋत्विक की अपेक्षा) अधिक निकट रूप से संबद्ध होते हैं ॥ ८ ॥

ऋत्विगपेक्षयेति शेषः ॥ ८ ॥

बाह्या ऋत्विजः ॥ ९ ॥

अनु०—और ऋत्विज् (यज्ञ के उपकरणों की अपेक्षा अधिक) दूरवर्ती होते हैं ॥ ९ ॥

प्रयोगाङ्गत्वात् यज्ञाङ्गापेक्षयेति शेषः ॥ ९ ॥

पत्नीयजमानावृत्विग्भ्योऽन्तरतमौ ॥ १० ॥

अनु०—यजमान और उसकी पत्नी (यज्ञ से) ऋत्विक् की अपेक्षा अधिक निकटतया संबद्ध होते हैं ॥ १० ॥

फलप्रतिग्रहीतृत्वादनयोः । उदाहरणानि[2] वैसर्जनानि दाक्षिणानि च ॥ १० ॥

अथेदानीममनुष्येषु बाह्याभ्यन्तरमाह—

यज्ञाङ्गेभ्य आज्यमाज्याद्धवींषि हविर्भ्यः पशुः पशोस्सोमस्सोमादग्नयः ॥ ११ ॥

---

१. Compare these three Sutras with आपस्तम्बयज्ञपरिभाषासूत्र (आप. श्रौ. २४.२.१३.१४.)

२ "गार्हपत्य आज्यं विलाप्योत्पूय स्रुचि चतुर्गृहीतं गृहीत्वा शालामुखीये वैसर्जनानि जुहोति" इति विहितो होमो वैसर्जनहोमः।

अनु०—यज्ञ के उपकरणों के बाद आज्य, आज्य के बाद हवि, हवि के बाद पशु, पशु के बाद सोम और सोम के बाद यज्ञाग्नियाँ आती हैं ॥ ११ ॥

उत्तरवेद्यादिषु देशसङ्कटे उपस्थिते अग्नेरनन्तरं सोमस्साद्यते। तदनन्तरं मांसादि। तदनन्तरं धानाः पुरोडाशाः। तेभ्यश्चाऽऽज्यमनन्तरं स्रुवश्च स्रुक्च। ततो जुहूरिति। एवं तावत् चैत्रतुरसन्निपाते च योज्यम् ॥ ११ ॥

यथा कर्मर्त्विजो न विहारादभिपर्यावर्तेरन् ॥ १२ ॥

अनु०—जब तक करने योग्य कर्म हो तब तक ऋत्विज यज्ञाग्नि के स्थान से अलग मुँह नहीं फेरेंगे ॥ १२ ॥

आवश्यकादृते विहारादन्यावृत्तिश्च, तत्र चैतत् कर्मेत्यनेन कथ्यते ॥ १२ ॥

प्राङ्मुखश्चेद्दक्षिणमंसमभिपर्यावर्तेत ॥ १३ ॥

अनु०—यदि उसका मुख पूर्व की ओर हो तो (अग्नि को लेकर चलते समय) दाहिने कन्धे की ओर मुँह फेरें ॥ १३ ॥

अग्निभिस्सह गमने सत्ययं विधिः। अग्नीनां पृष्ठतः करणं मा भूदित्युपदेशः कर्तव्यः ॥ १३ ॥

प्रत्यङ्मुखस्सव्यम् ॥ १४ ॥

अनु०—यदि पश्चिम की ओर मुख हो तो बायें कन्धे पर मुख फेरें ॥ १४ ॥

टि०—इस प्रकार अग्नि को ले जाते समय उसकी ओर पीठ नहीं होगी। गोविन्द स्वामी का कथन है कि इन दोनों सूत्रों से यह भी अर्थ निकाला जा सकता है कि अग्नि की प्रदक्षिणा कर बाहर जाया जा सकता है।

अयमपि तथैव। यद्वा—द्वाभ्यामपि सूत्राभ्यां यथास्थितानामेव पुरुषाणां प्रदक्षिणीकृत्य निर्गमनं विधीयते ॥ १४ ॥

'उत्तरत उपचारो विहारः' (१५. १.) इत्युक्तम्। तत्र निर्गमनप्रवेशनमार्गमाह—

अन्तरेण चात्वालोत्करौ यज्ञस्य तीर्थम् ॥ १५ ॥

अनु०—यज्ञ का तीर्थ अर्थात् वेदि का मार्ग चात्वाल और उत्कर के बीच से होता है ॥ १५ ॥

टि०—चात्वाल वेदि से ईशानकोण पर रहता है, वहाँ से मिट्टी उठायी जाती है। उत्कर वह स्थल है जहाँ वेदिपुरीष रखा जाता है।

उत्तरवेदिपुरीषावटं चात्वालः। वेदिपुरीषनिधानदेश उत्करः। तयोर्मध्यं

तीर्थं द्वारान्तरेण योगाद्धर्मेति । आह च मन्त्रः—"[1]आप्नानं तीर्थं क इह प्रवोचद्येन पथा प्रपिबन्ते सुतस्य' इति ॥ १५ ॥

[2]अचात्वाल आहवनीयोत्करौ ॥ १६ ॥

अनु०—चात्वाल न होने पर यज्ञ का तीर्थ आहवनीय तथा उत्कर के बीच होता है ॥ १६ ॥

टि०—'अचात्वाल' से दर्शपूर्णमास आदि यज्ञों से तात्पर्य है जिनमें चात्वाल नहीं होता । ब्यूह्लेर ने 'अचात्वाल' का अनुवाद किया है 'चात्वाल की ओर से आने पर' । चत्वाल सौत्रिकी वेदि से ईशान कोण पर स्थित स्थान होता है ।

अन्तरेण तीर्थमित्यनुपज्यते । अचात्वाले चात्वालरहिते दर्शपूर्णमासादौ ॥ १६ ॥

ततः कर्तारः पत्नीयजमानौ च प्रपद्येरन् ॥ १७ ॥

अनु०—उस मार्ग से यज्ञ कराने वाले ऋत्विज, यजमान और उसकी पत्नी प्रवेश करें ॥ १७ ॥

टि०—सूत्रस्थ 'च' शब्द से गोविन्द स्वामी ने दर्शकों का भी ग्रहण किया है ।

अनेन मार्गेण प्रपद्येरन् प्रविशेयुः । चशब्दा [3]दुपद्रष्टारो द्रष्टारश्च ॥ १७ ॥

विसंस्थिते ॥ १८ ॥

अनु०—जब तक यज्ञ समाप्त न हो तब तक यही नियम समझना चाहिए ॥१८॥

असमाप्ते यज्ञे एतद्विधानम् ॥ १८ ॥

संस्थिते च सञ्चरोऽनूत्करदेशात् ॥ १९ ॥

अनु०—यज्ञ के समाप्त हो जाने पर उत्कर के स्थान को छोड़कर (पश्चिम) प्रवेश और निर्गम करें ॥ १९ ॥

संस्थिते समाप्ते च यज्ञकर्मणि सञ्चरः प्रवेशो निर्गमश्चाऽनूत्करदेशात् उत्करात् पश्चादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—प्रतते यज्ञे पुरस्तात् निर्गमनप्रवेशौ, [4]अप्रतते पश्चादिति । आग्नयाधेयिके च विहारे इदं विधानम् । इतरत्र 'तस्माद्यज्ञवास्तु नाऽभ्यवेत्यम्' इति निषेधात् ॥ १९ ॥

---

१. अस्यार्थस्सायणीये (१७.११४.७) ऋक्संहिताभाष्ये द्रष्टव्यः ।

२. चात्वालो नाम सौमिक्या वेदेरीशानकोणस्थितो मृदाहरणोपयुक्तो देशविशेषः ।

३. ऋत्विग्भ्यो बहिर्भूताः केचन कर्मावेक्षका भवन्ति। ते कर्मणोऽवैगुण्यं पश्यन्ति । ते उपद्रष्टारः । दर्शकाः द्रष्टारः । ४. समाप्ते इति ग. पु.

[1]नाऽप्रोक्षितमप्रपन्नं क्लिन्नं काष्ठं समिधं वाऽभ्यादध्यात् ॥

अनु०—(अग्नि पर) ऐसी लकड़ी या समिध् न रखे जिस पर जल न छिड़का गया हो, जो तैयार न किया गया हो और गीला हो ॥ २० ॥

अग्नाविति शेषः । क्लिन्नमार्द्रम् ॥ २० ॥

अग्रेणाऽऽहवनीयं ब्रह्मयजमानौ प्रपद्येते ॥ २१ ॥

अनु०—ब्रह्मन् और यजमान आहवनीय अग्नि के आगे से वेदि के निकट आएँ ॥ २१ ॥

दक्षिणत आसितुम् । अग्रेणेति 'एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः, 'एनपा द्वितीया' इति चाऽनुशासनात् ॥ २१ ॥

जघनेनाऽऽहवनीयमित्येके ॥ २२ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि वे आहवनीय अग्नि के पीछे से प्रवेश करें ॥ २२ ॥

एके आचार्या मन्यन्ते वेदिमतिलङ्घ्याऽपि ॥ २२ ॥

दक्षिणेनाऽऽहवनीयं ब्रह्मा [2]यतनमपरेण यजमानस्य ॥

अनु०—आहवनीय अग्नि के दक्षिण की ओर ब्रह्मा का स्थान होता है और उससे पश्चिम यजमान का ॥ २३ ॥

समान्येतानि कुर्यात् । 'प्रणीताहवनीयं ब्रह्मायतनम्' इति सिद्धे यजमानायतनविधानार्थ आरम्भः । अतश्च 'यजमानयतन उपविश्य, यजमानाय तने तिष्ठन्' इत्येवमादिषु संव्यवहारेषु अस्मिन्नेव देशसंप्रत्ययसिद्धो भवति ॥२३॥

उत्तरां श्रोणिमुत्तरेण होतुः ॥ २४ ॥

अनु०—होता का स्थान वेदि की उत्तर दिशा की श्रोणि से उत्तर की ओर होता है ॥ २४ ॥

आयतनमिति शेषः । वेदेरुत्तरापरदेश इत्यर्थः ॥ २४ ॥

उत्कर आग्नीध्रस्य ॥ २५ ॥

अनु०—आग्नीध्र का स्थान उत्कर के समीप होता है ॥ २५ ॥

---

१. cf. आपस्तम्बधर्मसूत्र १.१५.१२.

२. ब्रह्मयजमानौ प्रपद्येते तमपरेण इति. ग. पु.

आयतनमित्येव ॥ २५ ॥

जघनेन गार्हपत्यं पत्न्याः ॥ २६ ॥

अनु०—यजमान की पत्नी का स्थान गार्हपत्य अग्नि के पीछे होता है ॥२६॥

ब्रह्मादिभिर्जोषमासीनैरप्येतेष्वेव देशेषु आसितव्यमित्यायतनप्रपञ्चः । उक्तञ्च 'यथा कर्मर्त्विजो न विहारादभिपर्यावर्तेरन्' इति । अत एव चाध्वर्यो-रायतनानाम्नवचनम्, तद्व्यापाराधीनत्वात् प्रयोगसदसत्तायाः ॥ २६ ॥

तेषु काले काल एव दर्भान् सस्तृणाति ॥ २७ ॥

अनु०—ब्रह्मा आदि के स्थानों पर जब जब यज्ञ का उपक्रम हो तब-तब कुश बिछाना चाहिए ॥ २७ ॥

तेषु ब्रह्माद्यायतनेषु । यज्ञोपक्रमकालानां बहुत्वाद्वीप्सा । दर्भास्तरणमासनार्थम् । एवं च होतृषदनमप्यध्वर्युणैव कर्तव्यमिति भवति ॥ २७ ॥

एकैकस्य चोदकमण्डलुरुपात्तस्स्यादाचमनार्थः ॥ २८ ॥

अनु०—प्रत्येक के लिए आचमन के निमित्त जल से पूर्ण कमण्डलु होना चाहिए ॥ २८ ॥

प्रतिपुरुषं अपां पूर्णोभिरित्यभिप्रायः ॥ २८ ॥

व्रतोपेतो दीक्षितस्स्यात् ॥ २९ ॥

अनु०—यज्ञ के लिए दीक्षित पुरुष इस व्रत का आचरण करे ॥ २९ ॥

कतमेन व्रतेनोपेतः?—

न परपापं वदेन्न क्रुध्येन्न रोदेन्मूत्रपुरीषे नाऽवेक्षेत ॥ ३० ॥

अनु०—वह दूसरों के पापों का उल्लेख न करे, क्रोध न करे, रोवे नहीं, मूत्र और मल को न देखे ॥ ३० ॥

परस्याऽप्रयतस्य । यद्यप्युपनीतमात्रस्य पुरुषार्थतयैवंजातीयकानां प्रतिषेधस्सिद्धः, तथाऽपि क्रत्वर्थतया प्रतिषेधः संयोगपृथक्त्वात् । प्रायश्चित्तान्तरमस्याऽनृतवदनादिवदेव 'यदि यजुष्टो भुवस्स्वाहा' इत्यादि । तथा—'दीक्षितश्चेदनृतं वदेदिमं मे वरुण' इत्यादि ॥ ३० ॥

---

१. एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् । एकस्य-पदार्थस्य कार्यद्वय प्रति विनियोजकस्य वाक्यद्वयस्य सत्त्वे संयोगपृथक्त्वम् । संयुज्यते सम्बध्यतेऽनेनेति संयोगो वाक्यम् । तस्य पृथक्त्वं भेद इत्यर्थः । यथा दध्न' अग्निहोत्राङ्गत्वबोधकं वाक्यं दध्ना जुहोतीति । तस्यैव चेन्द्रियार्थं विधानम्—दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादिति ॥

अमेध्य दृष्ट्वा जपति—"अबद्धं मनो दरिद्रं चक्षुस्सूर्यो ज्योतिषां श्रेष्ठो दीक्षे मा मा हासी" रिति ॥ ३१ ॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने पञ्चदशः खण्डः ॥ १५ ॥

अनु०—अमेध्य पदार्थ को देखकर "अबद्धं मनो दरिद्र चक्षुस्सूर्यो ज्योतिषां श्रेष्ठो दीक्षे मा मा हासीः" (मन अनियन्त्रित है, नेत्र दरिद्र है; सूर्य आकाश के नक्षत्रों में श्रेष्ठ है; हे दीक्षा, मेरा त्याग मत करो, मत करो) का जप करे। (तैत्तिरीय संहिता ३ १.१.२) ॥ ३१ ॥

अमेध्यदर्शने प्रायश्चित्तमिदमनिष्टदर्शने वा। कुतः 'अमेध्यमनिष्टं वा दृष्ट्वा जपतीत्येतदुक्तं भवति' इति यज्ञप्रायश्चित्तेषु द्वयोरप्यनुभाषणात्। मन्त्रस्तु विक्रियते—वामदेवस्यार्षम्, गायत्रं छन्दः, सूर्यो देवता। अबद्धं अबोद्धव्यं अनिरोध्यं अनिवार्यं मनः पापमपि सङ्कल्पयतीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'तस्मात्तेनोभयं सङ्कल्पयन्ते सङ्कल्पनीयं चाऽसङ्कल्पनीयञ्च' इति। चक्षुरपि दरिद्रमेव। द्रा गतिकुत्सनयोरिति। गतिकुत्सतगतिरिति। श्रुतिरपि—'तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चाऽदर्शनीयं च' इति। किमेभिरनिरोध्यैः करणैः? भगवानेव हि सूर्यो ज्योतिषां श्रेष्ठः श्रेयान् सम्यक्पश्यति, तस्मादहं दीक्षे एव, न नियमाननुपालयितुं स त्वं मा मा हासीः मा त्याक्षीरिति ॥ ३१ ॥

इति बौधायनीयधर्मसूत्रविवरणे गोविन्दस्वामिकृते
प्रथमप्रश्ने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

यज्ञप्रसङ्गात् ब्राह्मणादीन् स्मृत्वाऽऽह—

[1]चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रिय[2]विट्शूद्राः ॥ १ ॥

अनु०—चार वर्ण है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ॥ १ ॥

चतुरसङ्ख्या प्रतिलोमानुलोमानां वर्णसंज्ञानिवृत्त्यर्था ॥ १ ॥

वर्णचतुष्टयप्रभवाः इतरा मनुष्ययोनय इति वक्तुं ब्राह्मणादीनां भार्या आह—

तेषां वर्णानुपूर्व्येण चतस्रो भार्या ब्राह्मणस्य ॥ २ ॥

---

१. Cf आप. ध. १. १. ४. and वासिष्ठ ध. २. १.

२ वैश्यशूद्राः इति. क. ग. पु.

अनु०—इन वर्णों में वर्णों के क्रमानुसार (अर्थात् चार वर्णों की) ब्राह्मण की चार पत्नियाँ हो सकती है ॥ २ ॥

तेषां मध्ये ब्राह्मणस्येति सम्बन्धः । आनुपूर्व्यग्रहणात् प्रथमं ब्राह्मणी, ततः क्षत्रिया इत्येवं द्रष्टव्यम् । अस्वजातीयापरिणयनम् (?) 'इतरथाऽसदृशीम्' इत्यविशेषकं स्यात् । आह च मनुः—

सवर्णाऽग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोवराः ॥ इति ॥ २ ॥

तिस्रो राजन्यस्य ॥३॥ द्वे वैश्यस्य ॥ ४ ॥

अनु०—क्षत्रिय की वर्णों के क्रम से तीन (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण की) पत्नियाँ हो सकती है । वैश्य की दो पत्नियाँ (वैश्य तथा शूद्र वर्ण की) होती हैं ॥ ३–४ ॥

आनुपूर्व्येण कामत इति चाऽनुसन्धेयम् ॥ ३–४ ॥

एका शूद्रस्य ॥ ५ ॥

अनु०—शूद्र की केवल एक (शूद्र वर्ण की) पत्नी होती है ॥ ५ ॥

कामप्रवृत्तस्याऽपि शूद्रस्य शूद्रैव भार्या ॥ ५ ॥

तासु पुत्रास्सवर्णानन्तरासु सवर्णाः ॥ ६ ॥

अनु०—इन पत्नियों मे अपने वर्ण की या अपने वर्ण के ठीक नीचे वाले वर्ण की पत्नियों से उत्पन्न पुत्र सवर्ण कहलाते है ॥ ६ ॥

टि०—वस्तुतः सवर्ण पुत्र समान वर्ण की पत्नी से उत्पन्न पुत्र होते है किन्तु ठीक नीचे वाले वर्ण की पत्नी के पुत्र भी सवर्ण के समान ही समझे जाते हैं । गौतम० १.४.१४ 'अनुलोमा अनन्तरैकान्तरद्व्यन्तरासु जाताः सवर्णाम्बष्ठोग्रनिषाददौष्मन्तपारशवाः' ।

संव्यवहारार्थं संज्ञाकरणम् । सवर्णास्वनन्तरासु चेति विग्रहः । सवर्णास्समानजातीयाः । अनन्तरा इतराः । ब्राह्मणस्य क्षत्रिया वाऽनन्तरेत्यादि योज्यम् । तत्र सवर्णायां जातः पुत्रस्स एव वर्ण इति व्युत्पत्त्या सवर्णः । अनन्तरायां तु सवर्णसदृश इति । आह च मनुः—

स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान् सुतान् ।
सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ इति ॥ ६ ॥

एकान्तरद्व्यन्तरास्वम्बष्ठोग्रनिषादाः ॥ ७ ॥

अनु०—एक वर्ण के अन्तर से अपने से तीसरे वर्ण की पत्नी से (ब्राह्मण की वैश्यवर्ण की पत्नी से, क्षत्रिय की शूद्रा से) क्रमशः अम्बष्ठ और उग्र नाम के तथा अपने वर्ण से दो वर्ण के अन्तर वाले वर्ण की पत्नी से (ब्राह्मण की शूद्रा स्त्री से) निषाद नाम का पुत्र उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

टि०—ये सभी पुत्र अनुलोम पुत्र कहे जाते हैं, क्योंकि पिता उच्च वर्ण का होता है और माता पिता से निम्न वर्ण की। प्रतिलोम इसके विपरीत सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं।

ब्राह्मणस्य वैश्या एकान्तरा। स तस्यामम्बष्ठं जनयति। तस्यैव शूद्रा द्व्यन्तरा। तस्यां निषादम्। क्षत्रियस्य पुनस्सैवैकान्तरा। सोऽपि तस्यामेवोग्रं नाम पुत्रं जनयति। एते त्रयः पूर्वैरनुलोमैस्सह षडनुलोमा अनुक्रान्ताः। तत्र बीजोत्कर्षे क्षेत्रापकर्षे च सत्यानुलोम्यं भवति। विपर्यये तु प्रातिलोम्यं भवति ॥ ७ ॥

के पुनः प्रतिलोमाः ? तानाह—

प्रतिलोमास्त्वायोगवमागधवैणक्षत्तुपुल्कसकुक्कुटवैदेहकचण्डालाः ॥८॥

[1]अम्बष्ठात् प्रथमायां श्वपाकः ॥ ९ ॥

उग्रात् द्वितीयायां वैणः ॥ १० ॥

निषादात् तृतीयायां पुल्कसः ॥ ११ ॥

विपर्यये कुक्कुटः ॥ १२ ॥

अनु०—प्रतिलोम विवाह वाली (अपने से निम्न वर्ण के पुरुष के साथ विवाहिता) स्त्रियों से आयोगव, मागध, वैण, क्षत्तृ, पुल्कस, कुक्कुट, वैदेहक और चण्डाल नाम के पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

टि०—क्षत्रिय और ब्राह्मणी से सूत, वैश्य और ब्राह्मणी से कृत, वैश्य और क्षत्रिया से मागध, शूद्र और वैश्या से आयोगव, शूद्र और क्षत्रिया से वैदेहक, शूद्र और ब्राह्मणी से चण्डाल नाम के पुत्र उत्पन्न होते है। द्रष्टव्य-गौतम ध०सू० १.४. १५ पृ० ४२: 'प्रतिलोमास्तु सूतमागधायोगवकृतवैदेहकश्चण्डालाः'।

अनु०—अम्बष्ठ प्रथम वर्ण की स्त्री से श्वपाक पुत्र उत्पन्न करता है। उग्र द्वितीय वर्ण की स्त्री से वैण पुत्र उत्पन्न करता है। निषाद तृतीय वर्ण की पत्नी से पुल्कस पुत्र उत्पन्न करता है। इसके विपरीत पुल्कस पुरुष निषाद वर्ण की स्त्री से कुक्कुट पुत्र उत्पन्न करता है ॥ ९–१२ ॥

---

१. अन्येपि श्वपाकादयः ११ सूत्रादावुच्यन्ते।

पुल्कसान्निषाद्यां जातस्य कुक्कुटसंज्ञेत्यर्थः। अनेनैतद्विज्ञातं भवति— प्रतिलोमानुलोमेन स्त्रियां जातोऽपि प्रतिलोम एवेति। अन्यथा कथमेवमभवक्ष्यत् ॥ ८—१२ ॥

अथ बीजोत्कर्षवशात् वर्णान्तरप्राप्तिमाह—

निषादेन निषाद्यामा पञ्चमाज्जातोऽपहन्ति शूद्रताम् ॥ १३ ॥

अनु०—निषाद पुरुष निषाद स्त्री से विवाह करे तो उसके वंश में पाँचवें पुरुष में शूद्रत्व समाप्त हो जाता है ॥ १३ ॥

अत्र गौतमीयम्—'वर्णान्तरगमनमुत्कर्षापकर्षाभ्यां सप्तमेन। पञ्चमेनाऽऽचार्याः' इति। आङ् तत्राऽभिविधौ। निषादो वैश्याच्छूद्रायां जात इति कृत्वोच्यते ॥ १३ ॥

तमुपनयेत्षष्ठं याजयेत्सप्तमोऽविकृतो भवति[1] ॥ १४ ॥

इति बौधायनधर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने षोडशः खण्डः ॥ १६ ॥

अनु०—पाँचवें पुरुष का उपनयन करे, छठे से यज्ञ करावे तो सातवाँ दोषरहित होता है ॥ १४ ॥

टि०—द्रष्टव्य मनु० १०: ५-४२

अविकृतः बीजमेव वर्णं प्रतिपद्यत इत्यर्थः। एवं तावच्छूद्रायां वैश्याज्जातस्याऽऽसप्तमाद्वैश्यत्वापत्तिरुक्ता। एवमेव वैश्यायां जातस्य क्षत्रियत्वापत्तिः। तथा क्षत्रियायां जातस्य ब्राह्मण्यापत्तिरुच्यते—सवर्णत्यागादपि वर्णसङ्करो जायत इतीदं प्रदर्शयितुम्। आह च मनुः—

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च।

स्वकर्मणां च त्यागेन जायते वर्णसङ्करः ॥ इति।

स्वकर्मणां त्याग उपनयनादिसंस्कारहानिरभिप्रेता। अतो वर्णसङ्करप्रदर्शनार्थं वादुपपन्नमिहाभिधानम् ॥ १४ ॥

इति बौधायनीयधर्मसूत्रविवरणे गोविन्दस्वामिकृते प्रथमप्रश्नेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

---

1. See मनु, १०. ५—४२.

अथ नवमाध्याये सप्तदशः खण्डः

अथाऽनन्तरप्रभवानामेव किञ्चिद्वक्तव्यमित्यत आह—

तत्र सवर्णासु सवर्णाः ॥ १ ॥

अनु०—इन पुत्रों में सवर्णा पत्नियों से सवर्ण पुत्र होते हैं ॥ १ ॥

अनुलोमविषयमिदम् । वर्णानन्तरजसवर्णासु सवर्णैरुत्पादिता अपि सवर्णा भवन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

ब्राह्मणात्क्षत्रियाया ब्राह्मणो वैश्यायामम्बष्ठः शूद्रायां निषादः ॥ २ ॥

अनु०—ब्राह्मण से क्षत्रिया पत्नी से ब्राह्मण, वैश्य पत्नी से अम्बष्ठ, शूद्र पत्नी से निषाद होता है ॥ २ ॥

ब्राह्मणात्क्षत्रियायां जातायां तस्यां ब्राह्मणेनोत्पादितः । अत्र पूर्वसूत्रे आदिस्सवर्णशब्दस्सदृशवर्ण इत्यनया व्युत्पत्त्या वर्तते । सूत्रारम्भस्तु तेषामपि वर्णधर्मप्राप्त्यर्थः ॥ २ ॥

पारशव इत्येके ॥ ३ ॥

अनु०—कुछ लोग ब्राह्मण द्वारा शूद्रा पत्नी से उत्पन्न को पारशव कहते ॥३॥

टि०—द्रष्टव्य गौतम०. १.४.२१. पृ० ४४ ।

सोऽयं संज्ञाव्यतिरेकः ॥ ३ ॥

क्षत्रियाद्वैश्यायां क्षत्रियश्शूद्रायामुग्रः ॥ ४ ॥

अनु०—क्षत्रिय पुरुष द्वारा वैश्य वर्ण की स्त्री से क्षत्रिय तथा शूद्रा स्त्री से उग्र उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥

अयमप्येकीयमतेन संज्ञाव्यतिरेकप्रकारः ॥ ४ ॥

वैश्याच्छूद्रायां रथकारः ॥ ५ ॥

अनु०—वैश्य पुरुष द्वारा शूद्रा स्त्री से रथकार उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

अस्य त्वाधानेऽधिकारो 'वर्षासु रथकारः' इति । एते अनुक्रान्ता अनुलोमाः ॥ ५ ॥

---

१. एवमेव सूत्रपाठो व्याख्यानपुस्तकेषु "तमुपनमेद् षष्ठं याजयेत् ॥ १४ ॥ सप्तमो विकृतबीजः समबीजस्सम इत्येतेषां संज्ञाः क्रमेण निपतन्ति ॥ १५ ॥ त्रिषु वर्णेषु सादृश्याद्व्रती जनयेत् यान् । तान् सावित्रीपरिभ्रष्टान् व्रात्यानाहुर्मनीषिणः—व्रात्यानाहुर्मनीषिण. इत्यधिकस्सूत्रपाठो दृश्यते ।

अथ प्रतिलोमासु यच्छूद्रबीजं तदाह—

शूद्राद्वैश्यायां मागधः क्षत्रियायां क्षत्ता ब्राह्मण्यां चण्डालः ॥ ६ ॥

अनु०—शूद्र पुरुष द्वारा वैश्य स्त्री से मागध, क्षत्रिया से क्षत्ता, ब्राह्मणी से चण्डाल उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

अथ वैश्यबीजमुच्यते—

वैश्यात्क्षत्रियायामायोगवो ब्राह्मण्यां वैदेहकः ॥ ७ ॥

अनु०—वैश्य पुरुष द्वारा क्षत्रिया पत्नी से आयोगव तथा ब्राह्मणी से वैदेहक उत्पन्न होते हैं ॥ ७ ॥

क्षत्रियबीज पुनः—

क्षत्रियाद् ब्राह्मण्यां सूतः ॥ ८ ॥

अनु०—क्षत्रिय पुरुष द्वारा ब्राह्मणी पत्नी से सूत उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

अथ वर्णसङ्करजातानां परस्परसङ्करजातानाह—

अत्राऽम्बष्ठोग्रसंयोगो भवत्यनुलोमः ॥ ९ ॥

अनु०—यदि इनमें अम्बष्ठ पुरुष और उग्र वर्ण की स्त्री का संयोग हो तो अनुलोम पुत्र उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥

उत्कृष्टबीजप्रभवायामनुलोमायां जाता अप्यनुलोमा एव भवन्तीत्यभिप्रायः ॥ ९ ॥

क्षत्तृवैदेहकयोः प्रतिलोमः ॥ १० ॥

अनु०—क्षत्ता पुरुष और वैदेहक स्त्री के संयोग से प्रतिलोम पुत्र होता है ॥१०॥

शूद्रक्षत्रियापत्यभवात् प्रतिलोमाद्वैश्यब्राह्मणीप्रभवायां प्रतिलोमायामुत्पन्नोऽपि प्रतिलोमो भवतीत्यर्थः । एवमन्यत्राऽपि प्रयोजकानुसन्धानेन वेदनीयम ॥ १० ॥

अतः पुनरपि प्रतिलोमानेवाऽऽह—

[1]उग्राज्जातः क्षत्तायां श्वपाकः ॥ ११ ॥

वैदेहकादम्बष्ठायां वैणः ॥ १२ ॥

निषादाच्छूद्रायां पुल्कसः ॥ १३ ॥

---

१. See मनु. १० ५.४२.

२. क्षत्तुरुग्रायां जातः पुल्कसः (म. १०. १९.) इति मनुः ।

शूद्रान्निषाद्यां कुक्कुटः ॥ १४ ॥

अनु०—उग्र पुरुष और क्षत्तृ स्त्री से श्वपाक, वैदेहक पुरुष और अम्बष्ठ स्त्री से वैण, निषाद पुरुष और शूद्रा स्त्री से पुल्कस, शूद्र पुरुष तथा निषाद स्त्री से कुक्कुट उत्पन्न होता है ॥ ११ ॥

टि०—क्षत्तुरुग्रायां जातः पुल्कस (मनु० १०।१९)

इदमपि प्रयोजकग्रहणार्थं, नोदाहरणावधिकमेव कथ्यते । एवं एकार्था अनेकशब्दाः अनेकार्थश्चैकशब्दः शब्दान्तरेषु तत्र सव्यवहारभेदप्रदर्शनार्थाः । एवं च तेन कर्मणा तरतमभावं विजानीयादित्युक्तं भवति । तथा च वसिष्ठः—

छन्नोत्पन्नास्तु ये केचित्प्रातिलोम्यगुणाश्रिताः ।
गुणाचारपरिभ्रंशात्कर्मभिस्तान् विजानीयुरिति ॥'

तद्विशेषावगतिश्च तत्परिहरणार्थम् ॥ ११—१४ ॥

वर्णसंकरादुत्पन्नान्व्रात्यानाहुर्मनीषिणो व्रात्यानाहुर्मनीषिण इति ॥१५॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने सप्तदशः खण्डः ॥ २६ ॥

अनु०—विद्वान् लोग इस प्रकार वर्णों के संकर से उत्पन्न को व्रात्य कहते हैं ॥ १५ ॥

वर्णग्रहणात्सङ्करजा व्रात्या भवन्ति । यद्वा प्रतिलोमजा वर्णसङ्करादुत्पन्ना इति कल्पनीयम् । ततश्च व्रात्यास्संस्कारहीना इति कृत्वा प्रतिलोमा धर्महीना इत्येतदेव ज्ञापितं भवति ॥

इति बौधायनधर्मसूत्रविवरणे गोविन्दस्वामिकृते
प्रथमप्रश्ने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

रक्षकाभावे सति आगः प्रवर्तते । ततश्च वर्णसङ्करोऽपि जायते । अतस्तत्परिहारार्थमाह—

षड्भागभृतो राजा रक्षेत्प्रजाम् ॥ १ ॥

अनु०—राजा प्रजा की आय या पुण्य का छठाँ भाग वेतन के रूप में लेकर प्रजा की रक्षा करे ॥ १ ॥

षट्छब्दोऽत्र लुप्तपूरणप्रत्ययो द्रष्टव्यः । भृतिर्वेतनं तद्ग्राही भृतः । राजा चाऽत्राऽभिषिक्तः। स चाऽपि तासां प्रजानां षष्ठभागभाग्भवति । ब्राह्मणस्याऽनु

रक्षितस्य धर्मषड्भागभाग्भवति ।/तथा च वसिष्ठः-'राजा तु धर्मेणाऽनुशाशासन् षष्ठं धनस्य हरेदन्यत्र ब्राह्मणात् । इष्टापूर्तस्य तु षष्ठमंशं भजति' इति । इष्टं वर्णसामान्याधिकारावष्टम्भेन विहितो ज्योतिष्टोमादिः । पूर्तं तु साधारणो धर्मः सर्वेषां सत्यमक्रोधो दानमहिंसा प्रजननमित्यादि । अभिषिक्तस्य प्रजापरिपालनं धर्मः । गौतमश्च तदेवाधिकृत्य वदति—'चलतश्चैनान् स्वधर्मे स्थापयेत् । धर्मस्य ह्यंशभाग्भवति' इति । वसिष्ठश्च—'स्वधर्मो राज्ञः परिपालनं भूतानाम्' इति ।

आचार्यश्च स्वधर्मेषु स्थापनमेव रक्षणमिति मत्वाऽस्येमे स्वधर्मा इत्याह ॥ १ ॥

ब्रह्म वै स्वं महिमानं ब्राह्मणेष्वदधादध्ययनाध्यापनयजनयाजनदानप्रतिग्रहसंयुक्तं वेदानां गुप्त्यै ॥ २ ॥

अनु०—ब्रह्म ने अपनी महिमा को ब्राह्मणों में रखा और वेदों की रक्षा के लिए अध्ययन करना, वेदों का अध्यापन करना, यज्ञ करना और यज्ञ कराना, दान देना और दान ग्रहण करना उनके कर्म उसके साथ संयुक्त कर दिये ॥ २ ॥

एष हि षट्कर्मयुक्तो ब्राह्मणः स्वो महिमा । किमर्थमेवं कृतवत् ब्रह्मेत्याह—वेदानां गुप्त्यै । गुप्तिः रक्षणम् ॥ २ ॥

सर्वेषां वर्णानां रक्षणायेमे क्षत्रधर्मा इत्याह—

क्षत्रे बलमध्ययनयजनदानशस्त्रकोशभूतरक्षणसंयुक्तं क्षत्रस्य वृद्ध्यै ॥ ३ ॥

अनु०—ब्रह्म ने क्षत्रिय में बल का आधान किया और राज्य शक्ति की वृद्धि के लिए वेदाध्ययन, यज्ञ करना, दान देना, शस्त्र धारण करना, धन की तथा प्राणियों के जीवन की रक्षा करना उनके कर्तव्य उसके साथ अन्वित कर दिये ॥ ३ ॥

अदधादित्यनुवर्तते । किं तत् ? बलं शक्तिः वेदाध्ययनादिसंयुक्तम् । शस्त्रमायुधम् । तथा च वसिष्ठः-'शस्त्रेण च प्रजापालनं स्वधर्मः' इति । भूतग्रहणं चतुर्विधस्याऽपि भूतस्य ग्रहणार्थम् । तथा च गौतमः—'चतुर्विधस्य मनुष्यजातस्याऽन्तस्संज्ञानां चलनपतनसर्पणानामायत्तं जीवनं प्रसूतिरक्षणम्' इति । क्षत्रस्य वृद्धिरभ्युदयः ॥ ३ ॥

वैश्येषु वैश्यकर्माऽदधादित्याह—

विट्स्वध्ययनयजनदानकृषिवाणिज्यपशुपालनसंयुक्तं कर्मणां वृद्ध्यै ॥ ४ ॥

अनु०—ब्रह्म ने वैश्यों में (यज्ञादि) कर्म की वृद्धि के लिए अध्ययन, यज्ञ

अध्ययनादिसंयुक्तं अध्ययनादिनिष्पादितमित्यर्थः । कृषिः भूविलेखनम् । वाणिज्यं क्रयविक्रयव्यवहारः । कर्माणि यागादीनि । तेषां साधने सति वृद्धिर्भवति ॥ ४ ॥

[1]शूद्रेषु पूर्वेषां परिचर्या ॥ ५ ॥

अनु०—शूद्रों के लिए पूर्व वर्णों की सेवा का कार्य निर्धारित किया ॥ ५ ॥

अदधादित्येव । पूर्वेषां ब्राह्मणादीनाम् । परिचर्या शुश्रूषा । आह चाऽऽपस्तम्बः—'शुश्रूषा शूद्रस्येतरेषां वर्णानाम्' इति ॥ ५ ॥

किमिति शुश्रूषा शूद्राणामित्यत आह—

[1]पत्तो ह्यसृज्यन्तेति ॥ ६ ॥

अनु०—क्योंकि शूद्र (प्रजापति के) पैर से उत्पन्न है, ऐसा श्रुति का वचन है॥६॥

हिशब्दो हेतौ । यस्मात्प्रजापतेः पादात्सृष्टः तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः । अतो द्विजानां शुश्रूषैव शूद्रस्य धर्मः ॥ ६ ॥

एवं चातुर्वर्ण्यधर्ममभिधाय पुना राज्ञ एवाऽऽह—

[2]सर्वतोधुरं पुरोहितं वृणुयात् ॥ ७ ॥

अनु०—राजा सभी विषयों के ज्ञान मे प्रवीण पुरोहित का चयन करे ॥ ७ ॥

सर्वत्र धूर्यस्य सर्वतोधुः । धूश्च व्यापारः विषयज्ञानमिहाऽभिप्रेतम् । सर्वज्ञ इति यावत् । पुरो धीयत इति पुरोहितः । तं वृणुयात् वृणीत ॥ ७ ॥

तस्य शासने वर्तेत ॥ ८ ॥

अनु०—उसी के आदेश के अनुसार कार्य करे ॥ ८ ॥

तत्प्रयुक्तः कर्माणि कुर्यात् । स च ब्राह्मणः विद्याभिजनवांश्च गौतमवचनात् । स ह्याह—'ब्राह्मणं पुरोदधीत विद्याभिजनवाग्रूपवयस्सम्पन्नं न्यायवृत्तं तपस्विनम् । तत्प्रसूतः कर्म कुर्वीत । ब्रह्मप्रसूतं हि क्षत्रमृध्यते' इत्यादि ॥ ८ ॥

---

१ तैत्तिरीयसंहिताया सप्तमकाण्डे प्रजापतेर्ब्राह्मणादीनां सृष्टिकथनावसरे "तस्मात् पादावुपजीवतः पत्तो ह्यसृज्येताम्" इति शूद्रस्य पादजन्यत्वमुक्तम् । तस्यैवाऽयं बहुवचनान्तेनाऽनुवादः ।

२. पुरोहितवरणमैतरेयब्राह्मणेऽष्टमपञ्चिकायां "न ह वा अपुरोहितस्य राज्ञो देवा अन्नमदन्ति" (४०. १) इत्यादिना विस्तरशो विहितम् । तदेवाऽस्य सूत्रस्य मूलमिति भाति ॥

सङ्ग्रामे न निवर्तेत ॥ ६ ॥

अनु०—युद्ध में पलायन न करे ॥ ९ ॥

युद्धे उपस्थिते पलायनपरायणेन न भवितव्यमित्यर्थः ॥ ९ ॥

युद्धे तु वर्तमाने—

न कर्णिभिर्न दिग्धैः प्रहरेत् ॥ १० ॥

अनु०—बर्छीदार अस्त्रों से या विषदिग्ध अस्त्रों से प्रहार न करे ॥ १० ॥

कर्णवन्त्यस्त्राणि कर्णीनि शूलादीनि । विषेण लिप्तानि दिग्धानि । असमासः प्रत्येकं प्रतिषेधप्राप्त्यर्थः ॥ १० ॥

किञ्च—

भीतमत्तोन्मत्तप्रमत्तविसन्नाहस्त्रीबालवृद्धब्राह्मणैर्न युध्येताऽन्यत्राऽऽततायिनः ॥ ११ ॥

अनु०—भयभीत, सुरापान से मत्त, पागल, चेतनाहीन, कवचादि बन्धन से हीन, स्त्री, बालक, वृद्ध और ब्राह्मण के साथ युद्ध न करे, किन्तु आततायी के ऊपर आक्रमण करे ॥ ११ ॥

टि०—द्र० गौतम० २-१०-१८ 'अन्यत्र व्यश्वसारथ्यायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेशपराङ्मुखोपविष्टस्थलवृक्षारूढदूतगोब्राह्मणवादिभ्य.' तात्पर्य यह है कि राजा ऐसे लोगों पर प्रहार न करे ।

भीतः त्रस्तः । मत्तस्सुरादिपानी । उन्मत्तो विरुद्धचेष्टः । प्रमत्तो विगतचेताः । विसन्नाहो विगलितकवचादिबन्धः विगतव्यापारो वा । शेषाः प्रसिद्धाः । तैर्न युध्येत तान् न हिंस्यादित्यर्थः । तथा च गौतम –'न दोषो हिंसायामाहवे । अन्यत्र व्यश्वसारथ्यनायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेशपराङ्मुखोपविष्टस्थलवृक्षारूढदूतगोब्राह्मणवादिभ्यः' इति । व्यश्वसारथीत्यत्र व्यश्वो विसारथिरिति योजना । व्यश्वादिशब्दो दूतादिभिः प्रत्येकं सम्बन्धनीयः । अदूतोऽपि दूतोऽहमिति यो वदति गौरहं ब्राह्मणोऽहमिति । पूर्वोक्तान्विशिनष्टि--अन्यत्राऽऽततायिन इति । आततायी साहसकारी ॥ ११ ॥

तद्धिंसायां दोषाभावं परकीयमतेनोपन्यस्यति—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

'अध्यापकं कुले जातं यो हन्यादाततायिनम् ।
न तेन भ्रूणहा भवति मन्युस्तं मन्युमृच्छतीति ॥ १२ ॥

१. See मनु ८·१५०, १५१ ।

अनु०—धर्मशास्त्रज्ञ इस विषय में निम्नलिखित पद्य उद्धृत करते हैं—यदि वेदाध्ययन करने वाले, उच्चकुल में (ब्राह्मण वर्ण मे) उत्पन्न आततायी का वध करता है तो उससे वध करने वाला भ्रूणहा (विद्वान् ब्राह्मण की हत्या का दोषी) नहीं होता, क्योंकि क्रोध ही क्रोध के ऊपर परावर्तित हो जाता है ॥ १२ ॥

टि०—द्रष्टव्य—मनु० ८-१५०, १५१ ।

भ्रूणहा यज्ञसाधनवधकारी । भ्रूणो यज्ञः बिभर्ति सर्वमिति । एवं ब्रुवतैतद्भिप्रेतम्—आततायिविषयेऽपि ब्राह्मणवधे दोषोऽस्तीति । इतरथा 'न तेन भ्रूणहा भवति' इति नाऽवक्ष्यत् ॥ १२ ॥

'षड्भागभृतो राजा' (१.१८.१) इत्युक्तम् । तस्य कंचिदपवादमाह—

सामुद्रश्शुल्कः ॥ १३ ॥

अनु०—दूसरे द्वीप से समुद्र मार्ग से लायी गयी वस्तु पर कर इस प्रकार होता है ॥ १३ ॥

राज्ञो भवतीति शेषः । द्वीपान्तरादाहृतं सामुद्रं वस्तु तत्सम्बन्धी सामुद्रश्शुल्कः पणद्रव्यम् ॥ १३ ॥

तस्मिन् भागः कियानित्यत आह—

वरं रूपमुद्धृत्य दशपणं शतम् ॥ १४ ॥

अनु०—राजा उसमें से किसी उत्कृष्ट द्रव्य (रत्नादि) को लेकर शत मे सौ में दस पण ग्रहण करे ॥ १४ ॥

गृह्णीयाद्राजेति शेषः । वरमुत्कृष्टद्रव्यरूपं रत्नादिद्रव्यं स्वामिने प्रदाय शेषं शतधा विभज्य दशपणं गृह्णीयात् । अनेन सामुद्रे दशभागश्शुल्क इत्युक्तं भवति ॥ १४ ॥

अन्येषामपि सारानुरूप्येणाऽनुपहत्य धर्मं प्रकल्पयेत् ॥ १५ ॥

अनु०—दूसरी व्यापारिक वस्तुओं में भी उनके मूल्य के अनुसार उसमे से सबसे अच्छी वस्तु को लिए बिना, व्यापारी को पीडित न करते हुए शुल्क ग्रहण करे ॥ १५ ॥

असामुद्राणामपि द्रव्याणां सारफल्गुत्वापेक्षया वरं रूपमनपहृत्यैव धर्मं प्रकल्पयेदात्मार्थम् । तत्र सारफल्गुविभागो गौतमेनोक्तः 'विंशतिभागश्शुल्कः पण्ये । मूलफलपुष्पौषधमधुमांसतृणेन्धनानां षाष्ठ्यम्' इति द्रष्टव्यम् ॥

किञ्च—

अब्राह्मणस्य प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं संवत्सरं परिपाल्य राजा हरेत् ॥१६॥

अनु०—जिस सम्पत्ति का स्वामी ब्राह्मणेतर वर्ण का हो और उस स्वामी का पता न हो, तो राजा एक वर्ष तक स्वामी के लौटने की प्रतीक्षा कर स्वयं उस सम्पत्ति को ग्रहण कर ले ।। १६ ।।

असावस्य द्रव्यस्य प्रभुरित्यज्ञानमात्रे प्रणष्टशब्दः । ब्रह्मस्वमिति तु विज्ञाते ब्राह्मण एवाऽऽददीत । उक्तं चैतच्छौचाधिष्ठानाध्याये 'न तु कदाचिद्राजा ब्राह्मणस्य स्वमाददीत' इति । आह च मनुः—

प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा [1]त्र्यब्दं निधापयेत् ।
[2]अर्वाग्त्र्यब्दाद्धरेत् स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥ इति ॥

गौतमोऽपि 'प्रणष्टस्वामिकमधिगम्य राज्ञे प्रब्रूयुः । विख्याप्य संवत्सरं राज्ञा रक्ष्यम् । ऊर्ध्वमधिगन्तुश्चतुर्थं राज्ञश्शेष' इति ।। १६ ।।

अवध्यो वै ब्राह्मणस्सर्वापराधेषु ।। १७ ।।

अनु०—ब्राह्मण को किसी भी अपराध के लिए वध का दण्ड नहीं होता ।।१७।।

वैशब्दः श्रुतिसंसूचनार्थः । तथा च गौतमः—'षड्भिः परिहार्यो राज्ञाऽवध्यश्चाऽदण्ड्यश्चाऽबहिष्कार्यश्चाऽपरिवाद्यश्चाऽपरिहार्यश्चेति' [3]इति । सर्वापराधेषु ब्रह्महत्यादिष्वपि ।। १७ ।।

तत्र तर्हि किं कर्तव्यमित्याह—

ब्राह्मणस्य ब्रह्महत्यागुरुतल्पगमनस्वर्णस्तेयसुरापानेषु कुसिन्धभगसृगालसुराध्वजांस्तप्तेनाऽयसा ललाटेऽङ्कयित्वा विषयान्निर्धमनम्।। १८।।

अनु०—ब्राह्मण के ब्राह्मण की हत्या करने पर, गुरुपत्नीगमन करने पर (ब्राह्मण का) सुवर्ण चुराने पर, सुरापान करने पर राजा उसके ललाट पर मनुष्य के धड़, स्त्रीयोनि, सृगाल और सुरापात्र की आकृति (क्रमशः) जलते हुए लोहे से अङ्कित करावे और राज्य से बाहर निकाल दे ।। १८ ।।

कृत्वा प्रवासयेदिति शेषः । कुसिन्धः कबन्धः । भगः स्त्रीव्यञ्जनम् । सृगालो गोमायुः । स च शुनोऽपि प्रदर्शनार्थः । सुराध्वजः सुराभाण्डम् । आह च मनुः—

स्तेनस्य श्वापदः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः ।
गुरुतल्पे भगः कार्यो ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥ इति ॥

---

१. त्र्यब्दं निधापयेदिति क. पु. । २. अर्वाक्त्र्यब्दाद्धरेदिति ग. पु. ।
३. अपरिभाव्यश्चेति. ग. पु. ।

कबन्धाद्याकृतिकेन कृष्णायसेन ललाटेऽङ्कयति। उत्तरीयवाससां चौर्ये विषयान्तरं निर्वासयेत्। यस्स्वयमेव प्रायश्चित्तं न करोति तस्याऽयं दण्डः॥१८॥

क्षत्रियादीनां ब्राह्मणवधे वधस्सर्वस्वहरणं च ॥ १९ ॥

अनु०—क्षत्रिय आदि अन्य वर्ण के व्यक्ति द्वारा ब्राह्मण का वध करने पर उसका वध करे और उसकी सम्पत्ति का हरण करे ॥ १९ ॥

सर्वत्र निकृष्टजातीयेनोत्कृष्टजातीयवधे वधस्सर्वस्वहरणं च दण्डो द्रष्टव्यः ॥ १९ ॥

तेषामेव तुल्यापकृष्टवधे यथाबलमनुरूपान् दण्डान् प्रकल्पयेत् ॥ २० ॥

इति बौधायनीयधर्मसूत्रे प्रथमप्रश्नेऽष्टादशः खण्डः ॥ १८ ॥

अनु०—क्षत्रिय आदि यदि (जाति, कुल, धन, वृत्ति आदि के आधार पर) समान व्यक्ति का वध करें तो उनकी शक्ति को देखकर यथोचित दण्ड दे ॥ २० ॥

तुल्यापकृष्टता चाऽत्र जातितोऽभिजनधनवर्तनादिभिः । यथाबलं यथास्वशक्ति । तथा स्मृत्यन्तरम्,—

देशकालवयश्शक्तिबल सञ्चिन्त्य कर्मणि ।
तथाऽपराधं चाऽवेक्ष्य दण्डं दण्डयेषु पातयेत् ॥ इति ॥ २० ॥

एकोनविंशः खण्डः

क्षत्रियवधे गोसहस्रमृषभैकाधिकं राज्ञ उत्सृजेद्वैरनिर्यातनाम् ॥ १ ॥

अनु०—क्षत्रिय का वध करने पर अपराधी व्यक्ति राजा को एक हजार गाएँ और एक साँड पाप को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त स्वरूप प्रदान करे ॥ १ ॥

दण्डः प्रायश्चित्तं चैतत् । यथा 'श्वभिः खादयेद्राजा निहीनवर्णगमने स्त्रियं प्रकाशम्' इति । राज्ञे पालयित्रे त्यजेत् । एवं च वैरनिर्यातनमपि कृतं भवति । वैरस्य पापस्य निर्यातनमपयातनं नाश इत्यनर्थान्तरम् । यद्वा— स्वजातीयनिमित्तकापप्रशमनम् । यथा

द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।
स तस्योत्पादयेत्तुष्टिम्''''''॥ इति ॥ १ ॥

शतं वैश्ये दश शूद्र ऋषभश्चाऽत्राधिकः ॥ २ ॥

अनु०—वैश्य की हत्या करने पर सौ और शूद्र की हत्या करने पर दस गायें तथा दोनों स्थितियों में एक साँड भी राजा को दे ॥ २ ॥

सर्वत्र प्रायश्चित्तार्थं इति शेषः। एषोऽपि राज्ञे त्यागः ॥ २ ॥

शूद्रवधेन स्त्रीवधो गोवधश्च व्याख्यातः ॥ ३ ॥

अनु०—शूद्रवध के प्रायश्चित्त के द्वारा ही (ब्राह्मणी के अतिरिक्त अन्य वर्ण की) स्त्री का वध तथा गो-वध का प्रायश्चित्त भी समझना चाहिए ॥ ३ ॥

ऋषभैकादशगोत्यजनमत्राऽतिदिश्यते। इह चान्द्रायणस्याऽभ्युपचयो द्रष्टव्यः। आह च मनुः—

स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम्।
उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मास यवान् पिबेत् ॥ इति ॥

इति प्रस्तुत्य

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः।
अवकीर्णवर्ज्यं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥ इति ॥ ३ ॥

[1]अन्यत्राऽऽत्रेय्या वधात् ॥ ४ ॥

अनु०—किन्तु आत्रेयी (मासिक अशुद्धि के बाद स्नान करने वाली ब्राह्मणी) के अतिरिक्त अन्य स्त्री के विषय में उपर्युक्त नियम है ॥ ४ ॥

टि०—'अत्रिगोत्रोत्पन्ना स्त्री आत्रेयी' ऐसी व्युत्पत्ति भी है।

तस्या वधे वक्ष्यति—'आत्रेय्या वधः क्षत्रियवधेन व्याख्यातः' (१९.७) इति। अनात्रेयीस्त्रीवधे ऋषभैकादशदानमित्यर्थः ॥ ४ ॥

धेन्वनडुहोश्च ॥ ५ ॥

अनु०—गाय या बैल की हत्या करने पर भी उपर्युक्त प्रायश्चित्त नियम है ॥५॥

वध इति शेषः। धेनुः पयस्विनी। अनड्वान् [2]अनोवहनक्षमः पुङ्गवः। अयमपि ऋषभैकादशगोदानातिदेशः ॥ ५ ॥

वधे धेन्वनडुहोरन्ते चान्द्रायणं चरेत् ॥ ६ ॥

अनु०—गाय या बैल (जो विशिष्ट यज्ञादि कार्य में उपयोगी और विशेष महत्त्व के हों) की हत्या करने पर उपर्युक्त प्रायश्चित्त रूप दण्ड देने के बाद (अपराधी व्यक्ति) चान्द्रायण व्रत करे ॥ ६ ॥

---

१. अत्रिगोत्रोत्पन्ना स्त्री आत्रेयी इत्यपि केचित्।

२. आरोपितभारवहनक्षमः इति. क. पु.।

ऋषभैकादशगोदानस्याऽन्ते तु नाऽत्र दानतपसोस्समुच्चयः। अत एवैतत् ज्ञापित भवति-धेन्वनडुह्वत्र विशिष्टपुरुषरूम्बन्धिनावग्निहोत्रादिविशिष्टोपयोगार्थौ। दुर्भिक्षादिषु च बहुदोग्धृत्वेन बहुवोढ़त्वेन प्रजासंरक्षणार्थौ चेति। अन्यथा शूद्रहत्यातः तस्य प्रायश्चित्तं गुरुतरं न स्यादिति ॥ ६ ॥

आत्रेय्या वधः क्षत्रियवधेन व्याख्यात ॥ ७ ॥

अनु०—(रजस्वला ऋतुस्नाना ब्राह्मणी) आत्रेयी के वध का प्रायश्चित्त क्षत्रियवध के प्रायश्चित्त द्वारा बता दिया गया है ॥ ७ ॥

'रजस्वलामृतुस्नातामात्रेयीमाहुरत्र ह्येष्यदपत्यं भवति' इति। गोवध इत्यन्ते। क्षत्रियवधदण्डप्रायश्चित्तयोरुभयोरयमतिदेशः ॥ ७ ॥

हंसभासबर्हिणचक्रवाकप्रचलाककाकोलूककण्टकडिड्डिकमण्डूकडेरिकाश्वबभ्रुनकुलादीनां वधे शूद्रवत् ॥ ८ ॥

अनु०—हंस, भास, मोर, चक्रवाक, प्रचलाक, कौआ, उल्लू, कण्टक, छुछुन्दर, मेढक, डेरिका, कुत्ता, बभ्रु, नेवला आदि का वध करने पर शूद्र की हत्या के लिए विहित प्रायश्चित्त होता है (अर्थात् राजा को दस गायें और एक साँड प्रदान करे)॥८॥

शूद्र हत्वा यत्प्रायश्चित्तं तत्प्रायश्चित्तमेतेषां वधे भवति। सर्वत्र चातिदेशे मानाधीनता। इह मण्डूकग्रहणं मार्जारादीनामपि प्रदर्शनार्थम्। आह च मनुः—

मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च।
श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ इति ॥

प्रचलाको डिम्बः। डिड्डिकः चुचुन्दरी। आदिग्रहणात् कुञ्चक्रौञ्चादेरपि-ग्रहणम्। 'कुञ्चक्रौञ्चौ शूद्रहत्यावत् प्रायश्चित्तम्' इति स्मृत्यन्तरात्। एवं तावत् 'शास्ता राजा दुरात्मनाम्' इति मत्वा प्रायश्चित्तान्यपि राज्ञा कारयितव्यानीत्यर्थः। तानि दिङ्मात्रेण दर्शितानि ॥ ८ ॥

साम्प्रतं पापप्रसङ्गात् कूटसाक्षिनिवृत्त्यर्थं साक्षिप्रकरणमारभ्यते। तत्र प्रथमं मृषावदनं परिहारयति—

लोकसङ्ग्रहणार्थं यथादृष्टं यथाश्रुतं साक्षी ब्रूयात् ॥ ९ ॥

अनु०—लोक मे प्रशंसा तथा मान पाने के लिए साक्षी को वैसा ही बताये जैसा उसने देखा हो या सुना हो ॥ ९ ॥

द्वयोः परस्परविप्रतिपत्तौ ज्ञातमर्थं साक्षिभिर्भाषयेत्। महाजनपरिग्रहार्थं

तत्र साक्षी यथादृष्टं निरपेक्षप्रमाणेनाऽवगतं यथाश्रुतमाप्तवाक्यादवगतं तथैव ब्रूयात् ॥ ९ ॥

परीक्षकाणां सम्यक्परीक्षाभावे —

पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादो गच्छति साक्षिणम् ।
पादस्सभासदस्सर्वान् पादो राजानमृच्छति ॥
राजा भवत्यनेनाश्च मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्तारं यत्र निन्द्यो ह निन्द्यते ॥ १० ॥

अनु०—(निर्णय में) अधर्म का एक चौथाई अधर्म करने वाले अपराधी पर पड़ता है, एक चौथाई साक्षियों पर पड़ता है, एक चौथाई सभी निर्णायकों पर पड़ता है तथा एक चौथाई राजा पर पड़ता है। किन्तु जहाँ निन्दनीय व्यक्ति की ही निन्दा की जाती है वहाँ राजा पापरहित हो जाता है, सभासद् दोष से मुक्त हो जाते हैं और पाप अपराधी के ऊपर ही पहुँचता है ॥ १० ॥

राज्ञा सम्यक्परीक्षा कर्तव्येति श्लोकद्वयस्य तात्पर्यार्थः । इतरथा अधर्मस्य कृतस्य पाद एव तत्कर्तारं गच्छेत् । इतरे त्रयः पादाः साक्षिसभासद्राजगा इत्युक्तम् । सम्यक्परीक्ष्य दुष्टनिग्रहः परीक्षकाणां पापप्रमोचनार्थ इति द्वितीय-श्लोकार्थः ॥ १० ॥

तत्र परीक्षावेलायां पृथक् श्लोकसंचयः —

साक्षिणं त्वेवमुद्दिष्टं यत्नात्पृच्छेद्विचक्षणः ॥ ११ ॥

अनु०—इस लिए विद्वान् न्यायकर्ता साक्षियों को उद्दिष्ट करके इस प्रकार पूछे ॥ ११ ॥

अर्थिना निर्दिष्टान् साक्षिण एव पृच्छेदिति पदान्वयः ॥ ११ ॥

कथं पृच्छेत् ?

यां रात्रिमजनिष्ठास्त्वं यां च रात्रिं मरिष्यसि ।
एतयोरन्तरा यत्ते सुकृतं सुकृतं भवेत् ॥
तत्सर्वं राजगामि स्यादनृतं ब्रुवतस्तव ॥ १२ ॥

अनु०—जिस रात्रि तुम उत्पन्न हुए थे और जिस रात्रि तुम मरोगे, उन दोनों के बीच (अपने सम्पूर्ण जीवन में) तुम्हारा जो कुछ धर्माचरण का पुण्य होगा वह सभी तुम्हारे असत्य भाषण करने पर राजा को प्राप्त होवे ॥ १२ ॥

सुकृतं धर्मः । स च सुष्ठु कृतो यथाविध्यनुष्ठितः । यमनृतेन पराजयसि तद्गामी त्वदीयो धर्म इति याज्ञवल्क्योऽभिप्रैति—

सुकृतं यत्त्वया किञ्चिज्जन्मान्तरशतैः कृतम् ।
तत्सर्वं तस्य जानीहि पराजयसि यं मृषा ॥

इत्यवदत् ॥ १२ ॥

किञ्च—

त्रीनेव च पितॄन् हन्ति त्रीनेव च पितामहान् ॥ १३ ॥

अनृतवदनमात्रे एष दोषः ॥ १३ ॥

साक्ष्यनृते तु—

सप्त जातानजातांश्च साक्षी साक्ष्यं मृषा वदन् ॥ १४ ॥

अनु०—अपने तीनो पित॰ को, अपने तीन पितामहो को, अपने से पहले उत्पन्न तथा अपने बाद उत्पन्न होने वाले सात-पीढी के पुरुषों को झूठी गवाही देने वाला साक्षी मार डालता है ॥ १३–१४ ॥

स आत्मनः पूर्वापरान् सप्तसप्त हन्तीत्यर्थः । अधर्मप्रवणचित्तानां मत्याऽऽत्मीयवंश्यहननोपाये वैराग्यं भवतीत्येवं सान्त्वनम् ॥ १४ ॥

अथेदानीं विप्रतिपत्तिविषयभूतद्रष्टविशेषापेक्षयाऽनृतवदने दोषमाह—

हिरण्यार्थेऽनृते हन्ति त्रीनेव च पितामहान् ।
पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ॥
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति साक्षी साक्ष्यं मृषा वदन् ॥ १५ ॥

अनु०—स्वर्ण के लिए झूठ बोलने पर साक्षी तीन पूर्वजों को नष्ट करता है, पशु के विषय में असत्य बोलकर पाँच और गाय के विषय मे असत्य बोलकर दश का, घोड़े के संबन्ध मे असत्य बोलने पर सौ का वध करता है । पुरुष के विषय में असत्य भाषण कर हजार का वध करता है, झूठी गवाही देने वाला साक्षी भूमि के विषय में असत्य बोलकर सम्पूर्ण का वध कर देता है ॥ १५ ॥

टि०—वध करने का भाव हरदत्त ने गौतम धर्मसूत्र २-४-१४ की व्याख्या में इस प्रकार किया है "तेषा (दशाना) वधे यावान्दोषः तावानस्य भवतीति" । (दस) के वध के बराबर दोष होता है, अर्थात् जिसके विषय मे असत्य भाषण किया गया हो उसका दस संख्या मे वध करने का दोष होता है । इस प्रकार उपर्युक्त सूत्र का

भाव होगा, पशु के विषय मे असत्य भाषण से पाँच पशु के वध का दोष, गाय के विषय मे असत्यभाषण से दस गाय के वध का दोष, अश्व के विषय में असत्यभाषण का सौ अश्व के वध का दोष, पुरुष के विषय में असत्यभाषण का हजार पुरुष के वध का दोष तथा भूमि के विषय मे असत्य भाषण से सम्पूर्ण प्राणियो के वध का दोष होता है। द्रष्टव्य गौतम० वही, सूत्र ११४–१६ "क्षुद्रपश्वनृते साक्षी दश हन्ति। गोऽश्वपुरुषभूमिषु दशगुणोत्तरान् सर्वं वा भूमौ" तथा इन सूत्रो पर हरदत्त की मिताक्षरा; मेरे अनुवाद सहित चौखम्बा संस्करण, पृ० १३५।

अत्र हिरण्यशब्दो रजतादिवचनः।

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्॥

इति सुवर्णविषये मानवदर्शनात्॥ १५॥

अथ साक्षिलक्षणमाह—

चत्वारो वर्णाः पुत्रिणः साक्षिणस्स्युरन्यत्र श्रोत्रियराजन्यप्रव्रजितमानुष्यहीनेभ्यः॥ १६॥

अनु०—श्रोत्रिय, राजा, संन्यासी, बन्धु-बान्धवहीन को छोड़कर सभी चारो वर्णों के लोग, जो पुत्र वाले हों, साक्षी हो सकते हैं॥ १६॥

टि०—'मानुष्यहीन' का अनुवाद ब्यूह्लर ने 'मानव बुद्धि से हीन' किया है।

मानुष्यहीनो बन्धुहीनः। एते श्रोत्रियराजन्यप्रव्रजिताः वचनादसाक्षिणः। बन्धुहीनस्तु दृष्टदोषात्। तथा च नारदः—

वचनाद्दोषतो भेदाः स्वयमुक्तिर्मृतान्तरः।

श्रोत्रियाद्या अवचनात्ते न स्युर्दोषदर्शनात्॥ इत्यादि॥ १६॥

साक्षिद्वैधे सति राज्ञा तत्पुरुषैश्च किं कर्तव्यमित्याह—

स्मृतौ प्रधानतः प्रतिपत्तिः॥ १७॥

अनु०—(विवाद-विषय के) स्मृतियुक्त दो साक्षी होने पर प्रधान साक्षी के वचन से निश्चय होता है॥ १७॥

टि०—'स्मृतौ' की स्पष्टतः व्याख्या गोविन्द स्वामी ने नहीं की है। उनके विचार से तथ्य का स्मरण करने वाले दो साक्षियों से यहाँ तात्पर्य है। जब दो साक्षी हों तो राजा को उस साक्षी के वचन के अनुसार निश्चय करना चाहिए जो तपस्या, विद्या आदि में प्रधान हो। इस सन्दर्भ में गोविन्द स्वामी ने मनु के वचन को भी उद्धृत किया है। ब्यूह्लर ने इस सूत्र का जो अनुवाद किया है उसका भावार्थ इस

प्रकार है' 'यदि (साक्षी यथार्थतः) वाद के तथ्यों को स्मरण करता है तो वह श्रेष्ठ लोगों से प्रशंसा प्राप्त करेगा।'

प्राधान्यं तपोनिर्दिष्टविद्यादिभिः, तद्वचनात् प्रतिपत्तिः निश्चयः । कार्य इत्यध्याहारः । किमुक्तं भवति—

द्वैधे बहूनां वचनं समेषु गुणिनां तथा ।
गुणिद्वैधे तु वचनं ग्राह्यं ये गुणवत्तराः ॥

इत्येतदुक्तं भवति ॥ १७ ॥

अतोऽन्यथा कर्तपत्यम् ॥ १८ ॥

अनु०—इससे भिन्न प्रकार से निर्णय करने पर वह नरक में गिरता है ॥१८॥

उक्तोपायादुपायान्तरेण निर्णये सति कर्तपत्यं नाम दोषो भवति । कर्तं नरकं तस्मिन् निपातः कर्तपत्यम् ॥ १८ ॥

तत्र च प्रायश्चित्तमाह—

द्वादशरात्र तप्तं पयः पिबन् कूष्माण्डर्वा जुहुयात् कूष्माण्डैर्वा जुहुयादिति ॥ १९ ॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने एकोनविंशः खण्डः ॥ १९ ॥

अनु०—(इसका प्रायश्चित्त इस प्रकार है): बारह दिन रात तक उष्ण दूध पिए या कूष्माण्ड मन्त्रों से होम करे ॥ १९ ॥

टि०—गोविन्द स्वामी की टीका के अनुसार यह होम राजा या राजपुरुष को करना चाहिए और आहवनीय अग्नि में ही करने चाहिए। 'यद्देवा देवहेलनम्' से लेकर 'पुनर्मनः पुनरायुर्म आगात्' तक (तैत्तिरीय आरण्यक १०.३–५) कूष्माण्ड मन्त्र हैं। प्रत्येक मन्त्र के साथ होम करे, कुछ आचार्यों के अनुसार प्रतिदिन होम की आवृत्ति करे। ब्यूह्लर ने यह प्रायश्चित्त मिथ्या साक्ष्य देने वाले के लिए बताया है।

घृतमिति शेषः । अस्मात्तत्वादाहवनीय एवाऽयं होमो राज्ञो राजपुरुषाणां च (?) । कूष्माण्डानि 'यद्देवा देवहेलनम्' इत्यारभ्य "पुनर्मनः पुनरायुर्म आगा" दित्यन्तान्यारण्यके प्रसिद्धानि । प्रतिमन्त्रं च होमभेदः । प्रत्यहं होमावृत्तिरिति केचित् । अपरे द्वादशरात्रस्याऽन्ते सकृदेवेत्याहुः ॥ १९ ॥

इति बौधायनधर्मसूत्रविवरणे गोविन्दस्वामिकृतौ
प्रथमप्रश्ने दशमोऽध्यायः ॥

एकादशोऽध्यायः

विंशः खण्डः

'साक्षिणः पुत्रिणः' (१९. १६.) इत्युक्तम् । केनोपायेन पुत्रिणो भवन्तीत्येतत्प्रसङ्गेन विवाहानामवतारः—

[1]अष्टौ विवाहाः ॥ १ ॥

अनु०—आठ प्रकार के विवाह कहे गये हैं ॥ १ ॥

उच्यन्त इति शेषः । नियमार्थमष्टग्रहणम् । ततश्च वक्ष्यमाणब्राह्मादिनियमधर्मलङ्घननिमित्तवर्णसङ्करो भवतीत्येतदर्थात्सूचितं भवतीति ॥ १ ॥

तत्राऽऽह—

श्रुतिशीले विज्ञाय ब्रह्मचारिणेऽर्थिने कन्या दीयते स ब्राह्मः ॥२॥

अनु०—जब वेद के विद्वान् व्यक्ति को, जिसके श्रुतिशील होने का ज्ञान प्राप्त कर लिया गया हो, जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर रहा हो और जिसने विवाहार्थ कन्या की याचना की हो, कन्या प्रदान की जाती है तब वह ब्राह्म नाम का विवाह होता है ॥ २ ॥

अयमाद्यो धर्मविवाहः । श्रुतं वेदार्थज्ञानं, शीलं सर्वसहिष्णुता । ब्रह्मचारी उपकुर्वाणोऽस्कन्नरेताश्च । कन्या अक्षतयोनिः । आह च मनुः—

आच्छाद्य चाऽऽर्चयित्वा च श्रुतशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्यायाः ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ इति ॥ २ ॥

आच्छाद्याऽलङ्कृत्यै"षा सहधर्मं चर्यता" मिति प्राजापत्यः ॥३॥

अनु०—जब पिता कन्या को वस्त्रों से आच्छादित कर तथा आभूषणों से अलङ्कृत कर 'यह तुम्हारी भार्या है, इसके साथ धर्मों का आचरण करो' ऐसा कहकर प्रदान करता है तो प्राजापत्य नाम का विवाह होता है ॥ ३ ॥

आच्छादनालङ्करणे कन्याया एव । वरस्याऽप्येके । "एषा" इत्यादिमन्त्रः । एषा ते भार्या । त्वदीयो द्रव्यसाध्यो धर्मोऽनया सह चर्यतामिति मन्त्रार्थः । एष प्राजापत्यो नाम द्वितीयः ॥ ३ ॥

तृतीयस्तु—

पूर्वां लाजाहुतिं हुत्वा गोमिथुनं कन्यावते दत्त्वा ग्रहणमार्षः ॥४॥

---

१. ब्राह्मं प्राजापत्य आसुरे पैशाच चाऽन्तर्भाव्य षडेव विवाहान् कथयत्यापस्तम्बाचार्यः । See आप. ध. २.१२–१७ ।

अनु०—यदि वर प्रथम लाजाहवन करके कन्यावाले को गोमिथुन (एक गाय और एक साँड) प्रदान कर कन्या को ग्रहण करता है तो वह आर्ष विवाह होता है ॥ ४ ॥

वैवाहिकीनां लाजाहुतीनां प्रथमाहुत्यनन्तरं कन्यास्वामिने गोमिथुनं वरं प्रदाय तस्या एव पुनर्ग्रहणमार्षो नाम विवाहः ॥ ४ ॥

चतुर्थः पुनः—

दक्षिणासु नीयमानास्वन्तर्वेदि ऋत्विजे स दैवः ॥ ५ ॥

अनु०—यदि यज्ञ में दक्षिणाओं के दिये जाते समय वेदि के समीप ही ऋत्विज् को कन्या प्रदान की जाय तो वह दैव विवाह है ॥ ५ ॥

टि०—जैसा कि गोविन्द स्वामी ने स्पष्ट किया है कन्या दक्षिणा के एक भाग के रूप में ऋत्विज् को मिलती है, ऋत्विज् 'प्रजापतिस्त्रियां यशः' इत्यादि छः मन्त्रों से कन्या को ग्रहण करता है और शुभ नक्षत्र में विवाह के होम करता है।

ऋत्विग्वरणवेलायामेव कश्चिद्वरसम्पद्भिर्युक्तमृत्विक्त्वेन वृत्वा दक्षिणाकाले तदीयभागेन सह कन्यां तस्मै दद्यात्। स च तां प्रतिगृह्य समाप्ते यज्ञे 'प्रजापतिस्त्रियां यशः' इति षड्भिर्मन्त्रैः पुनः प्रतिगृह्य शुभे नक्षत्रे विवाहहोमं कुर्यात्। स दैवो नाम ॥ ५ ॥

सकामेन सकामायां मिथस्संयोगो गान्धर्वः ॥ ६ ॥

अनु०—प्रेम करनेवाला पुरुष का यदि प्रेम करनेवाली कन्या से संयोग हो तो वह गान्धर्व विवाह कहलाता है ॥ ६ ॥

संयोगस्समवायः। विवाहहोमस्तु यथाविध्येव। एवंलक्षणको गान्धर्वो नाम पञ्चमः ॥ ६ ॥

षष्ठस्तु—

धनेनोपतोष्याऽऽसुरः ॥ ७ ॥

अनु०—कन्यावाले को धन से सन्तुष्ट करके विवाह करना आसुर विवाह कहलाता है ॥ ७ ॥

कन्यावन्तमुपतोष्य। यथाविध्येव होमः ॥ ७ ॥

सप्तम उत्तरः—

प्रसह्य हरणाद्राक्षसः ॥ ८ ॥

अनु०—बलपूर्वक कन्या का अपहरण कर विवाह करना राक्षस विवाह है॥८॥

अत्राऽपि तथैव विवाहः । यथा रुक्मिणीहरणं तथैव राक्षसः ॥ ८ ॥

तथाऽष्टमः—

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वोपयच्छेदिति पैशाचः ॥ ९ ॥

अनु०—सोती हुई, नशीली वस्तु से माती हुई, या (भयादि से) प्रमत्त बनी हुई कन्या से बलात् संभोग पैशाच विवाह कहलाता है ॥ ९ ॥

मदनीयेन द्रव्येण मत्ताम् । प्रमत्ता भयादिना प्रणष्टचेताः । उपगमनं चाऽर्थान्मैथुनमेव । आह च मनुः—

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचः प्रथितोऽष्टमः ॥ ९ ॥

तेषां चत्वारः पूर्वे ब्राह्मणस्य तेष्वपि पूर्वः पूर्वश्श्रेयान् ॥ १० ॥

अनु०—इन विवाहों मे प्रथम चार विवाह (ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव) ब्राह्मण के लिए उचित है और इनमें उत्तरोत्तर पूर्ववर्ती बाद वाले से श्रेयस्कर होता है ॥ १० ॥

ब्राह्मप्राजापत्यार्षदैवाश्चत्वारः प्रशस्ताः । तत्राऽपि पूर्वपूर्वविवाह उत्तरोत्तरस्मात् श्रेयान् वेदितव्यः ॥ १० ॥

उत्तरेषामुत्तरोत्तरः पापीयान् ॥११॥

अनु०—बाद के चार विवाहों (गान्धर्व, आसुर, राक्षस, पैशाच) दूसरे वर्णों के लिए अनुकूल है और प्रत्येक अपने पहले वाले से अधिक पापयुक्त होता है ॥११॥

उत्तरेषां वर्णानामुत्तरे गान्धर्वासुरराक्षसपैशाचाश्चत्वारो विवाहाः । अत्राऽपि पूर्वपूर्वश्श्रेयानिति वक्तव्ये उत्तरोत्तरः पापीयानिति वचनं पुनरन्त्यस्याऽत्यन्तपापिष्ठत्वख्यापनार्थम् । उदाहृतं चाऽत्र मानवम्—'स पापिष्ठो विवाहानाम्' इति ॥ ११ ॥

अत्राऽपि षष्ठसप्तमौ क्षत्त्रधर्मानुगतौ तत्प्रत्ययत्वात् क्षत्त्रस्येति ॥१२॥

अनु०—इन विवाहों मे भी षष्ठ और सप्तम (आसुर तथा राक्षस) क्षत्रिय धर्म के अनुकूल होते हैं क्योंकि क्षत्रिय में बल प्रधान होता है ॥ १२ ॥

तत्प्रत्ययत्वं तत्प्रधानत्वम् । बलं हि राज्ञां प्रधानम् । चोक्तम् -'क्षत्त्रियस्य बलान्वितम्' इति । आसुरेऽपि धनं बलहेतुतयाऽभिप्रेतम् ॥ १२ ॥

पञ्चमाष्टमौ वैश्यशूद्राणाम् ॥ १३ ॥

अनु०—पाँचवें और आठवें (गान्धर्व तथा पैशाच) क्रमशः वैश्यों और शूद्रों के लिए उचित हैं ॥ १३ ॥

पञ्चमो गान्धर्वः स वैश्यानां भवति । अष्टमः पैशाचः स शूद्राणाम् ॥१३॥ ईदृश्याः व्यवस्थायाः को हेतुरिति बुभुत्सूनामाह—

अयन्त्रितकलत्रा हि वैश्यशूद्रा भवन्ति ॥ १४ ॥

टि०—क्योंकि वैश्य और शूद्र पत्नियों के विषय में बहुत नियम का ध्यान नहीं रखते ॥ १४ ॥

अयन्त्रित अनियतं कलत्रं भार्या येषां ते भवन्ति अयन्त्रितकलत्राः । दारेष्वत्यन्तनियमस्तेषां न भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

तद्वा कथमिति चेत्—

कर्षणशुश्रूषाधिकृतत्वात् ॥ १५ ॥

अनु०—क्योंकि वे कृषि कर्म और दूसरों की सेवा का कार्य करते हैं ॥ १५ ॥

टि—यहां कृषि कर्म से वाणिज्य का भी अर्थ लिया जायगा । निकृष्ट कर्म करने से वैश्य और शूद्र के विवाह भी उसी तरह के अनियमित होते हैं ।

कर्षणं वाणिज्यादीनामप्युपलक्षणार्थम् । निकृष्टकर्माधिकृतत्वात्तयोर्विवाहा अपि तादृशा एवेत्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

गान्धर्वमप्येके प्रशंसन्ति सर्वेषां स्नेहानुगतत्वात् ॥ १६ ॥

इति बौधायनधर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने विंशः खण्डः ॥ २० ॥

अनु०—कुछ आचार्य सभी वर्णों के लिए गान्धर्व विवाह की अनुमति देते हैं, क्योंकि वह प्रेम के ऊपर आश्रित होता है ॥ १६ ॥

एतद्धि गान्धर्वस्य लक्षणम्—'सकामेन सकामायाम्' इति । तत्र स्नेह मनश्चक्षुषोर्निबन्धः । तदन्वयगतं विहितविवाहकर्म । तथा चाऽऽपस्तम्ब— 'यस्यां मनश्चक्षुषोर्निबन्धस्तस्यामृद्धिर्नेतरदाद्रियेत' इति ॥ १६ ॥

एकविंशः खण्डः

[1]यथायुक्तो विवाहस्तथायुक्ता प्रजा भवती · वज्ञायते ॥ १ ॥

---

१. See आप. ध. २. १२. ४. ।

अनु०—वेद में यह बताया गया है कि जिस प्रकार के गुणवाला विवाह होता है उसी प्रकार के गुणवाले पुत्र भी होते है ।। १ ।।

प्रशस्ते विवाहे यत्न आस्थेय इत्यभिप्राय । तथा च सति तत्रोत्पन्नाः पुत्रा अपि साधवो भविष्यन्ति ।। १ ।।

[1]अथाऽप्युदाहरन्ति—

साधवस्त्रिपुरुषमार्षाद् दश दैवाद् दश प्राजापत्याद् दश पूर्वान् दशाऽपरानात्मानं च ब्राह्मीपुत्र इति विज्ञायते ।। २ ।।

अनु०—इस सन्दर्भ मे धर्मशास्त्रज्ञ निम्नलिखित पद्य भी उद्धृत करते हैं—

आर्ष विवाह से उत्पन्न साधु आचरण वाले पुत्र तीन पुरुषो को, दैव विवाह से उत्पन्न दस, प्राजापत्य से उत्पन्न दस को तथा ब्राह्म विवाह से उत्पन्न पुत्र दस पूर्ववर्ती, दस परवर्ती पुरुषों को तथा स्वयं को पवित्र करता है ।।२।।

टि०—गोविन्द स्वामी ने इसकी व्याख्या नहीं दी है। ब्यूह्लर ने दो सूत्रों का अनुवाद टिप्पणी में दिया है, क्योंकि उनकी प्रति मे इनका अभाव है। उनके अनुवाद का भाव इस प्रकार है : "दैव विवाह से दस सदाचारी पुत्र और पुत्रियां (उत्पन्न होती है), प्राजापत्य विवाह से दस। वेद में यह कहा गया है कि ब्राह्म विवाह से विवाहित पुत्री का पुत्र दस पूर्वजों, दस वंशजों को और स्वयं को पवित्र करता है।' प्रथम अंश चिन्त्य है। द्रष्टव्य—गौतमधर्मसूत्र १.४.२४–२७. "पुनन्ति साधवः पुत्राः। त्रिपुरुषमार्षात्। दश दैवाद्दशैव प्राजापत्यात्। दश पूर्वान्दश परानात्मानं च ब्राह्मीपुत्राः।" मेरे अनुवाद सहित संस्करण, पृ० ४५। इस सूत्र का ब्यूह्लर कृत अनुवाद में 'उत्पन्न होने' का अर्थ संगत नही है।

तेनाऽस्मिन्नर्थे ब्राह्मणमपि भवतीत्येतदाह ।। २ ।।

तदाह—

वेदस्वीकरणशक्तिरप्येवविधानामेव पुत्राणां भवतीति ।। ३ ।।

अनु०—वेद को ग्रहण करने की शक्ति भी इसी प्रकार के पुत्रो (आर्ष, दैव, प्राजापत्य तथा ब्राह्म विवाह से उत्पन्न पुत्रो) मे ही होती है ।। ३ ।।

ऋज्वेतत् ।। ३ ।।

आसुरादिविवाहो ब्राह्मणानां निन्द्य इत्याह—

क्रीता द्रव्येण या नारी सा न पत्नी विधीयते ।
सा न दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां कश्यपोऽब्रवीत् ।। ४ ।।

१. इदमग्रिमं च सूत्रं मूलपुस्तकेषु न स्तः ।

अनु०—जो नारी धन देकर खरीदी गयी होती है वह पत्नी नहीं होती । वह न तो दैवकार्यों में सहधर्मिणी हो सकती है और न पितृकर्मों में । कश्यप ने ऐसी नारी को दासी बताया है ॥ ४ ॥

क्रीताया वेदोक्तकर्मण्यधिकारो नास्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

कन्याविक्रयोऽपि न कर्तव्य इत्याह—

शुल्केन ये प्रयच्छन्ति स्वसुता लोभमोहिताः ।
आत्मविक्रयिणः पापा महाकिल्बिषकारकाः ॥

पतन्ति नरके घोरे घ्नन्ति चाऽऽसप्तमं कुलम् ।
गमनागमनं चैव सर्वं शुल्को विधीयते ॥ ५ ॥

अनु०—जो अधम व्यक्ति लोभाभिभूत होकर धन लेकर पुत्री को (विवाह के लिए) देते है, वे स्वयं अपना ही विक्रय करते हैं, अत्यन्त पापी होते है, वे घोर नरक में गिरते है और अपने वंश की सातवीं पीढ़ी तक को नष्ट कर देते हैं। वे बार-बार जन्म लेते है और मरते हैं, ये सभी दोष कन्या के बदले धन लेने पर उत्पन्न बताये गये हैं ॥ ५ ॥

कन्याविक्रयी कुत्सितजन्मभाग्भवति, अधःपाती च । तस्मात्कन्याविक्रयो न कर्तव्य इत्यर्थः ॥ ५ ॥

ब्राह्मादिविवाहोत्पन्नानां पुत्राणां वेदस्वीकरणे शक्तिरित्युक्तम् । तत्राऽविघ्नेन वेदस्वीकरणायाऽनध्ययनप्रकरणमारभ्यते—

पौर्णमास्यष्टकामावास्याग्न्युत्पातभूमिकम्पश्मशानदेशपतिश्रोत्रियैकतीर्थप्रायणेष्वहोरात्रमनध्यायः ॥ ६ ॥

अनु०—पौर्णमासी को, उसके बाद की अष्टमी को, अमावस्या को, गांव मे अग्निदाह होने पर, भूमिकम्प होने, श्मशान मे जाने पर, देश के राजा, विद्वान् ब्राह्मण, या अपने ही गुरु से विद्या ग्रहण किये हुए सतीर्थ के मरने पर एक दिन और रात के लिए वेद का अनध्याय होता है ॥ ६ ॥

पौर्णमासी तिथिः यस्यां चन्द्रमाः पूर्ण उत्सर्पेत् । अष्टका पौर्णमास्या उपरिष्टादष्टमी । अमावास्या अमा सह सूर्येण यस्यां तिथौ चन्द्रमा भवति सा । अग्न्युत्पातः यस्मिन् ग्रामे गृहदाहस्तस्मिन् ग्रामे । भूमिकम्पो भुवश्चलनम् । श्मशानं शवशयनम्, शरीरस्य दहनभूमिः निक्षेपभूमिर्वा । तत्र गमनदिवसेऽपि प्रायणं मरणम् । तच्च देशपत्यादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । देशपती राजा

तस्य राष्ट्रे वसन् तन्मरणादिवसेऽपि । एकः तीर्थः गुरुः ययोरिति विग्रहः । एतेष्वहोरात्रं नाऽधीयीतेति ॥ ६ ॥

वाते पूतिगन्धे नीहारे नृत्तगीतवादित्ररुदितसामशब्देषु तावन्तं कालम् ॥ ७ ॥

अनु०—वेगपूर्वक वायु के बहने, दुर्गन्ध आने, ओस गिरने, नृत्य होने, गीत और वाद्ययन्त्र की ध्वनि सुनाई पड़ने, रोने की ध्वनि आने पर या साम का गान सुनाई पड़ने पर उतने समय तक अनध्याय होता है, जब तक ये घटनायें होती रहती है ॥ ७ ॥

वातो वायुः दिवा चेत्पांसुगन्धहरः । नक्तं चेत् कर्णश्रावी । पूतिगन्धो दुर्गन्धः । नीहारो हिमप्रावरणम् । (तच्च हिमानी) तत्राऽऽहिमात् तावदनध्यायः । वादित्रं वीणावादनम् । यावदेतानि निवर्तन्ते तावदनध्यायः ॥ ७ ॥

[1]स्तनयित्नुवर्षविद्युत्सन्निपाते त्र्यहमनध्यायोऽन्यत्र [2]वर्षाकालात् ॥ ८ ॥

अनु०—मेघगर्जन, बिजली की चमक तथा वर्षा के एक साथ होने पर, वर्षाकाल से अन्य समय मे तीन दिन का अनध्याय होता है ॥ ८ ॥

स्तनयित्नुर्मेघगर्जितम् । विद्युत्तटित् । अग्रमुख्यमन्यत् ॥ ८ ॥

वर्षाकालेऽपि वर्षवर्जमहोरात्रयोश्च तत्कालम् ॥ ९ ॥

अनु०—वर्षाकाल मे भी मेघगर्जन और बिजली की चमक साथ-साथ होने पर दूसरे दिन या दूसरी रात के उसी समय तक का अनध्याय होता है ॥ ९ ॥

टि०—गोविन्द स्वामी के अनुसार रात्रि या दिन की समाप्ति तक ही अनध्याय होता है ।

वर्षाकालेऽपि विद्युत्स्तनयित्नुसन्निपातेऽहनि चेदास्तमयादनध्यायः । रात्रौ चेदोषसः ॥ ९ ॥

[3]पित्र्यप्रतिग्रहभोजनयोश्च तद्दिवसशेषम् ॥ १० ॥

अनु०—श्राद्ध के अवसर पर दान लेने या भोजन करने पर दिन के शेषभाग में अनध्याय रहता है ॥ १० ॥

---

१ See. आप. ध. १.११.२३. २. वार्षिकात् इति क. पु.

३.cf. आप. ध. १.११.२२.

टि०--गोविन्द के अनुसार जब श्राद्धभोजन का निमन्त्रण प्राप्त हो उसी समय से अनध्याय होता है।

पितरो देवता यस्य कर्मणस्तत्पित्र्यं, तस्मिन् आमश्राद्धार्थे वा भोजनार्थे वा निमन्त्रणप्रभृत्यनध्यायः ॥ १० ॥

भोजने'ष्वाजरणम् ॥ ११ ॥

अनु०--श्राद्धभोजन करने पर जब तक भोजन पच न जाय तब तक अनध्याय होता है ॥ ११ ॥

अनध्याय इत्येव। भोजनपक्षे निमन्त्रणप्रभृत्याजरणमित्यर्थः ॥ ११ ॥

कथं पुनरभुक्तवत्येव भोजनाभ्युपगममात्रे आमन्त्रणरूपे पाणौ चामश्राद्धेऽनध्याय इत्याशङ्कयाऽऽह--

पाणिमुखो हि ब्राह्मणः ॥ १२ ॥

अनु०--क्योंकि ब्राह्मण का हाथ ही उसका मुख होता है ॥ १२ ॥

आमश्राद्धस्याऽप्येतदेव लिङ्गम् ॥ १२ ॥

एतदेव द्रढयितुमाह--

अथाऽप्युदाहरन्ति--

भुक्तं प्रतिगृहीतं च निर्विशेषमिति श्रुतिः ॥ १३ ॥

अनु०--इस विषय में निम्नलिखित उद्धृत किया जाता है।

(श्राद्ध के अवसर पर) भोजन करने तथा दान ग्रहण करने में कोई अन्तर नहीं है, ऐसा श्रुति का कथन है ॥ १३ ॥

टि०--यह समानता का नियम अनध्याय के विषय में ही समझना चाहिए। प्रायश्चित्त के सन्दर्भ में नहीं।

अनध्याय एवाऽयमविशेषः। प्रायश्चित्तं तु प्रतिगृहीतेऽर्धमेव 'आमश्चेदर्धमेव' इति स्मरणात्। भोजनप्रायश्चित्तं च स्मृत्यन्तरादवगन्तव्यम्--

चान्द्रायणं नवश्राद्धे पराको मासिके तथा।
पक्षत्रये तु कृच्छ्रं स्यात् षाण्मासे कृच्छ्रमेव तु ॥
सपिण्डे तु त्रिरात्रं स्यादेकरात्रं तथाऽब्दिके ॥
दशकृत्वः पिबेदापो गायत्र्या चाऽभिमन्त्रिताः।
मासि श्राद्धे च तामेव नित्यश्राद्धे जपेच्छतम् ॥ इति ॥ १३ ॥

१. आजीर्णान्तम् इति.

पितुर्युपरते त्रिरात्रम् ॥ १४ ॥

अनु०—पिता की मृत्यु होने पर तीन दिन का अनध्याय होता है ॥ १४ ॥

वि०—यह नियम गुरुकुल मे अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी के लिए है और यहां पिता से तात्पर्य है उपाध्याय से, क्योंकि उपाध्याय को वेद प्रदान करने के कारण पिता ही कहा जाता है। साक्षात् पिता की मृत्यु पर शुद्धिपर्यन्त द्वादश दिन का अनध्याय करना होता है। गोविन्दस्वामी।

उपरते मृते। अनध्याय इत्यनुवर्तते। असमावृत्तस्याऽयम्। समावृत्तस्य त्वशुचिभावादेवाऽनध्यायः प्राप्तः। अत्रोपाध्यायमेव वेदप्रदानात् पितेत्याह। साक्षात्पितरि द्वादशाहविधानात्—'मातरि पितर्याचार्य इति द्वादशाहाः' ॥ इति ॥ १४ ॥

कथमयमपि पितेति चेत्तदाह—

[1]द्वयमु ह वै सुश्रवसोऽनूचानस्य रेतो ब्राह्मणस्योर्ध्वं नाभेरधस्तादन्यत् स यदूर्ध्वं नाभेस्तेन हैतत् प्रजायते यद्ब्राह्मणानुपनयति यदध्यापयति यद्याजयति यत्साधु करोति सर्वाऽस्यैषा प्रजा भवति। अथ यदवाचीनं नाभेस्तेन हास्यौरसी प्रजा भवति तस्माच्छ्रोत्रियमनूचानमप्रजोऽसीति न वदन्ति ॥ १५ ॥

अनु०—श्रमपूर्वक वेदाध्ययन करने वाले विद्वान् ब्राह्मण का वीर्य दो प्रकार का होता है—नाभि से ऊपर के भाग मे विद्यमान रहने वाला तथा उससे नीचे रहने वाला। नाभि से ऊपर विद्यमान वीर्य से उसके पुत्र होते हैं जिन ब्राह्मणो का वह उपनयन करता है, अध्यापन करता है, यज्ञ कराता है तथा जिन्हें पवित्र बनाता है—ये सभी उसकी सन्तान होते हैं। जो वीर्य नाभि से नीचे होता है उससे शरीर से उत्पन्न होने वाले पुत्र होते हैं। इस कारण वेद के विद्वान से यह नही कहा जाता है कि तुम नि:सन्तान हो।

वि०—अनूचान वह है जो वेद का अर्थसहित तथा अंगोंसहित अध्ययन करता है। नाभि के ऊपर विद्यमान रहने वाला वीर्य प्राणवायु है जो मुख मे अनेक प्रकार के शब्दों का अभिव्यंजक होता है। इसके द्वारा चार प्रकार के पुत्र होते है—जिनका उपनयन करता है, जिनका अध्यापन करता है, जिनका यज्ञ करता है और जिन्हें पवित्र करता है। यही प्रजाओं का श्रेष्ठ जन्म है। इस विषय में आपस्तम्ब का

---

१. cf. वासिष्ठ ध. २.७–१०

कथन है)---तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयतः इति। इस प्रकार वेद प्रदान करने वाले पिता की मृत्यु होने पर तीन दिन का अनध्याय होता है।

उह वै इति पदद्वयं त्रयं वा शब्दशोभार्थम्। सुश्रवस इति शृणोतेरौणादिकोऽसुन् प्रत्ययः। श्रमेण युतवत इत्यर्थः। अनूचानो वेदतदर्थाङ्गाध्यायी। ईदृशस्य ब्राह्मणस्य द्वयं रेत प्रजननहेतुर्विद्यते। तत्र ऊर्ध्वं नाभेरेकम्। स च प्राणवायुः नाभेरुत्थितो वक्त्रे विचरन् विविधानां शब्दानामभिव्यञ्जकः। अवाचीनो न्यक्। स च नाभेरवाचीनाग्रे उत्पन्नः शुक्रविसर्ग हेतुः वायुः। तत्र ऊर्ध्वाग्रेण रेतसा चतस्रः प्रजा उत्पादयति—उपनयनाध्यापनयाजनसाधुकृत्याभिः। आर्यैव ईदृशं प्रजा उत्पादयितुं शक्तिरस्ति। एतद्धि प्रजानां श्रेष्ठतरं जन्म शरीरान्तरेऽप्यनुग्राहकत्वात्। तथा चाऽऽपस्तम्बः—'तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयतः' इति। पशुवदेवेत्यभिप्रायः। उक्तं च-'कामं मातापितरौ चैनमुत्पादयतो मिथः' इति। अथ यदवाचीनं नाभेस्तेन हाऽस्यौरसी प्रजा भवति। यस्मादेवंविधस्य पुरुषस्य चतस्रः प्रजास्सन्ततिः केवलं श्रोत्रियस्याऽध्यापननिमित्ताऽस्ति तस्मादौरसस्याभावेऽप्यसुमप्रजोसीति विद्वांसो न वदन्ति। तस्माद्वेदप्रदानपितरि मृते त्र्यहमनध्यायो युक्तः॥ १५॥

यस्मादेवम्—

तस्माद् द्विनामा द्विमुखो विप्रो द्विरेता द्विजन्मा चेति॥ १६॥

अनु०—इस कारण ब्राह्मण के दो नाम, दो मुख, दो प्रकार का वीर्य तथा दो जन्म होते हैं॥ १६॥

द्वे नामनी यस्य स द्विनामा 'तस्माद् द्विनामा ब्राह्मणोऽर्धुकः' इति श्रुतिअर्धुकस्समृद्धः। द्वे चास्य मुखे पाणिरास्यमिति द्विमुखः। द्वे रेतसी शुक्लमेकं, द्वितीयं ब्रह्म। जन्मनी अपि द्वे माता ब्राह्मणश्च॥ १६॥

अथ प्रकृतमनुसरामः—

शूद्रापपात्रश्रवणसंदर्शनयोश्च तावन्तं कालम्॥ १७॥

अनु०—शूद्र या अपपात्र की ध्वनि सुनाई पड़ती हो या वे दिखलाई पड़ते हों तो उतने समय तक अनध्याय होता है, जितने समय तक उनकी ध्वनि का श्रवण हो या वे दिखलाई पड़ते हों॥ १७॥

[1]समुच्चितयोरप्यपपात्रनिषेधः। ततश्च कुर्यादतिरोहिते अपपात्रे अनध्यायम्॥ १७॥

---

१. सर्वेष्वपि पुस्तकेष्वशुद्धिरेवाऽत्र,

नक्तं शिवाविरावे नाऽधीयीत स्वप्नान्तम् ॥ १८ ॥

अनु०—रात्रि मे यदि एक शृगाल का विशेष प्रकार का रुदन सुनाई पड़े तो उस समय तक अनध्याय होता है जब तक सोकर फिर न जागे ॥ १८ ॥

रात्रौ शिवाविरावे वृद्धगोमायुरुते । तच्च विशिष्टरुतम् । तस्मिन् सति सुप्त्वा बुद्ध्वाऽध्येतव्यम् ॥ १८ ॥

अहोरात्रयो[1]स्सन्ध्ययोः पर्वसु च नाऽधीयीत ॥ १९ ॥

अनु०—दिन और रात्रि की सन्धियो अर्थात् सन्ध्या और प्रातःकालीन गोधूलि के अवसर पर तथा पर्व दिनो (दोनो अष्टमी तथा दोनों चतुर्दशी) को अध्ययन न करे ॥ १९ ॥

तत्रैका सन्ध्याऽरुणप्रभातमारभ्य आ सूर्योदयदर्शनात् । अपराऽस्तमया-दारभ्य आ नक्षत्रोदयात् । पर्वस्विति बहुवचनात् बह्व्यस्तिथयो गृह्यन्ते । एका तावत्पर्वद्वयमध्यगता अष्टमी । उभयोरपि पर्वणोरभितस्तिथिद्वयं चतुर्दशी प्रतिपच्चेति । अतोऽष्टमीद्वयं चतुर्दशीद्वयं प्रतिपद्द्वयं च गृहीतं भवति । चशब्दाद्यस्यां तिथावादित्योऽस्तमेति साऽभिप्रेता । तथा हि—

यां तिथिं समनुप्राप्य अस्तं याति दिवाकरः ।
सा तिथिर्मुनिभिः प्रोक्ता दानाध्ययनकर्मसु ॥ इति ॥

तावन्तं कालं सा सा तिथिरित्यर्थः ॥ १९ ॥

पर्वप्रसङ्गादित्थमन्यः पर्वणि नियम उच्यते—

न मांसमश्नीयान्न स्त्रियमुपेयात् ॥ २० ॥

अनु०—इन पर्व दिनो को मांस भक्षण न करे और न पत्नीसमागम ही करे ॥ २० ॥

एतदतिक्रमेऽप्यध्ययनविघ्न एव भवतीति कल्प्यते ॥ २० ॥

पर्वसु हि रक्षःपिशाचा[2]व्यभिचारवन्तो भवन्तीति विज्ञायते ॥ २१ ॥

अनु०—श्रुति में कहा गया है कि पर्व दिनों मे राक्षस तथा पिशाच मनुष्यों को हानि पहुंचाने के लिए विचरण करते रहते है ॥ २१ ॥

टि०—पर्व दिनों में राक्षस और पिशाच ही मांस भक्षण करते है तथा सम्भोग-रत होते है, अतः मनुष्यो को इन कर्मों से उन दिनो विरत रहना चाहिए, अन्यथा राक्षस और पिशाच बाधा का अनुभव कर मनुष्यो को हानि पहुँचाते हैं । गोविन्दस्वामी ।

---

१. सन्ध्यो: इति इ पु. २. "व्यतिचारवन्तः" इति. इ. ई. ख. पुस्तकेषु ।

अतिरेपेत्यभिमानिना विज्ञायत इति गमयति । पर्वसु रक्षांसि पिशाचाश्च व्यभिचारवन्त. । वि वैविध्ये, अभीत्याभिमुख्ये. चरतिः गमने. भक्षणे च वर्तते । पर्वसु विविधं गच्छन्ति विविधं भक्षयन्ति च । पर्वसु व्यभिगमन-मांसाशनवन्तीत्यर्थः । तद्यदि मनुष्या अपि कुर्युः तान् रक्षःपिशाचाः बाधन्ते । अतोऽस्मादेव भया'न्निवर्तितव्यम् ॥ २१ ॥

प्रकरणार्थमेवाऽनुसरति—

अन्येषु चाद्भुतोत्पातेष्वहोरात्रमनध्यायोऽन्यत्र मानसात् ॥२२॥

अनु०—अन्य प्रकार के अद्भुत उत्पातों के होने पर भी रात्रि-दिन का अनध्याय होता है, किन्तु मन से वेद का अध्ययन किया जा सकता है ॥ २२ ॥

टि०—उपर्युक्त अनध्याय विषयों में मानस अध्ययन का निषेध नहीं है, किन्तु कुछ अन्य अवसर हैं जब मानस अध्ययन भी निषिद्ध है ।

अद्भुतमाश्चर्यम् । यथा अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि, ग्रावाणः प्लवन्ते, जले चाऽग्न्युद्भवोऽग्नौ पद्मोद्भवः इत्याद्युत्पातः । पदार्थं विपर्ययप्रदर्शनम् । यथा स्थावरस्य देशान्तरगमनं प्रतिमारोदनरुधिरस्रवणादि । यद्वा—षष्ठीतत्पुरुषोऽयमद्भुतोत्पातेष्विति । अन्येषु चाद्भुतोत्पातेष्विति । एतेष्वहोरात्रमनध्यायो-ऽन्यत्र मानसादध्ययनात् । मानसाध्ययनविशिष्ट एव सर्वानध्यायविशेषो द्रष्टव्यः । क्वचिन्मानसेऽपि निषेधदर्शनात् । यथा—

> उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रे च विसर्जयन् ।
> उच्छिष्टश्राद्धभुक चैव मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥ इति ॥

मानसेऽपि जननमरणयोरनध्यायः ॥ २३ ॥

अनु०—जन्म और मरण के अवसर पर मानस वेदाध्ययन भी नहीं करना चाहिए ॥ २३ ॥

अपिशब्दाद्वाचिकेऽपि । जननमरणग्रहणं सर्वेषामात्माशुचिभावानामुपलक्षणम् । तथा च स्वाध्यायब्राह्मणम्—'तस्य वा एतस्य यज्ञस्य द्वावनध्यायौ यदात्माऽशुचिर्यद्देशः' इति ॥ २३ ॥

'अशुचिर्नाऽधीयीत' इति यदुक्तं तद्वाचिकस्यैव मा विज्ञायीति ज्ञापनार्थं विनिन्दन्ति—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

हन्त्यष्टमी ह्युपाध्याय हन्ति शिष्यं चतुर्दशी ।

---

१. न कर्तव्यं क. गु.

हन्ति पञ्चदशी विद्यां तस्मात्पर्वाणि वर्जयेत् ॥२४ ॥

अथाऽतः प्रायश्चित्तानि ।

[1]यथायुक्तो विवाहः । अष्टौ विवाहाः । क्षत्रियवध गोसहस्रम् । षड्भागभृतो राजा रक्षेत् । रथकाराम्बष्ठ । चत्वारो वर्णाः । उत्तरत उपचारो विहारः । मृन्मयाना पात्राणाम् । शुचिमध्वरं देवा जुषन्ते । अभक्ष्याः पशवो ग्राम्याः । सपिण्डेष्वादशाहम । गोचर्ममात्रम् । नित्यं शुद्धः कारुहस्तः । अथाऽतश्शौचाधिष्ठानम् । कमण्डलुर्द्विजातीनाम् । अथ कमण्डलुचर्यामुपदिशन्ति । अथ स्नातकस्य । धर्मार्थौ यत्र न स्याताम् । अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि । पञ्चधा विप्रतिपत्तिः । उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम् ॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने एकविंशः खण्डः ॥

अनु०—इस विषय मे निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया जाता है अष्टमी को अध्ययन करना उपाध्याय का ही नाश करता है, चतुर्दशी का (अध्ययन) शिष्य का ही विनाश करता है, पंचदशी विद्या का ही नाश करती है । इस कारण इन पर्व दिनों पर अनध्याय नही करना चाहिए ॥ २४ ॥

उपाध्यायहनने तदलाभकृतो विघ्नो लक्ष्यते । एवं शिष्यहननेनाऽपि तदध्येत्रभावकृतः । विद्याहननेनाऽपि पुरुषान्तरनैरपेक्ष्याभावो लक्ष्यते । अन्योऽप्यध्ययनविघ्नसद्भावो द्रष्टव्यः । अत्यन्तनिश्श्रेयसत्वादध्ययनस्य विघ्नसन्ततिरवश्यम्भाविनी । सा च तद्वर्जनेनैव परिहरणीया तथा चोक्तम्— 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इति ॥ २४ ॥

इति बौधायनीयधर्मसूत्रविवरणे गोविन्दस्वामिकृते प्रथमप्रश्ने

गृह्यसूत्रे चतुर्दशप्रश्ने एकादशोऽध्यायः ।

प्रथमः (गृह्यसूत्रे चतुर्दशः) प्रश्नः समाप्तः

---

१. इमानि सूत्रैकदेशरूपाणि तत्तत्खण्डप्रतीकरूपाणि प्रश्नसमाप्त्यनन्तरमध्येतृ-सम्प्रदायेऽधीयन्ते प्रातिलोम्येन । तदनुसारेण मूलपुस्तकेषु लिखितानीत्यत्राऽपि मूल-सूत्रानन्तरं सम्प्रदायाविच्छेदाय लिखितानि ।

अथ द्वितीयः प्रश्नः

प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डः

ब्रह्महत्यादिषु दण्ड उक्तः 'अवध्यो वै ब्राह्मणस्सर्वापराधेषु' इत्येवमादिना—

अथाऽतः प्रायश्चित्तानि ॥ १ ॥

अनु०—अब हम प्रायश्चित्तों का वर्णन करेंगे ॥ १ ॥

वक्ष्याम इति शेषः। विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवानिमित्तदोषफलं यैः कर्मभिः नाऽनुभुङ्क्ते तानि प्रायश्चित्तानि। [1]तत्राऽपराधिनोऽननुतापिनो बलादानीतस्य दण्डप्रायश्चित्तयोस्समुच्चयः। [2]स्वयमेवाऽऽगत्य राज्ञे निवेदयमानस्य दण्ड एव। यः पुनरनुतापेन प्रायश्चित्तमनुतिष्ठति तस्य तेनैव भवितव्यम्। एनोभूयस्तव क्रमनियम हेतुः ॥ १ ॥

इदमत्र प्रथमं ब्रह्मघ्न आह—

भ्रूणहा द्वादश समाः ॥ २ ॥

अनु०—विद्वान ब्राह्मण की हत्या करने वाला बारह वर्षों तक निम्नलिखित प्रायश्चित करे ॥ २ ॥

टि०—भ्रूण का अर्थ है यज्ञ और भ्रूण और यज्ञ को धारण करने वाले विद्वान ब्राह्मण का वध करने वाला भ्रूणहा कहा गया है।

भ्रूणं यज्ञं बिभर्ति पाति नयतीति तत्साधनवधकारी भ्रूणहा ब्रह्मेति यावत्। समाः संवत्सरान्। वक्ष्यमाणव्रतं चरेत् ॥ २ ॥

तदाह—

कपाली खट्वाङ्गी गर्दभचर्मवासा अरण्यनिकेतनः श्मशाने ध्वजं शवशिरः कृत्वा कुटीं कारयेत्तामावसेत् सप्ताऽगाराणि भैक्षं चरेत् स्वकर्माऽऽचक्षाणस्तेन प्राणान्धारयेदलब्धोपवासः ॥ ३ ॥

अनु०—कपाल (खोपड़ी) लेकर, चारपाई का एक पाया (दण्ड के स्थान पर) लेकर, गदहे का चर्म धारण कर, वन में निवास करते हुए, श्मशान में मनुष्य की खोपड़ी को ध्वजा की तरह धारण करते हुए, कुटी बनावे और उसी में निवास

---

१. अनुपतापिनः इति ग. पु.

२. यस्तु स्वयमेवागत्य राज्ञे निवेदयेत् तस्य दण्ड एव इति ग. पु.

करे। अपने पाप कर्म की घोषणा करते हुए केवल सात घरों से भिक्षा मांगे, जो कुछ मिले उसी से जीवन धारण करे और कुछ भी भोजन न प्राप्त होने पर उपवास करे ॥ ३ ॥

टि०—भिक्षा मांगते समय खोपड़ी को चिह्न के रूप में धारण करे। यह खोपड़ी उस व्यक्ति की हो जिसकी हत्या की हो अथवा किसी अन्य मृतव्यक्ति की भी हो सकती है। 'ब्रह्महा अस्मि' अथवा 'ब्रह्मघ्ने भिक्षां देहि' कहकर भिक्षा मांगे। इस प्रकार बारह वर्ष तक का प्रायश्चित्त करे। यह प्रायश्चित ब्राह्मण का ब्राह्मण द्वारा हत्या के प्रसंग में है।—गोविन्द स्वामी।

खट्वाया अङ्गं पादादि तद्दण्डार्थं भवति। गर्दभस्य चर्म वासो यस्य स तथोक्तः। अरण्यमस्य निकेतनं विहरणदेशः; चङ्क्रमणदेश इति यावत्। श्मशानं निरुक्तम्। तत्र कुटीं कारयेदिति सम्बन्धः। शवस्य शिरो ध्वजं चिह्नं कुर्यात् भिक्षाकाले—यं हत्वा एतच्चरति तस्य शिर इति। यस्य कस्यचिदित्यन्ये। तथा च सति शवग्रहणमकिञ्चित्करं स्यात्। स्वकर्माऽऽचक्षाणः—'ब्रह्महाऽहमस्मीति' 'ब्रह्मघ्ने भिक्षां देही'ति ब्रुवन् भिक्षां चरन्नपि यदि भिक्षां सप्तागारेष्वपि न लभेत तदोपवासः कार्यः। तामेव कुटीमधिवसेत्। एवं द्वादश समाश्चरन् पूतो भवति। ब्राह्मणाधिकारिकमिदं प्रायश्चित्तम्। यतस्सुमन्तुराह—'ब्राह्मणो ब्राह्मणं हत्वा' इति ॥ ३ ॥

अधुना द्वादशवार्षिकस्य व्रतस्य प्रायश्चित्तान्तरमाह—

अश्वमेधेन गोसवेनाऽग्निष्टुता वा यजेत ॥ ४ ॥

अनु०—अथवा अश्वमेध, गोसव, और अग्निष्टुत यज्ञ करे ॥ ४ ॥

टि०—अश्वमेध का विधान विशेष रूप से राजा के लिए किया गया है।

आहिताग्नेरिष्टप्रथमसोमस्य एतयोः प्रायश्चित्तसमाधानं कार्यम्। अश्वमेधस्तु राजयज्ञत्वात् 'राजा विजितसार्वभौमः' इत्येवं विशिष्टस्य राज्ञो भवति ॥४॥

अश्वमेधावभृथे वाऽऽत्मानं प्लावयेत् ॥ ५ ॥

अनु०—अश्वमेधयज्ञान्त स्नान में अपने को जल में अथवा आप्लुत करे ॥ ५ ॥

अन्यस्याऽप्यश्वमेधावभृथे वा आत्मानं स्नापयेत्। एतानि प्रायश्चित्तानि हन्तृगुणापेक्षया हन्यमानगुणापेक्षया वा विकल्प्यन्ते ॥ ५ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति—

अमत्या ब्राह्मणं हत्वा दुष्टो भवति धर्मतः।
ऋषयो निष्कृतिं तस्य वदन्त्यमतिपूर्वके।

मतिपूर्वं घ्नतस्तस्य निष्कृतिर्नोपलभ्यते ॥ ६ ॥

अनु०—इस सन्दर्भ मे निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया जाता है--

जो व्यक्ति अनजान मे ही ब्राह्मण की हत्या करता है वह धर्मानुसार पापयुक्त हो जाता है। ऋषियो ने अनजान में ही ब्राह्मणवध करने पर उस व्यक्ति के लिए दोष से मुक्ति का विधान किया है, किन्तु जानबूझ कर वध करने वाले व्यक्ति को पाप से मुक्ति नही मिलती ॥ ६ ॥

टि०—मनु का कथन भी द्रष्टव्य है कि जानबूझकर ब्राह्मण की हत्या करने पर उस पाप से मुक्ति का उपाय नही है।

अमत्या ब्राह्मणमिति ब्राह्मणोऽयमित्यविज्ञाय हननमुच्यते। अमतिपूर्वक इत्यनेन च ब्राह्मणोऽयमिति निश्चितेऽपि प्रमादकृतं हननम् ॥

आह च मनुः—

कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥ इति ॥

तथा—

कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ६ ॥

अथ ब्राह्मणविषयहिंसायामेव प्रारम्भाविषु व्यापारेषु प्रायश्चित्तमाह –

अपगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने।
कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव लोहितस्य प्रवर्तने॥
तस्मान्नैवाऽपगुरेत न च कुर्वीत शोणितमिति ॥ ७ ॥

अनु०—ब्राह्मण को मारने के लिए हाथ उठाने पर कृच्छ्र व्रत करे, प्रहार करने पर अतिकृच्छ्र व्रत करे और मार कर खून निकालने पर कृच्छ्र तथा चान्द्रायण व्रत करे अतएव ब्राह्मण के ऊपर न तो हाथ उठावे और न उस पर प्रहार कर उसका रुधिर बहावे ॥ ७ ॥

टि०—अपगूरण मारने के लिए प्रयत्न करने को कहते हैं। द्रष्टव्य–गौतमधर्मसूत्र पृ० २१८ मे ब्राह्मण के ऊपर हथियार उठाने पर सौ वर्ष और देने पर सहस्र वर्ष तक स्वर्ग की प्राप्ति न होने का उल्लेख है।

कथं पुनरवगम्य —ब्राह्मणापगोरणादिष्वेवैतानि प्रायश्चित्तानीति ? उच्यते—निषेधस्तावद्ब्राह्मणविषय एवोपलभ्यते—'तस्माद्ब्राह्मणाय नाऽपगुरेत न निहन्यान्न लोहितं कुर्यात्' इति। यत्र च निषेधः, प्रायश्चित्तेनाऽपि तत्रस्थेन भवितव्यम्। अपगुरणं नाम हिंसार्थमुद्यमः। अन्यत्सुष्टमन्यत् ॥ ७ ॥

नव समा राजन्यस्य ॥ ८ ॥

अनु०—क्षत्रिय की हत्या करने पर नौ वर्ष का प्रायश्चित्त करे ॥ ८ ॥

टि०—यह स्पष्ट कर देना उचित है कि क्षत्रिय के वध पर नौ वर्ष तक उपर्युक्त ब्राह्मण वध का प्रायश्चित्त करना विहित है या सामान्य ब्रह्मचर्य व्रत का। गोविन्दस्वामी की व्याख्या के अनुसार "प्रागुक्त ब्रह्महत्याव्रत चरेत्" ब्यूह्लर ने अपने अनुवाद में सामान्य ब्रह्मचर्य व्रत से ही तात्पर्य लिया है। इस सम्बन्ध में गौतमधर्मसूत्र में कहा गया है कि क्षत्रिय की हत्या करने पर छ वर्ष तक सामान्य ब्रह्मचर्य का व्रत करे तथा एक सहस्र गायें एक सांड के साथ दान करे। २२।१४ पृ० २२४।

वध इति शेषः। नव संवत्सरान् राजन्यस्य वधे प्रागुक्तं ब्रह्महत्याव्रतं चरेदिति ॥ ८ ॥

तिस्रो वैश्यस्य ॥ ९ ॥

अनु०—वैश्य की हत्या करने पर तीन वर्ष का प्रायश्चित्त करे ॥ ९ ॥

टि०—इस सूत्र कि व्याख्या में गोविन्दस्वामी ने तीन वर्ष तक ब्रह्मचर्य का आचरण करने का ही नियम ग्रहण किया है।

संवत्सरत्रयं प्रागुक्तं ब्रह्मचर्यचरणम् ॥ ९ ॥

संवत्सरं शूद्रस्य स्त्रियाश्च ॥ १० ॥

अनु०—शूद्र का और स्त्री का वध करने पर एक वर्ष का प्रायश्चित्त करे॥१०॥

टि०—यहां सूत्र के 'च' शब्द से गोविन्दस्वामी ने यह अर्थ भी ग्रहण किया है कि गुणहीन क्षत्रिय और वैश्य के वध का भी यही प्रायश्चित्त समझना चाहिए।

शूद्रं हत्वा संवत्सरं प्रायश्चित्तमित्यनुवर्तते। चशब्दः क्षत्रियवैश्ययोरपि निर्गुणयोर्हनने एतदेव प्रायश्चित्तमिति दर्शयितुम् ॥ १० ॥

ब्राह्मणवदात्रेय्याः ॥ ११ ॥

अनु०—ऋतुस्नान की हुई स्त्री के वध के समान ही प्रायश्चित्त होता है ॥११॥

टी०—रजस्वला, ऋतुस्नाता स्त्री को आत्रेयी कहते हैं। जिस वर्ण की ऐसी आत्रेयी का वध किया हो उस वर्ण के पुरुषवध के लिए विहित प्रायश्चित्त होता है। गौतम० "आत्रेय्या चैवम्" २२।१२॥

आत्रेयी आपन्नगर्भा। तथा वसिष्ठो निब्रूते—'रजस्वलामृतुस्नातामात्रेयीमाहुः। अत्र ह्येष्यदपत्यं भवति' इति। ब्राह्मणग्रहणं च प्रदर्शनार्थम्। स्वजातीयात्रेय्या वधे स्वजातीयपुंवधवत् प्रायश्चित्तमित्यतिदेशः। विगुणसगुणविभागोऽपि द्रष्टव्यः। सगुणहननप्रायश्चित्तं सगुणाहनन एवाऽतिदिश्यते

[1]एवमिति। आत्रेय्या अपि दण्डप्रकरणे पुनर्ब्राह्मणत्यादिपु यदभिहितं तेन एतेषां विकल्पव्यवस्थासमुच्चया हन्तृहन्यमानगुणापेक्षया वेदितव्याः ॥ ११ ॥

गुरुतल्पगस्तप्ते लोहशयने शयीत ॥ १२ ॥

अनु०—गुरुपत्नी का संभोग करने वाला जलती हुई लोहे की शय्या पर लेट कर जीवन समाप्त कर दे ॥ १२ ॥

टि०—तल्प का लाक्षणिक अर्थ यहाँ पत्नी से है। गुरु पत्नीगमन का पाप मृत्यु के उपरान्त ही दूर होता है। इसके लिए प्रायश्चित्त मरण ही विहित है।

अत्र तल्पशब्देन शयनवाचिना भार्या लक्ष्यते। तया यो मैथुनमाचरति स गुरुतल्पगः। मरणान्तिकं चैतत्प्रायश्चित्तम्। एवं कृतवतो ह्यस्मिन् लोके प्रत्यापत्तिर्न विद्यते। मरणात्तु पूतो भवति। अतीतस्यौर्ध्वदैहिकमपि ज्ञातिभिरस्य कर्तव्यम्। अन्यत्राऽपि मरणान्तिके दण्डे प्रायश्चित्ते चैतद् द्रष्टव्यम् ॥ १२ ॥

इदमन्यत्तस्यैव प्रायश्चित्तम्—

सूर्मिं ज्वलन्तीं वा श्लिष्येत् ॥ १३ ॥

अनु०—अथवा जलती हुई लोहे की स्त्रीप्रतिमा आलिंगन कर मृत्यु प्राप्त करे ॥ १३ ॥

सूर्मिशब्देनाऽयस्मयी स्त्रीप्रतिकृतिरुच्यते। इदमपि मरणान्तिकमेव ॥ १३ ॥

लिङ्गं वा सवृषणं परिवास्याऽञ्जलावाधाय दक्षिणाप्रतीच्योर्दिशोरन्तरेण गच्छेदा निपतनात् ॥ १४ ॥

अनु०—अथवा अण्डकोष के सहित लिंग को तब काटकर उसे अंजलि पर रख कर दक्षिण और पश्चिम दिशा के मध्य नैऋत्य कोण की तरफ चलता रहे जब तक गिरकर उसकी मृत्यु न हो जाय ॥ १४ ॥

रूपाण्यपरिहरन्नित्यभिप्रायः। परिवास्य छित्त्वा। एतत्प्रायश्चित्तत्रयं बुद्धिपूर्वविषयम्। सम्भवापेक्षश्च विकल्पः ॥ १४ ॥

स्तेनः प्रकीर्य केशान् सैध्रकं मुसलमादाय स्कन्धेन राजानं गच्छेदनेन मां जहीति तेनैनं हन्यात् वधे मोक्षो भवति ॥ १५ ॥

अनु०—(ब्राह्मण का स्वर्ण चुरानेवाला) चोर अपने केशों को बिखराकर, कन्धे पर सैध्रक के काठ का मूसल लेकर राजा के समीप जावे और कहे मुझे

१ एवमस्वामिदण्डप्रकरणे इति क. घ. पु.

मारिए। राजा उस मूसल से उस पर प्रहार कर, मृत्यु हो जाने पर उस पाप से मुक्ति हो जाती है ॥ १५ ॥

ब्राह्मणस्वर्णं हरति बलेन वञ्चनया चौर्येण वा यो ब्राह्मणः स स्तेन इति गीयते। तस्यैतत्प्रायश्चित्तम्—प्रकीर्य केशानित्यादि। सैध्रको दृढदारुनिर्मित। सैध्रकं मुसलं स्कन्धेनाऽऽदाय राजानं गच्छेदिति सम्बन्धः ॥ १५ ॥

अथेदानीं स्तेनशासनमपि राज्ञ 'आवश्यकमित्येतत्प्रदर्शयितुं तदशासने दोषमाह—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

स्कन्धेनाऽऽदाय मुसलं स्तेनो राजानमन्वियात्।
अनेन शाधि मां राजन् क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥
शासने वा विसर्गे वा स्तेनो मुच्येत किल्बिषात्।
अशासनात्तु तद्राजा स्तेनादाप्नोति किल्बिषमिति ॥ १६ ॥

अनु०—धर्म शास्त्रज्ञ इस सम्बन्ध में निम्नलिखित पद्य उद्धृत करते है—

चोर कन्धे पर मूसल लेकर राजा के समीप जाय और कहे कि हे राजन्, क्षत्रिय के धर्म का स्मरण कर इससे मुझे दण्ड दीजिए। यदि राजा उसे दण्ड दे या छोड दे तो वह पाप से मुक्त हो जाता है। किन्तु यदि राजा दण्ड न दे तो वह पाप राजा के ऊपर ही पहुंच जाता है ॥ १६ ॥

टि०—द्रष्टव्य मनु० ७।११५-१३६।

शासनं वधः। विसर्गो मोक्षः। किल्बिषं पापम् ॥ १६ ॥

सुरां पीत्वोष्णया कायं दहेत् ॥ १७ ॥

अनु०—सुरा पीने पर उसी प्रकार की खौलती हुई सुरा का पान कर शरीर को जलावे ॥ १७ ॥

टि०—जानबूझ कर सुरापान करने पर मृत्यु होने पर ही पाप से मुक्ति होती है।

यज्जातीयस्य या सुरा प्रतिषिद्धा तयैवोष्णया अग्निवर्णया पीतया कायं दहेत्। ब्राह्मणस्य सर्वा प्रतिषिद्धा। अत एव हि सर्वां सुरां समतयैवैकत्वेन निदर्शयति—

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत् ॥ इति ॥

मरणान्तिकमेतन्मतिपूर्वके ॥ १७ ॥

अमत्या पाने कृच्छ्राब्दपादं चरेत्पुनरुपनयनं च ॥ १८ ॥

---

१. विहितमिति घ. पु.   २. See. मनु. ८. १३५, १३६.

अनु०—अज्ञान से ही सुरा पान करने पर तीन मास तक कृच्छ्र व्रत करे और पुनः उपनयन संस्कार करावे ॥ १८ ॥

टि०—द्रष्टव्य–मनु० ११।१५१।

वपनं मेखला दण्डो भैक्षचर्या व्रतानि च।
निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनस्संस्कारकर्मणि ॥

कृच्छ्राब्दपादः संवत्सरप्राजापत्यचतुर्भागः। ब्रह्महत्यादिपूक्तैः प्रायश्चित्तैः ब्राह्मण एवाऽधिक्रियते नाऽन्यः। कुत एतत्? ब्रह्महत्यादिभिः पतति यः। तद्वा कथमिति चेत्? पञ्चाग्निविद्यायां दर्शनात् तत्र ह्युक्तं 'यथैव न प्राक्त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान गच्छति' इति प्रक्रम्य 'तदेव श्लोकः—स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा च। एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाऽऽचरंस्तैरिति ॥ अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न सह तैरप्याचरन् पाप्मना लिप्यते' इत्यादि ॥

आह च मनुः—

अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रस्समाहितः।
ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥ इति ॥

तथा सुरायामपि

अथवैका न पातव्या तथा सर्वा द्विजोत्तमैः ॥ इति ॥

तथा—सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानम्[1] ॥ इति ॥

एवमन्यान्यपि स्मृतिलिङ्गानि 'ब्राह्मणो ब्राह्मणं घातयित्वा' इत्यादीनि द्रष्टव्यानि ॥ १८ ॥

अथ पुनरुपनयने विशेषमाह—

[2]वपनव्रतनियमलोपश्च पूर्वानुष्ठितत्वात् ॥ १९ ॥

अनु०—दूसरे उपनयन संस्कार में पहले किये गये संस्कार के केशवपन, सावित्र व्रत, भिक्षाचरण आदि नियमों को छोड़ा जा सकता है ॥ १९ ॥

व्रतं सावित्रव्रतम्। नियमो भिक्षाचरणम्। चशब्दात् मेखलादण्डधारणमपि गृह्यते। तत्र हेतुः—पूर्वानुष्ठितत्वात् कृतस्य करणासम्भवादित्यर्थः ॥१९॥

---

१. अभिगम्यतु। स्वकर्म ख्यापयन् ब्रूयान्मा भवाननुशास्त्विति इति श्लोकशेषः।

२. वपनं मेखला दण्डो भैक्षचर्या व्रतानि च।
निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनस्संस्कारकर्मणि ॥ इति मनु० ११.१५१,

अथाऽप्युदाहरन्ति—

अमत्या वारुणीं पीत्वा प्राश्य मूत्रपुरीषयोः ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः पुनस्संस्कारमर्हति ॥ २० ॥

अनु०—इस सम्बन्ध में निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया जाता है—
अनजान में ही वारुणी नाम की सुरा का पान करने पर या मूत्र या मल खाने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का पुनः संस्कार करना आवश्यक होता है ॥२०॥

मूत्रपुरीषयोरिति द्वितीयार्थे षष्ठी 'सुपां सुपो भवन्ति' इति । अयं पुनस्संस्कारश्चान्द्रायणसहितो द्रष्टव्यः [1]विड्वराहश्लोके दर्शनात् ॥ २० ॥

सुराधाने तु यो भाण्डे अपः पर्युषिताः पिबेत् ।
शङ्खपुष्पीविपक्वेन षडहं क्षीरेण वर्तयेत् ॥ २१ ॥

अनु०—किन्तु जिस व्यक्ति ने सुरापात्र मे रखे गये जल का पान किया हो, वह शंखपुष्पी डालकर उबाले गये दूध का ही पान करते हुए छः दिन व्यतीत करे ॥२१॥

सुरां यस्मिन् भाण्डे धयन्ति पिबन्ति तत्सुराधानम् । अत्र पर्युषिताः उषसान्तरिते काले निहिताः । शङ्खपुष्पी नाम समुद्रतीरे लताविशेषः । पर्युषितासु स्मृत्यन्तरेष्वपि आह—

मद्यभाण्डस्थिता आपो यदि कश्चिद् द्विजः पिबेत् ।
पद्मोदुम्बुरबिल्वपलाशकुशानामुदकं पीत्वा त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति ॥
त ॥ २१ ॥

इदमन्यमरणे प्रायश्चित्तम्—

गुरुप्रयुक्तश्चेन्म्रियेत गुरुस्त्रीन् कृच्छ्रांश्चरेत् ॥ २२ ॥

अनु०—यदि गुरु द्वारा किसी कार्य के लिए नियुक्त शिष्य की वह कार्य करते समय मृत्यु हो जाय तो गुरु तीन कृच्छ्र व्रत का आचरण करे ॥ २२ ॥

मरणसन्देहास्पदीभूतेषु गुरुणा चोदितश्शिष्यो यदि म्रियेत सोऽस्य विषयः । शास्त्राविरुद्धोदकुम्भाहरणादिविषये प्रेरणमिदम् । दुर्गदेशगमनादिषु विषयेषु [3]ब्रह्महत्या स्यादेव । गुरोश्शासननिमित्तमृत्युविषयं चैतत् । स्वापराधनिमित्ते तु मरणे नेदं युक्तमिति । अगुरोः पुनश्चोदयितुर्हननप्रायश्चित्तमेव ॥२२॥

---

१. See. मनु० ५.१०.

२. पलाशानामुदकं इत्येव म. पु. पा. ३. भ्रूणहत्यासममेवेति ख. घ पु

एतदेवाऽसंस्कृते ॥ २३ ॥

अनु०—इसी प्रकार शिष्य का संस्कार न करने पर (अध्यापन पूरा न करने पर भी गुरु तीन कृच्छ्र व्रत करे) ॥ २३ ॥

संस्कारः संस्कृतं शौचाचारादिलक्षणानुशासनं तदभावोऽसंस्कृतम्। तस्मिन्नप्येतदेव कृच्छ्रत्रयम्। एतदुक्तं भवति—शिष्यशासनाकर्तुर्गुरोः प्राजापत्यत्रयमिति ॥ २३ ॥

गुरुप्रसङ्गाद् ब्रह्मचारिणोऽपि नियममाह—

ब्रह्मचारिणश्शवकर्मणा व्रतावृत्तिरन्यत्र मातापित्रोराचार्याच्च ॥ २४ ॥

अनु०—यदि ब्रह्मचारी अपने माता-पिता या आचार्य के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति के शव का कोई कर्म (वहन करना या दाहसंस्कार) करता है तो उसे अपना व्रत पुन. आरम्भ से करना चाहिए ॥२४॥

टि०—इस प्रकार के शव-संस्कार के बाद ब्रह्मचारी को पुनः उपनयन करना पड़ता है। मनु में भी इस सम्बन्ध मे माता-पिता, गुरु का शव-संस्कार करने पर ब्रह्मचारी के व्रत को खण्डित माना हैं।

शवकर्म अलङ्करणवहनदहनादि। तेन कृतेन व्रतावृत्तिरुपनयनावृत्तिः, पुनरुपनयनम्। तदेतदन्यत्र मातापित्रोराचार्याच्च। तेषां शवकर्मण्यपि दोषाभावः। आह च मनुः—

> आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम्।
> निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते ॥ इति ॥ २४ ॥

इदानीमन्यत्राऽपि पुनरुपनयननिमित्तेषु ब्रह्मचारिणः कथञ्चिदपवादार्थमिदमाह—

स चेद् व्याधीयीत कामं गुरोरुच्छिष्टं भैषज्यार्थं सर्वं प्राश्नीयात्॥२५॥

अनु०—यदि ब्रह्मचारी किसी रोग से पीड़ित हो तो वह औषधि के लिए गुरु के प्रयोग से उच्छिष्ट सभी प्रकार की वस्तुएँ खा सकता है ॥ २५ ॥

टि०—ब्रह्मचारी के लिए मधु, मांस इत्यादि वर्जित है किन्तु रोगी होने पर औषधि के रूप मे इनका प्रयोग किया जा सकता है। स्वाद या तृप्ति के लिए नहीं। रोग दूर हो जाने पर उन वस्तुओं का परित्याग कर देना भी विहित है।

स यदि ब्रह्मचारी रोगेणाऽभिभूयेत कामं तथा भैषज्यार्थं सर्वं मधु मांसाद्यपि प्राश्नीयादिति सम्बन्धः। तत्र व्रतावृत्तिर्नाऽस्ति गुरोरुच्छिष्टभोजनेऽपि।

गुरुराचार्योऽभिप्रेतः। यदि व्याधेरपगमनं चेत् विरुद्धभोजने भवति, तत आचार्योच्छिष्टं भक्षयेत्। नोपभोगार्थं तृप्त्यर्थं वा। सर्वं मधुमांसादि प्रतिषेध-लङ्घनेनापीत्यर्थः। अथ प्राशितेऽपि व्याधेरनपगमस्ततो निवर्तेत। व्याधीयीत [1]डुधाञ् इत्यस्य धातोर्व्याङ्पूर्वात् लिङात्मनेपदयकसीयुड्गुणादौ कृते कर्मकर्तरि [2]व्याधीयीतेति भवति [3]व्याधिमान् भवतीत्यर्थः ॥ २५ ॥

गुरोरुच्छिष्टसर्वप्राशनेऽपि रोगशमनस्याऽसम्भवे तु—

येनेच्छेत्तेन चिकित्सेत ॥ २६ ॥

अनु०—औषधि के लिए किसी वस्तु का प्रयोग ब्रह्मचारी कर सकता है ॥ २६ ॥

टि०—अर्थात् लशुन इत्यादि वे वस्तुएं भी जो गुरु के लिए निषिद्ध है प्रयोग में लाई जा सकती हैं।

गुरोरपि यत्प्रतिषिद्धं लशुनगृञ्जनादि तेनाऽपि चिकित्सा कार्येत्यभिप्रायः। 'सर्वत एवाऽऽत्मानं गोपायेत्' इति स्मृतेः ॥ २६ ॥

स यदा गदी स्यात्तदुत्थायाऽऽदित्यमुपतिष्ठते "हंसश्शुचिष" दित्येतया ॥ २७ ॥

अनु०—रोगी होने पर ब्रह्मचारी उठकर 'हंसश्शुचिषद' इत्यादि मन्त्र से सूर्य की प्रार्थना करे ॥ २७ ॥

टि०—यह प्रायश्चित्त उस ब्रह्मचारी के लिए है जो रोगी होने के कारण सन्ध्या वन्दन तथा अन्य प्रकार की पूजा अर्चना न कर सकता हो। ब्रह्मचारी के अतिरिक्त दूसरों के लिए भी यह प्रायश्चित्त का नियम समझना चाहिए।

गदी व्याधितः। ब्रह्मचारिणो व्याधितस्य सन्ध्योपासनादिनियमानुष्ठाना-शक्तौ प्रायश्चित्तमेतत्। इतरेषां चैतदेवाऽविरोधित्वात् ॥ २७ ॥

तत्र गृहस्थस्येदम्—

दिवा रेतस्सिक्त्वा त्रिरपो हृदयङ्गमाः पिबेद्रेतस्याभिः ॥ २८ ॥

अनु०—दिन में वीर्यपात करने पर 'रेतस्' शब्द से युक्त मन्त्रों का उच्चारण करते हुए तीन बार हृदय तक पहुँचने वाले जल का पान करे ॥ २८ ॥

---

१. इण् गतावित्यस्य धातोरधिपूर्व इति, क, घ. पु.

२. इदमशुद्धं प्रतिभाति। ३. व्याधिमनुभवति इति घ. पु.

टि०—यह प्रायश्चित्त नियम दिन में स्वपत्नी संभोग के सन्दर्भ में ही है। सामान्यतः धर्मशास्त्र ने दिन मे संभोग का निषेध किया है। 'रेतस्' शब्द से युक्त ऋचाएँ 'पुनर्मामैत्विन्द्रियम्' तैत्तिरीय आरण्यक १.३० मे आती हैं।

"पुनर्मामैत्विन्द्रियम्। पुनरायुः पुनर्भगः। पुनर्ब्राह्मणमैतु मा। पुनर्द्रविणमैतु मा। यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान। यदोषधीरप्यसरद्यदापः। इदं तत् पुनराददे। दीर्घायुत्वाय वर्चसे। यन्मे रेतः प्रसिच्यते। यन्मे आजायते पुनः। तेन माममृतं कृधि। तेन सुप्रजसं कृधि।"

स्वभार्यायामेवैतत्प्रायश्चित्तम्। रेतस्या ऋचः रेतश्शब्दवत्यः ताश्च ''पुनर्मामैत्विन्द्रियम्' इत्यनुवाकः। तासु च [2]भूम्ना शब्दप्रवृत्तिः। 'सृष्टीरुपदधाति' इतिवत्। दिवागमनप्रतिषेधः परिभाषायां द्रष्टव्यः 'परस्त्रीषु च दिवा च यावज्जीवम्' इत्यत्र॥ २८॥

[3]यो ब्रह्मचारी स्त्रियमुपेयात्सोऽवकीर्णी॥ २९॥

अनु०—जो ब्रह्मचारी किसी स्त्री से मैथुन करता है, वह अवकीर्णी कहलाता है॥२९॥

संज्ञाकरणं व्यवहारार्थम्। तस्य च प्रयोजनम्—'सप्तरात्रं कृत्वैतदवकीर्णिव्रतं चरेत्'। 'प्राणाग्निहोत्रलोपेनाऽवकीर्णी' इति च॥ २९॥

स गर्दभं पशुमालभेत॥ ३०॥

अनु०—अवकीर्णी गर्दभ पशु की बलि दे॥ ३०॥

पशुग्रहणं सकलविषयेतिकर्तव्यताप्राप्त्यर्थम्। अन्यथा हि तदनर्थकं स्यात्॥

---

१. पुनर्मामित्वैन्द्रियम्। पुनरायुः पुनर्भगः। पुनर्ब्राह्मणमैतु मा। पुनर्द्रविणमैतु मा। यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्। यदोषधीरप्यसरद्यदापः। इदं तत् पुनराददे। दीर्घायुत्वाय वर्चसे॥ यन्मे रेतः प्रसिच्यते। यन्म आजायते पुनः। तेन माममृतं कृधि। तेन सुप्रजसं कृधि॥ इति समग्रोऽनुवाकः॥

२ अत्र तिस्र ऋचः—पुनर्मामिति प्रथमा। यन्मेऽद्य रेतः इति द्वितीया। यन्मे रेतः इति तृतीया। तत्र प्रथमायां रेतश्शब्दो नाऽस्ति। द्वितीयातृतीययोरेवाऽस्ति। तथाऽपि, तिसृषु मध्ये द्वयोस्सत्त्वात् बाहुल्यात् तिसृणामपि रेतस्यापदेन व्यवहारः। यथा एकयाऽस्तुवत प्रजा अधीयन्त इत्याद्यास्सप्तदश मन्त्राश्चयनप्रकरणे पठिताः। तत्र चतुर्दश मन्त्राः सृष्टिवाचकसृजधातुघटिताः। त्रयो न तद्घटिताः। तथाऽपि बाहुल्यात् सृष्टपदेन व्यवहारः एवमिहाऽपीति।

३. cf. आप. श्रौ. ९. १५. १-४ and also आप ध. १. २६. ८

तत्रैता देवताः—

नैर्ऋतः पशुः पुरोडाशश्च रक्षोदैवतो यमदैवतो वा ॥ ३१ ॥

अनु०—पशु के मांस का पुरोडाश निर्ऋति के लिए, रक्षोदेवता के लिए या यम देवता के लिये होता है ॥ ३१ ॥

पुरोडाशदेवताभिधान 'यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्यः पुरोडाशः' इति परिभाषासिद्धस्याऽनुवादः । निर्ऋतिरक्षोयमानां च विकल्पः । पुरोडाशे चोत्तरयोः ॥ ३१ ॥

शिश्नात्प्राशित्रमप्स्ववदानैश्चरन्तीति विज्ञायते ॥३२॥

अनु०—प्रायश्चित्त करने वाले के भक्षण के लिए प्राशित्र पशु (गर्दभ) के शिश्न से ग्रहण किया जाता है तथा अन्य अवयवों को जल में अर्पित किया जाता है ॥ ३२ ॥

[1]सान्नाय्यविकारस्याऽपि पशोः प्राशित्रवचनाच्च शिश्नावयवादवदातव्यम् । हृदयाद्यवयवमप्सु प्रचरितव्यम् । अन्यत् लौकिकेऽग्नौ कर्तव्यम् ॥ ३२ ॥

अपि वाऽमावास्यायां निश्यग्निमुपसमाधाय दार्विहोमिकीं परिचेष्टां कृत्वा द्वे आज्याहुती जुहोति "कामावकीर्णोऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि कामकामाय स्वाहा । कामाभिद्रुग्धोऽस्म्यभिद्रुग्धोऽस्मि कामकामाय स्वाहे" ति ॥ ३३ ॥

अनु०—अथवा अमावस्या की रात्रि में अग्नि का उपसमाधान कर तथा दर्विहोम की प्रारम्भिक क्रियाएँ आज्य संस्कार इत्यादि अनुष्ठित कर "कामावकीर्णोऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि कामकामाय स्वाहा ।" तथा "कामाभिद्रुग्धोऽस्म्यभिद्रुग्धोऽस्मि कामाय स्वाहा" मन्त्रों से दो आज्य आहुतियाँ प्रदान करें ॥३३॥

---

१. अयं भावः—दर्शपूर्णमासयोरन्तर्गता षट् यागाः । तत्र पौर्णमास्यां आग्नेय । उपांशुयाजः, अग्नीषोमीयश्चेति । अमावास्यायां आग्नेयः, ऐन्द्रदधियागः, ऐन्द्रपयोयागश्चेति । तत्र दधिपयोयागद्वयं सान्नाय्यमित्युच्यते । तदेव पशुयागस्य प्रकृतिभूतम् । इदं च "सान्नाय्यं वा तत्प्रभवत्वात्" इत्यष्टमे जैमिनिना निर्णीतम् । सान्नाय्ये च प्राशित्रावदानं नाऽस्ति । पुरोडाशयाग एव तत् विहितम्—"आग्नेयस्य मस्तकं विरुज्य" इत्यादिना । एवञ्च पशुयागस्य प्रकृतिभूते सान्नाय्ययागे प्राशित्राभावेन ततः अतिदेशेन प्राप्त्यभावेऽपि अत्रैव विशिष्य विधानात् तत् कर्तव्यमिति । तच्चात्र गर्दभपशोः शिश्नादवदातव्यमिति च ॥

परिचेष्टा आज्यसंस्कारादिना । अग्निहोत्रिकप्रयोग इत्यन्ये । पूर्वस्याऽसम्भव एतत्प्रायश्चित्तम्। यद्वा- स्वपरप्रेरणसकृदसकृच्छक्तिसदसद्भाववर्णव्रतोत्सर्गाद्यपेक्षया द्रष्टव्यम् । अत्र स्मृत्यन्तरोक्तम् 'तस्याऽजिनमूर्ध्ववाल परिधाय लोहितपात्रस्सप्त गृहान् भैक्षं चरेत् कर्माऽऽचक्षाणः संवत्सरम्' इत्यादि द्रष्टव्यम् ॥३३॥

हुत्वा प्रयताञ्जलिः कवातिर्यङ्ङग्निमुपतिष्ठेत—"सं मा सिञ्चन्तु मरुतस्समिन्द्रस्सं बृहस्पतिः । सं माऽयमग्निस्सिञ्चन्त्वायुषा च बलेन चाऽऽयुष्मन्तं करोतु मे"ति ॥ ३४ ॥

अनु०—हवन करने के बाद अञ्जलि बाँध कर अग्नि से थोड़ा किनारे मुड़कर इस मन्त्र से प्रार्थना करे–"सं मा सिञ्चन्तु मरुतस्समिन्द्रसं बृहस्पति । सं माऽयमग्निस्सिञ्चन्त्वायुषा च बलेन चाऽऽयुष्मन्तं करोतु मे" (मरुत्, इन्द्र, बृहस्पति और यह अग्नि मुझे दीर्घ जीवन एवं शक्ति प्रदान करें यह अग्नि मुझको आयुष्मान् बनावे) ॥३४॥

हुत्वेत्युत्तरत्र निवृत्त्यर्थम् । प्रयताञ्जलिः [1]शुद्धाञ्जलिः । अञ्जलिश्च द्विहस्तसंयोगः । कवातिर्यङ् नाऽत्यन्ताग्न्यभिमुखता नाऽत्यन्तपराङ्मुखता । तद्विधानं नित्याग्न्युपस्थाने "कवातिर्यङ्ङिवोपतिष्ठेत नैनं प्रत्यङ्न पराङ्' इति ॥३४॥

अथ महापातकदेव विप्लावकादयश्च ज्ञातिभिः कथं त्याज्याः ? कथं वा संग्राह्या इति ? तत्राऽऽह—

अथ यस्य ज्ञातयः परिषद्युदपात्रं निनयेयुरसावहमित्थंभूत इति । चरित्वाऽपः पयो घृतं मधु लवणमित्यारब्धवन्तं ब्राह्मणा ब्रूयुश्चरितं त्वयेति ॥ ३५ ॥

अनु०—(महापातक आदि के दोषियों के परित्याग की विधि इस प्रकार है) उस व्यक्ति के बन्धु-बान्धव एकत्र होकर उसके लिए जलपात्र खाली करें और वह भी उस सभा मे अमुक नाम के मैंने यह दुष्कर्म किया है । उसके प्रायश्चित्त कर लेने पर जल, दूध, घृत, मधु और नमक का स्पर्श कर लेने पर उसे ब्राह्मण इस प्रकार कहे 'क्या तुमने प्रायश्चित्त कर लिया है' ॥ ३५ ॥

उदपात्रनिनयनेन स्मृत्यन्तरप्रसिद्धस्याऽङ्गस्य विधिरुक्तः । सोऽयं प्रदर्श्यते —विप्राणां गुरूणां ज्ञातीनां च परिषदि सन्निधौ किं कृतवानसीति पृष्टे असा-

---

१. शुद्धबद्धाञ्जलिरिति. क. घ. पु.

अहमित्थम्भूत इति प्रतिब्रूयात्। इत्थम्भूत [1]इदं पापं कृतवानस्मीति। एवं तं सम्भाष्य उदपात्रं निनयेयुरिति सम्बन्धः। अवस्करादमेध्यपात्रमपां पूर्णमानीय दासेन कर्मकरेण वा विप्रा नाययेयुः। स यद्येवं कृते चीर्णव्रतः अचरमहं प्रायश्चित्तमिति ब्रूयात्। तमबाद्विपश्चाद्यमारब्धवन्तं स्पृष्टवन्तं ब्राह्मणा ब्रूयुः पृच्छेयुः—चरितं त्वया यथाविधि प्रायश्चित्तमिति ॥ ३५ ॥

ओमितीतरः प्रत्याह ॥ ३६ ॥

अनु०—दूसरा व्यक्ति (अर्थात् प्रायश्चित्त करने वाला) ओम्, (हाँ, मैंने यथाविधि प्रायश्चित्त कर लिया है) उत्तर दे ॥ ३६ ॥

अभ्यनुज्ञावचनमेतत्। एवं तस्मिन् विच्छन्दना ? ॥ ३६ ॥

चरितनिर्वेशं सवनीयं कुर्युः ॥ ३७ ॥

अनु०—जिस व्यक्ति ने यथाविधि प्रायश्चित्त कर लिया है उसको सभी प्रकार के यज्ञकर्मों में भाग लेने का अधिकारी समझना चाहिए ॥ ३७ ॥

चरितनिर्वेशं चरितप्रायश्चित्तं सवनीयं सवनयोग्यं सवनशब्देन क्रतुरभिप्रेतः। तेन याज्ययाजकभावमापादयेयुरित्यर्थः। यद्वा-सूतेः प्राणिप्रसवकर्मणस्सवनं तत्र भवं सवनीयं जातकर्मादि तस्य कुर्युरिति यावत्। तथा च वसिष्ठः—'प्रत्युद्धारः पुत्रजन्मना व्याख्यातः' इति। तदेतत् सपितृत्यागप्रत्युद्धारसम्बन्धं गौतमीये 'त्यजेत्पितरम्' इत्यस्मिन्नध्याये विवृतम्। तदपि प्रतीक्ष्यम् ॥ ३७ ॥

सगोत्रां चेदमत्योपयच्छेन्मातृवदेनां बिभृयात्। प्रजाता चेत्कृच्छ्राब्दपादं चरित्वा यन्म आत्मनो मिन्दाऽभूत्पुनरग्निश्चक्षुरदादित्येताभ्यां जुहुयात् ॥ ३८ ॥

अनु०—यदि अनजाने ही अपने गोत्र की कन्या से विवाह कर लिया हो तो उसे माता के समान समझते हुए उसका भरण-पोषण करे यदि इस प्रकार की स्त्री से पुत्र उत्पन्न कर चुका हो तो तीन मास तक कृच्छ्रव्रत का आचरण कर 'यन्म आत्मनो मिन्दाऽभूत् पुनः' 'अग्निः चक्षुरदादित्य' आदि दो मन्त्रों से आहुति करे ॥ ३७ ॥

अप्रजाता चेच्चान्द्रायणम्। तच्च महाप्रवरेषु स्वयमेवोक्तम्—सर्वेषां 'सगोत्रां गत्वा चान्द्रायणं कुर्यात्। व्रते परिनिष्ठिते ब्राह्मणीं न संत्यजेन्मातृवद्भ-

---

१. इत्यम्भूतमिदमिति क. घ. पु.

गिनीवत्' इति। बिभृयादिति शेषः। स्वयमेव ब्रवीति--'गर्भो न दुष्यति कश्यप इति विज्ञायते' इति। भिन्दाहुती पुनः सर्वत्राऽविशिष्टे। अनिर्दिष्ट-द्रव्यकत्वादाज्यद्रव्य प्रतीयात् ॥ ३८ ॥

(परिवित्तः परिवेत्ता या चैनं परिविन्दति।
सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः) ॥
परिवित्तः परिवेत्ता दाता यश्चाऽपि याजकः।
कृच्छ्रद्वादशरात्रेण स्त्री त्रिरात्रेण शुद्ध्यतीति ॥ ३९ ॥

इति बौधायनीयधर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अनु०—वह ज्येष्ठ भ्राता, जिसके अविवाहित रहते हुए ही छोटे भाई ने विवाह कर लिया हो, ज्येष्ठ भ्राता के अविवाहित रहते हुए विवाह करने वाला, इस प्रकार विवाह करने वाले से विवाहित स्त्री, उस कन्या का विवाह के लिए दान करने वाला तथा इस प्रकार का विवाह कराने वाला पुरोहित ये सभी पाँच नरक जाते है। वह ज्येष्ठ भ्राता, जिसके अविवाहित रहते हुए ही छोटे भाई ने विवाह कर लिया है, बड़े भाई के विवाह से पहले ही विवाहित छोटा भाई, विवाह के लिए कन्यादान देने वाला, विवाह संस्कार संपन्न कराने वाला पुरोहित बारह दिन का कृच्छ्रव्रत करने पर शुद्ध होते हैं और जिस स्त्री का इस प्रकार विवाह हुआ हो वह तीन दिन उपवास करने पर शुद्ध होती है ॥३९॥

अकृतदाराग्निहोत्रसंयोगे अग्रजे तिष्ठति यः कनीयान् दारसंयोगमग्निहोत्र-संयोगं वा करोति स परिवेत्ता। इतरः परिवित्तः। परिवेत्त्रे यः कन्यां प्रयच्छति स दाता। तमेव यो याजयति स याजकः। एतेषां चतुर्णां कृच्छ्रेण शुद्धिः। यथाऽसौ परिवेत्ताऽभूत् तस्याः त्रिरात्रोपवासेन शुद्धिः ॥ ३९ ॥

द्वितीयः खण्डः

अथ पतनीयानि ॥ १ ॥

अनु०—अब पतनीय कर्मों का विवेचन किया जायगा, (जिनसे पतन या वर्ण की हानि होती है)

वक्ष्याम इति वाक्यसमाप्तिः। पतनीयानि पतनार्हाणि कर्माणि महापात-केभ्य ईषन्न्यूनानि ॥ १ ॥

---

१. कुण्डलान्तर्गतो भागो ग. पुस्तके नाऽस्ति।

२. सा स्त्री त्रिरात्रेण शुध्यति घ. पु.।

कानि पुनस्तानि ?

[1]समुद्रसंयानम् । ब्रह्मस्वन्यासापहरणम् । भूम्यनृतम् । सर्वपण्यैर्व्यवहरणम् । शूद्रसेवनम् । शूद्राभिजननम् । तदपत्यत्वं च । [2]एषामन्यतमत्कृत्वा चतुर्थकालामितभोजिनस्स्युरपोऽभ्यवेयुस्सवनानुकल्पम् । स्थानासनाभ्यां विहरन्त एते त्रिभिर्वर्षैस्तदपहन्ति पापम् ॥ २ ॥

अनु०—ये पतनीय कर्म है—समुद्र की यात्रा करना, ब्राह्मण की सम्पत्ति या धरोहर रखी हुई वस्तु हड़प लेना, भूमि के संबन्ध में झूठी गवाही देना, सभी प्रकार की वस्तुओं का क्रय विक्रय करना (चाहे वह निषिद्ध हो या न हो), शूद्र की सेवा करना, शूद्रा स्त्री मे गर्भाधान करना, इस प्रकार शूद्रा से (अपनी शूद्रा पत्नी से भी पुत्र के रूप मे उत्पन्न होना,—इनमें से कोई भी पतनीय कर्म करने पर प्रायश्चित्त के लिए भोजन की चौथी वेला को ही अल्प भोजन करे, तीनों सवन काल प्रातः, मध्याह्न और साय) स्नान करे, दिन मे खड़ा रहे तथा रात्रि को बैठकर ही बितावे, इस प्रकार तीन वर्ष बिताने पर पतनीय कर्म का पाप नष्ट माना जाता है ॥ २ ॥

टि०—'शूद्राभिजननम्, तदपत्यत्व च' की व्याख्या मे गोविन्द स्वामी ने शूद्र की सन्तान होने की यह भी स्थिति बतलायी है कि शूद्र के यहाँ पुत्र बनकर रहना भी पतनीय कर्म है 'शूद्रस्य वा पुत्रभावः, तवाय पुत्रोऽस्मि इत्युपजीवनम् ।'

समुद्रसंयानं नावा द्वीपान्तरगमनम् । ब्राह्मणस्वन्यासापहरणं निक्षेपहरणम् । भूम्यनृतं साक्ष्ये भूमिविषयानृतवादः । सर्वैः पण्यैरव्यवहरणीयैरप्युभयतोदद्भिर्व्यवहरणम् । शूद्रप्रेष्यता तत्सेवनमुच्यते । शूद्रायां गर्भस्थापनं शूद्राभिजननम् । शूद्रायां स्वभार्यायामपि जातत्वं तदपत्यत्वम् । शूद्रस्य वा पुत्रभावस्तवाऽहं पुत्रोऽस्मीत्युपजीवनम् । एषामन्यतमस्मिन् कृते प्रायश्चित्तम्–चतुर्थकालाः चतुर्थे काले येषां भोजनं ते तथोक्ताः । मितभोजिनः अल्पभुजः । अपोऽभ्यवेयुस्सवनानुकल्पं त्रिषवणस्नानिनः स्थानासनाभ्यामहोरात्रयोर्यथासङ्ख्यं विहरन्त एवमाचरन्तः एते तत्पापं त्रिभिः संवत्सरैरपहन्ति अपघ्नन्तीत्यर्थः ॥२॥

[3]यदेकरात्रेण करोति पापं कृष्णं वर्णं ब्राह्मणस्सेवमानः । चतुर्थकाल उदकाभ्यवायी त्रिभिर्वर्षैस्तदपहन्ति पापमिति ॥ ३ ॥

---

१. एतत्सूत्रं नवधा विभक्तं इ. पुस्तके ।

२. cf. आप. ध. १. २५. ११.

३. cf. आप ध. १. २७. ११.

अनु०—ब्राह्मण एक दिन और रात्रि की अवधि में कृष्ण वर्ण के व्यक्ति की सेवा करने से जो पाप करता है वह पाप तीन वर्षों में प्रत्येक चतुर्थ भोजन वेला पर भोजन करने तथा तीनों सवनो मे स्नान करने से दूर होता है ॥ ३ ॥

टि०—इस सूत्र को गोविन्द स्वामी ने शूद्रा स्त्री से या चण्डाली से मैथुन के प्रसङ्ग मे लिया है। संभवतः उपर्युक्त सूत्र शूद्र वर्ण की सेवा का निषेधमात्र करता है किन्तु पूर्ववर्ती सूत्र मे शूद्रसेवा के प्रसंग मे नियम दिया जा चुका है। केवल एक दिन रात्रि शूद्र सेवा के इस प्रायश्चित्त में दिन मे खड़े रहने और रात्रि मे बैठे रहने का कठोर व्रत नही विहित है, संभवतः शूद्रसेवा की अल्पावधि के कारण। गोविन्द स्वामी का दृष्टिकोण भी ठीक हो सकता है।

'कृष्णो वर्णः चण्डालीत्येके। वर्णशब्दानुपपत्तेः शूद्रैवेत्यपरे। तत्सेवनं तद्गमनम्। व्याख्यातं चतुर्थकालत्वमनन्तरसूत्रेऽपि। उदकाभ्यवायी त्रिषवण-स्नायी एकरात्रेण सकृद्गमनमाह। अभ्यासे च तदभ्यासः कर्मणः पुनः प्रयोगात् विदुषो बुद्धिपूर्वगमन इदम् ॥ ३ ॥

अथोपपातकानि ॥ ४ ॥

अनु०—अब उपपातकों का विवेचन किया जायगा ॥ ४ ॥

वक्ष्यन्त इति शेषः। एतान्यपि पतनीयेभ्यो न्यूनानि ॥ ४ ॥

अगम्यागमन गुर्वीसखीं गुरुसखीमपपात्रां पतितां च गत्वा भेषजकरणं ग्रामयाजनं रङ्गोपजीवनं नाट्याचार्यता गोमहिषीरक्षणं यच्चाऽन्यदप्येवंयुक्तं कन्यादूषणमिति ॥ ५ ॥

अनु०—जिन स्त्रियों से सभोग वर्जित है उनका संभोग, माता की सखी, गुरु अर्थात् पिता की सखी, अपपात्र स्त्री, तथा पतिता स्त्री से मैथुन करना, जीविका के लिए चिकित्सा करना, अनेक लोगों के लिए यज्ञ कराना, मञ्च पर अभिनयादि कला दिखा कर जीविका चलाना, नृत्य, गीत अभिनय आदि की शिक्षा देना, जीविका के लिए गाय या भैंस पालना तथा अन्य इसी प्रकार के दुष्कर्म करना, किसी कन्या को (संभोग द्वारा या उसके किसी दोष की अफवाह उड़ाकर) दूषित करना—ये सभी उपपातक है ॥ ५ ॥

अगम्याः मातृष्वसृपितृष्वस्राद्याः। ताश्च नारदो जगाद—

माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा।
पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भार्या पुत्रस्य या भवेत् ॥

१. कृष्णो वर्णः शूद्रः इत्युज्ज्वलायां हरदत्तः।

दुहिताऽऽचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता ।
राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या ॥
आसामन्यतमां गत्वा गुरुतल्पव्रतं चरेत् ॥
शिश्नस्योत्कर्तनं दण्डः नाऽन्यो दण्डो विधीयते ॥ इति ।

अत्र माता स्तन्यप्रदा । गर्वी माता गुरुः पिता तयोस्सखी च । अपपात्रा कन्या । उपपात्रेति पाठे पण्यस्त्री । पतिता ब्रह्महत्यादिभिः यैः पुरुषः पतति, स्वकीयैश्च । तथा च वसिष्ठः—

त्रीणि स्त्रियाः पातकानि लोके धर्मविदो विदुः ।
भर्तुर्वधो भ्रूणहत्या स्वस्य गर्भस्य पातनमिति ॥

भेषजकरणं उपजीवनाय । ग्रामयाजनं बहूनां याजनम् । रङ्गोपजीवनं रङ्गो नर्तनं तेनोपजीवनम् । नाट्याचार्यता नर्तकेभ्यो नटशास्त्रस्य भरतविशाखिलादेः प्रतिपादनम् । गोमहिषीरक्षणमप्युपजीवनाय । एवं युक्तम्, वेदनिन्दा, विप्रापवादः, शस्त्रपाणित्वं, अग्निगोब्राह्मणेभ्यो दानप्रतिषेधः अयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रय इत्यादि । कन्यादूषणं तद्गमनं तद्दूषणं वा—रोगिणी काणा विरूपा बहुभुगाकुला मन्दगतिर्मन्दप्रज्ञा बहुभाषिणी दुर्गन्धगात्रेत्यादि ॥ ५ ॥

तेषां तु निर्वेशः पतितवृत्तिर्द्वौ संवत्सरौ ॥ ६ ॥

अनु०—उपपातक के दोषी व्यक्तियों का प्रायश्चित्त यह है कि वे दो वर्ष तक पतित व्यक्ति का जीवन व्यतीत करें ॥ ६ ॥

टि०—अर्थात् ऐसे पतित भिक्षावृत्ति का आश्रय लेकर जीवन निर्वाह करें ।

निर्वेशः प्रायश्चित्तं पतितानां वृत्तिः जीवनं भैक्ष्यवृत्तिरित्यर्थः । अथ वा—ब्रह्महणो व्रतं द्वौ संवत्सरौ चरेत् ॥ ६ ॥

अथाऽशुचिकराणि ॥ ७ ॥

अनु०—अब अशुद्धि उत्पन्न करने वाले दुष्कर्मों का विवेचन किया जाता है ॥७॥

वक्ष्यमाणानि वेदितव्यानि । तान्युपपातकेभ्यो न्यूनानि ॥ ७ ॥

द्यूतमभिचारोऽनाहिताग्नेरुञ्छवृत्तिता समावृत्तस्य भैक्षचर्या तस्य चैव गुरुकुले वास ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यस्तस्य चाऽध्यापनं नक्षत्रनिर्देशश्चेति ॥ ८ ॥

अनु०—जुआ खेलना, आभिचारिक अनुष्ठान करना, अग्निहोत्र न करने वाले

व्यक्ति का खेत मे गिरे अन्न को एकत्र कर जीवनवृत्ति चलाना, समावर्तन संस्कार होने के बाद भी भिक्षा माग कर जीविका निर्वाह करना, समावर्तन के बाद चार मास से अधिक गुरु के यहा निवास करना, ऐसे समावर्तन संस्कार के बाद गुरुकुल में निवास करने वाले व्यक्ति का अध्यापन करना और नक्षत्रों का निर्देश कर ज्योतिष द्वारा जीविका निर्वाह करना ये सभी अशुद्धि उत्पन्न करने वाले कर्म है ॥८॥

द्यूतमक्षादिभिर्देवनम् । अभिचारः श्येनाद्यनुष्ठानम् । उञ्छः पथि क्षेत्रे वाऽनावृते देशे एकैककणिशोद्धरणं तेन वर्तनमुञ्छवृत्तिता । सा चाऽनाहिताग्नेरशुचिकरा । आहिताग्नेस्तु विहिता । तथा हि—

वर्तयंस्तु शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः ।
इष्टीः पार्वायनान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा ॥ इति ।

समावृत्तो गृहस्थस्तस्य भिक्षाचर्या । तस्य चैव समावर्तनप्रभृति मासचतुष्टयादूर्ध्वं गुरुकुले वासः । अतस्तस्य मासद्वयं मासचतुष्टयं वा गुरुकुलवास इष्यत एव । तथा चाऽपस्तम्बः—'द्वौ द्वौ मासौ समाहित आचार्यकुले वसेत् भूयश्श्रुतमिच्छन्' । इति तस्यैवोक्तलक्षणात् कालादूर्ध्वं यदध्यापनं तदप्यशुचिकरम् । अतश्चैतत् ज्ञापितं यावन्मरणं विद्यासङ्ग्रहः कार्य इति । तदुक्तम्—

वलीपलितकालेऽपि कर्तव्यश्श्रुतिसङ्ग्रहः ॥ इति ॥

नक्षत्रनिर्देशो ज्योतिःशास्त्रोपजीवनम् । चशब्दात् प्रतिमालेखनगृहस्थपरपाकोपजीवनानि गृह्यन्ते ॥ ८ ॥

यान्येतान्यशुचिकराणि—

'तेषां तु निर्वेशो द्वादश मासान् द्वादशाऽर्धमासान् द्वादश द्वादशाहान् द्वादश षडहान् द्वादश त्र्यहान् द्वादशाहं षडहं त्र्यहमहोरात्रमेकाहमिति यथाकर्माभ्यासः ॥ ९ ॥

अनु०—ऐसे अशुचियुक्त व्यक्तियों का प्रायश्चित्त दुष्कर्म की मात्रा के अनुसार बारह मास, बारह पक्ष, बारह-बारह दिनों की अवधि, बारह छ दिनों की अवधि, बारह तीन दिनों की अवधि, बारह दिन, छ. दिन, तीन दिन-रात्रि या एक दिन व्रत करना होता है ॥ ९ ॥

अत्र षडहात् प्राग्ये काला निर्दिष्टाः तान् प्राजापत्येन यापयेत् । षडहादींस्त्वनशनेन । यथा पापस्य कर्मणोऽभ्यासस्तथा सेवा । तत्र गुर्वभ्यासे गुरुकल्पः । मध्यमे मध्यमः । लघौ लघुः ॥ ९ ॥

---

१. सूत्रमिदं समानाक्षरमेव आप. ध. १. २९ १७–१८ द्रष्टव्यम् ।

पतितानामेव किञ्चित्तदाह—

[1]अथ पतितास्समवसाय धर्मांश्चरेयुरितरेतरयाजका इतरेतराध्यापका मिथो विवहमानाः पुत्रान् सन्निष्पाद्य ब्रूयुर्विप्रव्रजतास्मत्त एवमार्यान् सम्प्रतिपत्स्यथेति ॥ अथापि न सेन्द्रियः पतति । तदेतेन वेदितव्यमङ्गहीनोऽपि [2]हि साङ्गं जनयतीति ॥ १० ॥

अनु०—सभी पतित एक साथ एक स्थान पर निवास करें, आपस में ही धर्मों का पालन करें, एक दूसरे का यज्ञ करावें, एक दूसरे का अध्यापन करें, आपस में ही विवाह करें और पुत्र उत्पन्न होने पर उनसे कहें हमे छोड़ कर जाओ, इस प्रकार तुम पुनः आर्यों को प्राप्त करोगे ।।-१० ।।

टि०—मनुष्य अपने इन्द्रियों के साथ पतित नही होता, इसका दृष्टान्त यही है कि विकलांग मनुष्य का पुत्र भी सम्पूर्ण अंगो से युक्त उत्पन्न होता है ।

टि०—तात्पर्य यह है कि आर्यों के सम्पर्क मे आने पर पतितों के पुत्र पवित्र हो हो जाते हैं । मनुष्य के पतित होने पर भी उसके इन्द्रियो का पतन नहीं माना जाता और इस कारण पुत्र को भी पतित नही माना जाता ।

समवसाय सम्भूय परस्परं पतिता धर्मांश्चरेयुः ! किंलक्षणान् । यजनयाजनाध्ययनाध्यापनदानप्रतिग्रहलक्षणान् अत्र परस्परं विवहमानेषु यदि पुत्रा निष्पन्ना भवेयुः तान्निष्पादितानुपनीयैव पितरो ब्रूयुः—विप्रव्रजत निर्गच्छत अस्मत्तः अस्मान् त्यक्त्वा निर्गच्छत निर्गता आर्यान् प्रतिपत्स्यथ यूयमार्यान् प्रतिपत्स्यथ, अपिशब्दस्सम्भावनावचनः । आर्यैः किल यूयं सम्प्रयोगं प्राप्स्यथेति आर्या एव युष्माकमुपनेतारो भविष्यन्तीति । पतितपुत्रा अपि तैस्संसर्गाभावे शुचयो भवन्ति । ससर्गे हि संसर्गपतनमिति ॥

ननु पतितपुत्रत्वादपि तद्भवतीत्याशङ्क्याऽऽह-अथाऽपि न सेन्द्रियः पतति यद्यपि च पिता पतति तथाऽपि सेन्द्रियः इन्द्रियैस्सह न पतति । कस्मात ? न हि पतनीयकारणम । न चेन्द्रियाणि करणानि पतितानि । कर्तृकरणयोश्च पृथक्त्वं प्रसिद्धम् , उपस्थेद्रियं च कर्मेन्द्रियम ।

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ।। इति ।।

---

१ इदमपि सूत्रमापस्तम्बधर्मसूत्रे समानानुपूर्वीकं समानाक्षरमेव । परन्तु तत्र चतुर्धा विभक्तम् । see. आप. ध. १. २९. ८–११.

२. अङ्गहीनोऽपि क. घ. पु.

पुत्राश्चेन्द्रियनिष्पादिता: । तथा च मन्त्र:—'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि' इति । अत: करणसमवायिन: ।

अथोच्येत सर्वैरेव पितृगुणै: पुत्रस्थैर्भवितव्यम् । अपि पतितत्वेनेति । तदपि न । कस्मात्—तदेतेन वेदितव्यम् दृश्यते ह्ययमर्थोऽङ्गहीनोऽपि साङ्गं जनयति, साङ्गोऽप्यङ्गहीनम् । अतो नाऽवश्य पतितपुत्रेणाऽपि पतितेन भवितव्यम् ॥ १० ॥

अमुं तावत्पक्षं दूषयति—

'मिथ्यैतदिति हारीतो दधिधानीसधर्मा: स्त्रियस्स्युर्यो हि दधिधान्यामप्रयतं पय आतच्य मन्थति न तच्छिष्टा धर्मकृत्येषूपयोजयन्ति । एवमशुचि शुक्लं यन्निर्वर्तते न तेन सह सम्प्रयोगो विद्यते ॥ ११ ॥

हारीत का कथन है कि यह धारणा मिथ्या है । उनके अनुसार स्त्रियाँ यज्ञिय दधिधानी पात्र के समान होती हैं, जिस प्रकार दधिधानी मे अशुद्ध दूध को मथने पर शिष्ट लोग उसका प्रयोग धर्म कार्यों मे नही करते हैं इसी प्रकार जो व्यक्ति अपवित्र वीर्य से उत्पन्न होता है उसके साथ किसी प्रकार का संबन्ध नहीं होना चाहिए ॥ ११ ॥

टि०—इस मत के अनुसार देह भी कर्ता होने के कारण पतित होता है ।

अपतितायामपि जनन्यां पतितादुत्पन्नश्चेत् पतित एव भवतीत्येतदनेन कथ्यते । कस्य हेतो: ? यावता जनन्या अपि स उत्पन्न: । मिथ्यैतदिति हारीत: । हारीतग्रहणं पूजार्थम्, नाऽऽत्मीयं मतं पर्युदसितुम् । अत्र दधिधानीसाधर्म्यात् स्त्रीणां बीजप्राधान्यं दर्शयति । तथा द्रव्यान्तरनिष्पत्त्यायतनत्वं दधिधान्या एव । आसामप्यशुचिशुक्लाधारत्वम् । यथा च दधिधान्यां प्रयतायामातञ्चितादप्रयताद्दध्नो मथननिष्पन्नं नवनीतं कृतं न धर्मकार्येष्विष्टयादिषु उपयुज्यते, एवमशुचिशुक्लनिष्पादितेन पुंसा न धर्मसम्बन्धो विधीयते । अथ यदुक्तं 'न सेन्द्रिय: पतति इति तत् मिथ्यैव' । कथं ? द्वौ हि पुरुषौ भवत:–सोपाधिको निरुपाधिकश्च । यो निरुपाधिक: परमात्मा तस्याऽकर्तृत्वम् । सोपाधिकस्तु पुण्यापुण्ये करोति, तत्फलं चाऽनुभवति । उपाधिश्च बुद्धयादिर्देहपर्यन्त: । स हि क्षेत्रज्ञ: । तस्मिंश्चाऽहम्प्रत्यय: । स च भूतात्मा स देहोऽहङ्कार मन: ॥

> योऽस्यात्मन: कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।
> य: करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधै: ॥ इति ॥

१. इदमपि सूत्रपापस्तम्बीये धर्मे प्रायशस्समानानुपूर्वीकमेव See. आप. ध. १ २९. १२—१४ ।

ततो देहोऽपि कर्तृत्वादेव पतति । एवं च कृत्वा मृतेष्वपि पतितेषु तत्सपिण्डानां तद्देहस्पर्शनादिः शिष्टैर्नाऽभ्युपगम्यते । तस्मादशुचिशुक्लोत्पन्नानामशुचित्वमेव । तथा च स्मृतिः--'पतितोत्पन्नः पतितो भवतीत्याहु' इति । यदप्युक्तम् 'अङ्गहीनोऽपि साङ्गम्' इति, तदपि ग्रहस्थितिवशात् आहारविशेषवशाच्च युक्तम् । इह तु सेन्द्रिय एव पततीत्युक्तम् । किञ्च--स्त्रीपुंसाभ्यां हि पुत्रो जन्यते । यद्यत्राऽपि पुमानङ्गहीनः स्त्री तु साङ्गा भवत्येव । ततोऽस्याऽङ्गानि प्रवर्तन्ते ।। मनुः--

पितुर्वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा ।। इति ।

इदं चाऽन्यत्-भूयांसो धर्माः कारणगताः कार्ये भवन्ति । तत्र शुक्लादयो गुणाः पुत्रे न भवन्तीति प्रमाणशून्यं वचः । अत एव तदपि मिथ्यैव । तस्मान्न तेन सह सम्प्रयोगो विद्यत इति स्थितम् ।। ११ ।।

यद्यपि सम्प्रयोगो न विद्यते, तथाऽपि प्रायश्चित्तं तस्याऽस्तीत्याह--

अशुचिशुक्लोत्पन्नानां तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तिः ।
पतनीयानां तृतीयांऽशस्स्त्रीणामंशस्तृतीयः ।। १२ ।।

अनु०—इस प्रकार अपवित्र वीर्य से (पतित पुरुषों से) उत्पन्न पुरुष यदि प्रायश्चित्त करने के इच्छुक हों तो उनका व्रत पतनीयों के व्रत का तीसरा अंश होता है और इस प्रकार उत्पन्न स्त्रियों का व्रत उसको भी तृतीय अंश होता है ।। १२ ।।

पतनीयप्रायश्चित्तं यदुक्तं 'चतुर्थकाला मितभोजिनस्स्युः' इति तस्य तृतीयो भागः पतितोत्पन्नानां प्रायश्चित्तम् । स्त्रीणां तदुत्पन्नानां तस्याऽपि तृतीयो भागः; नवमभाग इति यावत् । तत्र तौल्येऽपि तद्बीजत्वे स्त्रीणां दोषलाघवमवगम्यम् । तथा च वसिष्ठो युक्तिमेवाऽऽह--

'पतितोत्पन्नः पतितो भवतीत्याहुरन्यत्र स्त्रियाः, सा हि परगामिनी, तामरिक्थामुपेया'दिति ।। १२ ।।

'सर्वपण्यैर्व्यवहरणम्' (२.२.५) इति पतनीयमुक्तम् । तत्र किल वपये किञ्चिदुच्यते-

भोजनाभ्यञ्जनाद्दानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः ।
श्वविष्ठायां क्रिमिर्भूत्वा पितृभिस्सह मज्जतीति ।। १३ ।।

अनु०—यदि भोजन, मालिश और दान के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोजन के लिए तिलों का व्यवहार करता है तो वह क्रिमि बनकर अपने पितरों के साथ कुत्ते के मल में डूबता है, ऐसा उद्धरण दिया जाता है ।। १३ ।।

[1]नाऽत्र तिरोहितं किञ्चिदस्ति ॥ १३ ॥

पितॄन्वा एष विक्रीणीते यस्तिलान् विक्रीणीते ।
प्राणान् वा एष विक्रीणीते यस्तण्डुलान् विक्रीणीते ॥ १४ ॥

अनु—जो तिल का विक्रय करता है वह अपने पितरों का ही विक्रय करता है, जो चावल बेचता है वह अपने प्राणों को ही बेचता है ॥१४॥

निन्देषा तिलतण्डुलयोर्विक्रयस्य ॥ १४ ॥

सुकृतांशान्वा एष विक्रीणीते यः पणमानो दुहितरं ददाति ॥ १५ ॥

अनु०—जो सौदा कर (बदले में द्रव्य लेकर) पुत्री देता है वह अपने पुण्य के अंशों को ही बेचता है ॥ १५ ॥

सुकृतं पुण्यं तदंशाः सुकृतांशाः । पणमानो योऽन्यस्माद् द्रव्यं गृहीत्वाऽन्यस्मै द्रव्यान्तरप्राप्त्यर्थं प्रयच्छति ॥ १५ ॥

अथ प्रसङ्गात् पण्यमाचष्टे--

तृणं काष्ठमविकृतं विक्रेयम् ॥ १६ ॥

अनु०—तृण और काष्ठ अविकृत रूप में बेचे जा सकते हैं ॥ १६ ॥

टि०—अविकृत से तात्पर्य यह है कि उनसे कोई उपकरण न बनाया गया हो—जैसे चटाई, रस्सी, काष्ठपात्र आदि ।

तृणविकाराः रज्ज्वासनकटादयः । काष्ठविकाराः स्रुक्स्रुवप्रतिमादयः । तद्वर्जं तृणं काष्ठं ब्राह्मणैरप्यापदि विक्रेयम् ॥ १६ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति—

पशवश्चैकतोदन्ता [2]अश्मा च लवणोद्धृतः ।
एतद् ब्राह्मण ते पण्यं तन्तुश्चा[3]रजनीकृत इति ॥ १७ ॥

अनु०--इस विषय में निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया जाता है—ब्राह्मणो, तुम इन्हीं वस्तुओं को बेच सकते हो वे पशु जिनके मुख में केवल एक जबड़े मे दाँत होते हैं, नमक के अतिरिक्त अन्य खनिज पदार्थ, तथा बिना रंगा हुआ धागा ॥ १७ ॥

ब्रह्मा ब्राह्मणमाह—हे ब्राह्मण ! तवैतत्पण्यं यदेकतोदन्ताः । पशवः श्रृङ्गिण-

---

१. नेदं ग- पुस्तकेऽस्ति । २. अश्मानो लवणोद्धृताः इति ग. पु.
३. रजनीकृतः इति. ग पु.

स्तेष्वेकतोदन्ताः, अश्मा[1] पाषाणश्च लवणोद्धृतो लवणवर्जितः। तन्तु[2]श्चार-जनीकृतः कुसुम्भकुङ्कुमहरिद्राद्यरञ्जित इत्यर्थः ॥ १७ ॥

पातकविवर्जितेषु पण्याविक्रयेषु प्रायश्चित्तं वक्तव्यम्, तदुच्यते—

पातकवर्जं वा बभ्रुं पिङ्गलां गां रोमशां सर्पिषाऽवसिच्य कृष्णै-स्तिलैरवकीर्याऽनूचानाय दद्यात् ॥ १८ ॥

अनु०—पातक के अतिरिक्त कोई अन्य पाप कर्म करने पर प्रायश्चित्त के रूप में वेदों के विद्वान् ब्राह्मण को भूरे या पिंगल वर्ण की प्रचुर रोमवाली गौ का उसके ऊपर जल छिड़क कर तथा काला तिल बिखेर कर दान करे ॥ १८ ॥

वाशब्दो वक्ष्यमाणेन प्रायश्चित्तेन विकल्पार्थः। बभ्रुपिङ्गलयोर्विकल्पार्थो वा। रोमशाम् एवंभूतां गां घृतेनाऽभ्यज्य तामेव कृष्णतिलैरवकीर्य बहुश्रुताय ब्राह्मणाय दद्यात् ॥ १८ ॥

[3]कूष्माण्डैर्वा द्वादशाहम् ॥ १९ ॥

अनु०—अथवा कूष्माण्ड मन्त्रों का उच्चारण करते हुए बारह दिन हवन करे ॥ १९ ॥

जुहुयादिति शेषः ॥ १९ ॥

यदर्वाचीनमेनो भ्रूणहत्यायास्तस्मान्मुच्यते इति ॥ २० ॥

अनु०—इस प्रकार प्रायश्चित्त करने वाला विद्वान् ब्राह्मण की हत्या की अपेक्षा कम दोष वाले दुष्कर्मों के पाप से मुक्त हो जाता है ॥ २० ॥

अर्वाचीनमवरोक्तम्। फलविधिः फलार्थवादो वाऽयम् ॥ २० ॥

पातकाभिशंसने कृच्छ्रः ॥ २१ ॥

अनु०—पातक का दोष लगाये जाने पर भी प्रायश्चित्त के लिए कृच्छ्र व्रत करे ॥ २१ ॥

पातक्ययमित्युक्तिमात्रे प्राजापत्योऽयं प्रायश्चित्तम्। कस्य? अनृतेन पातकेनाऽभिशस्तस्य ॥ २१ ॥

अथाऽस्मिन्नेव विषयेऽभिशंसितुराह—

तदब्दोऽभिशंसितुः[4] ॥ २२ ॥

---

१. अत्राऽपि बहुवचनान्तपाठो दृश्यते ग. पुस्तके

२. रजनीकृतः कुसुम्भहरिद्रादिभी रञ्जित इत्यर्थः इति. ग. पु.

३. कूष्माण्डा व्याख्याताः ९७. पृष्ठे। ४. अभिशंसितरि इति. घ. पु.

अनु०—पातक का मिथ्या दोष लगाने वाला एक वर्ष तक कृच्छ्र व्रत करे।२२।

तदिति कृच्छ्रं प्रतिनिर्दिशति। ब्राह्मणमनृतेन पातकेनाभिशंस्य संवत्सरं प्राजापत्यव्रतं चरेत्। अत्र गौतमः—'ब्राह्मणाभिशंसने दोषस्तावान्। द्विरनेनसि' इति ॥ २२ ॥

पतितसम्प्रयोगे सति कियता कालेन केन सम्प्रयोगेण पततीति? तदुभयं वक्ति—

संवत्सरेण पतति पतितेन समाचरन्।
याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनादिति ॥ २३ ॥

अनु०—जो व्यक्ति पतित के साथ एक वर्ष तक संबन्ध बनाये रखता है वह भी पतित हो जाता है, पतित का यज्ञ कराने, उसका अध्यापन करने या उससे वैवाहिक सबन्ध स्थापित करने से नहीं, अपितु उसके साथ एक सवारी पर चलने, एक साथ बैठने, एक साथ भोजन करने से ही पतित हो जाता है ॥ २३ ॥

यानासनाशनैस्संवत्सरेण पतति। न तु याजनादिभिस्संवत्सरेण। किं तर्हि? सम्बन्धमात्रेण, सद्य एवेत्यर्थः। अन्तरङ्गत्वात् याजनादीनां बहिरङ्गत्वाच्च यानादीनाम्। तस्माद्युक्ता योजना। याजनं नाम ऋत्विग्यजमानसम्बन्धः। शिष्योपाध्यायसम्बन्धोऽध्यापनम्। कन्यादानप्रतिग्रहलक्षणसम्बन्धो यौनम्। यानाद्येकस्यां शालायामेकस्मिन् कुञ्जरे खट्वायां वा ॥ २३ ॥

[1]अमेध्यप्राशने प्रायश्चित्तं नैष्पुरीष्यं तत्सप्तरात्रेणाऽवाप्यते। [2]अपः पयो घृतं पराक इति प्रतित्र्यहमुष्णानि स तप्तकृच्छ्रः ॥ २४ ॥

अनु०—अमेध्य वस्तुओं को खा लेने का प्रायश्चित यह है कि जब तक पेट का मल पूर्णतः शरीर से बाहर नहीं निकल जाता तब तक उपवास करे, सात दिन रात मे मलोत्सर्ग द्वारा पूर्णतः शुद्धि होती है। जल, दूध और घृत को उष्ण कर तीन-तीन दिन सेवन करते हुए पुनः तीन दिन उपवास करे तो वह तप्तकृच्छ्र नामक व्रत होता है ॥ २४ ॥

अमेध्यशब्देन श्वापदोष्ट्रखरादीनां मांसं लशुनगृञ्जनपलाण्डुकवकादयश्च गृह्यन्ते। अबादीनि त्रीण्युष्णानि। पराक उपवासः प्रतित्र्यहम्। एवमेकैकस्मिन् कृते सति द्वादश सम्पद्यन्ते। तस्यैतस्य तप्तकृच्छ्र इति संज्ञा ॥ २४ ॥

---

१. See. आप. ध. १. २७. ३. and गौ. ध. २६. ४

२. See. याज्ञवल्क्य. ३. ३२७. and मनु also. ११. २१४.

[1]त्र्यहं प्रातस्तथा सायं त्र्यहमन्यदयाचितम् ।
त्र्यहं परं तु नाऽश्नीयात् पराक इति कृच्छ्रः ॥ २५ ॥

अनु०—तीन दिन केवल प्रातःकाल भोजन करने, अगले तीन दिन केवल सायंकाल भोजन करने, इसके बाद तीन दिन बिना माँगे मिले हुए भोजन पर निर्वाह करने और फिर तीन दिन भोजन न करने पर कृच्छ्र व्रत होता है ॥ २५ ॥

अयमपि द्वादशाह एव ॥ २५ ॥

अथ बालकृच्छ्रमाह—

प्रातस्सायमयाचितं पराक इति त्रयश्चतूरात्राः स एषः स्त्रीबाल-वृद्धाना कृच्छ्रः ॥ २६ ॥

अनु०—यदि प्रातः भोजन, सायंभोजन, अयाचित अन्न का भोजन तथा उपवास करते हुए चार-चार दिनों के तीन भागों में बारह दिनों का समय विभक्त किया जाय तो वह स्त्रियों, बालकों और वृद्धो का कृच्छ्र व्रत होता है ॥ २६ ॥

एकैकमेकाहः परं तु नाऽश्नीयात् अतश्चतुरहोऽयम् । बालादिग्रहणमशक्तो-पलक्षणम् ॥ २६ ॥

[2]यावत्सकृदाददीत तावदश्नीयात्पूर्ववत्सोऽतिकृच्छ्रः ॥ २७ ॥

अनु०—एक बार में जितना अन्न खा सकता हो उतना मात्र ही खाते हुए उपर्युक्त विधि से व्रत करे तो वह अतिकृच्छ्र नाम का व्रत होता है ॥ २७ ॥

पूर्ववदित्येतेन सर्वातिदेशे प्राप्ते ग्रासनियमार्थं सकृद्ग्रहणम् । ग्रासस्तु [3]शिखण्डपरिमितो पाणिपूरणान्नो वा ॥ २७ ॥

[4]अब्भक्षस्तृतीयः स कृच्छ्रातिकृच्छ्रः ॥ २८ ॥

अनु०—यदि केवल जल पीकर (बारह दिन का) व्रत करे तो वह तीसरा व्रत कृच्छ्रातिकृच्छ्र नाम का व्रत होता है ॥ २८ ॥

कृत्स्नोऽपि द्वादशाहोऽब्भक्षो भवेत् । तृतीयग्रहणं समुच्चितानामेषां सर्व-प्रायश्चित्तत्वप्रदर्शनार्थम् । यथाऽयं तृतीयो भवति तथा कुर्यादित्यर्थः । यद्वा—

---

१. See. आप. ध. १. २७. ७. and गौ. ध २६. ४.

२. cf. गौ. ध. २७. १८.

३. See. या. स्मृ. ३. २१९. शिखण्डो मयूराण्डः ।

४. cf. गौ. ध २७. १९. and See also. या. स्मृ. ३. ३२०

चतुर्षु त्र्यहेषु तृतीयस्त्र्यहोऽब्भक्षो भवति। प्रथमद्वितीयौ चोदनभक्षौ। चतुर्थः पराक इति। स एष कृच्छ्रातिकृच्छ्रः॥ २८॥

अथ कृच्छ्रव्रतमुच्यते—

कृच्छ्रे त्रिषवणमुदकोपस्पर्शनम्॥ २९॥

अनु०—कृच्छ्र व्रत करते समय तीनों सवन काल में स्नान करे॥ २९॥

त्रीणि सवनानि प्रातर्मध्यन्दिनं सायमिति। उपस्पर्शनं स्नानम्॥ २९॥

अधश्शयनम्॥ ३०॥

अनु०—भूमि पर सोवे॥ ३०॥

उपरि खट्वादिषु शयननिषेधः। अनुपस्तीर्णे देशे शयनमधश्शयनमित्यपरे॥ ३०॥

एकवस्त्रता केशश्मश्रुलोमनखवापनम्॥ ३१॥

अनु०—केवल एक वस्त्र धारण करे, केशों। दाढ़ी-मूँछ, शरीर के लोम तथा नखों को कटवाए॥ ३१॥

अत्रोत्तरीयं प्रतिषिध्यते॥ ३१॥

एतदेव स्त्रियाः केशवपनवर्जं केशवपनवर्जनम्॥ ३२॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे द्वितीयः खण्डः॥

अनु०—यही नियम स्त्रियों के लिए भी होता है, किन्तु वे अपने केश न कटवाएँ॥ ३२॥

यो यावान्नियमः कृच्छ्रेषु पुरुषस्योक्तः स एव स्त्रीणाम्। कृच्छ्रचरणे केशवपनं तु वर्ज्यते। द्विरुक्तिरुक्तप्रयोजना॥ ३२॥

इति बौधायनधर्मविवरणे गोविन्दस्वामिकृते
द्वितीये प्रश्ने प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयप्रश्ने द्वितीयोऽध्यायः

तृतीयः खण्डः

एवं तावद्ब्रह्मचारिधर्मप्रसङ्गात् प्रसक्तानुप्रसक्तमभिहितम्। अधुना गृहस्थधर्मा उच्यन्ते। तत्र प्रथमं तावत्संक्षिप्याऽऽह—

नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती नित्यस्वाध्यायी वृषलान्नवर्जी। ऋतौ च गच्छन् विधिवच्च जुह्वन्न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात्॥ १॥

अनु०—सदैव कमण्डलु में जल लेकर चलने वाला, सदा यज्ञोपवीत धारण करने वाला, नित्य वेद का स्वाध्याय करने वाला, शूद्र के अन्न को न ग्रहण करने वाला, ऋतुकाल में ही अपनी पत्नी से मैथुन करने वाला और वेदविहित विधि के अनुसार हवनादि यज्ञ कर्म करने वाला ब्राह्मण मृत्यु के बाद ब्रह्म के लोक से च्युत नहीं होता।' १ ।।

टि०—इस सूत्र के अनुसार यदि गृहस्थ भी अपने आश्रम के अनुसार धर्मों को करते हुए धर्म का आचरण करता है तो मुक्ति का अधिकारी बन सकता है। इस संबन्ध में गोविन्दस्वामी ने याज्ञवल्क्य स्मृति का पद्य उद्धृत किया है।

नित्योदकी उदकमण्डलुहस्तः। नित्ययज्ञोपवीती निवीतिप्राचीनावीतिभ्यामन्यत्र। नित्यस्वाध्यायी नित्याध्ययनः अन्यत्रानध्यायात्। वृषलश्शूद्रः। अन्नग्रहणादामं प्राणसंशये तत्स्थित्यर्थमभ्यनुज्ञातमेव। ऋतुः आर्तवः आर्तगतिकर्मणो गर्भाधानक्षमकालः। न वसन्तादिः। तत्र गच्छन् मैथुनमाचरन् आह—

ऋतुस्स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयष्षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैस्सार्धमहोभिस्सद्विगर्हितैः॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥

एतच्च स्वभार्यायामेव। विधिवच्च जुह्वत् श्रुतिस्मृतिचोदितेन मार्गेण ब्रह्मलोकान्न च्यवते। ब्रह्म च तल्लोकश्च ब्रह्मलोकः। तस्मान्न च्यवते न भेदं प्रतिपद्यत इत्यर्थः। अनेन प्रकारेण गृहस्थस्यापि स्वाश्रमविहितकर्मणा मुक्तिमनुमन्यते[1]। आह च याज्ञवल्क्यः—

न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धकृत्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते॥ इति।

तथा च धर्मस्कन्धब्राह्मणम्—'सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति। ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमे'ति इति॥ १॥

'ऋतौ च गच्छन्' इत्युक्तम्। तच्च 'प्रजानिश्श्रेयसम्' इति गृह्येप्युक्तम्। प्रजानां च जीवनं कथं भवतीति दायविभागप्रकरणमारभ्यते। तत्र प्रकृतिरूपां श्रुतिमुदाहरति—

[2]"मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभज"दिति श्रुतिः॥ २॥

---

१. अनुमीयत. इति. ग. पु.

२. "मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत् स नाभानेदिष्ठं ब्रह्मचर्यं वसन्तं निरभजत् स

अनु०--श्रुति में कहा गय है कि मनु ने अपने पुत्रों में अपनी सम्पत्ति का विभाजन किय। ॥ २ ॥

टि०--'पुत्रेभ्यः' से यह विशेष अर्थ निकलता है कि पुत्रों को ही पिता की सम्पत्ति मे अधिकार है, पुत्रियों को नहीं। "मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत् स नाभानेदिष्ठ ब्रह्मचर्यं वसन्तं निरभजत स आगच्छत्सोऽब्रवीत् कथा मा निरभागिति न त्वा निरभाक्षमित्यब्रवीदङ्गिरस इमे सत्रमासते ते सुवर्गं लोकं न प्रजानन्ति तेभ्य इदं ब्राह्मणं ब्रूहि ते सुवर्गं लोकं यन्तो य एषा पशवस्ताᳬस्ते दास्यन्तीति तदेभ्योऽब्रवीत् ते सुवर्गं लोकं यन्तो य एषा पशव आसन् तानस्मा अददुः।"

पुत्रग्रहणात् पुंस एव विभजेत्, न दुहितुः। तथा च श्रुतिः-'तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीः' इति। स्मृतिरपि—

विभागं चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान्॥ इति।

तत्र दायो दातव्यं द्रव्यम्, तस्य विभागो दायविभागः, इदानीं कर्तव्य इति विधिकल्पना॥ २॥

तत्राऽयं प्रकारः—

समशस्सर्वेषामविशेषात् ॥ ३ ॥

अनु०—पिता अपनी सम्पत्ति का सभी पुत्रों मे विशेष भाग न देकर समान विभाजन करे ॥ ३ ॥

न विशेषः कश्चिच्छ्रूयते—विषमो विभाग इति। अयं तु समो विभागः सवर्णापुत्राणामौरसानां समानगुणानां च। न त्वसवर्णापुत्राणामनौरसानामसमानगुणानाम्॥ ३॥

अस्मिन्नेव विषये उद्धारयुक्तं विभागमाह—

वरं वा रूपमुद्धरेज्ज्येष्ठः ॥ ४ ॥

अनु०--अथवा ज्येष्ठ पुत्र उस सम्पत्तिमें सबसे उत्कृष्ठ द्रव्य अपने विशेष भाग के रूप में प्राप्त करे ॥ ४ ॥

आगच्छत्सोऽब्रवीत् कथा मा निरभागिति न त्वा निरभाक्षमित्यब्रवीदङ्गिरस इमे सत्रमासते ते सुवर्गं लोकं न प्रजानन्ति तेभ्य इदं ब्राह्मणं ब्रूहि ते सुवर्गं लोकं यन्तो य एषा पशवस्ताᳬस्ते दास्यन्तीति तदेभ्योऽब्रवीत् ते सुवर्गं लोकं यन्तो य एषां पशव आसन् तानस्मा अददुः" इति समग्रा श्रुतिः॥ नाभानेदिष्ठः इति मनुपुत्रेष्वन्यतमस्य नाम। ब्रह्मचर्यं वसन्त गुरुकुलेऽधीयानम्। निरभजत् भागरहितमकरोत्। कथा कथम्। अन्यदत्र सुगमम्।

वरमुत्कृष्टरूपं द्रव्यमुद्धरेत् गृह्णीयात् ॥ ४ ॥

किं तत्र प्रमाणम्—

तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्तीति श्रुतिः ॥ ५ ॥

अनु०—इस कारण लोग ज्येष्ठ पुत्र को धन (का विशिष्ट भाग) देकर पृथक् करते है ऐसा श्रुति का वचन है ॥ ५ ॥

टि०—यह तैत्तिरीय संहित, २.५.२.७ में आया है। इस श्रुतिवाक्य से पूर्वोक्त अविशेष समान विभाजन का नियम निरस्त हो जाता है।

निरवसायनं पृथक्करणम्। धनेनोपतोष्य पृथक्कुर्वन्तीत्यर्थः। अनया श्रुत्याऽविशेषादिति हेतुरपसारितो भवति ॥ ५ ॥

दशानां वैकमुद्धरेज्ज्येष्ठः ॥ ६ ॥

अनु०—अथवा ज्येष्ठ पुत्र दश भागो में एक भाग अपने विशेष अंश के रूप मे प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

सर्वं धनजातं दशधा विभज्य ज्येष्ठस्यैको भाग उद्धारः कार्यः। दशसङ्ख्याधिकेषु सत्स्वेष विभागो लाभाय भवति, न तु दशसंख्यान्यूनेषु। एतावुद्धारौ गुणवज्ज्येष्ठविषयौ वेदितव्यौ ॥ ६ ॥

सममितरे विभजेरन् ॥ ७ ॥

अनु०—शेष धन को दूसरे पुत्रो में समान अंश देते हुए विभाजन करे ॥ ७ ॥

सर्वं धनजातं दशधा विभज्य ज्येष्ठस्यैको भाग उद्धारः कार्यः। अवशिष्टनवभागानितरे पुत्रास्समं विभजेरन् ॥ ७ ॥

पितुरनुमत्या दायविभागस्सति पितरि ॥ ८ ॥

अनु०—पिता के जीवित रहने पर सम्पत्ति का विभाजन उसकी आज्ञा से ही होना चाहिए ॥ ८ ॥

तदनिच्छया विभागो दोषो भवति ॥ ८ ॥

चतुर्णां वर्णानां गोऽश्वाजावयो ज्येष्ठांशः ॥ ९ ॥

अनु०—ज्येष्ठ पुत्र का अतिरिक्त अंश चार वर्णों के क्रम से अनुसार गौ, अश्व, बकरा और भेड़ होता है ॥ ९ ॥

अंशनियमेनोद्धारः। मृते जीवति वा पितरि सत्सु गोऽश्वाजाविष्वेतत्। इतरे समं विभजेरन्। गवादीनां ज्येष्ठभागद्वयावशिष्टस्याऽप्याधिक्ये सति विज्ञेयम् ॥ ९ ॥

एवं समानवर्णस्त्रीपुत्रविषयो विभाग उक्तः । अथ—

नानावर्णस्त्रीपुत्रसमवाये दायं दशांशान् कृत्वा चतुरस्त्रीन् द्वावेकमिति यथाक्रमं विभजेरन् ॥ १० ॥

अनु०—यदि अनेक वर्ण की स्त्रियों से उत्पन्न अनेक पुत्र हों तो सम्पत्ति का दश भाग कर, स्त्री के वर्ण-क्रम के अनुसार पुत्रों को चार, तीन, दो और एक भाग मिलता है ॥ १० ॥

टि०—ब्राह्मणी का पुत्र चार भाग, क्षत्रिया से उत्पन्न पुत्र तीन भाग, वैश्या से उत्पन्न पुत्र दो भाग तथा शूद्रा से उत्पन्न पुत्र एक भाग प्राप्त करते हैं । इसी प्रकार क्षत्रिय अपनी सम्पत्ति का छः भागकर अपनी क्षत्रिया, वैश्या, शूद्रा पत्नियों के पुत्रों को क्रमशः तीन, दो और एक भाग बाँटता है; वैश्य अपनी सम्पत्ति का तीन भाग कर वैश्या से उत्पन्न पुत्रों को दो भाग तथा शूद्रा पत्नी से उत्पन्न पुत्रों को एक भाग दे ।

नानावर्णस्त्रियो ब्राह्मणादिस्त्रियः । तत्पुत्रसमवाये सति सर्वं दशधा विभज्य चतुरोंऽशान् ब्राह्मणीपुत्रो हरेत् । इतरेषु षट्सु त्रीनंशान् क्षत्रियासुतः तत्परिशिष्टेषु त्रिषु द्वौ वैश्यासुतः । तथैतदवशिष्टांशं शूद्रासुतः । एवं क्षत्रियोऽपि सुतस्य वर्णक्रमात् षोढा कृतानां त्रीन् द्वावेकमिति यथाक्रमं प्रकल्पयेत् । तथा वैश्योऽपि स्वपुत्रयोः द्वावेकमिति विभजेत् ॥ १० ॥

अथमौरसविषयविभागः—

औरसे तूत्पन्ने सवर्णास्तृतीयांशहराः ॥ ११ ॥

अनु—औरस पुत्र के उत्पन्न होने पर अन्य सवर्ण पुत्र सम्पत्ति का तृतीय अंश प्राप्त करते हैं ॥ ११ ॥

टि०—औरस पुत्र पति द्वारा अपनी सवर्णा पत्नी से स्वयं उत्पादित पुत्र को कहते हैं । यदि किसी पुरुष का औरस पुत्र उत्पन्न होता है तो उसके अन्य सवर्ण पुत्र पूरी सम्पत्ति के तृतीय अंश में ही अपना हिस्सा पाते हैं । गोविन्दस्वामी की व्याख्या में 'सवर्णाः' के स्थान पर "असवर्णाः" ग्रहण किया गया है अर्थात् औरस सवर्ण पुत्र उत्पन्न होने पर अन्य वर्ण की पत्नियों से उत्पन्न पुत्र पूरी सम्पत्ति के तृतीय अंश में भी छः भाग कर वर्णानुसार तीन, दो, एक अंश ग्रहण करें ।

औरसं सवर्णापुत्रं वक्ष्यति—'सवर्णायां संस्कृतायाम्' इति । तस्मिन्नुत्पन्नेऽसवर्णास्तृतीयांशहरा भवेयुः । सर्वं धनजातं त्रेधा विभज्य तेषामेकं षोढा सम्पाद्य त्रीन् द्वावेकमिति कल्पयेत् ॥ ११ ॥

[1]सवर्णापुत्रानन्तरापुत्रयोरनन्तरापुत्रश्चेद्गुणवान् स ज्येष्ठांशं हरेत्॥१२॥

अनु०—सवर्णा पत्नी से उत्पन्न पुत्र तथा उससे ठीक नीचे के वर्ण वाली पत्नी से उत्पन्न पुत्र में यदि ठीक नीचे के वर्ण वाली पत्नी का पुत्र गुणवान् हो तो वही ज्येष्ठ पुत्र का अंश प्राप्त करे ॥ १२ ॥

गुणवत्ता हि श्रुतशीलादिः ॥ १२ ॥

गुणवत्पुत्रस्य ज्येष्ठांशहरणे कारणमाह—

गुणवान् हि शेषाणां भर्ता भवति ॥ १३ ॥

अनु०—गुणवान् पुत्र ही शेष पुत्रों का भरण-पोषण करने वाला होता है ॥१३॥

आहारदानादिगुणवत्त्वे समर्थ एव । अतो ज्येष्ठत्वं गुणवयःक्रमम् ॥ १३ ॥

'औरसे तूत्पन्ने' इत्युक्तम्; तत्र सर्वस्यौरसनिमित्तग्रहणे प्राप्ते परिभाषते—

सवर्णायां संस्कृतायां स्वयमुत्पादितमौरसं पुत्रं विद्यात् ॥१४॥

अनु०—अपने वर्ण की संस्कारपूर्वक विवाहिता पत्नी से स्वयम् उत्पादित पुत्र को औरस पुत्र समझना चाहिए ॥ १४ ॥

पाणिग्रहणेन शास्त्रलक्षणेन तस्यां स्वयमुत्पादित औरसो न क्षेत्रजादिः ॥ १३ ॥

एतत्प्रसङ्गात् पुत्रप्रतिनिधीनाह—

अभ्युपगम्य दुहितरि जातं पुत्रिकापुत्रमन्यं दौहित्रम् ॥ १५ ॥

अनु०—संविदा के अनुसार पुत्री से उत्पन्न पुत्र को पुत्रिकापुत्र कहते हैं और उसके अतिरिक्त पुत्री के पुत्र को दौहित्र कहते हैं ॥ १५ ॥

विद्यादित्यनुवर्तते । अभ्युपगम्य संवाद्याऽस्मदर्थमपत्यमिति या दुहिता दीयते तस्यां जातं दौहित्रं पुत्रिकापुत्रं विद्यात् । अन्यत्वमौरसापेक्षया । तस्याऽस्य गौणत्वप्रदर्शनार्थम् । अन्यं दौहित्रमित्यस्याऽपरा व्याख्या—अन्यः असंवादपूर्वकं दत्तायां जातः तं दौहित्रमेव विद्यात् ॥ १५ ॥

---

१. एतत्सूत्रानन्तरं "अथाप्युदाहरन्ति—अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधि जायते । आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदश्शतमिति" इति । सूत्रं सर्वेषु मूलपुस्तकेषूपलभ्यते । परन्तु व्याख्यानपुस्तकेष्वनुपलम्भात् प्रक्षिप्तमिति भाति"

पुत्रिकापुत्रेत्येवंलक्षणः पुत्रो मातामहस्यैवेत्येतत्प्रकटयति—

अथाऽप्युदाहरन्ति :—

आदिशेत्प्रथमे पिण्डे मातरं पुत्रिकासुतः ।
द्वितीये पितरं तस्यास्तृतीये च पितामहमिति ॥ १६ ॥

अनु०—इस विषय मे निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया जाता है—पुत्रिकापुत्र श्राद्ध का प्रथम पिण्ड अपनी माता को प्रदान करे, दूसरा पिण्ड उसके पिता को तथा तीसरा पिण्ड उसके पितामह को अर्पित करे ॥ १६ ॥

टि०—पुत्रिकापुत्र के लिए माता ही पिता का स्थान ग्रहण करती है। दूसरा पिण्डदान माता के पिता को अर्थात् अपने मातामह को अर्पित करे। तीसरा पिण्ड अपनी माता के पितामह अर्थात् अपने मातामह के पिता को दे।—गोविन्दस्वामी। ब्यूह्लेर ने तीसरे पिण्डदान के विषय मे अनुवाद मे अपने पितामह को अर्पित करे ऐसा अर्थ किया है। मनु ने तीसरे पिण्डदान को अपने पितामह के अर्पित किये जाने का उल्लेख किया है।

मातुः प्रथमतः पिण्ड निर्वपेत्पुत्रिकासुतः ।
द्वितीय तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तु पितुः पितुः ॥

वसिष्ठ ने पुत्रिकापुत्र के विषय मे संवाद का निम्नलिखित प्रकार बताया है कि पिता पुत्री को अलकृत कर उसके पति को अर्पित करते हुए कहे कि इससे जो पुत्र होगा वह मेरा पुत्र माना जायगा।

अभ्रातृका प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् ।
अस्यां जनिष्यते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥

गौतमधर्मसूत्र मे इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है. पितोत्सृजेत् "पुत्रिकामनपत्योग्निं प्रजापति चेष्ट्वास्मदर्थमपत्यमिति सवाद्य । ३ । १० । १६ चौखम्बा संस्करण का पृष्ठ २७१ ।

पिण्डपितृयज्ञे क्रियमाणे प्रथमं पिण्ड मातरमुद्दिश्य दद्यात्। स्त्रियाः पिण्डदानं वचनप्रामाण्याद्भवति । पितृस्थानीया हि सा । द्वितीये मातुः पितरमात्मनो मातामहम्। तृतीये तस्याः पितामहमात्मनो मातामहपितरम्। यद्वा- मातरं परिहाप्यैव पिण्डदानम्। कुत एतत् ? कर्मान्ते प्रदर्शनात्। तत्र ह्युक्तम्— कथं खलु पुत्रिकापुत्रस्य पिण्डदानं भवतीति पृष्टा एतत्तेऽमुष्यै पितामह मम प्रपितामह ये च त्वामनु, एतत्तेऽमुष्यै प्रपितामह मम प्रपितामह ये च त्वामन्विति अमुष्यै अमुष्या इति स्वमातर निर्दिशति ॥ १६ ॥

मृतस्य प्रसूतो यः क्लीबव्याधितयोर्वाऽन्येनाऽनुमतेन स्वे क्षेत्रे स क्षेत्रजः ॥ १७ ॥

अनु०—जो पुत्र मृत व्यक्ति की, नपुंसक की, रोगी की पत्नी से दूसरे व्यक्ति द्वारा अनुमति दिये जाने पर उत्पन्न किया जाता है उसे क्षेत्रज कहते हैं ॥ १७ ॥

मृतस्य स्वे क्षेत्रे प्रसूत इति सम्बन्धः । स्वक्षेत्रे स्वपाणिग्रहणादिना संस्कृते । कार्यानभिज्ञः क्लीबः तृतीया प्रकृतिः । व्याधितस्तीव्ररोगेण प्रजोत्पादनासमर्थो गृह्यते । एषां त्रयाणां भार्यायामन्येन भ्रात्रा पित्रा वाऽनुमतेन देवरेणोत्पादितः क्षेत्रजो भवति ॥ १७ ॥

स एष द्विपिता द्विगोत्रश्च द्वयोरपि स्वधारिक्थभाग्भवति॥१८॥

अनु०—इस प्रकार के क्षेत्रज के पुत्र के दो पिता होते हैं, दो गोत्र होते हैं और वह दोनों पिताओं को पिण्डदान आदि देने और दोनों की सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकारी होता है ॥ १८ ॥

स एष क्षेत्रजः द्विपिता द्वौ पितरौ यो जनकः क्षेत्रवांश्च । द्विगोत्रत्वमप्यस्य तद्गोत्राभ्यामेव । गोत्रभेदे सत्यस्य प्रयोजनम्—स्वधा पिण्डोदकादि । रिक्थं मृतस्य यदातिरिच्यते द्रव्यम् ॥ १८ ॥

शुश्रूषाविवाहपिण्डदानदायग्रहणस्योपयोगमाह—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

द्विपितुः पिण्डदानं स्यात्पिण्डे पिण्डे च नामनी ।
त्रयश्च पिण्डाष्षण्णां स्युरेवं कुर्वन्न मुह्यतीति ॥ १९ ॥

अनु०—इस विषय में धर्मशास्त्रज्ञ निम्नलिखित पद्य उद्धृत करते हैं—

दो पिताओं वाले व्यक्ति का पिण्डदान प्रति पिण्ड के साथ दो नामों के उच्चारण के साथ होता है । तीन ही पिण्ड छः पिण्डों का प्रयोजन सिद्ध करते हैं । इस प्रकार पिण्डदान करने वाला भ्रान्ति का दोषी नहीं होता है ॥ १९ ॥

नामनी उत्पादयितुः क्षेत्रिणश्च । तयोस्सह पिण्डदाने सति त्रय एव पिण्डाष्षण्णां दद्युः । 'पित्रे पितामहाय' इति च वचनात् ॥ १९ ॥

मातापितृभ्यां दत्तोऽन्यतरेण वा योऽपत्यार्थे परिगृह्यते स दत्तः ॥२०॥

अनु०—जो पुत्र माता और पिता द्वारा प्रदत्त होकर या उन दोनों में केवल एकद्वारा प्रदत्त होने पर पुत्र के स्थान पर ग्रहण किया जाता है वह दत्त-पुत्र कहलाता है ॥ २० ॥

यो मातापितृभ्यां मात्रा पित्रा वा दत्तः ॥ २० ॥

सदृशं यं सकामं स्वयं कुर्यात्स कृत्रिमः ॥ २१ ॥

अनु०—वह पुत्र कृत्रिम कहलाता है, जिसके पुत्र बनने की इच्छा को देखकर स्वयं ही पुत्र के रूप मे मान लिया जाय ॥ २१ ॥

सादृश्यं जात्यादिना । सकामं अस्याऽहं पुत्रो भविष्यामि यदि मां ग्रहीष्यतीति यो मन्यते: पुत्रार्थी च स्वयमेव पूजापूर्वकं यदि गृह्णाति । एवं गृहीतः कृत्रिम उच्यते ॥ २१ ॥

गृहे गूढोत्पन्नोऽन्ते ज्ञातो गढोः ॥ २२ ॥

अनु०—घर के भीतर गुप्त रूप से (व्यभिचार द्वारा) उत्पन्न पुत्र को गूढज कहते है, जिसके गुप्त रूप से उत्पादित होने का ज्ञान बाद मे हो ॥ २२ ॥

गृहे अतिगुप्तायामपि स्त्रियामनुनोत्पादितोऽयमिति पूर्वमज्ञातः । पश्चात्कालान्तरे येन व्यभिचारादिना कारणेनाऽस्यामुत्पादितोऽयं पुत्र इति विज्ञायते तथापि गूढजः इत्यभिप्रायः । अत्र गृहग्रहणं प्रव्रजितायां गूढोत्पन्नस्य गूढ इति संज्ञा मा भूदित्येतदर्थम् ॥ २२ ॥

मातापितृभ्यामुत्सृष्टोऽन्यतरेण वा योऽपत्यार्थं परिगृह्यतेसोऽपविद्धः॥२३॥

अनु०—माता और पिता के द्वारा या उनमे मे किसी एक द्वारा त्यागे हुए और पुत्र के रूप मे ग्रहण किये गये को अपविद्ध कहते हैं ॥ २३ ॥

अत्राऽपि सदृश इत्यनुवर्तते । उत्सृष्टस्त्यक्तः ॥ २३ ॥

असंस्कृतामनतिसृष्टां यामुपयच्छेत्तस्यां यो जातस्स कानीनः ॥२४॥

अनु०—अविवाहिता कन्या से गुरुजनों की अनुमति के बिना ही यौनसंबन्ध करने पर जो पुत्र उत्पन्न होता है उसको कानीन कहते हैं ॥ २४ ॥

टि०—इस सूत्र में 'असंस्कृता' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि गूढज पुत्र संस्कृता अर्थात् विवाहिता स्त्री से उत्पन्न होता था ।

अनेन ज्ञायते गूढजः संस्कृतायां जात इति । अनूढामसंस्कृतामाहुः । अनतिसृष्टां अनभ्युपगतां गुरुभिः अतिसृष्टायामप्यसंस्कृतायां संस्कृतायामप्यनतिसृष्टायां स एव । सोऽयं सदृश्यामुत्पादितो मातामहस्य पुत्रः ॥ २४ ॥

या गर्भिणी संस्क्रियते विज्ञाता वाऽविज्ञाता वा तस्यां यो जातः स सहोढः ॥ २५ ॥

अनु०—विवाह के समय ही यदि वधू ज्ञात या अज्ञात रूप से गर्भिणी हो तो उससे उत्पन्न पुत्र को सहोढ कहते है ॥ २५ ॥

या गूढगर्भिणी सती परिणीयते तस्यां यो जातस्स सहोढो नाम । वोढुश्चायं पुत्रः । विज्ञातायां तु संस्कार एनोऽस्ति ॥ २५ ॥

मातापित्रोर्हस्तात्क्रीतोऽन्यतरेण वा योऽपत्यार्थे परिगृह्यते स क्रीतः ॥ २६ ॥

अनु०—जो पुत्र माता और पिता को धन देकर खरीदा जाता है या उनमें से किसी एक द्वारा बेचा जाकर पुत्र के रूप मे ग्रहण किया जाता है उसे क्रीत कहते हैं ॥ २६ ॥

स्वद्रव्यं प्रदायेति शेषः ॥ २६ ॥

क्लीबं त्यक्त्वा पतितं वा याऽन्यं पतिं विन्देत्तस्यां पुनर्भ्वां यो जातस्स पौनर्भवः ॥ २७ ॥

अनु०—नपुंसक या पतित पति को छोड़कर दूसरे पुरुष से विवाह करने वाली स्त्री से जो पुत्र उत्पन्न होता है उसको पौनर्भव कहते हैं ॥ २७ ॥

टि०—यहां पति के मृत होने पर दूसरा विवाह करने वाली स्त्री से भी अर्थ लेना चाहिए।

मृतोऽप्यत्राऽभ्यनुज्ञातः। तथा च वसिष्ठः-'मृते वा सा पुनर्भूर्भवति' इति ॥ २७ ॥

मातापितृविहीनो यः स्वयमात्मानं दद्यात्स स्वयंदत्तः ॥ २८ ॥

अनु०—माता और पिता से विहीन होकर जो स्वयं को पुत्र के रूप में अर्पित करता है उसे स्वयं दत्त कहते है ॥ २८ ॥

स्वस्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वापादानं च दानम् । अत्राऽपि शरीरेन्द्रियाणामात्मीयत्वाद्दानव्यवहारः ॥ २८ ॥

द्विजातिप्रवराच्छूद्रायां जातो निषादः ॥ २९ ॥

अनु०—द्विजातियों मे प्रथम वर्ण अर्थात् ब्राह्मण द्वारा शूद्रा स्त्री से उत्पन्न किये गये पुत्र को निषाद कहते हैं ॥ २९ ॥

द्विजातिप्रवरो ब्राह्मणः ॥ २९ ॥

कामात्पारशव इति पुत्राः ॥ ३० ॥

अनु०—ब्राह्मण द्वारा केवल भोगार्थ शूद्रा से यौनसंबन्ध करने पर उत्पन्न पुत्र को पारशव कहते हैं ।। ३० ।।

टि०—इस सूत्र के अर्थ से यह स्पष्ट है कि निषाद विवाहिता शूद्रा स्त्री से उत्पन्न पुत्र को कहा जाता था ।

द्विजातिप्रवरादेव पूर्वः क्रमोढायाः पुत्रः । अयं तु कामादूढायाः । अनन्तरप्रभवप्रकरणे तयोरपि पुनर्ग्रहणमनयोः पुत्रकार्येष्वपि प्रापणार्थम् ।। ३० ।।

अथैतान् पुत्रान्विविधान्विविनक्ति—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

औरसं पुत्रिकापुत्रं क्षेत्रजं दत्तकृत्रिमौ ।
गूढजं चाऽपविद्धं च रिक्थभाजः प्रचक्षते ।। ३१ ।।

कानीनं च सहोढं च क्रीतं पौनर्भवं तथा ।
स्वयंदत्तं निषादं च गोत्रभाजः प्रचक्षते ।। ३२ ।।

अनु०—इस सन्दर्भ में भी निम्नलिखित पद्य उद्धृत करते हैं—औरस, पुत्रिकापुत्र, क्षेत्रज, दत्त, कृत्रिम, गूढज, अपविद्ध, सम्पत्ति के अधिकारी कहे जाते हैं ।। ३१ ।।

अनु०—कानीन, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव, तत्स्वयदत्त, तथा निषाद पुत्र गोत्र के भागी होते हैं ।। ३२ ।।

औरसादयः गोत्रभाजश्च रिक्थभाजश्च । रिक्थं द्रव्यम् । कानीनादयश्च तत् गोत्रभाजः । पारशवः अभाग एव विष्ठावत् । अस्मात्सूत्रादिदमप्यवगम्यते—निषादकन्याऽपि सुसमीक्ष्याऽसगोत्रादेव वोढव्या । अन्यथा सगोत्रागमनप्रसङ्गादिति । एते पुत्रिकापुत्रादयः काशकुशस्थानीयाः पुत्रप्रतिनिधयो मन्तव्याः । अश्वयकरणीयत्वात् पुत्रोत्पत्तेः । उक्तंच 'पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः' इति । योषिताऽपि पुत्रवत्या भवितव्यम् । ''अवीरायाश्च योषितः' इत्यभोज्यान्नप्रकरणे दर्शनात् ।। ३१-३२ ।।

तदेतत्परमतेनोपन्यस्यति स्म—

तेषां प्रथम एवेत्याहौपजङ्घनिः ।। ३३ ।।

अनु०—औपजंघनि आचार्य का मत है कि इन पुत्रों में केवल प्रथम पुत्र अर्थात् औरस ही सम्पत्ति का अधिकारी होता है, अन्य पुत्र नहीं ।। ३३ ।।

---

१. यस्याः पतिः पुत्रो वा नाऽस्ति सा अवीरा ।

औपजङ्घनिराचार्यो मन्यते स्म। प्रथमः औरस एव पुत्रो न पुत्रिकापुत्रादय इति ॥ ३३ ॥

[1]इदानीमहमीर्ष्यामि स्त्रीणा जनक नो पुरा।
यतो यमस्य सदने जनयितुः पुत्रमब्रुवन् ॥ ३४ ॥

अनु०—हे जनक, अब मैं अपनी स्त्रियों के प्रति अधिक ईर्ष्या से सावधान रहता हूँ पहले ऐसा नहीं करता था। क्योंकि यम के भवन मे ऐसा कहा गया है कि मृत्यु के बाद पुत्र उत्पन्न करने वाले का ही होता है ॥ ३४ ॥

टि०—इस सूत्र में निम्नलिखित कथा उल्लिखित है। गोविन्द स्वामी की व्याख्या के आधार पर यह इस प्रकार है–औपजंघनि ने जनक से इस प्रकार कहा-कृतयुग में यम ने ऋषियों को बुलाकर पूछा—दूसरे की पत्नियों से उत्पन्न पुत्र उत्पन्न करने वालेका होता है या क्षेत्री का होता है। तब ऋषियों ने यही निर्णय किया कि मृत्यु के बाद पुत्र उत्पन्न करने वाले का ही होता है, क्षेत्री का नहीं।

स हि जनकं राजानं प्रकृत्यैवमुवाच—

यमः कृतयुगे मन्दिरे ऋषीनाहूय पप्रच्छ–परदारेपूत्पादितः पुत्रः किं जनयितुरिति ? उताहो क्षेत्रिण इति। एवं पृष्टे ते प्रजा जनयितुरेवेति निश्चित्य अब्रुवन्। तदिदमाह–पुरा यमस्य सदने जनयितुः पुत्रमब्रुवन्। इदानीमहमित्यादि। सम्प्रति अहमीर्ष्यामीति न सहे। स्त्रीणामिति द्वितीयार्थे षष्ठी। अथवा स्वार्थ एव। स्त्रीणां चरन्तं पुरुषं नेर्ष्यामीत्यर्थः। हे जनक! पुरा यस्माद्यमस्य धर्मराजस्य सदने वेश्मनि जनयितुरेव पुत्रमब्रुवन्नृषयो, न क्षेत्रिण इति। न हि यमराजसकाशे निश्चितोऽर्थो मिथ्या भवितुमर्हतीत्यौपजङ्घनेः मुनेर्मतम् ॥ ३४ ॥

रेतोधाः पुत्रं नयति परेत्य यमसादने।
तस्माद्भार्यां रक्षन्ति बिभ्यन्तः पररेतसः ॥ ३५ ॥

अनु—वीर्य का आधान करने वाला मृत्यु के बाद पुत्र को यम के यहां ले जाता है। इस कारण लोग दूसरे पुरुष से वीर्याधान की आशंका करते हुए अपनी पत्नियों की रक्षा करते है ॥ ३५ ॥

रेतो दधातीति रेतोधाः बीजं पुत्रं प्रकृतं नयति भुङ्क्ते पुत्रफलं लभते परेत्य मृत्वा यमसादने पुण्यपापफलोपभोगस्थाने। नैवं क्षेत्री। यस्मादेवं तस्मात्पररेतसो बिभ्यन्तो भार्यां रक्षन्ति ॥ ३५ ॥

---

१. cf. आप. ध. २. १३. ६.

एवं जनकादिः अन्यशिष्यान् प्रत्याह—

[२]अप्रमत्ता रक्षथ तन्तुमेतं मा वः क्षेत्रे परबीजानि वप्सुः । जनयितुः पुत्रो भवति साम्पराये मोघं वेत्ता कुरुते तन्तुमेतमिति ।। ३६ ।।

अनु०—सावधान होकर सन्तान की उत्पत्ति की रक्षा करो, कहीं तुम्हारे क्षेत्र में दूसरे के बीज न पड़े । मृत्यु के बाद पुत्र उत्पन्न करने वाले का होता है और पति सन्तान की उत्पत्ति को निष्फल कर देता है ।। ३६ ।।

अन्ये बीजवपनं मा कार्षुः। तत्र को दोषः? जनयितुः पुत्रो भवति साम्पराये परलोकेऽपि यदनेन पिण्डोदकदानादि जनयितुरेव भवेत्, न क्षेत्रिण इति । ननु । भार्यायाः पुत्रस्य च रक्षणपोषणचिकित्सादि सर्वं क्षेत्रिणैव क्रियते, तत्कथमस्मिन् पक्षे इति ? उच्यते-मोघं वेत्ता कुरुते तन्तुमेतमिति । वेत्ता लब्धा क्षेत्रस्य कुरुते यतं तन्तुं मोघं कुरुते निष्फलोऽस्य प्रयासः इत्यभिप्रायः । इतिशब्द औपजङ्घनेर्मतोपसंहारार्थः ।। ३६ ।।

अथेदानीं स्वकीयमतेन पुत्रभरणक्रममाह—

तेषामप्राप्तव्यवहाराणामंशान् सोपचयान् सुनिगुप्तान्निदध्युराव्यवहारप्रापणात् ।। ३७ ।।

अनु०—पुत्रों में जो वयस्क न हों (बालिग न हों) उनके अंश को तथा सम्पत्ति के उस अंश पर होने वाले लाभ एवं वृद्धि को अत्यन्त सावधानी से उस समय तक सुरक्षित रखे जब तक वे समझदार या बालिग न हो जायें ।। ३७ ।।

अप्राप्तव्यवहाराश्च बाला आ षोडशाद्वर्षात् । तथा हि—

गर्भस्थैस्सदृशो ज्ञेय आऽष्टमाद्वत्सराच्छिशुः ।
बाल आ षोडशाज्ज्ञेयः पौगण्डश्चेति शब्द्यते ।।

तेषां पुत्राणां मध्ये बालानामंशान् सोपचयान् गुप्तान्निदध्युः । उपचयो नैयायिकी वृद्धिः । तथा बालानां द्रव्यं वर्धयेत् । उपचीयमानांश्चांशान्वा सुगुप्तान् रक्षितान् अव्यवहारप्रापणान्निदध्युः ।। ३७ ।।

अतीतव्यवहारान् ग्रासाच्छादनैर्बिभृयुः ।। अन्धजडक्लीबव्यसनिव्याधितादींश्च ।। अकर्मिणः ।। पतिततज्जातवर्जम् ।। ३८–४१ ।।

अनु०—जो किसी प्रकार का (सम्पत्ति विषयक) व्यवहार करने में असमर्थ हों उन्हें भोजन, वस्त्र आदि देकर उनका भरण-पोषण करे, यथा—अन्धे, जड़,

---

२. cf. व. ध. १७. ९.

नपुंसक, बुरी आदत मे पड़े हुए, रोगी पुत्रों को, कोई कर्म करने में असमर्थ को; किन्तु पतित को तथा उसके पुत्रों का भरण-पोषण न करे ।। ३८-४१ ।।

बिभृयादित्यनुवर्तते । अन्धः प्रसिद्धः । अकिञ्चित्करो जडः । क्लीबः पण्ढनामा तृतीया प्रकृतिः । व्यसनी द्यूतादिषु प्रसक्तमनाः । अचिकित्स्यरोगी व्याधितः । आदिग्रहणात्परत्र पङ्गुकुब्जादयो गृह्यन्ते । अकर्मिणस्समर्था अपि सन्तो निरुत्साहाः । पतितस्तत्सुतश्च पतिततज्जातौ । तथा च वसिष्ठः–'पतितोत्पन्नः पतितो भवतीत्याहुरन्यत्र स्त्रियाः' इति ॥ ३८-४१ ॥

न पतितैस्संव्यवहारो विद्यते ॥ ४२ ॥

अनु०—पतितों के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क न होना चाहिए ।। ४२ ।।

औरसैरप्राप्तव्यवहारैरपि । भरणन्तु । तेषां कर्तव्यमित्युक्तम् ॥ ४२ ॥

पतितामपि तु मातरं बिभृयादनभिभाषमाणः ॥ ४३ ॥

अनु०—किन्तु पतिता होने पर भी माता का भरण-पोषण करे, परन्तु उससे भाषण न करे ।। ४३ ।।

यद्यपि माता भाषेत च । तथा च गौतमः—'न कर्हिचिन्तापित्रोरवृत्तिः' इति । अवृत्तिरशुश्रूषा अरक्षणं वा ॥ ४३ ॥

उक्तः पुत्राणां दायविभागः । दुहितरः किं लभेरन्नित्यत आह—

मातुरलङ्कारं दुहितरस्साम्प्रदायिकं लभेरन्नन्यद्वा ॥ ४४ ॥

अनु०—पुत्रियां माता के उन आभूषणों को प्राप्त करती हैं, जो परम्परा से मिले हुए हों अथवा अन्य वस्तु भी जो परम्परा से उपहार मिली हो उसे प्राप्त करें ।। ४४ ।।

टि०—साम्प्रदायिक का तात्पर्य है स्थानीत रीति के अनुसार प्राप्त । यहाँ उस आभूषण से तात्पर्य है जो नाना और नानी से मिले हों । इसी प्रकार नाना या नानी से माता को मिले हुए उपहार को पुत्री प्राप्त करती है ।

साम्प्रदायिकमित्यलङ्कारविशेषः । सम्प्रदायागतो लब्धस्साम्प्रदायिकः मातामहेन मातामह्या वा स्वमात्रे यद्दत्तं तत्साम्प्रदायिकं अन्यत् असाम्प्रदायिकं खट्वादिशयनप्रावरणादिकमात्मनः । एतावदेव दुहितरो लभेरन् नाऽन्यत्॥४४॥

न स्त्री स्वातन्त्र्यं विदन्ते ॥ ४५ ॥

अनु०—स्त्रियों को स्वतन्त्रता नहीं होती ।। ४५ ।।

टि०—इस सूत्र की व्याख्या मे गोविन्दस्वामी ने इस सूत्र को सम्पत्ति के बंटवारे के सम्बन्ध में लिया है । किन्तु जैसा ब्यूहलेर ने ठीक ही निर्देश किया है—इस

सूत्र के साथ स्त्रियों के कर्तव्य का नया विषय आरम्भ किया है जैसे गौतमधर्मसूत्र मे 'अस्वतन्त्रा धर्मे स्त्री कहकर एक नया अध्याय आरम्भ किया गया है। किन्तु इसके साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि पुन: ४७ वें सूत्र में सूत्रकार दायभाग के विषय पर ही निर्देश देता है।

दायलब्धे तु तस्याः स्वातन्त्र्यं भवेत् कृतकृत्यताभिमानेनेत्यभिप्रायः ॥ ४५ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति—

[1]'पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।

पुत्रस्तु स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हतीति ॥ ४६ ॥

अनु०—इस सम्बन्ध में निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया जाता है—

स्त्री की कुमार्यवस्था मे पिता रक्षा करता है, युवावस्था मे पति रक्षा करता है, वृद्धावस्था मे पुत्र रक्षा करता है, स्त्री कभी स्वतन्त्र जीवन के योग्य नही होती ॥४६॥

टि०—द्रष्टव्य—मनु० ९।३

तस्यां तस्यामवस्थायामरक्षतामेतेषां दोषः ॥ ४६ ॥

निरिन्द्रिया ह्यदायाश्च स्त्रियो मता इति श्रुतिः ॥ ४७ ॥

अनु०—श्रुति में भी कहा गया है कि स्त्रियों में बल नही होता और वे सम्पत्ति के भाग की अधिकारिणी भी नहीं होती ॥ ४७ ॥

'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हती'त्यनेन सिद्धो दायप्रतिषेधः पुनरनूद्यते निन्दाशेषतया। निरिन्द्रियाः निर्गतरसाः। तदेतदवश्यागन्तव्यानृतताप्रदर्शनार्थम्। आह च—

शय्यासनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्यताम्।

द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयदिति ॥ ४७ ॥

भर्तृहिते यतमानास्स्वर्गं लोकं जयेरन् ॥ ४८ ॥

अनु०—जो स्त्रियां पति के सुख के लिए प्रयत्न करती रहती हैं वे स्वर्ग लोक प्राप्त करती हैं ॥ ४८ ॥

भर्तृहिते स्नापनप्रसाधनमर्दनादिभिर्भर्तारं नातिक्रमेदिति यावत् ॥ अत्रैव प्रसङ्गात् प्रायश्चित्तमाह—

व्यतिक्रमे तु कृच्छ्रः ॥ ४९ ॥

---

१. See, मनु. ९. ३.

अनु०—किन्तु पति के प्रति कर्तव्यों का उल्लंघन करने पर कृच्छ्रव्रत का प्रायश्चित्त करना होता है ॥ ४९ ॥

व्यतिक्रमः परपुरुषनिमित्तो मानसेन वाचिकेन व्यापारः । समानजातीयविषयमेतद्बुद्धिपूर्वं च ॥ ४९ ॥

शूद्रे चान्द्रायणं चरेत् ॥ ५० ॥

अनु०—शूद्र के संयोग द्वारा पति के प्रति कर्तव्य का उल्लंघन करने पर स्त्री चान्द्रायण व्रत करे ॥ ५० ॥

टि०—यह नियम द्विजाति वर्ण की स्त्री के लिए समझना चाहिए ।

यदा पुनः स्वभर्तृबुद्ध्या मैथुनाय सङ्कल्पयते सम्भाषते वा असमानजातीयेन शूद्रेण तदा चान्द्रायणम् । शूद्रे व्यवायस्य कर्तरि सति द्विजाति स्त्री चान्द्रायणं चरेत् कुर्यात् । अप्रजायामेतत् । कुतः ?

ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रियश्शूद्रेण सङ्गताः ॥
अप्रजास्ता विशुद्ध्यन्ति प्रायश्चित्तेन नेतराः ॥

इति वसिष्ठः ॥ ५० ॥

वैश्यादिषु प्रतिलोमं कृच्छ्रातिकृच्छ्रादींश्चरेत् ॥ ५१ ॥

अनु०—वैश्य आदि पुरुषों के संयोग द्वारा वर्ण के प्रतिलोम के क्रम से नियमोल्लंघन करने पर कृच्छ्र या अतिकृच्छ्र व्रत करे ॥ ५१ ॥

टि०—ब्राह्मणी का वैश्य से संबन्ध होने पर ब्राह्मणी कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत करे, क्षत्रिय पुरुष से संबन्ध होने पर अतिकृच्छ्र व्रत करे तथा क्षत्रिय वर्ण की स्त्री का वैश्य से संसर्ग होने पर वह कृच्छ्र व्रत करे ।

वैश्ये क्षत्रिये च व्यवायस्य कर्तरि सतीत्यर्थः । बहुवचनं ब्राह्मण्या द्वौ कर्तारौ क्षत्रियायाः एक इति त्रयः । प्रतिलोमं व्युत्क्रमेणेत्यर्थः । आदिशब्दात् प्रागुक्तौ गृहीतौ । कृच्छ्रातिकृच्छ्रः । अतः कृच्छ्रप्रक्रमा एते त्रयः अस्मिन् क्रमेणैवं प्रातिलोम्यं वैश्यसम्बन्धे ब्राह्मण्याः कृच्छ्रातिकृच्छ्रः । अस्या एव क्षत्रियसम्बन्धे सत्यतिकृच्छ्रः । क्षत्रियायास्तु वैश्यसंसर्गे कृच्छ्र इति । अमतिपूर्वे तु वसिष्ठ आह—

'प्रतिलोमं चरेयुस्ताः कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम्' अत्र प्रातिलोम्यं प्रथमं भोजनं ततः त्र्यहमयाचितमित्यादि । 'चान्द्रायणे वा चान्द्रायणानि' इति गुरुलघुभावे वर्णविशेषे अभ्यासविशेषे चेति व्याख्यातं यज्ञस्वामिभिः ॥ ५१ ॥

उक्तं स्त्रीणां ब्राह्मण्यादीनाम् । अथ—

पुंसां ब्राह्मणादीनां संवत्सरं ब्रह्मचर्यम् ॥ ५२ ॥

अनु०—ब्राह्मण आदि पुरुषों के लिए एक वर्ष के ब्रह्मचर्य का नियम होता है।५२

टि०—यहाँ एक वर्ष के प्राजापत्य का अभिप्राय है। यह नियम जानबूझ कर व्रतोल्लंघन के प्रसंग में होता है। गोविन्द के अनुसार यह नियम समान वर्ण की परदारा के साथ व्यभिचार के प्रसंग में ही समझना चाहिए।

संवत्सरं प्राजापत्यमिहाभिप्रेतम् । अत्र पारदारश्च सवर्णविषयः । मतिपूर्वं चैतत् । अमतिपूर्वे तु वसिष्ठः—'ब्राह्मणश्चेदप्रेक्षापूर्वं ब्राह्मणदारानभिगच्छेद् निवृत्तधर्मकर्मणः कृच्छ्रो निवृत्तधर्मकर्मणोऽतिकृच्छ्रः । एवं राजन्यवैश्ययोः' इति । अनिवृत्तधर्मकर्मादिनिवृत्तिहीनतद्भार्यागमने कृच्छ्रः । निवृत्तधर्मकर्मा वृत्तवान् । तद्भार्यागमनेऽतिकृच्छ्रः । 'अनिवृत्तधर्मकर्मा तद्भार्यायामतिकृच्छ्रः' इति व्याख्यातम् ॥ ५२ ॥

शूद्रं कटाग्निना दहेत् ॥ ५३ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति—

अब्राह्मणस्य शारीरो दण्डः ।

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

अनु०—शूद्र को (आर्य स्त्री के साथ व्यभिचार करने पर) घासफूस की आग में जला देना चाहिए ॥ ५३ ॥

इस विषय में निम्नलिखित उद्धृत किया जाता है—

राज्ञोऽयमुपदेशः । मरणान्तिकं चैतत् । कटः कटप्रकृतिद्रव्यं वीरणानि । उक्तं च—'शूद्रश्चेद् ब्राह्मणीमभिगच्छेत् वीरणैर्वेष्टयित्वा शूद्रमग्नौ प्रास्येत्' इति ॥ ५३ ॥

चतुर्थः खण्डः

अब्राह्मणस्य शारीरो दण्डस्संग्रहणे भवेत् ॥ १ ॥

अनु०—ब्राह्मण वर्ण से अतिरिक्त वर्ण का पुरुष ब्राह्मणी परदारा से व्यभिचार करे तो उसे शारीरिक दण्ड (अग्नि में जलाने का दण्ड) होता है ॥ १ ॥

टि०—यह दण्ड भी उस स्थिति में होता है जब जानबूझकर वैश्य या क्षत्रिय वर्ण का पुरुष ब्राह्मणी परदारा से व्यभिचार करे। वैश्य को लाल रंग के दर्भ में

लपेटकर अग्नि में प्रक्षेप का तथा क्षत्रिय को सरपत में लपेटकर अग्नि में झोंकने का दण्ड है —गोविन्दस्वामी।

अब्राह्मणः क्षत्रियः वैश्यश्च। तयोश्शारीरो दण्डः अग्नौ प्रक्षेपः कर्तव्यः। क्व? संग्रहणे पारदार्थे। निगुप्तब्राह्मणीगमने मतिपूर्वं वैश्यो लोहितदर्भैर्वेष्टयित्वाऽग्नौ प्रक्षेप्तव्यः। राजन्यश्शरपत्रैरिति ॥ १ ॥

अथ प्रपञ्चः—

सर्वेषामेव वर्णानां दारा रक्ष्यतमा धनात् ॥ २ ॥

अनु०—सभी वर्णों के पुरुषों के लिए पत्नियां धन की अपेक्षा भी अधिक साव॰धानी से रक्षणीय होती हैं ॥ २ ॥

अपीति शेषः ॥ २ ॥

अब्राह्मणवध उक्तः। अत्राऽपवदति—

न तु चारणदारेषु न रङ्गावतारे वधः।
संसर्जयन्ति ता ह्येतान्निगुप्तांश्चालयन्त्यपि ॥ ३ ॥

अनु०—किन्तु चारणों की पत्नियों तथा रंगमंच पर नृत्य अभिनय करने वाली नर्तकियों से यौनसम्बन्ध करने पर वध का दण्ड नहीं होता है। क्योंकि ऐसी स्त्रियों के पुरुष ही उनका संबन्ध दूसरे पुरुषों से कराते हैं या घर के भीतर भी उन्हें दूसरे पुरुषों से (धन आदि के लिए) यौनसंबन्ध करने की छूट देते हैं ॥ ३ ॥

टि०—गोविन्दस्वामी के अनुसार 'चारणदारा' देवदासी को कह सकते हैं। रंगावतार से वेश्याओं से तात्पर्य है, जो नृत्य आदि द्वारा जीविकोपार्जन करती हैं। इन स्त्रियों के साथ व्यभिचार का दोष इसलिए नहीं माना गया है कि इनके पुरुष इस विषय में आपत्ति नहीं करते, अपितु धनलिप्सा से स्वयं ही इनका संबन्ध दूसरे पुरुषों से कराते हैं। किन्तु वेश्यागमन के संबन्ध में भी प्रायश्चित्त का अन्यत्र विधान किया गया है—

"पशुं वेश्यां च यो गच्छेत्प्राजापत्येन शुद्ध्यति".

'चारणदाराः देवदास्यः। रङ्गावतारः पण्यस्त्रियः। तासु सङ्ग्रहणे वधो न कर्तव्यः। येन तास्संसर्जयन्ति सम्बन्धयन्ति आत्मना निगुप्तान् रक्षितानपि पुंसो द्रव्यलिप्सया। तानेव क्षीणद्रव्यांश्चालयन्ति उत्सृजन्ति च। एवंस्वभावत्वादासां तद्गमने प्रायश्चित्तमल्पमेव। 'पशुं वेश्यां च यो गच्छेत्प्राजापत्येन शुद्ध्यति' इति। तथाऽन्यत्रापि—

जात्युत्कर्षं पारदार्यं च गुरुतल्पत्वमेव च ।
[1]चारणादिस्त्रीषु नाऽस्ति कन्यादूषणमेव चेति ॥ ३ ॥

अथ नानाबीजायतनत्वादपवित्रं स्त्रीक्षेत्रम् । ततस्तत्रोत्पन्नमपि क्षेत्रजगूढो-त्पन्नकानीनसहोढपौनर्भवाख्यमपत्यमप्यपवित्रमेतन्मूत्रच्छर्दिवदसंव्यवहार्यमि-त्याशङ्क्याऽऽह--

स्त्रियः पवित्रमतुलं नैता दुष्यन्ति कर्हिचित् ।
मासि मासि रजो ह्यासां दुरितान्यपकर्षति ॥ ४ ॥

अनु०--स्त्रियों की पवित्रता अद्वितीय रूप वाली होती है, उन्हें कोई यौन-संबन्ध द्वारा दूषित नहीं कर सकता । प्रत्येक मास में होने वाला मासिक स्राव उनके दोषों को दूर कर देता है ॥ ४ ॥

टि०--गोविन्दस्वामी ने परपुरुष के संसर्ग से होने वाली अपवित्रता, मानसिक तथा वाचिक दोषों के भी दूर हो जाने का अर्थ ग्रहण किया है ।

परपुरुषसंसर्गविषयाणि मानसानि वाचिकानि च दुरितानि पापानि । न पुनर्हिंसादिनिमित्तान्यपकर्षति ॥ ४ ॥

किञ्च--

सोमश्शौचं ददत्तासां गन्धर्वश्शिक्षितां गिरम् ।
अग्निश्च सर्वभक्ष्यत्वं तस्मा[2]न्निष्कल्मषाः स्त्रियः ॥

अनु०--सोम देव ने स्त्रियों को पवित्रता प्रदान की, गन्धर्व ने मधुर और मनो-हर बोलने का ढंग दिया, अग्नि ने उनको सबके द्वारा भोग्य बनाया, अतः स्त्रियां सभी प्रकार की अशुद्धि से मुक्त होती हैं ॥ ५ ॥

टि०--गोविन्दस्वामी ने सर्वभक्ष्यत्वम् का अर्थ लिया है सर्वैः भोग्यत्वम् । ब्यूह्लर ने अनुवाद में अग्नि ने सभी अंगों की पवित्रता प्रदान की ऐसा अर्थ किया है ।

तासां स्त्रीणां सोमश्शौचं दत्तवान् । यत एव देवता ताभ्यो वरं ददौ तस्मा-त्ताभिर्यदशौचं क्रियते तद्गर्हा नैवाऽवेक्षणीयम् । देवताप्रसादप्रसङ्गादिदमन्य-दुच्यते--गन्धर्वश्शिक्षितां गिरं भाषणप्रकारम् । अतोऽनुचितभाषणेऽपि तासु क्षान्तेन भवितव्यम् । तथा चोक्तं पात्रलक्षणे 'स्त्रीषु क्षान्तम्' इति । अग्निश्च सर्वभक्ष्यत्वं सर्वभोग्यत्वं दत्तवान्, यत एवं देवताभ्यो लब्धवराः

---

१. साधारणस्त्रियां इति. ग. पु. २. निष्कसमाः इत्येव ग. पु.

स्त्रियः तस्मात् [1]निष्कल्मषाः विगतकल्मषाः काञ्चनसमाः, अपराधेष्वपि न त्याज्या इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

अप्रजां दशमे वर्षे स्त्रीप्रजां द्वादशे त्यजेत् ।
मृतप्रजां पञ्चदशे सद्यस्त्वप्रियवादिनीम् ॥ ६ ॥

अनु०—दसवें वर्ष में वन्ध्या स्त्री का परित्याग कर दे, केवल पुत्रियां उत्पन्न करने वाली स्त्री का बारहवें वर्ष में परित्याग कर दे, जिस स्त्री के बच्चे मर जाते हों उसका पन्द्रहवें वर्ष में परित्याग कर दे और झगड़ालू हो उसका तत्काल परित्याग करे ॥ ६ ॥

अधिवेदनमत्र विवक्षितम् । न त्यागः । तदपि सति सम्भवे । धर्माधिकारः पुनरस्त्येव । अप्रियवादिन्यास्तु विपन्ने (?) । तस्या अपि ग्रासाच्छादनं देयम् ॥ ६ ॥

अयं परः स्त्रीधर्मः—

संवत्सरं प्रेतपत्नी मधुमांसमद्यलवणानि वर्जयेदधश्शयीत ॥७॥

अनु०—पति की मृत्यु होने पर विधवा स्त्री एक वर्ष तक मधु, मांस, मद्य और नमक का प्रयोग न करे और भूमि पर शयन करे ॥ ७ ॥

टि०—यहां ब्रह्मचर्य के नियम का पालन भी समझना चाहिए—गोविन्दस्वामी ।

मृतः पतिर्यस्याः तस्याः अयं सांवत्सरिको नियमः । अत्यन्तं ताम्बूलमपि । तद्ग्रहणमेव ब्रह्मचर्यस्याऽपि ग्रहणम् । तच्च यावज्जीविकम् ॥ ७ ॥

षण्मासानिति मौद्गल्यः ॥ ८ ॥

अनु०—मौद्गल्य का मत है कि केवल छः मास तक ही विधवा उपर्युक्त नियम का पालन करे (एक वर्ष तक नहीं) ॥ ८ ॥

अशक्तावनुग्रहोऽयम् । अन्यथा पितृमेधकल्पोक्तेन 'यावज्जीवं प्रेतपत्नी' इत्यनेन विरोधस्स्यात् ॥ ८ ॥

अत ऊर्ध्वं गुरुभिरनुमता देवराज्जनयेत् पुत्रमपुत्रा ॥ ९ ॥

अनु०—इस समय के बाद यदि उसका कोई पुत्र न हो तो वह गुरुओं की आज्ञा से देवर (पति के भ्राता) द्वारा पुत्र उत्पन्न करे ॥ ९ ॥

अत ऊर्ध्वं संवत्सरात् षड्भ्यो मासेभ्यः गुरुभिश्श्वशुरप्रभृतिभिः अनुमता, तत्सुतेषु । देवरो द्वितीयो वरः स पत्युर्भ्राता । तस्मात्पुत्रमेकं जनयेत् तावतैव सपुत्रवत् सिद्धेः, विवक्षितत्वाच्चैकवचनस्य ॥ ९ ॥

---

१. निष्कसमाः काञ्चनसमाः इत्येव ग. पु.

साम्प्रतं देवरनियोगे अनर्हा आह—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

वशा चोत्पन्नपुत्रा च नीरजस्का गतप्रजा ।
नाऽकामा सन्नियोज्या स्यात् फलं यस्यां न विद्यत इति ॥१०॥

अनु०—इस सम्बन्ध में धर्मशास्त्रज्ञ निम्नलिखित पद्य उद्धृत करते है—
जो विधवा स्त्री वन्ध्या हो, जिसके पुत्र उत्पन्न हो चुके है, जिसके पुत्र गर्भ के साथ ही जाता हो, जिसके बच्चे मर गये हों, जो पुत्र उत्पन्न करने के लिए इच्छुक न हो, जिस स्त्री से संबन्ध का कोई फल न होने वाला हो उससे प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए ॥ १० ॥

या पुरुषसम्बन्धं नेच्छति । यस्यामुपगमनफलं न विद्यते गर्भस्रवणात् ॥ १० ॥

अन्यत्राऽपि देवरनियोगादगम्या आह—

मातुलपितृष्वसा भगिनी भागिनेयी स्नुषा मातुलानी सखिवधूरित्यगम्याः ॥ ११ ॥

अनु०—मामा की बहन, पिता की बहन, अपनी बहन, बहन की पुत्री, पुत्रवधू, मामी तथा मित्र की पत्नी—ये स्त्रियां अगम्य होती हैं ॥ ११ ॥

स्वसृशब्दो मातुलपितृशब्दाभ्यां प्रत्येकं सम्बध्यते । भगिनी सोदरी स्नुषा पुत्रस्य भार्या । मातुलानी मातुलस्य पत्नी । सखीवधूः सख्युर्भार्या ॥ ११ ॥

अगम्यानां गमने कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति प्रायश्चित्तिः ॥१२

अनु०—अगम्या स्त्रियों के गमन पर कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र और चान्द्रायण व्रत प्रायश्चित्त होता है ॥ १२ ॥

टि०—जैसा कि गोविन्दस्वामी ने व्याख्या में स्पष्ट किया है ये प्रायश्चि अमतिपूर्वक गमन करने पर ही होते हैं ।

अमतिपूर्वं गमन एतद् द्रष्टव्यम् । ये पुनर्मातुलस्य दुहितरं पितृष्वसृ मन्त्रेण संस्कृत्य बन्धुसमक्षं तस्यामेव पुत्रानुत्पादयन्ति चरन्ति च धर्मं सह, तेषां निष्कृतिं देवाः प्रष्टव्याः ॥ १२ ॥

एतेन चण्डालीव्यवायो व्याख्यातः ॥ १३ ॥

अनु०—इस नियम से ही चण्डाल जाति की स्त्री के साथ यौनसंबन्ध करने का प्रायश्चित्त समझना चाहिए ॥ १३ ॥

व्यवायो गमनम् । एतदप्यबुद्धिपूर्वविषयम् ॥ १३ ॥

तदाह—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

[1]'चण्डालीं ब्राह्मणो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।
अज्ञानात् पतितो विप्रो ज्ञानात्तु समतां व्रजेत् ॥ १४ ॥

अनु० —इस संबन्ध मे ही निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया जाता है—
अज्ञानवश चण्डाल जाति की स्त्री से मैथुन करने, चण्डाल द्वारा दिया गया भोजन ग्रहण करने तथा उसकी दी हुई वस्तु को स्वीकार करने से ब्राह्मण पतित हो जाता है, किन्तु जानबूझकर ये कर्म करने पर वह उसके समान ही हो जाता है अर्थात् चण्डाल ही हो जाता है ॥ १४ ॥

समशब्दात् प्रायश्चित्ताभावमाह । समस्ताना निमित्तता, न व्यस्तानाम्, [2]"अभिषुत्य हुत्वा भक्षयेथाः" इतिवत् ॥ १४ ॥

अथाऽविधिपूर्वपरिगृहीतगुरुदाराणामधिगमने, विधिपूर्वपरिगृहीतगुरुस्थानीयभार्यायाः, स्थानविशेषशयननिमित्तव्यामोहात् स्वभार्याबुद्ध्याऽधिगमने वा प्रायश्चित्तान्तरमाह—

पितुर्गुरोर्नरेन्द्रस्य भार्यां गत्वा प्रमादतः ।
गुरुतल्पी भवेत्तेन पूर्वोक्तस्तस्य निश्चय इति ॥ १५ ॥

अनु०—जो पिता, गुरु, तथा राजा की पत्नी से यौनसबन्ध करता है वह गुरुतल्पगामी होता है और उसका प्रायश्चित्त ऊपर बताया गया है ॥ १५ ॥

---

१. cf. मनु. ११. १७५,

२. "ग्रावभिरभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षान् भक्षयन्ति" इति ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रूयते अस्यायमर्थः—सोमलताः वसुभिः पाषाणैः कुट्टयित्वा ततः सोमरसं निष्कास्य तं ग्रहचमसाख्येषु पात्रेषु गृहीत्वा आहवनीयाख्येऽग्नौ हुत्वा ततः प्रत्यङ्मुखाः प्रत्यावृत्य सदोनामके मण्डपविशेष उपविश्य तं हुतशेषं सोमरसं यथाविध्यकैः पिबेयुरिति । अत्र नैकैकस्याऽभिषवादेः प्रत्येकं भक्षणं प्रति निमित्तता, किन्तु समुच्चितयोरेव होमाभिषवयोस्तदिति निर्णीतं तृतीये तदत्राऽनुसन्धेयम् ।

गुरुः गुरुस्थानीयोऽभिमतः। नरेन्द्रोऽभिषिक्तः। पूर्वोक्त इति अनन्तराभिहितं प्रायश्चित्तमाह; तच्च कृच्छ्रादित्रयम् ॥ १५ ॥

इदानीं ब्राह्मणस्य स्वकीयवृत्त्या जीवनाशक्तावनुकल्पमाह--

अध्यापनयाजनप्रतिग्रहैरशक्तः क्षत्रधर्मेण जीवेत् प्रत्यनन्तरत्वात् ॥१६॥

अनु०--अध्यापन करने, यज्ञ कराने और दान लेने मे असमर्थ होने पर ब्राह्मण क्षत्रिय के धर्म का आश्रय लेकर जीविका निर्वाह करे, क्योंकि वही ब्राह्मण के धर्म के निकट है ॥ १६ ॥

अशक्ति नित्यकर्मावसादो भृत्यावसादो वा। अध्यापनादिष्वेकेनैव जीवनाशक्तौ द्वितीयं तृतीयं चाऽधितिष्ठेत्। तत्राऽपि लघूपायासम्भवे गुरूपाय आस्थेयः। कुत एतत्?

> यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
> अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम् ॥

इति स्मरणात्। क्षत्रधर्मः शस्त्रधारणम्। प्रत्यनन्तरत्वात्? प्रतिशब्दोऽत्यन्तानन्तर्ये वर्तते। क्षत्रधर्मो हि वैश्यधर्मादनन्तरो ब्राह्मणस्य। अनेनैतद्दर्शयति—क्षत्रधर्मासम्भवे वैश्यधर्मेणोपजीवेदिति। सोऽपि प्रत्यनन्तर एव शूद्रधर्मव्यपेक्षया। "अध्यापनयाजनप्रतिग्रहास्सर्वेषाम्। पूर्वः पूर्वो गुरुः। तदलाभे क्षत्रियवृत्तिः तदलाभे वैश्यवृत्तिरि"ति ॥ १६ ॥

नेति गौतमोऽत्युग्रो हि क्षत्रधर्मो ब्राह्मणस्य ॥ १७ ॥

अनु०—किन्तु गौतम का मत है कि ब्राह्मण ऐसा न करे, क्योंकि क्षत्रिय के धर्म ब्राह्मण के लिए अत्यन्त कठोर होते हैं ॥ १७ ॥

टि०—गौतम धर्म सूत्र में गौतम का इस प्रकार का मत नहीं मिलता, अपितु वहाँ भी यही कहा गया है कि आपत्काल में यदि अपने वर्ण के नियम का पालन करने से जीविका न चल सके तो ब्राह्मण क्षत्रिय की वृत्ति स्वीकार करे और उससे भी निर्वाह न होने पर वैश्य की वृत्ति ग्रहण करे, १.७.६.७ पृ० ६५.

न क्षत्रधर्मो ब्राह्मणेनाऽऽस्थेय इति गौतम आचार्यो मन्यते स्म। प्रसिद्धगौतमीये 'तदलाभे क्षत्रियवृत्तिः' इति वचनात् अन्यद्गौतमशास्त्रमस्तीति कल्प्यते। तथा 'आहिताग्निश्चेत् प्रवसन् म्रियेत पुनस्संस्कारं कृत्वा शववच्छौचमिति गौतमः' इति वासिष्ठे। अत्युग्रः अतितीक्ष्णः 'संग्रामे संस्थानमनिवृत्तिश्च, न दोषो हिंसायामाहवे' इत्येवंलक्षणो ह्यसौ ॥ १७ ॥

अथेदानीं विप्रविशोश्च शस्त्रग्रहणे कारणमाह --

अथाऽप्युदाहरन्ति—

गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा वर्णानां वाऽपि सङ्करे ।
गृह्णीयातां विप्रविशौ शस्त्रं धर्मव्यपेक्षया ॥ १८ ॥

अनु०—इस संबन्ध में निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया जाता है:–

गौ के लिए, ब्राह्मण की रक्षा के लिए, अथवा वर्णों की अस्तव्यस्तता की स्थिति मे धर्म की रक्षा का विचार कर ब्राह्मण और वैश्य भी शस्त्र धारण करें ॥ १८ ॥

टि०—गौतम प्राणसंकट उपस्थित होने पर ब्राह्मण के लिए शस्त्रग्रहण करना विहित करते है : प्राणसशये ब्राह्मणोपि शस्त्रमाददीत । १।७।२५ पृ० ६९ ।

अर्थशब्दश्चाऽत्र रक्षणप्रयोजनवचनः । वर्णानां सङ्करः अनर्हस्त्रीपुंसलक्षणः । शस्त्रग्रहणे हेतुः–धर्मव्यपेक्षयेति । धर्मबुद्ध्येति यावत् ॥ १८ ॥

प्रत्यनन्तरत्वादिति हेतुना वैश्यवृत्त्याऽपि जीवनमुक्तम् , इदानीं त्वनुवदत्युत्तरविधित्सया—

वैश्यवृत्तिरनुष्ठेया प्रत्यनन्तरत्वात् ॥ १९ ॥

अनु०—अथवा वैश्य की वृत्ति ग्रहण करे, क्योंकि वही उसके बाद की वृत्ति है ॥ १९ ॥

न हीनवर्णेनोत्कृष्टवृत्तिरास्थेया 'न तु कदाचिज्ज्यायसीम्' इति वासिष्ठेनिषेधात् । तत्र कृषिवाणिज्यलक्षणादिः वैश्यवृत्तिः । तत्र वाणिज्यविशेषो विहितः—'तृणकाष्ठमविकृतं विक्रेयम्' इत्येवमादिना ॥ १९ ॥

अथ कृषावाह—

प्राक्प्रातराशात् कर्षी स्यात् ॥ २० ॥

अनु०—(यदि ब्राह्मण कृषि कर्म द्वारा जीविका निर्वाह करता है तो) प्रातराश के समय से पहले ही जुताई करे ॥ २० ॥

टि०—प्रातराश दिन के भोजन को कहते हैं, तात्पर्य यह है कि मध्याह्न तक ही कृषि कर्म करे । गोविन्दस्वामी ।

प्रातराशो दिवाभोजनम् , तेन च मध्याह्नो लक्ष्यते । अष्टधाकृतस्य वासरस्य पञ्चमो भाग इत्यर्थः । तत्र हि भोजनं विहितम्, 'पञ्चमे भोजनं भवेत्' इति दक्षवचनात् । अस्मात् कालात् प्रागेवाऽनडुद्भ्यां विकृष्याऽक्लिष्टौ तौ विसृजेत् ॥ २० ॥

तौ विशिनष्टि—

अस्यूतनासिकाभ्यां समुष्काभ्यामतुदन्नारया मुहुर्मुहुरभ्युच्छन्दयन् ॥२१॥

अनु०—कृषिकर्म करने वाला ब्राह्मण दो ऐसे बैलों द्वारा खेत जोते, जिनकी नाक न छेदी गयी हो, और जिन्हें बधिया न किया गया हो, उन्हें बिना मारे हुए ही बार-बार पुचकारते हुए तथा मीठे शब्दों का प्रयोग करते हुए हांके ।। २१ ।।

अविद्धघोणाभ्यामित्यर्थः। समुष्काभ्यां साण्डाभ्यां अनुत्कृत्ताण्डाभ्यामित्यर्थः। अण्डोत्कर्तनेन हि बीजशक्तिः क्षीयते। अतुदन्नारया आरा नाम सलोहको दण्डः। तया तावनडुहौ अतुदन् तयोर्व्यथामकुर्वन्। अभ्युच्छन्दनं लोहफालाग्रयोक्त्रलग्नायाश्च मृदोऽपनयनम्, प्रियभाषणं कण्डूयनादिना लालनं च, तन्मुहुर्मुहुः कुर्वन् विलिखेत् भूमिमिति शेषः ।। २१ ।।

स्वकर्मणा जीवनाशक्तौ हीनवृत्त्याऽपि जीवनमुक्तम्, अस्यामप्यापदि न न परित्याज्योऽग्निः। कुतः प्रभृति स ग्रहीतव्यः ? इत्यस्यामाकाङ्क्षायामाह—

भार्यादिरग्निस्तस्मिन् कर्मकरणं प्रागग्न्याधेयात् ।। २२ ।।

अनु०—(गृह्य) अग्नि का भार्याग्रहण के समय से आधान किया जाता है, अग्न्याधेय तक की क्रियायें उसी अग्नि मे करनी चाहिए ।। २२ ।।

टि०—यह नियम उस व्यक्ति के लिए भी है जो आपत्काल मे हीन वृत्ति से जीविकानिर्वाह कर रहा है। बौधायन के अनुसार विवाह के समय ही गृह्य अग्नि प्रज्वलित की जाती है। इस संबन्ध मे वशिष्ठ धर्मसूत्र ८।३ के भी मत द्रष्टव्य हैं। गौतम के मतानुसार दायविभाग के काल मे भी अग्नि का आधान होता है।

गौतमीयमतेन[1] दायादिपक्षोऽप्यस्ति। आचार्यस्य पुनर्भार्यादिरेवाऽग्निरित्यभिप्रायः। कर्म गार्ह्यं यदग्न्याधेयात् पूर्वं तस्मिन् गृह्याणि कर्माणि क्रियन्त इति। गृह्योक्तानां कर्मणां पुनरनुवादोऽग्निहोत्रादितुल्ययोगक्षेमप्राप्तिहेतुत्वख्यापनार्थः। अग्न्याधेयात्पूर्वं गार्ह्याणां शूलगवादीनामनुष्ठानम्[2] ।। २२ ।।

अग्न्याधेयप्रभृत्यथेमान्यजस्राणि भवन्ति—यथैतदग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासावाग्रयणमुदगयनदक्षिणायनयोः पशुः चातुर्मास्यानि ऋतुमुखे षड्ढोता वसन्ते ज्योतिष्टोम इत्येवं क्षेमप्रापणम् ।। २३ ।।

अनु०—अग्न्याधेय के बाद से ये क्रियाएं नित्य अविच्छन्न रूप में आती हैं—

---

१. भार्यादिरग्निर्दायादिर्वेति गौतमः।

२. शूलगवो नाम ईशानदेवताको गोद्रव्यकः कर्मविशेषः गृह्य उक्तः "अथ शूलगवः" (बौ. गृ. २-१३) इत्यादिना। स च यद्यपि गोर्द्रव्यत्वेन विहिता, तथाऽपि कलौ गवालम्भस्य निषिद्धत्वात् तद्विकल्पेन 'ईशानाय स्थालीपाकं वा श्रपयन्ति' इति स्थालीपाकस्य विहितत्वात् शिष्टाचाराच्च स्थालीपाक एवाऽनुष्ठेयः ।।

अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, उदगयन, दक्षिणायन, पशु यज्ञ, ऋतुओं के आरम्भ में किये जाने वाले चातुर्मास्य, वसन्त में किया जाने वाला षड्ढोता और ज्योतिष्टोम इस प्रकार कल्याण की प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥

एतानि हि प्रसिद्धानि कर्माणि, पूर्वोक्तानि गार्ह्याणि। अजस्राणि नित्यानि, आगते काले कर्तव्यानि। अग्न्याधेयग्रहणं दृष्टान्तार्थम्। एषां पाठे दृश्यत एव। क्षेमप्रापणं मोक्षः एवं नित्यकर्मनिरतः प्रतिषिद्धकाम्यकर्मवर्जी गृहस्थोऽपि विमुच्यत इत्यभिप्रायः।

नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिघांसया।
मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः ॥ इति ॥ २३ ॥

इदानीं विहिताकरणे प्रतिषिद्धसेवने च दोषं वक्तुमुपक्रमते—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

न दिवास्वप्नशीलेन न च सर्वान्नभोजिना।
कामं शक्यं नभो गन्तुमारूढपतितेन वा ॥ २४ ॥

अनु०—इस संबन्ध मे धर्मशास्त्रज्ञ निम्नलिखित पद्य उद्धृत करते है—
दिन में सोनेवाला, सभी प्रकार के अन्न का भोजन करनेवाला, किसी स्थान पर या व्रत में आरूढ़ होकर भ्रष्ट होने वाला कदापि स्वर्ग प्राप्त करने मे समर्थ नहीं होता ॥ २४ ॥

टि०—दिवास्वप्नशील से यहां हर प्रकार के व्यसन में पड़े हुए, शुभ-अशुभ का ज्ञान न रखनेवाले, आलसी व्यक्ति से तात्पर्य है, इसी प्रकार गोविन्दस्वामी की व्याख्या के अनुसार सर्वान्नभोजी से निषिद्ध सेवा करने वाले व्यक्ति का भी अर्थ ग्रहण किया जाएगा।

न शक्यं गन्तुमिति सम्बन्धः। दिवास्वप्नशीलेनेति शब्देन विहिताकरणस्वभावो लक्ष्यते। स्वप्नो निद्रा मनोवृत्तिविशेषः। 'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा' इत्यागमः। हिताहितप्राप्तिपरिहारोपायभूतशुभाशुभकर्मानुष्ठानवर्जनाकुलितचेतसो हि पुंसो नाऽस्ति निद्रावसरः। प्रसन्ने हि चेतसि निद्रा भवति। अलसो वा दिवास्वप्नशीलः। सर्वान्नभोजिशब्देनाऽपि प्रतिषिद्धसेवा कथ्यते, भोज्याभोज्यव्यवस्था यस्य नाऽस्तीत्यभिप्रायः। भुजिरत्र व्यापारमात्रोपलक्षणार्थः। आरूढपतितः तापसः परिव्राजको वा प्रत्यवस्थितः। एतैर्नभःस्वर्गं गन्तुं प्राप्तुमशक्यमित्यर्थः ॥ २४ ॥

दैन्यं शाठ्यं जैह्म्यं च वर्जयेत् ॥ २५ ॥

अनु०—दीनता, शठता, कुटिलता के भावों का परित्याग करे ॥ २५ ॥

टि०—दीनता से यहां याचकता आदि का भाव भी लिया गया है, परोपकार न करना शठता है। सूत्र में च शब्द के प्रयोग से अश्लीलादि भाषण का भी अर्थ ग्रहण करना चाहिए—गोविन्दस्वामी।

आत्मनः क्षीणत्वप्रदर्शनेन याचिष्णुता[1] दैन्यम्। शक्तौ सत्यामपि परोपकाराकरणं शाठ्यम्। जैह्मयं कौटिल्यम्। चशब्दादश्लीलादिकमपि ॥ २५ ॥

दैन्यं पुनः प्रयत्नेन वर्जनीयम् अस्मिन्नर्थे गाथामाह—

अथाऽप्यत्रौशनसस्य च वार्षपर्वणस्य च दुहित्रोस्संवादे गाथामुदाहरन्ति ॥ २६ ॥

अनु—इस संबन्ध में उशना और वृषपर्वा की पुत्रियों के बीच हुए संवाद की एक गाथा उद्धृत की जाती है—

तुम उसकी पुत्री हो जो दूसरों का स्तुति करता है याचना करता है, तथा दान ग्रहण करता है, किन्तु मैं ऐसे व्यक्ति की पुत्री हूं, जिसकी स्तुति की जाती है, जो याचकों को दान देता है, किसी से दान स्वीकार नहीं करता ॥ २६ ॥

टि०—यह संवाद शर्मिष्ठा तथा देवयानी के संवाद के रूप में महाभारत में भी आया है। पूर्वार्ध में देवयानी के पिता उशना के दीन स्वभाव का उल्लेख है।

उशनाः शुक्रः, तस्य दुहिता देवयानी वृषपर्वा तु क्षत्रियः, तस्य दुहिता शर्मिष्ठा। तयोस्संवादो विसंवादः गाथाश्लोकः ॥ २६ ॥

स्तुवतो दुहिता त्वं वै याचतः प्रतिगृह्णतः।
अथाऽहं स्तूयमानस्य ददतोऽप्रतिगृह्णतः ॥
ददतोऽप्रतिगृह्णतः इति ॥ २७ ॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने चतुर्थः खण्डः ॥

प्रतिशाखं प्रभाषते तत्र पूर्वेणाऽर्धेन देवयान्याः पितुरुशनसो दीनस्वभावत्वं कथयति। उत्तरेण चाऽऽत्मनः पितुर्वृषपर्वणः ततो विपरीतस्वभावत्वम् ॥ २७ ॥

इति श्रीगोविन्दस्वामिविरचिते बौधायनधर्मसूत्रविवरणे द्वितीयप्रश्ने द्वितीयोऽध्यायः ॥

---

1. याचाविष्करणं दैन्यमिति घ. पु०

अथ द्वितीयप्रश्ने तृतीयोऽध्यायः

पञ्चमः खण्डः

भूयोऽपि नियमा योच्यते—

[1]तपस्यमवगाहनम् ॥ १ ॥

अनु०—तपस्या के लिए स्नान करना चाहिए ॥ १ ॥

तपसे हितं तपस्यम् । अवगाहनं स्नानम् । तपस उपक्रमे कर्तव्यमित्यर्थः ॥ १ ॥

देवतास्तर्पयित्वा पितृतर्पणम् ॥ २ ॥

अनु०—देवताओं का जल द्वारा तर्पण करने के बाद पितरों का तर्पण करना चाहिए ॥ २ ॥

भवेदिति शेषः । ऋषितर्पणानन्तरं पितृतर्पण क्रियाऽन्यत्रोच्यते[2] । इह तु देवतर्पणादनन्तरम्, अत आनन्तर्ये विकल्पः । यद्वा—तपस्येऽवगाहन एव विशेषः ॥ २ ॥

अनुतीर्थमप उत्सिञ्चे "दूर्ज[3] वहन्ती" रिति ॥ ३ ॥

अनु०—ऊर्ज वहन्ती मन्त्र का पाठ करते हुए तीर्थों के अनुसार जल गिराया जाता है ॥ ३ ॥

टी०—पूरा मन्त्र इस प्रकार है—"ऊर्जं वहन्तीरमृत घृतं पयः कीलालं परिस्रुतं स्वधा स्थ तर्पयत मे पितृन्" ।

अनुतीर्थं तीर्थमनुकूलमित्यर्थः । एतस्मादेव गम्यते जले तर्पणमिति । अयं हि मन्त्रः स्नानविध्यनुवाके कृत्स्नशः पठ्यते । यद्वा—नदीतरणानन्तरमेतदुत्सेचनं कर्तव्यम् ॥ ३ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति —

स्रवन्तीष्वनिरुद्धासु त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
प्रातरुत्थायाय कुर्वीरन् देवर्षिपितृतर्पणम् ॥ ४ ॥

---

१. तपस्यमपोऽवगाहनम् इति व्याख्यानपुस्तकेषु ॥

२. अत्रैव नवमखण्डे 'अथोत्तरं देवतास्तर्पयति', इत्यारभ्य देवतर्पणान्युक्त्वा ततः "अथ निवीती ऋषींस्तर्पयामि" इत्यादिना ऋषितर्पणमुक्त्वा, अनन्तरमेव "अथ प्राचीनावीती पितृन् स्वधा नमस्तर्पयामि" इति पितृतर्पण विहितमाचार्येणेत्यर्थः ।

३. "ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतं स्वधा स्थ तर्पयत मे पितृन्" इति समग्रो मन्त्रः ॥

अनु०—इस सम्बन्ध में निम्नलिखित पद्य किया जाता है—

तीन द्विजाति वर्ण के पुरुष प्रातःकाल उठकर बहती हुई अनवरुद्ध जल की धारा से देवता ऋषि तथा पितरों का तर्पण करें।। ४ ।।

टी०—बहती हुई अनवरुद्ध जल की धारा से यहां नदी मे स्नान करने का नियम स्पष्टतः प्रतीत होता है।

स्रवन्तीष्वनिरुद्धास्विति नद्यां प्रातःस्नानं विधीयते न तटाकादिषु कुल्यासु वा ।। ४।।

इतरथा दोषमाह—

निरुद्धासु न कुर्वीरन्नंशभाक्तत्र सेतुकृत् ।। ५ ।।

अनु०—ऐसे जल मे स्नानतर्पण नहीं करना चाहिए, जो चारों ओर जल से बंधा हो, ऐसे (तालाब कूप आदि मे) जलाशय मे स्नान-तर्पण करने पर उसके पुण्य का अंश तालाब या कूप को बधवाने वाले को मिलता है।। ५ ।।

निरुद्धासु यदि कुर्वीरन्निति शेषः। सेतुकृत् खननकृत्। तत्र सेतुकृत् स्नानतर्पणादिपुण्यफलांशभाग्भवति। पुण्यकर्ता च सेतुकृदेनोंशभाक्। आह च—

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन।
निपानकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ।। इति ।।

निपानं तटाक-कूपादि ।। ५ ।।

उपसंहरति—

तस्मात् परकृतान् सेतून् कूपांश्च परिवर्जयेदिति ।। ६ ।।

अनु०—अतएव दूसरों द्वारा बनवाये गये तालाब के घाटों तथा कूपो में स्नान तर्पण आदि का परिवर्जन करें।। ६ ।।

एतन्निर्वाहकं परकीयमतेनोपन्यस्यति—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

उद्धृत्य वाऽपि त्रीन् पिण्डान् कुर्यादापत्सु नो सदा।
निरुद्धासु तु मृत्पिण्डान् कूपात् त्रीनब्घटांस्तथेति ।। ७ ।।

अनु०—इस सम्बन्ध में निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया जाता है

आपत्काल में (तालाब आदि घिरे हुए) जल में से तीन मुट्ठी मिट्टी निकाल कर और कूप आदि मे घिरे हुए जल में से तीन घड़ा जल निकालकर स्नान तर्पण किया जा सकता है, किन्तु यह नियम सदा नहीं होता है।। ७ ।।

सदा न कुर्यान्निरुद्धास्विति सम्बन्धः । अविशेषितेन पिण्डशब्देनाऽचक्रादीनां पिण्डा गृह्यन्ते । आपत्सु स्रवन्तीनां अनिरुद्धानां चाऽभावे कूपे चेत् स्नान समुपस्थित तदा त्रीनपां पूर्णान् घटानुद्धृत्य स्नानम् ॥

आपः प्रस्तुताः तत्राऽऽह—

बहु प्रतिग्राह्यस्य प्रतिगृह्याऽप्रतिग्राह्यस्य वाऽयाज्यं वा याजयित्वाऽनाश्यान्नस्य वाऽन्नमशित्वा तरत्समन्दीयं जपेदिति ॥ ८ ॥

अनु०—अनेक व्यक्तियों को दान देने में समर्थ व्यक्ति से अथवा ऐसे व्यक्ति से जिससे दान नहीं लेना चाहिए, दान लेकर, ऐसे व्यक्ति का यज्ञ कराकर, जिसका यज्ञ कराना निषिद्ध है, अथवा ऐसे व्यक्ति का अन्न खाकर, जिसका अन्न खाना निषिद्ध है, तरत्समन्दीय मन्त्रों का जप करे ॥ ८ ॥

टि०—तरत्समन्दी मन्त्र ऋग्वेद ९।५८ हैं । गोविन्द के अनुसार बहु प्रतिगृह्य का अर्थ है, जो अनेक व्यक्तियों का भरणपोषण करने में समर्थ हो ।

काश्यपो वामदेवो वा ऋषिः । अधिवति शेषः । उत्तरं चतुर्ऋचं[1] अप्रतिग्राह्यस्य पतितादेर्वा परिग्रहदुष्टम्, गुर्वादिर्वा स्वभावदुष्टम् । अयाज्य गुरुतल्पगमनादिना याजनानर्हम्, अनाश्यान्नः अभोज्यान्नो लेखनादिनाऽशुद्धान्नः । एतच्च रहस्यप्रायश्चित्तम् । आह च गौतमः—रहस्यं प्रायश्चित्तमविख्यातदोषस्य चतुर्ऋचं "तरत्समन्दी" इत्यादि ॥ ८ ॥

एतेऽप्यनाश्यान्नाः, पतनीयत्वात् । के ते ?

अथाऽप्युदाहरन्ति —

गुरुसङ्करिणश्चैव शिष्यसङ्करिणश्च ये ।
आहारमन्त्रसङ्कीर्णा दीर्घं तम उपासत इति ॥ ९ ॥

अनु०—इस सम्बन्ध में धर्मशास्त्र निम्नलिखित पद्य उद्धृत करते हैं—

जो पतित गुरु के साथ, संसर्ग रखते हैं, जो लोग पतित शिष्य के साथ धर्मविरुद्ध सम्बन्ध रखते हैं, पतित जनों का भोजन करते हैं, और उनके लिए मन्त्रों का प्रयोग करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं ॥ ९ ॥

---

१. तरत्समन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः । तरत्समन्दी धावति ॥ १ ॥
उस्रा वेद वसूनां मर्तस्य देव्यवसः । तरत्समन्दी धावति ॥ २ ॥
ध्वस्रयोः पुरुषन्त्योरा सहस्राणि दद्महे । तरत्समन्दी धावति ॥ ३ ॥
आ ययोस्त्रिंशतं तना सहस्राणि च दद्महे । तरत्समन्दी धावति ॥ (ऋ० सं० ७.१.१५.)
इति चतुर्ऋचं सूक्तं तरत्समन्दीयमित्युच्यते ।

गुरवो व्याख्याताः। प्रायश्चित्तीयतां प्राप्याऽकृतप्रायश्चित्तैस्सद्भिः संसर्गं न व्रजेदिति। आह—

> प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात्पूर्वकृतेन वा।
> न संसर्गं व्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः॥ इति॥ ९॥

'नित्योदकी'(२.३.१)त्यत्र यदारब्धं तदेव पुनः प्रस्तौति प्रसक्तानुप्रसक्तं परिसमाप्य—

अथ स्नातकव्रतानि॥ १०॥

अनु०—अब स्नातक के व्रतों का विवेचन किया जायेगा॥ १०॥

वक्ष्यन्त इति शेषः। एतान्यपि प्रजापतिव्रतानि स्नातकाध्यायोक्तावशिष्टानि॥ १०॥

सायं प्रातर्यदशनीयं स्यात्तेनाऽन्नेन वैश्वदेवं बलिमुपहृत्य ब्राह्मणक्षत्रियविट्छूद्रानभ्यागतान् यथाशक्ति पूजयेत्॥ ११॥

अनु०—सायंकाल तथा प्रातःकाल जो कुछ भी भोजन हो उसके एक अंश से वैश्वदेव तथा बलिकर्म करे और तदनन्तर अपनी शक्ति के अनुसार अभ्यागत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों का सत्कार करे॥ ११॥

यदशनीयमित्यनेनाऽहविष्यस्याऽपि ग्रहणं केचिदिच्छन्ति। तत्पुनर्युक्तायुक्ततया परामृश्यम्। वैश्वदेवं कृत्वा बलिं चोपहृत्येत्यध्याहारः। बलिहरणानन्तरं चाऽभ्यागतान् यथाशक्ति पूजयेत् भोजयेदित्यर्थः। तृणभूम्युदकादीनां [1]पूर्वमेवोक्तत्वात्॥ ११॥

अथाऽनुकल्पमाह—

यदि बहूना न शक्नुयादेकस्मै गुणवते दद्यात्॥ १२॥

अनु०—यदि अनेक व्यक्तियों को भोजन न दे सके तो एक ही सद्गुणी व्यक्ति को भोजन करावे॥ १२॥

गुणवान् पुनः—

> विद्यानुष्ठानसम्पन्नो रावा पण्डित एव।
> वैश्वदेवे तु सम्प्राप्तः सोऽतिथिस्स्वर्गसङ्क्रमः॥ इति॥ १२॥

यो वा प्रथममुपागतः स्यात्॥ १३॥

---

१. पूर्वमेव दत्तत्वात् इति' ग. घ. पु.

अनु०—अथवा अनेक अभ्यागतों मे जो पहले आया हो उसे ही भोजन करावे ॥ १३ ॥

आगतानां बहूनां मध्ये य प्रथमं प्राप्तस्तं भोजयेदिति ॥ १३ ॥

शूद्रश्चेदागतस्तं कर्मणि नियुञ्ज्यात् ॥ १४ ॥

अनु०—यदि कोई शूद्र अभ्यागत हो तो उसे किसी कार्य पर लगावे (और फिर बाद में भोजन दे)

ततस्तं भोजयेदिति शेषः । द्विजातीनां तु धिग्गातपसी एव भोजयितुं पर्याप्ते । शूद्रस्य त्वभ्यागतस्य तदसम्भवात्तस्थाने कर्मकरणम् । ततश्च निर्गुणे द्विजादावभ्यागते तमपि कर्मणि नियुञ्ज्यादित्युक्तं भवति । युक्तं चैतत्, वसिष्ठवचनात्—'अश्रोत्रिया अननुवाक्याः अनग्नयश्शूद्रसधर्माणो भवन्ति' इति । आचार्योऽपि वक्ष्यति—'कामं तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्मसु योजयेत्' (२. ७. १५) इति । कर्म च काष्ठभेदनमृत्तिकासान्द्रीकरणादि ॥ १४ ॥

श्रोत्रियाय वाऽग्रं दद्यात् ॥ १५ ॥

अनु०—यदि अनेक व्यक्तियो को भोजन देने मे असमर्थ हो तो एक श्रोत्रिय विद्वान् ब्राह्मण को अग्र प्रदान करे ॥ १५ ॥

टि०—अग्र सोलह ग्रास के बराबर अन्न को कहते हैं ।

यदि बहूनां न शक्नुयात् इत्यनुवर्तते । तत्र ग्रासः-शिखण्डप्रमाणाश्चत्वारो ग्रासा एकैकं भैक्षम्, तच्चतुर्गुणितं पुष्कलमित्युच्यते । तत्पुष्कलचतुष्टयं चाऽग्रम् ॥ १५ ॥

[1]ये नित्याभक्तिकास्स्युस्तेषामनुपरोधेन संविभागो विहितः ॥ १६ ॥

अनु०—जो नित्य भोजन करने वाले हैं उनके भोजन के अंश में किसी प्रकार की कमी न करते हुए भोजन का विभाग करना चाहिए ॥ १६ ॥

आसमन्तात् भक्तं आभक्तम्, नित्यं आभक्तं येषां ते नित्याभक्तिकाः, नित्यमन्नं ये भजन्ते पुत्रदारभृत्यादयः । तेषामुपरोधः पीडा, तदभावोऽनुपरोधः । संविभागो दानम् । तदुपरोधे सति न कर्तव्यम् । आह च—

भृत्यानामुपरोधेन यः करोत्यौर्ध्वदैहिकम् ।
तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च ॥ इति ॥ १६ ॥

---

१. "नित्या भाक्तिकाः" इति सूत्रे, व्याख्यायां भक्तं अन्नं नित्यं ये भजन्ते पुत्रदारभृत्यादयः इति च पाठः क. ग. पु.

न त्वेव कदाचिददत्वा भुञ्जीत ॥ १७ ॥

अनु०—कभी भी भोजन का कुछ अंश दिये बिना भोजन नहीं करना चाहिए ॥ १७ ॥

अदत्वा भोजने सति दोषगुरुत्वख्यापनार्थो निपातद्वयप्रयोगः ॥ १७ ॥ पुनरप्यदत्वा भोजननिन्दामाह—

अथाऽप्यत्राऽन्नगीतौ श्लोकावुदाहरन्ति—

[1]यो मामदत्वा पितृदेवताभ्यो भृत्यातिथीनां च सुहृज्जनस्य । सम्पन्नमश्नन्विषमत्ति मोहात्तमद्म्यहं तस्य च मृत्युरस्मि ॥ हुताग्निहोत्रः कृतवैश्वदेवः पूज्यातिथीन् भृत्यजनावशिष्टम् । तुष्टश्शुचिश्श्रद्दधदत्ति यो मां तस्याऽमृतं स्यां स च मां भुनक्तीति ॥ १८ ॥

अनु०—इस सन्दर्भ मे अन्न के देवता द्वारा गाये गये इन दो श्लोकों को उद्धृत करते है—

जो मुझे, पितरों, देवताओं, सेवकों, अतिथियों तथा मित्रों को बिना दिये ही बने हुए अन्न को खा लेता है वह मूर्खतावश विष का ही भक्षण करता है; मैं उस व्यक्ति का भक्षण कर लेता हूं। मैं उसका मृत्यु हूं। किन्तु जो अग्निहोत्र हवन कर, वैश्वदेव कर, पूज्यजनो, अतिथियों और सेवकों के भोजन करने के बाद बचे हुए अन्न को सन्तुष्ट होकर, पवित्रता से तथा श्रद्धा रखते हुए खाता है, उसके लिए मैं अमृत बन जाता हूं और वही वस्तुतः मुझसे सुख प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

अन्नाभिमानिन्या देवतया गीतावेतौ श्लोकौ निन्दास्तुतिरूपौ। अनयोः पूर्वो निन्दारूपः, उत्तरस्स्तुतिरूपः। पितृदेवताभ्योऽन्नदानं वैश्वदेवबलिहरणं पञ्चमहायज्ञे। अतिथीनां सुहृज्जनस्येति चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। एतेभ्योऽन्नमदत्वा सम्पन्नं मृष्टं अत्ति, तमद्म्यहं तस्य च मृत्युरस्मि दारिद्र्यं व्याधिं चोत्पादयामीत्यर्थः। अग्निहोत्रशब्दस्सायम्प्रातः कर्तव्यहोमोपलक्षणार्थः। तुष्टोऽतिथिभोजनेनाऽननुतापी। शुचिः पादप्रक्षालनादिना। श्रद्दधत् भद्यभोजनादिनाऽतीव रुचिमान्। यद्वा श्रद्दधत् अतिथीन् पूजयेदिति सम्बन्धः। मां भुनक्ति

---

१. मोघमन्नं विन्दते अप्रचेतास्सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥ (ऋ० ८. ६. २१. १) इति मन्त्रोऽप्यत्राऽनुसन्धेयः।

भवति । अन्यथा 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदमेव स्यात् । यस्माद्यथाशक्ति दद्यं च भुञ्जीतेति श्लोकद्वयस्याऽर्थः ॥ १८ ॥

अथाऽन्नदानप्रसङ्गाद् द्रव्यदानमेतेभ्यः कर्तव्यमित्याह—

सुब्राह्मणश्रोत्रियवेदपारगेभ्यो गुर्वर्थनिवेशौषधार्थवृत्तिक्षीणयक्ष्यमाणाध्ययनाध्वसंयोगवैश्वजितेषु द्रव्यसंविभागो यथाशक्ति कार्यो बहिर्वेदि भिक्षमाणेषु ॥ १९ ॥

अनु०—सदाचारी ब्राह्मण वेदों के ज्ञान और अनुष्ठान से युक्त श्रोत्रिय, वेदविद्या में पारंगत पुरुष यदि यज्ञवेदि से भिन्न स्थान पर गुरु को दक्षिणार्थ देने के लिए विवाह के लिए, औषधके लिए, जीवनवृत्ति-विहीन होने पर कारण-पोषण के लिए, यज्ञ करने के लिए, अध्ययन के लिए, यात्रा के लिए या विश्वजित् यज्ञ करने पर धन की याचना करें तो उन्हें यथाशक्ति धन प्रदान करना चाहिए ॥ १९ ॥

टि०—उपर्युक्त दान यज्ञ के अतिरिक्त अन्य समय में भी देने का नियम है इस नियम के अनुरूप नियम मनुस्मृति में भी है, जिसे गोविन्द स्वामी ने उद्धृत किया है ।

अस्मिन् सूत्रे चतुर्थ्यर्थे सप्तम्यौ द्रष्टव्यौ । यद्वा—निमित्तसंयोग एव चतुर्थ्यन्तः वेदपारगेभ्यः इत्यनुकृष्य (?) द्रष्टव्यः । एवं च तेभ्य एव दानमित्युक्तं भवति । सुब्राह्मणः आचारसम्पन्नः ग्रन्थमात्रप्रयोजनो वा । श्रोत्रियस्तदनुष्ठानपरः । वेदस्य पारं पर्यन्तः निष्ठा तदर्थज्ञानं तद्गमयतीति वेदपारगः विचारसिद्धवेदार्थज्ञानवानित्यर्थः । गुर्वर्थः गुरुसंरक्षणपरः । निवेशो विवाहः । स निवेशार्थः । औषधं भेषजम् । वृत्तिक्षीणो हीनधनः । यक्ष्यमाणः प्रसिद्धः । अध्ययनसंयोगो ज्ञानैकशरणः । अध्वसंयोगः पन्थाः । विश्वजिन्नामा सर्वस्वदक्षिणः क्रतुः, तद्याजी वैश्वजितः स चाऽन्येषामपि सर्ववेदस[1]दायिनां प्रदर्शनार्थः । एतेभ्यो बहिर्वेदि अक्रतुकालेऽपि याचमानेभ्यो द्रव्यदानं यथाशक्ति कार्यम् । अत्र मनुः—

> सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सार्ववेदसम् ।
> गुर्वर्थपितृमात्रर्थस्वाध्यायार्थ्युपतापिनः ॥
> नवैतान् स्नातकान् विद्याद् ब्राह्मणान् धर्मभिक्षुकान् ।
> निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ इति ॥

कृतान्नमितरेषु ॥ २० ॥

---

१. याजिनामिति. पु. घ.

अनु०---अन्य अतिथियों के लिए (अथवा याचकों के लिए) पकाया हुआ अन्न देना चाहिए ।। २० ।।

कृतान्नं पक्वान्नम् । आह च—'इतरेभ्यो बहिर्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते' इति । इतरेभ्योऽतिथिभ्यः बहिर्वेदि कृतान्नमेव देयं नियमतः । सान्तानिकादिभ्यः पुनः कृतान्नमकृतान्नं च ।। २० ।।

तदिदं पूर्वोक्तमातिथ्यं, तदनमिहाऽनूच्यते—

सुप्रक्षालितपादपाणिराचान्तश्शुचौ संवृते देशेऽन्नमुपहृतमुपसङ्गृह्य कामक्रोधद्रोहलोभमोहानपहत्य सर्वाभिरङ्गुलीभिः शब्दमकुर्वन्प्राश्नीयात् ॥ २१ ॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने पञ्चमः खण्डः ।। ५ ।।

अनु०—पैरों और हाथको अच्छी तरह धोकर, आचमन कर, पवित्र तथा चारों ओर से घिरे हुए स्थान में बैठकर लाए हुए अन्न को आदरपूर्वक ग्रहण कर काम, क्रोध, लोभ, मोह को दूर कर सभी अङ्गुलियों से भोजन को मुँह में डालते हुए बिना शब्द किये हुए भोजन करे ।। २१ ।।

आत्मयाजिनो भोजनविधिरयम् । संवृते देशे उपविश्य भुञ्जीतेति शेषः । फलकादौ पादं पात्रं वाऽऽरोप्य न भोक्तव्यमिति । उपहृतमानीतम् । उपसंगृह्य प्रीतिपूर्वकमभिसंवाद्य कामादीन्वर्जयित्वा शब्दं सीत्कारादि-अकुर्वन् ।। २१ ।।

षष्ठः खण्डः

न पिण्डशेषं पात्र्यामुत्सृजेत् ॥ १ ॥

अनु०---भोजन का ग्रास खाने के बाद बचे हुए अंश को पुनः थाली में न गिरावे ।। १ ।।

टि०—तात्पर्य यह कि इतना ही बड़ा ग्रास उठाना चाहिए जिसे पूरा खाया जा सके, कुछ खाकर कुछ पुनः थाली मे डालने की अभ्यास न हो ।

ग्रासार्धाऽवशिष्टस्य पिण्डस्याऽभोज्यत्वात्तस्य पात्र्यामुत्सर्जने पुनरादानप्रसङ्गश्च । अतश्च यावद्ग्रसितुं शक्नोति तावदेवाऽऽददीतेति गम्यते ।। १ ।।

मांसमत्स्यतिलसंसृष्टप्राशनेऽप उपस्पृश्याऽग्निमभिमृशेत् ॥ २ ॥

अनु०—मांस, मछली, या तिल से युक्त भोजन खाने के बाद जल से शुद्धि कर अग्नि का स्पर्श करे ॥ २ ॥

संसृष्टशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । यावद्भिर्मांसपरमाणुभिर्मिश्रित ओदने तद्रसोपलब्धिर्भवति तावद्भिस्संसृष्टस्य प्राशने इदं प्रायश्चित्तम् । ननु मांससंसृष्टनिषेधादेव मत्स्यसंसृष्टस्याऽपि निषेधसिद्धेः कुतः पृथगुपादानं ? मत्स्यार्थमिति । उच्यते-मत्स्यगन्धोपलब्धावपि प्रायश्चित्त भवतीत्यर्थभिप्रायः । तिलसंसृष्टं तिलोदनम् ॥ २ ॥

[1]अस्तमिते च स्नानम् ॥ ३ ॥ पालाशमासनं पादुके दन्तधावनमिति वर्जयेत् ॥ ४ ॥ नोत्सङ्गेऽन्नं भक्षयेत् ॥ ५ ॥ आसन्द्यां न भुञ्जीत ॥ ६ ॥ वैणवं दण्डं धारयेद्रुक्मकुण्डले च ॥ ७ ॥ पदा पादस्य प्रक्षालनमधिष्ठानं च वर्जयेत् ॥ ८ ॥ न बहिर्मालां धारयेत् ॥ ९ ॥ सूर्यमुदयास्तमये न निरीक्षेत ॥ १० ॥

अनु०—और सूर्य के अस्त होने पर स्नान करे । पलाश के बने आसन और खड़ाऊँ तथा पलाश की दातौन का प्रयोग न करे । अपनी गोद में रखकर भोजन न करे । किसी आसन पर रखकर भोजन न करे । बाँस का डण्डा धारण करे और कानों में सोने के कुण्डल पहिने । स्नान करते समय एक पैर को दूसरे पैर से न रगड़े और खड़े रहते समय एक पैर के ऊपर दूसरा पैर न रखे । बाहर की ओर दिखायी पड़ने वाली माला न धारण करे । उदय और अस्त के समय सूर्य के ऊपर दृष्टिपात न करे ॥ ३–१० ॥

अदृष्टार्थमेतद्व्रतम् ॥ ३–१० ॥

नेन्द्रधनुरिति परस्मै प्रब्रूयात् ॥ ११ ॥ यदि ब्रूयान्मणिधनुरित्येव ब्रूयात् ॥ १२ ॥

अनु०—इन्द्रधनुष देखकर दूसरे व्यक्ति से 'इन्द्रधनुष दिखाई पड़ रहा है' ऐसा न कहे । यदि कहना ही हो तो 'मणिधनु' नाम लेकर कहे ॥ ११–१२ ॥

---

१. तृतीयादीनि नवमान्तानि सूत्राणि व्याख्यापुस्तकेषु नोपलभ्यते, न च व्याख्यातानि व्याख्यात्रा । अतश्च स एषामभावमेवाऽभिप्रैतीति प्रतीयते See P 152. L.L. 7.

परं प्रति निषेधोऽयम्। आत्मनो निरीक्षणे न दोषः। इतिकरणलिङ्गात् शब्दोच्चारणनिषेधमेनमध्यवस्यामः ॥ ११-१२ ॥

पुरद्वारीन्द्रकीलपरिघावन्तरेण नाऽतीयात् ॥ १३ ॥

अनु०—नगर के द्वार पर स्थापित इन्द्रकील और परिघा के बीच से न जाय ॥ १३ ॥

इन्द्रकीलः पुरद्वारे स्थापितः काष्ठविशेषः। परिघा तु प्रसिद्धा। तावन्तरेण न गच्छेत् ॥ १३ ॥

प्रेङ्खयोरन्तरेण न गच्छेत् ॥ १४ ॥

अनु०—झूले के बीच से न जाय ॥ १४ ॥

प्रेङ्खो निखातदारुलम्बमाना क्रीडाफलका, तयोरन्तरेण गमननिषेधः ॥१४॥

[1]वत्सतन्तीं च नोपरि गच्छेत् ॥ १५ ॥

अनु०—बछड़े के पगहे के ऊपर से न जाय ॥ १५ ॥

तन्ती दाम तल्लङ्घनं निषिध्यते। चशब्दात् गोतन्तीं च ॥ १५ ॥

भस्मास्थिरोमतुषकपालापस्नानानि नाऽधितिष्ठेत् ॥ १६ ॥

अनु०—भस्म, अस्थि, केश, भूसा, खप्पर, काई और जल से गीले स्नान के स्थान के ऊपर से होकर नहीं जाना चाहिए ॥ १६ ॥

रोमशब्दः केशश्मश्रुणोरपि प्रदर्शनार्थः। अपस्नानं स्थलस्नानस्रुतजलं गात्रोद्वर्तनमलं वा ॥ १६ ॥

[2]गां धयन्तीं न परस्मै प्रब्रूयात् ॥ १७ ॥

अनु०—यदि कोई गाय अपने बछड़े को दूध पिला रही हो तो इसके विषय में दूसरे व्यक्ति से न कहे ॥ १७ ॥

टि०—यह 'धयन्ती' से अत्यन्त स्नेहपूर्वक बछड़े को चाटते हुए प्रस्नुत (पेन्हाई हुई) गौ से तात्पर्य है।

स्वकीयामपि तां वारयेत्। न तु परस्मा आचक्षीत। किमयं स्तनन्धयस्य ख्यापननिषेधः, किं वा धेन्वा इति। तत्र गां धयन्तीमिति श्रवणाद्धेन्वा एव कञ्चित्काञ्चित् पिबन्त्या इति। केचित्पुनस्तस्यास्तथा प्रोत्यभावात् यथा वत्सस्य मातुः स्तनान् पिबतः, तत्र हि साक्रोशं कथयन्ति वारयन्ति च। कथं

---

१. cf. गौ. ध. ९. ५३, २. cf गौ. ध. ९. २४,

पुनः धयन्तीमितिशब्देन स्तनं पिबन्तीति गम्यते ? । गां धयन्तीं वत्सस्य मूत्रादिकमिति योजनया । अनेन चाऽतीव प्रस्तुतावस्था लक्ष्यते ॥ १७ ॥

[1]नाधेऽनुमधेनुरिति ब्रूयात् ॥ १८ ॥

यदि ब्रूयात् धेनुभव्येत्येव ब्रूयात् ॥ १९ ॥

अनु०—जो गाय दूध न देने वाली गाय हो उसे अधेनु न कहे। यदि उसके विषय में कहना हो तो उसे 'धेनुभव्या' (भविष्य मे दूध देने वाली) कहे ॥१८-१९॥

क्षीरिणी गौर्धेनुः । अधेनुस्तद्विपरीता । [2]उच्चारणनिषेधाददृष्टं कल्प्यम् ॥ १८ ॥ १९ ॥

[3]शुक्ता रूक्षाः परुषा वाचो न ब्रूयात् ॥ २० ॥

अनु०—शोकमय सा अपशकुनयुक्त, रूखा और कठोर वचन न बोले ॥२०॥

टि०—शुक्ता से इस प्रकार के वचनो का तात्पर्य है जिससे किसी को हृदय में कष्ट हो और अपने दुर्भाग्य का स्मरण हो जैसे विधवा को विधवा कहना। रूक्ष वचन में किसी व्यक्ति में दोष न होने पर भी उसमे दोष का कथन होता है जैसे श्रोत्रिय को अश्रोत्रिय कहना। परुष वचन ऐसे वचन है जिनमें किसी मे दोष होने पर भी गुण के रूप में उल्लेख किया जाय जैसे अन्धे को आँखवाला कहना।—गोविन्द स्वामी।

शुक्ताः शोककारिण्यः, यथा विधवां विधवेति। रूक्षाः अविद्यमाने दोषे दोषख्यापिकाः, यथा श्रोत्रियं सन्तमश्रोत्रिय इति। परुषास्तु विद्यमाने दोषे गुणख्यापकाः, यथाऽन्धं चक्षुष्मानिति ॥ २० ॥

नैकोऽध्वानं व्रजेत् ॥ २१ ॥

अनु०—अकेले यात्रा पर न निकले ॥ २१ ॥

मध्ये व्याधयाद्युत्पत्तिप्रसङ्गात्। अतस्सद्वितीयो व्रजेत् ॥ २१ ॥

न पतितैर्न स्त्रिया न शूद्रेण ॥ २२ ॥

अनु०—पतितों के साथ, किसी स्त्री के साथ या शूद्र वर्ण के पुरुष के साथ यात्रा न करे ॥ २२ ॥

---

१. cf. गौ. ध. ९. २०. २ अनुच्चारणे नियमाददृष्टं कल्प्यम्। इति घ. पु.

३. घ. पुस्तके रिक्ता इति सूत्रमारभ्य रिक्ताः व्यर्थाः, रूक्षाः क्रूराः, परुषाः कर्णकठोराः, इति व्याख्यातम्।

सह व्रजेदिति शेषः। एतैरसद्वितीयो न स्याद्गमन इत्यर्थः ॥ २२ ॥

न प्रतिसायं व्रजेत् ॥ २३ ॥

अनु०—सन्ध्या के आगमन के समय यात्रा पर न निकले ॥ २३ ॥

प्रमादभयादेव ॥ २३ ॥

न नग्नस्स्नायात् ॥ २४ ॥ न नक्तं स्नायात् ॥ २५ ॥

अनु०—नग्न होकर स्नान न करे। रात्रि में स्नान न करे ॥ २४-२५ ॥

अनयोः पूर्वः प्रतिषेधः स्नानमात्रे। उत्तरस्तु नित्यनैमित्तिके। तत्र हि—'शक्तिविषये मुहूर्तमपि नाऽप्रयतस्स्यात्' इत्युक्तम्। नैमित्तिकस्याऽपि महानिशि प्रतिषेधं केचिदिच्छन्ति ॥ २४ ॥ २५ ॥

न नदीं बाहुकस्तरेत् ॥ २६ ॥

अनु०—बाहों से तैर कर नदी पार न करे ॥ २६ ॥

बाहुभ्यां तरतीति बाहुकः ॥ २६ ॥

न कूपमवेक्षेत ॥ २७ ॥

अनु०—कुए में न झांके ॥ २७ ॥

आत्मानं तत्र द्रष्टुमिति शेषः। इतरथा कूपपतितानां बालादीनामुत्तारणासिद्धेः ॥ २७ ॥

न गर्तमवेक्षेत ॥ २८ ॥

अनु०—किसी गहरे गड्ढे में न झांके ॥ २८ ॥

अधोमुख एव निम्नो भूभागः गर्तो भवति। को विशेषः कूपगर्तयोरिति चेत्-कूपो नाम दुःखेनाऽऽदायोदकं पातुं योग्यः, निम्नं खातित इत्यर्थः। यः करेणोदकं गृहीत्वा पातुं योग्यस्स गर्तः ॥ २८ ॥

न तत्रोपविशेद्यत एनमन्य उत्थापयेत् ॥ २९ ॥

अनु०—उस स्थान पर न बैठे जहां से कोई उठा दे ॥ २९ ॥

सर्वत्र पारवश्य पुरुषस्य हृदीत्युपदेशः। राजभवनादिष्वासननिषेधोऽयम्। स्वयमारोढुमशक्यं प्रेशं प्रत्यारोहणनिषेधो वा। 'सूर्यमुदयास्तमये न निरीक्षेत' (२. ६. १०) इत्यारभ्योक्तानां प्रतिषेधानां केचिद्दृष्टार्थाः केचिददृष्टार्थाः केचिदुभयार्था इत्यवश्यं परिहरणीया एव। नो चेत् 'स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम्' इत्यवसरः स्यात् ॥ २९ ॥

पन्था देयो ब्राह्मणाय गवे राज्ञे ह्यचक्षुषे ।
वृद्धाय भारतप्ताय गर्भिण्यै दुर्बलाय च ॥ ३० ॥

अनु०—ब्राह्मण, गाय, राजा, नेत्रहीन, वृद्ध, बोझ लिए हुए व्यक्ति, गर्भिणी स्त्री और दुर्बल व्यक्ति के लिए मार्ग छोड़ देना चाहिए ॥ ३० ॥

टि०—गोविन्दस्वामी के अनुसार 'च' शब्द अन्य इसी प्रकार के व्यक्तियों का भी उल्लेख करता है जो आदर के योग्य होते हैं ।

अब्राह्मणेभ्योऽप्यचक्षुःप्रभृतिभ्यः पञ्चभ्यो वर्त्मसङ्कटे समुपस्थिते पन्थानं दातुं स्वयं तस्मादपसरेदेव । चशब्दोऽनुक्तोपसंग्रहार्थः । तेन 'चक्रिणेऽन्धकाय समुपजीविने तपस्विने हिताय वा' इत्यादिब्राह्मणादिर्ग्राह्यः ॥ ३० ॥

ब्राह्मणेभ्यो दत्वा पन्थानं कथंलक्षणं ग्रामं प्रति गच्छेदित्यत आह—

[1]प्रभूतैधोदकयवससमित्कुशमाल्योपनिष्क्रमणमाढ्यजनाकुलमनलससमृद्धमार्यजनभूयिष्ठमदस्युप्रवेश्यं ग्राममावासितुं यतेत धार्मिकः ॥ ३१ ॥

अनु०—धर्म कर्म में तत्पर रहने वाला व्यक्ति ऐसे ग्राम में रहने का प्रयत्न करे, जहाँ प्रचुर ईंधन, जल, चारा, हवनादि कर्म के लिए समिधा, कुश, माला प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो, जहाँ आने जाने मे सुविधा हो, बहुत से धनी लोग निवास करते हों, जहाँ उद्योगशील, आलस्यहीन समृद्ध लोग रहते हों; आर्यजनों की संख्या अधिकांश हो, और जिसमें चोर प्रवेश न करते हो ॥ ३१ ॥

टि०—तुलना० गौतमधर्मसूत्र. १·९·६५ पृ० ९० "प्रभूतैधोदकयवसकुशमाल्योपनिष्क्रमणमार्यजनभूयिष्ठमनलससमृद्धं धार्मिकाधिष्ठितं निकेतनमावसितुं यतेत ।"

प्रभूतशब्दः एधादिभिष्षड्भिः प्रत्येकमभिसंबन्धनीयः । एधः इन्धनादि । यवसः दोह्यानां गवादीनां भक्षः । उपनिष्क्रमणं विहारभूमिः । आढ्याः धनवन्तः । अलसाः निरुत्साहाः । तद्विपरीता अनलसाः । आर्याः पण्डिताः । दस्यवश्चोराः तैरप्रवेश्यं अधृष्यम् । तत्र हि धर्माश्रमाविरोधेन जीवनं सुकरं भवति । तत्र धार्मिको नित्यं निवसेदित्यर्थः ॥ ३१ ॥

उदपानोदके ग्रामे ब्राह्मणो वृषलीपतिः ।
उषित्वा द्वादश समाः शूद्रसाधर्म्यमृच्छति ॥ ३१ ॥

अनु०—जिस ग्राम मे कुएँ से ही पानी पिया जाता हो वहाँ शूद्रा स्त्री से विवाह

---

१. cf. गौ ध. ९.६६,

वर निवास करने वाला ब्राह्मण बारह वर्ष निरन्तर रहने पर शूद्रों के समकक्ष ही हो जाता है ॥ ३२ ॥

उदपानं कूपः कूपोदकमेव पानीयं, नाऽन्यत् यस्मिन् ग्रामे स एवमुक्तः। वृषलीशब्दः प्राक् प्रदानाद्रजस्वलाया वाचकः। तथा हि—

पितुर्गृहे तु या कन्या ऋतुं पश्यत्यसंस्कृता।
सा कन्या वृषली ज्ञेया तत्पतिर्वृषलीपतिः ॥ इति ॥

शूद्रायाः पतित्वे धर्मानुष्ठानानुपपत्तेः। एवंविधो धार्मिकोऽपि शूद्रसाधर्म्यमृच्छति। तस्मादल्पोदके ग्रामे धार्मिको न निवसेदित्यभिप्रायः ॥ ३२ ॥

ग्रामनिवास उक्तः, नगरे त्वनेवंविधेऽपि निवासनिषेधाय निन्दति—

पुररेणुकुण्ठितशरीरस्तत्परिपूर्णनेत्रवदनश्च। नगरे वसन् सुनियतात्मा सिद्धिमवाप्स्यतीति न तदस्ति ॥ ३३ ॥

अनु०—यदि यह कहा जाय कि नगर की धूल से जिसका शरीर धूसरित है और जिसके नेत्र और मुख उस धूल से परिपूर्ण है किन्तु जिसने इन्द्रियों और मन पर संयम कर रखा है वह नगर मे रहता हुआ भी सिद्धि प्राप्त करता है तो ऐसी बात नही है (नगर का निवासी सिद्धि नहीं प्राप्त कर पाता) ॥ ३३ ॥

कुण्ठितं प्रच्छादितम्। तच्छब्देन पुररेणुरेव परामृश्यते। तेन परिपूरिते नेत्रे वदनं च यस्य स तत्परिपूर्णनेत्रवदनः। उष्ट्रखरविड्वराहगजाश्वपुरीषमूत्रसुराकाकोच्छिष्टशवकपालास्थितुषभस्माद्युपहतसर्वावयव इत्यर्थः। एवंविधस्सुनियतेन्द्रियोऽपि नगरे वसन् परलोकं नाऽऽप्नोतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

रेणुः प्रस्तुतस्तत्राऽऽह—

रथाश्वगजधान्यानां गवां चैव रजश्शुभम्।
अप्रशस्तं समूहन्याः श्वाजाविखरवाससाम् ॥ ३४ ॥

अनु०—रथों, अश्व, हाथी के चलने से उठने वाली, अनाज के साथ मिली हुई तथा गाय के पैरों से उड़ने वाली धूल पवित्र होती है, किन्तु झाड़ू से बुहारने पर उड़ी हुई, बकरी, भेड़, गदहे के पैरों से उठी हुई तथा कपड़े से उड़ायी गयी धूल अपवित्र होती है ॥ ३४ ॥

पूर्वाणि पञ्च रजांसि शुभानि। इतराणि षट् अप्रशस्तानि वर्ज्यानि। समूहनी सम्मार्जनी ॥ ३४ ॥

पूज्यान् पूजयेत् ॥ ३५ ॥

अनु०—पूज्य व्यक्तियों का सम्मान करे ॥ ३५ ॥

अवसरौचित्योपायेनाऽयमपि श्रेयस्करो नियमः। उक्तं च—'प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः'। इति ॥ ३५ ॥

ऋषिविद्वन्नृपवरमातुलश्वशुरर्त्विजः।
एतेऽर्घ्याः शास्त्रविहिताः स्मृताः कालविभागशः ॥ ३६ ॥

अनु०—ऋषि विद्वान् पुरुष और राजा तथा मामा, श्वशुर और ऋत्विज ये शास्त्र के नियम के अनुसार अथवा अवसर के अनुसार अर्घ्य होते हैं ॥३६॥

टि०—ऋषि, विद्वान् पुरुष तथा राजा सर्वदा पूज्य होते है वे जब भी आवें उन्हें मधुपर्क दिया जाता है, किन्तु मामा और श्वशुर यदि एक वर्ष के अन्तर पर आवें तो मधुपर्कार्ह होते हैं, जब की ऋत्विज् याज्ञिक क्रिया के अवसर पर अर्घ्य है। ऋषि मन्त्रों के अर्थ का ज्ञाता होता है, विद्वान् वह है जो अङ्गों, इतिहास के साथ सम्पूर्ण वेद का प्रवक्ता हो। इस सम्बन्ध में गौतमधर्मसूत्र के नियम अत्यन्त स्पष्ट हैं 'ऋत्विगाचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानामुपस्थाने मधुपर्कः। संवत्सरे पुनः। यज्ञविवाहयोरर्वाक्। राज्ञश्च श्रोत्रियस्य।' १'५ २१–२८ पृ० ५३–५४।

ऋषिर्मन्त्रार्थज्ञः। विद्वान् साङ्गस्य सेतिहासस्य वेदस्य प्रवक्ता। नृपोऽभिषिक्तः। क्षत्रियः। वरो वोढा दुहितुः। इतरे प्रसिद्धाः। अर्घ्याः मधुपर्कार्हा इति शास्त्रेण वेदेन चोदिता स्मृताश्च स्मृतिकर्तृभिर्मन्वादिभिरप्यनुमोदिताः। यद्वा—कालविभागेन स्मृताः ॥ ३६ ॥

कोऽसौ कालविभाग इत्याह—

ऋषिविद्वन्नृपाः प्राप्ताः क्रियारम्भे वरर्त्विजौ।
मातुलश्वशुरौ पूज्यौ संवत्सरगतागताविति ॥ ३७ ॥

अनु०—ऋषि, विद्वान पुरुष और राजा के आने पर उन्हे मधुपर्क से सम्मानित किया जाता है (पुंसवन्, सोमयाग आदि) यज्ञक्रिया के आरम्भ मे ऋत्विज को मधुपर्क दिया जाता है। मामा और श्वशुर यदि एक वर्ष के बाद आये हों तो वे अर्घ्य होते हैं ॥ ३७ ॥

प्राप्ताः प्रवासादभ्यागताः। क्रियारम्भः पुंसवनसोमयागादीनामारम्भः। संवत्सरपर्यागतौ संवत्सरमुषित्वाऽऽगतौ ॥ ३७ ॥

अग्न्यगारे गवां मध्ये ब्राह्मणानां च सन्निधौ।
स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं बाहुमुद्धरेत् ॥ ३८ ॥

अनु०—जिस घर में अग्नि का आधान किया गया हो उसमें प्रवेश करते समय गायों के बीच मे जाने पर, ब्राह्मणों के समीप, दैनिक स्वाध्याय के अवसर पर तथा भोजन के समय दाहिने हाथ को उठावे ॥ ३८ ॥

टि०—सूत्रस्थ 'च' शब्द से अन्य पवित्र स्थानों और शुभ अवसरों पर भी हाथ उठाने का नियम समझना चाहिए।

स्वाध्याये वर्तमाने भोजनेऽपि बाह्वोरुद्धरणं नमस्काररूपेण। चशब्दः प्रशस्तमङ्गल्यदेवायतनप्रज्ञातवनस्पत्यादिप्रदर्शनार्थः ॥ ३८ ॥

उत्तरं वासः कर्तव्यं पञ्चस्वेतेषु कर्मसु।
स्वाध्यायोत्सर्गदानेषु भोजनाचमनयोस्तथा ॥ ३९ ॥

अनु०—इन पांच कामों में उत्तरीय वस्त्र अवश्य धारण करना चाहिए। स्वाध्याय, मूत्रमलत्याग, दान, भोजन तथा आचमन के समय ॥ ३९ ॥

तृतीयं वस्त्रमुपवीतवत् व्यतिषज्यते तदुत्तरीयम्। तत् स्नातकस्य प्राप्त्यमप्येषु कर्मस्ववश्यं कर्तव्यमित्युच्यते। उत्सर्गो मूत्रपुरीषकरणम् ॥ ३९ ॥

हवनं भोजनं दानमुपहारः प्रतिग्रहः।
बहिर्जानु न कार्याणि तद्वदाचमनं स्मृतम् ॥ ४० ॥

अनु०—हवन क्रिया में भोजन करते समय, देवता गुरु आदि को बलि या उपहार देते समय तथा दान लेते समय दाहिने हाथ को घुटने से बाहर नहीं करना चाहिए और इसी प्रकार आचमन के विषय में भी नियम बताया गया है ॥ ४० ॥

जान्वोर्द्वयोरन्तरा दक्षिणं बाहुं निधायैतानि कार्याणीत्यर्थः। उपहारो बलिहरणम्। यद्वा— प्रसिद्ध एवोपहारो देवगुरुविषयः ॥ ४० ॥

अन्नदानं स्तूयते—

अन्ने श्रितानि भूतानि अन्नं प्राणमिति श्रुतिः।
तस्मादन्नं प्रदातव्यमन्नं हि परमं हविः ॥ ४१ ॥

अनु०—प्राणी अन्न के ऊपर आश्रित होते हैं और अन्न ही प्राण है ऐसा श्रुति का वचन है अतः अन्न का दान करना चाहिए। अन्न ही सबसे उत्तम हवि है ॥ ४१ ॥

अन्ने श्रितानि अन्नावष्टम्भानि, स्थावराणि जङ्गमानि च। 'अन्नं प्राणमन्नपान' मिति श्रुतिः। देवा अप्यन्नावष्टम्भा एव। हुतप्रहुतादयस्तेषामन्नानि तस्माद्यथाशक्त्या दातव्यम् ॥ ४१ ॥

हुतेन शाम्यते पापं हुतमन्नेन शाम्यति ।
अन्नं दक्षिणया शान्तिमुपयातीति नश्श्रुतिरिति ॥ ४२ ॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने षष्ठः खण्डः ॥

अनु०—हवन करने से पाप शान्त हो जाता है, हवन भी अन्न दान से शान्त होता है । अन्न दक्षिणा द्वारा-शान्ति प्राप्त करता है, ऐसा हमें श्रुति से ज्ञात होता है ॥ ४२ ॥

हुतं होमः कूष्माण्डगणहोमादिलक्षणः । तेन पापं शाम्यते । हुतविषयं च न्यूनातिरिक्तमन्नदानेन शाम्यति । अन्नदानविषयं च न्यूनातिरिक्तमस्वादुताकृतं प्रियवचनाभावनिमित्तं च दक्षिणया शाम्यति । वक्ष्यति ह्येतान्—

भोजयित्वा द्विजानान्ते पायसेन च सर्पिषा ।
गोभूतिलहिरण्यानि भुक्तवद्भ्यः प्रदाय च ॥ इति ।

चशब्दोऽवधारणार्थः । सर्वत्राऽत्र प्रमाणमस्माकं श्रुतिरेवेत्यर्थः । सा च 'तस्मादन्नं ददत् सर्वाण्येतानि ददाती'त्येवमादिका ॥ ४२ ॥

इति बौधायनधर्मसूत्रविवरणे गोविन्दस्वामिकृते
द्वितीयप्रश्ने तृतीयोऽध्यायः ॥

द्वितीयप्रश्ने चतुर्थोऽध्यायः

सप्तमः खण्डः

यथा स्नातकस्याऽन्नदानमवश्यं कर्तव्यम्, एवमुपनीतमात्रस्य सन्ध्योपासनं प्रत्यहमवश्यं करणीयमित्याह—

अथाऽतस्सन्ध्योपासनविधिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अनु०—इस कारण अब हम सन्ध्योपासन विधि की व्याख्या करेंगे ॥१॥

टि०—सन्ध्या रात्रि और दिन की सन्धिवेला को कहते हैं । इस समय ॐकार तथा व्याहृतियों के साथ गायत्री मन्त्र का जप आदि मानसिक आराधना सभी कर्मों से अधिक मंगलतर बतायी गयी है ।

अथशब्दो मङ्गलार्थः । तस्मिन् खल्वर्थे स्मर्यते—

ओङ्कारश्चाऽथशब्दश्च द्वावेतौ ब्राह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥ इति ।

तस्मादिति माङ्गल्यहेतुतामुपदर्शयति । सन्ध्योपासानं हि सर्वेभ्यः कर्मभ्यो मङ्गलतरम् । सन्ध्या नाम रात्रेर्वासरस्य चाऽन्तरालकालवर्ति सूर्योपासनम् । तत्र प्रणवव्याहृतिसहितस्तत्सवितुरिति मन्त्रोच्चारणजन्यस्तद्विषयस्सन्ततो मानसो व्यापारः । इदमेवाऽत्र प्रधानम् । यदन्यत्तदङ्गम् । तथा च ब्राह्मणम्— 'उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते' इति । कुर्वन् प्रदक्षिणं मन्त्रोच्चारणं वा । ब्राह्मणग्रहणं ऋणश्रुतिवत् । विधि-मनुष्ठानक्रमं वक्ष्याम इति सङ्ग्रहः कृतः । तत्र कालो वक्ष्यते—'सुपूर्वामपि-पूर्वामुपक्रम्य' (२–७–१२) इत्यत्र ॥ १ ॥

तीर्थं गत्वाऽप्रयतोऽभिषिक्तः प्रयतो वाऽनभिषिक्तः प्रक्षालित-पादपाणिरप आचम्य सुरभिमत्याऽब्लिङ्गाभिर्वारुणीभिर्हिरण्यवर्णाभिः पावमानीभिर्व्याहृतिभिरन्यैश्च पवित्रैरात्मानं प्रोक्ष्य प्रयतो भवति ॥२॥

अनु०—पवित्र जलाशय पर जाकर अशुद्ध होने पर स्नान कर और शुद्ध होने पर बिना स्नान किये भी, पैरों और हाथों को धोकर, आचमन कर, 'सुरभि' शब्द से युक्त ऋग्वेद के मन्त्र का उच्चारण करते हुए, अप् देवता के मन्त्रों से, वरुण देवता के मन्त्रों से हिरण्यवर्ण इत्यादि मन्त्रों से, 'पवमानः सुवर्चनः' इस अनुवाक से, व्याहृतियों से तथा अन्य पवित्र करने वाले मन्त्रों से अपने ऊपर जल छिड़के और शुद्ध होवे॥२॥

टि०—तीर्थ से नदी, पवित्र जलाशय से तात्पर्य है। विकल्प का नियम केवल स्नान के विषय में समझना चाहिए। हाथों और पैरों के धोने का नियम दोनों ही स्थितियों में होता है, चाहे स्नान किये हो या न किये हो।

हाथ को कलाई तक धोने का नियम है। आचमन मन्त्रोच्चारण के साथ होता है। सायंकाल आचमन का मन्त्र है 'अग्निश्च मा मन्युश्च' और प्रातःकालीन आचमन का मन्त्र है 'सूर्यश्च मा मन्युश्च'। स्नान भी 'हिरण्यशृङ्गम्' आदि मन्त्र से होता है। 'सुरभि' शब्द वाला मन्त्र 'दधिक्राव्णः' आदि है। 'आपो हि' इत्यादि तीन मन्त्र अब्लिङ्ग हैं। वरुण देवता के मन्त्र 'यच्चिद्धि ते' आदि तीन मन्त्र, अथवा कुछ लोगों के अनुसार 'अव ते हेड' 'इमं मे वरुण' मन्त्र है। 'हिरण्यवर्णाः' इत्यादि चार मन्त्र हैं। ये मन्त्र पूर्णतः इस प्रकार है"

अग्निश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः। पापेभ्यो रक्षन्ताम् । यदह्ना पापम-कार्षम् । मनसा वाचा हस्ताभ्याम् । पद्भ्यामुदरेण शिश्ना । अहस्तदवलुम्पतु यत्कि-ञ्च दुरितं मयि । इदमहं माममृतयोनौ । सत्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा ॥

सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः । पापेभ्यो रक्षन्ताम् । यद्रात्र्या पापमकार्षम् । मनसा वाचा हस्ताभ्याम् । पद्भ्यामुदरेण शिश्ना। रात्रिस्तदवलुम्पतु ।

यत्किञ्च दुरितं मयि । इदमहं माममृतयोनौ । सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा ।। (महानारायणोपनिषद् २४.२५)

दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः । सुरभि नो मुखात् करत्प्रण आयूंषि तारिषत् ।।

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ।। यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः । तस्मा अरंगमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ आपो जनयथा च नः ।

यच्चिद्धि ते विशो यथा प्रदेव वरुण व्रतम् । मिनीमसि द्यवि द्यवि ।। यत्किञ्चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि । अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम । मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ।। कितवासो यद्रिपुर्नदीवि यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्म सर्वा ता विष्य शिथिरेव देवाऽथा ते स्याम वरुण प्रियासः ।।

कर्तृसंस्कारोऽयम् । तीर्थं नदी देवखातादि बहिर्ग्रामाज्जलाशयः । तत्र गतस्सन्नप्रयतश्चेत् स्नायादेव । प्रयतश्चेन्न स्नायात् । स्नानास्नानयोर्विकल्पः । स च शक्त्यपेक्षः प्रक्षालितपादपाणिरित्यादि अभिषिक्तानभिषिक्तयोस्साधारणम् । प्रक्षालनं चाऽऽमणिबन्धात् ।'अभ्यर्हितं पूर्वम्' इति पाणेः[1] पूर्वनिपाताभावश्छान्दसः । अत्राऽपामाचमनं समन्त्रं वेदितव्यम् । मन्त्रश्च—[2]'अग्निश्च मा मन्युश्च'त्यनुवाकः सायङ्काले ।[3] 'सूर्यश्च' मा मन्युश्चेति प्रातः । प्रत्यहं हस्तपादादिभिः पापकरणस्याऽवश्यंभावित्वात्तदवलोपनसमर्थत्वाच्चैतयोः । स्नानप्रक्षालनाचमनप्रोक्षणानि च बाह्याभ्यन्तरमलावलोपनार्थानीति गम्यते । प्रयतो भवतीति सूत्रान्ते निगमनात् । अत एव च स्नानमप्यत्र[4] 'हिरण्यशृङ्ग' मित्येवमादिभिरिस्समन्त्रकमेव द्रष्टव्यम् । वक्ष्यति सन्ध्योपासनफलप्रदर्शनवेलायां मान्त्रव-

---

१. पूर्वनिपाते सिद्धेऽप्यपूर्वनिपातश्छान्दसः इति. ग. पु. ।

२. अग्निश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः । पापेभ्यो रक्षन्ताम् । यदह्ना पापमकार्षम् । मनसा वाचा हस्ताभ्याम् । पद्भ्यामुदरेण शिश्ना । अहस्तदवलुम्पतु यत्किञ्च दुरितं मयि । इदमहं माममृतयोनौ । सत्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा ।।

३. सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः । पापेभ्यो रक्षन्ताम् । यद्रात्र्या पापमकार्षम् । मनसा वाचा हस्ताभ्याम् । पद्भ्यामुदरेण शिश्ना । रात्रिस्तदवलुम्पतु । यत्किञ्च दुरितं मयि । इदमहं माममृतयोनौ । सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा ।। (महानारायणोप० २४-२५) इति समग्रौ मन्त्रौ ।

४. अनुवाकस्समग्रः पठनीयः स्नानकाल इति सम्प्रदायः । स च महानारायणोपनिषदि द्रष्टव्यः ।

र्णिकमेव पापप्रमोचनम्–'यदुपस्थकृतं पापम्' (२–१८) इत्येवमादिना। वसिष्ठश्चैतमर्थमनुमोदमान उपलक्ष्यते—'अथाऽऽचामेदग्निश्चेति सायं सूर्यश्चेति प्रातः मनसा पापं ध्यात्वा निवदन्' इति यद्यपि रहस्यप्रायश्चित्तप्रकरण इदं पठ्यते तथाऽपि 'वाक्यादविगानसमाचारादहरहरप्यवगन्तव्यम्। सुरभिमती [1]'दधिक्राव्णः' इत्यृक्। अब्लिङ्गाः अब्देवत्यः ताश्च[2] 'आपो हि' इति तिस्रः। वारुण्यो वरुणदेवत्याः ताश्च[3] 'यच्चिद्धि ते' इति तिस्रः। केचित् 'अव ते हेडः' इति 'इमं मे वरुण' इति ऋचावपीच्छन्ति। 'हिरण्यवर्णाः' इति चतस्रः। पावमान्यः 'पवमानः सुवर्चनः' इत्यनुवाकः। अन्यानि पवित्राण्यघमर्पणादीनि स्वयमेव वक्ष्यति–'उपनिषदो वेदादयः' (३.१०.१०) इति प्रक्रम्य 'सावित्रीति चेति पावनानी' त्यन्तेन। यद्वा—'अघमर्षणं देवकृतम्' (४.३.७.) इत्यत्र। प्रयतः पूतस्सन्ध्योपासनयोग्यो भवति ॥ २ ॥

अथ स्नानप्रोक्षणयोर्व्यवस्थामाह—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

अपोऽवगाहनं स्नानं विहितं सार्ववर्णिकम्।
मन्त्रवत्प्रोक्षणं चाऽपि द्विजातीनां विशिष्यते इति ॥ ३ ॥

अनु०—इस विषय में निम्नलिखित गाथा भी उद्धृत करते हैं–जल में डुबकी लगाना और स्नान करना सभी वर्णों के लिए विहित है; किन्तु मन्त्रों के उच्चारण के साथ प्रोक्षण का कर्म केवल द्विजाति वर्णों के लिए ही विशेष रूप से है ॥ ३ ॥

अपोऽवगाहनमिति वारुणं स्नानमाह। तच्च सार्ववर्णिकं सर्ववर्णसाधारणम्। मन्त्रवत्प्रोक्षणं पूर्वोक्तैर्मन्त्रैर्मार्जनं तच्च ब्राह्मणादित्रैवर्णिकानां विशिष्टं स्नानम्। एवं चाऽद्विजस्य वारुणमेव। द्विजातीना पुनरुभयोस्समुच्चयस्सति सम्भवे। असम्भवेऽपि तेषां मार्जनमवश्यंभावि ॥ ३ ॥

---

१. दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः। सुरभि नो मुखा करत् प्रण आयूंषि तारिषत् ॥

२. आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥ यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥ तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः।

३. यच्चिद्धि ते विशो यथा तदेव वरुण व्रतम्। मिनीमसि द्यविद्यवि ॥ यत्किञ्चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि। अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥ कितवासो यद्रिरिपुर्न दीवि यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्म, सर्वा ता विष्य शिथिरेव देवाऽथाते स्याम वरुण प्रियासः ॥

किञ्च—

सर्वकर्मणां चैवाऽऽरम्भेषु प्राक्सन्ध्योपासनकालाच्चैतेनैव पवित्रसमूहेनाऽऽत्मानं प्रोक्ष्य प्रयतो भवति ॥ ४ ॥

अनु०—जो व्यक्ति सभी धार्मिक क्रियाओं के प्रारम्भ में सन्ध्योपासन काल से पहले भी इन्हीं पवित्र करने वाले मन्त्रों के समूह से अपना प्रोक्षण करता है, वह शुद्ध हो जाता है ॥ ४ ॥

सर्वकर्माणि श्रुतिस्मृतिशिष्टागमसिद्धानि। सर्वकर्मग्रहणेनैव सिद्धे सन्ध्योपासनस्य पृथग्ग्रहणं तस्याऽत्यन्तप्राशस्त्यप्रतिपादनार्थम्। तच्च प्रदर्शितमस्माभिरथातश्शब्दयोरभिप्रायं वर्णयद्भिः। पवित्रसमूहेन सुरभिमत्यादीनां स्तोमेनाऽऽत्मानं प्रोक्ष्याऽद्भिरेवाऽऽत्मानं परितोऽपि रक्षा कर्तव्या। अत ऊर्ध्वं गायत्र्याऽभिमन्त्रितेनाऽम्भसा हतानि रक्षांस्यात्मानमाह—मृत्युरिति। यच्च स्वाध्यायब्राह्मणे पठितम्—'सन्ध्यायां,गायत्र्याऽभिमन्त्रिता आप ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति' 'यत्प्रदक्षिणं प्रक्रमन्ति' इति च। तदपि प्रसिद्धत्वादेव नोक्तमाचार्येण, 'अग्निश्च' इत्यादिमन्त्रद्वयवत्। स्मृतिरप्यस्ति—

> कराभ्यां तोयमादाय सावित्र्या चाऽभिमन्त्रितम्।
> आदित्याभिमुखो भूत्वा प्रक्षिपेत् सन्ध्ययोर्द्वयोः ॥ इति।

एतदुक्तं भवति—सन्ध्योपासनवेलायां कर्तव्येषु समन्त्रकाचमनप्रोक्षणजलोत्क्षेपणप्रदक्षिणसावित्रीजपोपस्थानेष्वाचार्येण स्वशाखायामनुक्ता उक्ताः। उक्तास्तु नोक्ताः सिद्धत्वादेव। न केवलमुत्क्षेपणप्रदक्षिणे एव भवतः ॥ ४ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति—

दर्भेष्वासीनो दर्भान् धारयमाणस्सोदकेन पाणिना प्रत्यङ्मुखस्सावित्रीं सहस्रकृत्व आवर्तयेत् ॥ ५ ॥

अनु०—इस विषय में निम्नलिखित पद्य भी उद्धृत करते हैं—

कुशों के ऊपर बैठकर अपने (दाहिने) हाथ मे कुश लेकर, हाथ मे जल लेकर, पश्चिम, की ओर मुख कर एक सहस्र बार गायत्री मन्त्र का जप करे ॥ ५ ॥

टि०—पश्चिम की ओर मुख सायंकालीन सन्ध्या में किया जाता है। जप ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग के साथ किया जाता है। प्रणव तथा व्याहृतियों के ऋषि वामदेव हैं। गायत्री छन्द है। ओंकार सभी का देवता है। सावित्री मन्त्र के ऋषि विश्वामित्र है। छन्द गायत्री है और देवता है सविता।

दर्भेष्वग्रथितेष्वनन्तर्गर्भेषु [1]त्रिष्वासीनस्तादृशानेव दर्भान् सोदकेन पाणिना धारयमाणः। एकवचनाद्दक्षिणो गृहीतव्यः। सावित्रीं सवितृदेवत्यां 'तत्सवितुः' इत्येतामृचं प्रणवव्याहृतिसंहिताम्। तथाहि—

> एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
> सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥ इति।

ऋषिच्छन्दोदेवताविनियोगस्मरणपूर्वको जपो द्रष्टव्यः। न ह्येतज्ज्ञानमृते श्रौतस्मार्तकर्मप्रसिद्धिरित्यभियुक्तोपदेशात्। तत्र प्रणवव्याहृतीनामृषिर्वामदेवः। देवी गायत्री छन्दः। ओङ्कारस्सर्वदेवत्यः [2]पारमेष्ठ्यः। व्यस्तानां व्याहृतीनामग्निर्वायुस्सूर्य इति देवताः। सावित्र्या ऋषिः विश्वामित्रः गायत्री छन्दः सविता देवता। सन्ध्योपासने विनियोगः। यस्मिन् सर्वमोतं प्रोतं च भवतीति ओङ्कारेण ब्रह्मोच्यते। तच्च सवितृमण्डलमध्यवर्ति। तथा च श्रुतिः—'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' इति। स एव च भूः भवतेस्सद्रूपं परं ब्रह्म। भुवः भावयतेः तदेव हि सर्वं भावयतीति। तदेव सुवः। तथा च यास्कः-'स्वरादित्यो भवति सु रणः सु ईरणः स्वृतो रसान् स्वृतो भासं ज्योतिषां स्वृतो भासेति'। यो देवस्सविताऽस्माकं धियः कर्माणि पुण्यानि प्रति प्रेरयेत् तस्य यो भर्गः तपनहेतुः वरेण्यं वरणीयं वरदं वा मण्डलमभिचिन्तयाम उपास्महे इति मन्त्रार्थः॥ ५॥

अथ स एव कल्पान्तरमाह—

प्राणायामशो वा शतकृत्वः॥ ६॥

अनु०—अथवा प्राणायाम करते हुए सौ बार सावित्री मन्त्र का जप करे॥६॥

टि०—श्वास रोककर यथाशक्ति तीन-चार या पाँच बार मन्त्र का जप कर श्वास छोड़ने का नियम है।

'सावित्रीमावर्तयेत्' इत्यनुवर्तते। प्राणायामश्च श्वासनिरोधनमात्रम्। न सव्याहृतीकामित्यादिकम्। प्रत्यावृत्ति श्वासनिरोध.। अथ वा यावच्छक्ति त्रिः चतुः पञ्चकृत्वः पठित्वा श्वासमुत्सृजेत्॥ ६॥

उभयतःप्रणवां ससप्तव्याहृतिकां मनसा वा दशकृत्वः॥ ७॥

अनु०—अथवा सावित्री मन्त्र के आरम्भ और अन्त में प्रणव और व्याहृतियों को जोड़ते हुए केवल दस बार जप करे॥ ७॥

टि०—यहाँ सातों व्याहृतियों का आरम्भ और अन्त में प्रयोग अभिप्रेत है। पहले प्रणव फिर सात व्याहृतियाँ होती हैं ॐ भूः। ॐ भुवः। ॐ स्वः। ॐ महः।

---

1. त्रिष्विति नास्ति. ग. पु.।　　2. परमेष्ठी. इति ग. पु.।

ॐ जनः । ॐ तपः । ॐ सत्यम् । ॐ तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।

सावित्रीं प्राणायामश आवर्तेत इत्यनुवर्तते । उभयतः प्रणवो यस्यास्तथा सप्त व्याहृतिभिस्सह वर्तत इति सैवोच्यते ।। सप्तव्याहृतयो भूरादयस्सत्यान्ताः । अत्रैवं क्रमः कल्प्यः—[1] प्रथमं प्रणवस्ततः सप्त व्याहृतयः ततस्सावित्रीसहिताच्च व्यानतः (?) प्रणव इति । येचित्सावित्र्या एवोभयतः प्रणवमिच्छन्ति । न तु सप्तानामपि व्याहृतीनाम् । अपरे पुनरादितः प्रणवस्ततस्सप्तव्याहृतिकायाः सावित्र्या दशकृत्वोऽभ्यासः ततः प्रणव इति । एतौ पक्षौ विचारणीयौ । आद्यस्य तु सम्प्रदायोऽस्ति ॥ ७ ॥

त्रिभिश्च प्राणायामैस्तान्तो ब्रह्महृदयेन ॥ ८ ॥

अनु०—यदि ब्रह्महृदय ('ओ भू' ओ भुव.' इत्यादि) अनुवाक से तीन बार प्राणायाम करने पर थक गया हो, तो सावित्री मन्त्र का जप करे ।। ८ ।।

टि०—ब्रह्महृदय अनुवाक 'ओं भूः ओं भुवः' इत्यादि तैत्तिरीयसंहिता का है। प्रत्येक प्राणायाम मे इस अनुवाक का तीन बार जप होता है। इस प्रकार तीन प्राणायामों मे कुल नौ बार जप करना यहाँ अभिप्रेत है। व्याहृति, प्रणव तथा 'ओमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवस्सुवरोम्' का श्वास रोककर तीन बार जप करने पर प्राणायाम होता है।

ब्रह्महृदयं 'ओं भूः । ओं भुवः' इत्यनुवाकः । अनेन नवकृत्वः पठित्वा एनान् त्रीन् प्राणायामान् सम्पाद्य तान्तः ग्लानिमापन्नस्सावित्रीमावर्तयेदिति सिंहावलोकनन्यायेन सम्बन्धः । स्मृतिशतसिद्धत्वात् । एवं हि प्राणायामलक्षणं प्रसिद्धम्—

> सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
> त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामस्स उच्यते ॥ इति ।

[2]'ओमापो ज्योतिरि' त्यनुवाकशेषश्शिरः । तत्र प्रणवो गतः । व्याहृतित्रयं च । महः महतेः पूजाकर्मणो व्याप्तिकर्मणो वा ब्रह्म । जनो ब्रह्म जनेर्विपरीतलक्षणात् न जायत इत्यर्थः । तपस्तपतेरभिजननकर्मणः । सत्यमिति धातुत्रयनिमित्तमेतत् । सर्वं ब्रह्मैवेत्युपसंहारार्थः । सावित्री गता । आपः आप्नोतेः ।

---

१. ॐ भूः । ॐ भुवः । ॐ सुवः । ॐ महः । ॐ जनः । ॐ तपः । ॐ सत्यम् । ॐ तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।

२. ओमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवस्सुवरोम् ।

ज्योतिः द्योततेः दीप्तिकर्मणः । रसः शब्दरूप हि तद्ब्रह्म । अमृतं अविनाशि हि तद्ब्रह्म । बृहतेर्वृद्धिकर्मणः परिवृढं भवति ॥ ८ ॥

वारुणीभ्यां रात्रिमुपतिष्ठेत 'इमं मे वरुण' 'तत्त्वा यामी' ति[1] द्वाभ्याम् ॥ ९ ॥

अनु०—सायंकालीन सन्ध्योपासना के समय 'इमं मे वरुण' तथा 'तत्त्वा यामि' वरुण देवता के इन दो मन्त्रों से सूर्य की प्रार्थना करे ॥ ९ ॥

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय । त्वामवस्युराचके ।
तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः ।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्रमोषीः ॥

'अहरेव मित्रः रात्रिर्वरुण' इति श्रुतेः रात्रिमिति कालनिर्देशः । उपस्थेयस्तु सविता तत्कालविशिष्टः । उपस्थानं चोपोस्थितेनैव कर्तव्यम्, न पुनरासीनेनैव । यच्च समयाचारप्रसिद्धं प्रदक्षिणादि तदप्यत्र कर्तव्यं 'तृतीयशिष्टागमः' इति लिङ्गात् ॥ ९ ॥

एवमेव प्रातः प्राङ्मुखस्तिष्ठन् ॥ १० ॥

अनु०—इसी प्रकार प्रातः काल पूर्व की ओर मुख कर सन्ध्योपासना करे॥१०॥

एवमिति 'तीर्थं गत्वा' इत्यादि सर्वमतिदिशति । प्रातरिति कालनिर्देशः । प्राङ्मुख इति प्रत्यङ्मुखनिवृत्त्यर्थम् । तिष्ठन्निति आसननिवृत्त्यर्थम् ॥ १० ॥

मैत्रीभ्यामहरुपतिष्ठते [2]'मित्रस्य चर्षणीधृतो' 'मित्रो जनान् यातयती'ति द्वाभ्याम् ॥११॥

अनु०—दिन में मित्र देवता के दो मन्त्रों 'मित्रस्य चर्षणीधृतः' तथा 'मित्रो जनान् यातयति' से सूर्य की प्रार्थना करे ॥ ११ ॥

टि०—मित्रस्य चर्षणीधृतश्रवो देवस्य सानसिम् । सत्यं चित्रश्रवस्तमम् ।

---

१. इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय । त्वामवस्युराचके ।
तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः ।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्रमोषीः ॥

२. मित्रस्य चर्षणीधृतश्रवो देवस्य सानसिम् । सत्यं चित्रश्रवस्तमम् ॥
मित्रं जनान् यातयति प्रजानन् मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम् ।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाऽभिचष्टे सत्याय हव्यं घृतवद्विधेम ॥

अतिरोहितार्थमेतत् ॥ ११ ॥

सुपूर्वामपि पूर्वामुपक्रम्योदित आदित्ये समाप्नुयात् ॥१२॥

अनु०—प्रातःकालीन सन्ध्या सूर्य के उगने से पर्याप्त पहले आरम्भ करे और सूर्य के उगने पर समाप्त करे ॥ १२ ॥

सुपूर्वां नक्षत्रेषु दृश्यमानेषु पूर्वां सन्ध्यामुपक्रम्याऽऽदित्योदयोत्तरकाले समाप्नुयात् ॥ १२ ॥

अनस्तमित उपक्रम्य सुपश्चादपि पश्चिमाम् ॥१३॥

अनु०—सायंकालीन सन्ध्या सूर्य के अस्त होने के पूर्व आरम्भ करे और नक्षत्रों के दिखायी पड़ते ही समाप्त करे ॥ १३ ॥

सुपश्चात् यावन्नक्षत्रविभावनं तावति समाप्नुयादित्यर्थः ॥ १३ ॥

सायम्प्रातस्सन्ध्योपासनकर्तुरायुर्विच्छेदो न भवतीत्याह—

सन्ध्ययोश्च सम्पत्तावहोरात्रयोश्च सन्ततिः ॥१४॥

अनु०—प्रातः और सायंकालीन सन्ध्योपासना की सम्पूर्ति से (यथोचित अनुष्ठान से) जीवन में दिन और रात्रि की परम्परा अविच्छिन्न रहती है ॥ १४ ॥

सन्ध्योपासनकर्तुर्भवतीति शेषः। सम्पत्तिस्सम्पूर्णता। सा च सन्ध्योपासनेन यथाविध्यनुष्ठानेन भवति। तस्यां च सत्यामहोरात्रयोस्सन्ततिरविच्छेदो भवति। उपासितुरायुरविच्छिन्नं भवतीत्यर्थः। आह च—

> ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
> प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ इति ॥ १४ ॥

अथाऽनुपासितुर्दोषमाह—

अपि चाऽत्र प्रजापतिगीतौ श्लोकौ भवतः—

अनागतां तु ये पूर्वामनतीतां तु पश्चिमाम्।
सन्ध्यां नोपासते विप्राः कथं ते ब्राह्मणास्स्मृताः ॥

सायं प्रातस्सदा सन्ध्यां ये विप्रा नो उपासते।
कामं तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्मसु योजयेदिति ॥१५॥

अनु०—इस विषय में प्रजापति द्वारा गाये गये दो श्लोक भी हैं—जो ब्राह्मण प्रातःकालीन और सायंकालीन सन्ध्याएँ उचित समय पर नहीं करते हैं, उन्हें

ब्राह्मण कैसे कहा जा सकता है ? जो द्विजाति व्यक्ति सायं और प्रातः सन्ध्योपासना नहीं करता उसे धार्मिक राजा शूद्र के कार्यों में लगावे ॥ १५ ॥

प्रजापतिग्रहणमादरार्थम् । अनागतामनतिक्रान्तामिति चोदितकालाभिप्रायम् । कथं ते ब्राह्मणा इति । विप्रग्रहणं च द्विजात्युपलक्षणार्थम् । अत एव शूद्रकर्मस्वित्युक्तम् । इतरथा क्षत्रियकर्मस्वित्यवक्ष्यत् आनन्तर्यात् । आह च—

न तिष्ठति तु यः पूर्वामुपास्ते न च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यस्सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ इति ॥ १५ ॥

तथा कथम् ?

तत्र सायमतिक्रमे रात्र्युपवासः प्रातरतिक्रमेऽहरुपवासः ॥ १६ ॥

अनु०—यदि सायंकाल सन्ध्योपासना का समय सन्ध्योपासना किये बिना ही बीत जाय, तो रात्रि को उपवास करे और प्रातःकालीन सन्ध्योपासना का समय सन्ध्योपासना किये बिना ही बीतने पर दिन में उपवास करे ॥ १६ ॥

अतीतां तां सन्ध्यां कृत्वेति शेषः । उपवासोऽनशनम् ॥ १६ ॥

किञ्च—

स्थानासनफलमवाप्नोति ॥ १७ ॥

अनु०—इस प्रायश्चित्त से वह वही फल प्राप्त करता है जो सन्ध्योपासना में खड़े होकर तथा बैठकर प्राप्त किया जाता है ॥ १७ ॥

प्रायश्चित्तप्रशंसैषा ॥ १७ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति—

यदुपस्थकृतं पापं पद्भ्यां वा यत्कृतं भवेत् ।
बाहुभ्यां मनसा वाऽपि वाचा वा यत्कृतं भवेत् ।
सायं सन्ध्यामुपस्थाय तेन तस्मात्प्रमुच्यते ॥१८॥

अनु०—इस सम्बन्ध में भी निम्नलिखित पद्य उद्धृत करते हैं—

पुरुष जननेन्द्रिय से, पैरों से जो कुछ पाप कर्म किये रहता है, जो कुछ पाप बाहों से, अथवा मन से या वाणी से किये होता है, उन सभी पापों से सायंकालीन सन्ध्या करने पर मुक्त हो जाता है ॥ १८ ॥

टि०—जननेन्द्रिय विषयक दुष्कृत यहाँ स्वभार्या के ही संबन्ध में हैं, क्योंकि परदारागमन के प्रायश्चित्त विशेष रूप से बताये गये हैं । स्वभार्या का ऋतुकाल से भिन्न समय में संभोग अधर्म है । पैरों से दुष्कृत का तात्पर्य है निषिद्ध स्थान पर

अनजाने जाना । बाहुओं से दुष्कृत हिंसा छेदन भेदन आदि । दूसरों की वस्तुओं के प्रति लोभ बुद्धि रखना मानसिक दुष्कृत का उदाहरण है। अप्रिय और असत्य वाणी के दुष्कृत का उदाहरण है। अप्रिय और असत्य भाषण वाणी के दुष्कृत के अन्तर्गत आते हैं।

उपस्थकृतं परभार्यां प्रति बहुशः प्रायश्चित्तस्याऽऽम्नानादिह स्वभार्याया-मेवाऽनृतुकालाद्युपयोगेऽनाम्नाते । पद्भ्यां यदबुद्धिपूर्वप्रतिषेधगमनादि कृतम् । बाहुभ्यामपि हिंसाच्छेदनभेदनादि हस्तचापलं तत । तथा मनसा परद्रव्यस्याऽभिध्यानादि । वाचा कृतं अवद्यवदनादि । यत्र यत्र वाङ्मनःकायकृते प्रायश्चित्ताम्नानविरोधो नास्ति, तत्र तत्रैतदेव प्रायश्चित्तमित्यभिप्रायः । सन्ध्योपासनप्रशंसा चैषा ॥ १८ ॥

किञ्च—

रात्र्या चाऽपि सन्धीयते ॥ १९ ॥

अनु०—सन्ध्योपासना करने वाला आगामी रात्रि से सम्बद्ध हो जाता है॥१६॥

पुरुष इति शेषः । अभिसन्धानमभ्युदयः ॥ १९ ॥

न चैनं वरुणो गृह्णाति ॥ २० ॥

अनु०—वरुण देवता उसकी मृत्यु नहीं करते ॥ २० ॥

टि०—अर्थात् वह जल में डूबकर या जलोदर व्याधि से नही मरता—गोविन्दस्वामी।

वरुणो नाम वृणातेः पापमप्सु मरणं जलोदरव्याधिर्वा ॥ २० ॥

एवमेव प्रातरुपस्थाय रात्रिकृतात् पापात् प्रमुच्यते ॥२१॥

अनु०—इसी प्रकार प्रातः सन्ध्योपासना कर रात्रि में किये गये पापों से पुरुष मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥

अर्थवादातिदेशः । फलातिदेशो वाऽयम् । रात्रावुपस्थादिभिः कृतादित्यर्थः । २१ ॥

अह्ना चाऽपि सन्धीयते ॥ २२ ॥

अनु०—उसका सम्बन्ध आगामी दिन के साथ हो जाता है ॥ २२ ॥

पूर्ववं व्याख्या ॥ २२ ॥

मित्रश्चैनं गोपायत्यादित्यश्चैनं स्वर्गं लोकमुन्नयतीति ॥२३॥

अनु०—मित्र देवता उसकी रक्षा करते हैं और आदित्य उसे स्वर्ग लोक को पहुँचाता है ॥ २३ ॥

इदमपि तथा ॥ २३ ॥

अथ संहृत्य स्तौति—

स एवमेवाऽहरहरहोरात्रयोः सन्धिषूपातिष्ठमानो ब्रह्मपूतो ब्रह्मभूतो ब्राह्मणः शास्त्रमनुवर्तमानो ब्रह्मलोकमभिजयतीति विज्ञायते ॥ ब्रह्मलोकमभिजयतीति विज्ञायते ॥२४॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अनु०—जो ब्राह्मण इस विधि से प्रतिदिन प्रातः तथा सायंकाल सन्ध्योपासना करता है, वह ब्रह्म द्वारा पवित्र होकर ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त कर लेता है। शास्त्रों के अनुसार आचरण करते हुए वह ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। ऐसा वैदिक परम्परा से जाना जाता है ॥ २४ ॥

ब्रह्मपूतः सावित्र्या पूतः। ब्रह्मभूतः शब्दब्रह्मप्रणवमापन्नः ॥

आह च—

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमानिति ॥

विज्ञायते इति श्रुतिसंसूचनम् ॥ २४ ॥

इति श्रीगोविन्दस्वामिविरचिते बौधायनधर्मविवरणे
द्वितीयप्रश्ने चतुर्थोऽध्यायः ॥

द्वितीयप्रश्ने पञ्चमोऽध्यायः

अष्टमः खण्डः

'प्रयतोऽभिषिक्त' इत्युक्तम्। प्रसङ्गात्तद्विधिमाह—

अथ हस्तौ प्रक्षाल्य कमण्डलुं मृत्पिण्डं च गृह्य तीर्थं गत्वा त्रिः पादौ प्रक्षालयते त्रिरात्मानम् ॥ १ ॥

अनु०—दोनों हाथों को धोकर, कमण्डलु तथा मिट्टी का पिण्ड लेकर तीर्थ पर जाकर तीन बार दोनों पैरों को (मिट्टी का अंश लेकर कमण्डलु के जल से) धोवे तथा तीन बार अपने शरीर का प्रक्षालन करे ॥ १ ॥

टि०—तीर्थ से यहाँ पवित्र जलाशय से तात्पर्य है। गोविन्दस्वामी ने इस संबन्ध मे श्लोक उद्धृत किया है जिसमे नदी, देवखात, तटाक, सरोवर पर स्नान करना वाञ्छनीय बताया गया है। सूत्र मे मृत्पिण्ड के साथ प्रयुक्त 'च' शब्द से गोविन्द-स्वामी गोबर, दूब, दर्भ आदि के ग्रहण का भी अर्थ लेते है।

अथ स्नानविधिरुच्यते इति शेषः। तत्राऽऽरम्भे हस्तयोः प्रक्षालनम्। यद्वा तीर्थे गत्वा हस्तौ प्रक्षाल्येति सम्बन्धः। चशब्दात् गोमयदूर्वादर्भादि च। अनञ्पूर्वे हि समासे क्त्वो ल्यप् भवति, इह तु छान्दसो गृह्णोति ल्यबादेशः। तीर्थम्।

नदीषु देवखातेषु तटाकेषु सरस्सु च।
स्नानं समाचरेन्नित्यमुत्स[1] प्रस्रवणेषु च॥ इति

तथा—

सति प्रभूते पयसि नाऽल्पे स्नायात् कथंचन।

इत्येवञ्जातीयकम्। तत्र गत्वा मृत्पिण्डैकदेशेन कमण्डलूदकेन चैकैकं पादं त्रिस्त्रिः प्रक्षालयते। एवमात्मानमपि।[2] आनर्थक्यदतदङ्गन्यायेनाऽऽत्मनश्शरीरं प्रक्षालयेदिति गम्यताम्॥ १॥

अथेदानीं प्रक्षालितपादेनैव प्रवेष्टव्यान् देशानाह—

अथ हैके ब्रुवते—श्मशानमापो देवगृहं गोष्ठं यत्र च ब्राह्मणा अप्रक्षाल्य पादौ तन्न प्रवेष्टव्यमिति॥ २॥

अनु०—कुछ लोग कहते हैं कि श्मशान मे, जल में, मन्दिर में, गायो के गोष्ठ में तथा जिस स्थान पर ब्राह्मण हों वहाँ पैरों को धोए बिना प्रवेश नहीं करना चाहिए॥ २॥

श्मशानादयः प्रथमान्ताश्शब्दा निर्देशफलाः। प्रातिपदिकार्थे हि प्रथमां स्मरति पाणिनिः। तेषां कर्मत्वख्यापनार्थं तच्छब्दप्रयोगः। द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं सूचयतः। तस्मात्प्रक्षाल्यैव प्रवेष्टव्यं श्मशानादीति वाक्यार्थः। 'अर्हे कृत्यतृचश्च' इति स्मरणेन तव्यप्रत्ययादर्हार्थो गम्यते न तु कर्मत्वम्, प्रक्षाल्यैव प्रवेष्टुमर्हतीत्यर्थः॥ २॥

---

१. गर्तस्रवणेषु चेति. ग. पु.

२. यत्र प्रधाने विहितं कार्यं तत्र कर्तुमशक्यत्वादनर्थकं भवत् तत्परिहाराय तदङ्गेऽनुष्ठीयते स आनर्थक्यतदङ्गन्यायः। प्रकृते चाऽऽत्मनोऽमूर्तत्वान् तत्र प्रक्षालनक्रियादेरसम्भवात् तदङ्गभूतस्य शरीरस्य प्रक्षालनं वेदितव्यमिति।

अथाऽपोऽभिप्रपद्यते—

हिरण्यशृङ्गं वरणं प्रपद्यते तीर्थं मे देहि याचितः।

यन्मया भुक्तमसाधूनां पापेभ्यश्च प्रतिग्रहः॥

यन्मे मनसा वाचा कर्मणा वा दुष्कृतं कृतम्।

तन्म इन्द्रो वरुणो बृहस्पतिस्सविता च पुनन्तु पुनः पुनरिति॥

अनु०—पैरों को धोने के बाद इस मन्त्र का पाठ करते हुए जल में प्रवेश करे—मैं सुवर्ण की सींगवाले वरुण की शरण मे जाता हूँ। हे वरुण, मेरी प्रार्थना सुनकर मुझे स्नान योग्य पवित्र जल दो। अपवित्र जनों का जो अन्न मैंने खाया हो अथवा पापी जनों से जो कुछ दान लिया हो, मन से, वाणी से और कर्म से मैंने जो कुछ पाप किया हो, उसे इन्द्र, वरुण, बृहस्पति और सविता मुझ से दूर कर मुझे बार-बार पवित्र करें॥ ३॥

टि०—'हिरण्यशृङ्ग' इत्यादि तैत्तिरीय आरण्यक १०. १. १२ में प्राप्त ऋचा वामदेव ऋषि की बतायी गयी है, प्रथम पद्य पुरस्ताद्बृहती छन्द में और दूसरा पंक्ति छन्द में है।

अथशब्दात्प्रक्षालनानन्तर्यमाह। तत्र गन्धद्वारामित्यृचा गोमयेनात्मानमालेप्य[1] केचिदिच्छन्ति। हिरण्यशृङ्गमित्यृचोर्वामदेव ऋषिः। काण्डर्षयो वा विश्वेदेवाः। प्रथमा पुरस्ताद् बृहती, द्वितीया पंक्तिः। उभे अपि लिङ्गोक्तदेवते। तत्र द्वयोरप्ययमर्थः—हिरण्यशृङ्गं हिरण्मयशृगं वरुणं प्रपद्ये त्वां शरणं इत्यध्याहारः। मया याचितस्त्वं मम स्नानाय तीर्थं जलाशयं देहि। वरुणो ह्यपां राजा 'यासां राजा वरुणः' लिङ्गात्। किमतो यदाज्ञया तुभ्यं तीर्थमिति? आह—यन्मयेति। असाधूनामभोज्यान्नानां अन्नं यन्मया भुक्तम्, यो वा मया पापकर्मभ्यः प्रतिग्रहः कृतः, यच्च मया मनोवाक्कायकर्मभिः दुष्कृतं, तत्सर्वं जलाशयस्नानेन इन्द्रादयः पुनन्त्विति यन्मया पुनः पुनः प्रार्थयितुं शक्यते इत्येतदतो भवति॥ ३॥

अथाऽञ्जलिना उपहन्ति 'सुमित्रा न आप ओषधयस्सन्त्वि'ति॥४॥

अनु०—इसके अनन्तर अञ्जलि से 'सुमित्रा न आप ओषधयस्सन्तु' (जल और ओषधियाँ मेरे लिए सुखदायी होंवे) कहते हुए जल ग्रहण करे॥ ४॥

द्विहस्तसंयोगोऽञ्जलिः तेनाऽञ्जलिना[2] जलप्रपदनानन्तरमुपहन्ति

---

१. 'गोमयेनानुपलेपन' इति, घ. पु. २. जलप्रवेशादन्तरं इति. घ पु.

गृह्णाति। नः अस्माकं आपश्चौषधयश्च तदुत्पादितास्सुमित्राः सुखहेतवस्सन्त्विति मन्त्रार्थः ॥ ४ ॥

अथैनाऽप:—

तां दिशं निरुक्षति यस्यामस्य दिशि द्वेष्यो भवति "दुर्मित्रास्तस्मै भूयासुर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म" इति ॥ ५ ॥

अनु०—उस जल को "दुर्मित्रास्तस्मै भूयासुः योऽस्मान् द्वेष्टि य च वयं द्विष्म" (जो मुझसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते है। उसके लिए यह जल नाश करने वाला हो) कहकर उस दिशा की ओर गिरावे जिस दिशा मे उसका कोई शत्रु निवास करता हो ॥ ५ ॥

अस्य स्नातुः द्वेष्यो यस्यां दिशि अस्ति तां दिशं अपोऽभ्युक्षति। यः पुरुषः अस्मान् द्वेष्टि यं वा वयं द्विष्मः तस्मै दुर्मित्रा दुःखहेतवः आपो भूयासुरिति मन्त्रार्थः ॥ ५ ॥

अथाऽप उपस्पृश्य त्रिः प्रदक्षिणमुदकमावर्तयति "यदपां क्रूरं यदमेध्यं यदशान्तं तदपगच्छता" दिति ॥ ६ ॥

अनु०—जल से आचमन कर तीन बार प्रदक्षिणा करते हुए और "यदपा क्रूरं यदमेध्यं यदशान्तं तदपगच्छतात्" (जल में जो कुछ कष्टदायी, अपवित्र और अशुभ हो वह निकल जाय) कहते हुए अपने चारो ओर जल में आवर्त उत्पन्न करे ॥ ६ ॥

उपस्पर्शनं पाणिप्रक्षालनं आवर्तयति परिभ्रामयति, क्रूरं यदमेध्यं मूत्रादि अशान्तं व्याधिरूपं यदेवञ्जातीयकं अप्सम्बन्धि तत्सर्वमपगच्छतादिति मन्त्राभिप्रायः ॥ ६ ॥

अप्सु निमज्ज्योन्मज्ज्य ॥ ७ ॥ नाऽप्सु सतः प्रयमणं विद्यते न वासः पल्पूलनं नोपस्पर्शनम् ॥ ८ ॥

अनु०—जल मे डुबकी लगाकर और निकलकर (पुनः आचमन करे) ॥७॥

अनु०—जल मे रहकर शरीर की सफाई (शौचादि कर्म), वस्त्रों को हाथ से रगड़ कर धोने तथा आचमन का कार्य न करे ॥ ८ ॥

उन्मज्ज्याऽऽचान्तः पुनराचामेदिति सम्बन्धः। निमज्जनमद्भिरात्मनः प्रच्छादनम् उन्मज्जनं ताभ्य आविर्भावः। अत्रोन्मज्जनानन्तरभाविनीं क्रियामनुक्त्वा मनस्याविर्भूतं प्रतिषेधं विस्मरणभयादाचार्य उपदिशति स्म—नाप्सु सत इति।

प्रथमणं शौचं मूत्रपुरीषाद्यपनयनलक्षणं पल्पूलनं मलापनयनाय पाणिभ्याम-वस्फोटनं, उपस्पर्शनं आचमनम्। एतत्त्रयमप्सु सता न कर्तव्यमित्यर्थः॥७-८॥

यद्युपरुद्धास्स्युरेतेनोपतिष्ठते "नमोऽग्नयेऽप्सुमते नम इन्द्राय नमो वरुणाय नमो वारुण्यै नमोऽद्भ्य" इति ॥ ९ ॥

उत्तीर्याऽऽचम्याऽऽचान्तः पुनराचामेत् ॥ १० ॥

अनु०—यदि स्नान के लिए प्रयुक्त जल चारो ओर से घिरा हो (जैसे कूप में) तो "नमोऽग्नयेऽप्सुमते नम इन्द्राय नमो वरुणाय नमो वारुण्यै नमोऽद्भ्यः" इस मन्त्र से उसकी प्रार्थना करे। मन्त्रार्थ—जल के स्वामी अग्नि को नमस्कार, जल को नमस्कार ॥ ९ ॥

अनु०—जल से बाहर निकलकर और आचमन कर पुनः आचमन करे ॥१०॥

'तपस्यमवगाहनम्' (२. ३. १) इत्यस्मिन्नध्याये 'स्रवन्तीष्वनिरुद्धासु' इति निरुद्धास्वप्सु स्नानप्रतिषेध उक्तः। तस्येदानीं प्रायश्चित्तमाह—यद्युपरुद्धास्स्यु-रेतेनोपतिष्ठते 'नमोऽग्नय' इति। नात्र मन्त्रे तिरोहितं किञ्चिदस्ति। जलाश-यादुत्तीर्य प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा आचामेत्। अथ आचम्याऽऽचामेदित्येव सिद्धे आचान्तः पुनरिति चोक्तम्। तस्याऽयमभिप्रायः—मन्त्राचमनं सर्वत्रा-ऽऽचान्त एव कुर्यादिति ॥ ९-१० ॥

आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम्।
पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम्॥
यदुच्छिष्टमभोज्यं यद्वा दुश्चरितं मम।
सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रहं स्वाहेति ॥ ११ ॥

अनु०—(इसके साथ निम्नलिखित मन्त्रों का जप करे) जल पृथिवी को पवित्र करे। पवित्र पृथिवी मुझे पवित्र करे। ब्रह्मणस्पति पवित्र करे। ब्रह्म पवित्र करे। जो कुछ उच्छिष्ट अभोज्य खाकर मैंने पाप किया है अथवा मैंने जो दुष्कर्म किये हैं तथा अयोग्य लोगों का जो दान ग्रहण किया है उसे जल पवित्र करे।

वामदेव ऋषिः, विश्वेदेवा वा ऋषयः। द्वे अप्येते अनुष्टुभौ आपः प्रार्थ्यन्ते। आपश्शोधयन्तु। इह पृथिवीशब्देन तन्मयं शरीरमुच्यते। ताभि-रद्भिः पूतं शरीरं मां पुनातु। पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिरिति एकस्मिन् पूजायां बहुवच-नमेतत, 'वैष्णवान् खनामि' इति यथा। ब्रह्मणस्पतिः पृथिवीं पुनात्वित्यर्थः। ब्रह्मपूता बृहस्पतिपूतं शरीरम्, यदुच्छिष्टमन्यत् यदभोज्यं मया भुक्तं यद्वा दुश्चरितं मम सम्बन्धीति शेषः। सर्वं पुनन्तु मां, सर्वस्मादस्मात् मामापः पुन-

न्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रहम्। असन्तश्शूद्राः पापकर्माणो वा तत्प्रतिग्रहजातादेनसो मामापः पुनन्त्विति। स्वाहेति प्रदानप्रतिपादकश्रवणार्थमित्यवेहि ॥ ११ ॥

मन्त्राचमनानन्तरम्—

पवित्रे कृत्वाऽद्भिर्मार्जयति [1]'आपो हिष्ठा मयोभुव इति तिसृभिः "[2]हिरण्यवर्णाश्शुचयः पावका" इति चतसृभिः "[3]पवमानस्सुवर्चन" इत्येतेनाऽनुवाकेन मार्जयित्वाऽन्तर्जलगतोऽघमर्षणेन त्रीन् प्राणायामान् धारयित्वोत्तीर्य वासः पीडयित्वा प्रक्षालितोपवातान्यक्लिष्टानि वासांसि परिधायाऽप आचम्य दर्भेष्वासीनो दर्भान् धारयमाणः प्राङ्मुखस्सावित्रीं सहस्रकृत्व आवर्तयेच्छतकृत्वोऽपरिमितकृत्वो वा दशावरम् ॥ १२ ॥

अनु०—कुश के दो पवित्र बनाकर जल से 'आपो हिष्टा मयोभुा' (तै० सं. ४. १. ५.१) इन तीनों मन्त्रों से तथा 'हिरण्यवर्णाश्शुचय.'' (तै० सं० ५. ६ १) आदि चार मन्त्रों से तथा 'पवमानस्सुवर्चन'' (तै० ब्रा० १.४.८) अनुवाक है मार्जन कर, पुनः जल में जाकर 'ऋत च सत्यं च' तीन ऋचाओं के अघमर्षण मन्त्र से तीन बार प्राणायाम करे तब किनारे आकर वस्त्र को निचोड़कर धोए हुए, वायु में सुखाये गये तथा पहनने योग्य छिद्रादिरहित वस्त्र पहन कर जल से आचमन करे कुशों पर बैठकर हाथ में कुश लेकर पूर्व की ओर मुख कर एक सहस्र बार या सौ बार अथवा अनिश्चित बार अथवा कम से कम दस बार सावित्री मन्त्र का जप करे।

ऋतं च सत्यं चाऽभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्रिरजायत ततस्समुद्रो अर्णवः ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी।
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चाऽन्तरिक्षमथो सुवः ॥ १२ ॥

पवित्रे इति द्विवचनाद् द्वाभ्यां दर्भाभ्यां मार्जनम्। अन्तर्जलं जलमध्यम्।

---

१. मन्त्रत्रयमिद १५९. पृष्ठे टिप्पण्यां प्रष्टव्यम्।

२. हिरण्यवर्णाश्शुचयः पावका इति मन्त्रचतुष्टयं तै. सं. ५. ६. १ द्रष्टव्यम्।

३. पवमान इत्यनुवाकः तै. ब्रा. १. ४. ८. द्रष्टव्यः।

तेनैव सिद्धे गतग्रहणं जलेनैव सर्वाङ्गीणाच्छादनार्थम्। अघमर्षणं नाम "ऋतं च सत्यं च"[1] इति त्र्यृचम्। तेन त्रिः पठितेन एकः प्राणायामो भवति। एवं त्रयः प्राणायामाः। वासःपीडनमिह पितॄणां तृप्त्यर्थम्। उपवातं शोषितम्। अक्लिष्टमच्छिद्रम्। बहुवचनादन्तर्वाससो बहिर्वासस उत्तरीयस्य च ग्रहणम्। आचमनं मध्याह्नसन्ध्याग्राहकम्। आचमनानन्तरं च साविञ्याऽभिमन्त्रितानामपामादित्याभिमुखं प्रक्षेपणं सदाचारसिद्धं द्रष्टव्यम्। अपरिमितं उक्तसंख्यातोऽधिकम्॥ १२॥

अथाऽऽदित्यमुपतिष्ठते[2]—"उद्वयं तमसस्परि। उदु त्यम्। चित्रम्। तच्चक्षुर्देवहितम्। य उदगा" दिति॥ १३॥

अनु०—इसके अनन्तर "उद्वयं तमसस्परि। उदुत्यम्। चित्रम्। तच्चक्षुर्देवहितम्। य उदगात्" मन्त्रों से सूर्य की प्रार्थना करे॥ १३॥

उद्वयं तमसस्परि पश्यन्तो ज्योतिरुत्तरम्। देव देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।

आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।

पश्येम शरदश्शतं जीवेम शरदश्शतं नन्दाम शरदश्शतं मोदाम शरदश्शतं भवाम शरदश्शतं शृणवाम शरदश्शतं प्रब्रवाम शरदश्शतमजीतास्स्याम शरदश्शतं ज्योक् च सूर्यं दृशे॥ य उदगान्महतोऽर्णवाद्विभ्राजमानस्सरिरस्य मध्यात् समावृषभो लोहिताक्षस्सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुनातु॥

ऋग्वेतत्॥ १३॥

---

१. ऋतं च सत्यं चाऽभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्रिरजायत ततस्समुद्रो अर्णवः॥ समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चाऽन्तरिक्षमथो स्वः॥

२. उद्वयं तमसस्परि पश्यन्तो ज्योतिरुत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षᳪ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदश्शतं जीवेम शरदश्शतं नन्दाम शरदश्शतं मोदाम शरदश्शतं भवाम शरदश्शतं शृणवाम शरदश्शतं प्रब्रवाम शरदश्शतमजीतास्स्याम शरदश्शतं ज्योक् च सूर्यं दृशे॥ य उदगान्महतोऽर्णवाद्विभ्राजमानस्सरिरस्य मध्यात् समावृषभो लोहिताक्षस्सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुनातु॥

अथाऽप्युदाहरन्ति—

प्रणवो व्याहृतयस्सावित्री चेत्येते पञ्च ब्रह्मयज्ञा अहरहर्ब्राह्मणं किल्बिषात् पावयन्ति ॥ १४ ॥

अनु०—इस विषय में निम्नलिखित उद्धृत करते है—

प्रणव, व्याहृतिया, सावित्री मन्त्र—ये पाच ब्रह्मयज्ञ प्रतिदिन ब्राह्मण को पाप से मुक्त करते है ॥ १४ ॥

यज्ञशब्देन जपो लक्ष्यते । आह च प्रणवादीन् प्रक्रम्य—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशु स्याच्छतगुणं साहस्रो मानसः स्मृतः ॥

इत्यादि । तुल्यवत्प्रसंख्यानात् प्रणवव्याहृतीनामपि सावित्र्याः पुरस्तात् प्रयोगोऽवगम्यते । अहरहरिति नित्यस्नानार्थतामाह । किल्बिषं पापम् ॥१४॥

पूतः पञ्चभिर्ब्रह्मयज्ञैरथोत्तरं देवतास्तर्पयति ॥ १५ ॥

अनु०—इन पाच ब्रह्मयज्ञों से पवित्र होकर उसके बाद वह देवताओं का तर्पण करता है ॥ १५ ॥

अतिरोहितार्थमेतत् ॥ १५ ॥

इति बौधायनीयधर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्नेऽष्टमः खण्डः ।

नवमः खण्डः

अग्निः प्रजापतिस्सोमो रुद्रोऽदितिर्बृहस्पतिस्सर्पा इत्येतानि प्राग्द्वाराणि दैवतानि सनक्षत्राणि सग्रहाणि साहोरात्राणि समुहूर्तानि तर्पयामि ॥ ओं वसूंश्च तर्पयामि ॥ १ ॥

अनु०—अग्नि, प्रजापति, सोम, रुद्र, अदिति, बृहस्पति-पूर्व द्वार के इन सभी देवताओं का नक्षत्रों, ग्रहो, दिन और रात्रियों तथा मुहूर्तों के साथ तर्पण करता हूं । वसुओं का तर्पण करता हूं ॥ १ ॥

पितरोऽर्यमा भगस्सविता त्वष्टा वायुरिन्द्राग्नी इत्येतानि दक्षिण-

द्वाराणि दैवतानि सनक्षत्राणि सग्रहाणि साहोरात्राणि समुहूर्तानि तर्पयामि ॥ ओं रुद्रांश्च तर्पयामि ॥ २ ॥

अनु०—पितरों, अयमा भग, सविता, त्वष्टा, वायु, इन्द्र-और अग्नि—इन दक्षिण द्वार के देवताओं का, नक्षत्रों, ग्रहों, दिन और रात्रि तथा मुहूर्तों के साथ तर्पण करता हूँ। रुद्रों का तर्पण करता हूँ ॥ २ ॥

मित्र इन्द्रो महापितर आपो विश्वे देवा ब्रह्मा विष्णुरित्येतानि प्रत्यग्द्वाराणि दैवतानि सनक्षत्राणि सग्रहाणि साहोरात्राणि समुहूर्तानि तर्पयामि ॥ ओं आदित्यांश्च तर्पयामि ॥ ३ ॥

अनु०—मित्र, इन्द, महापितर, आपः, विश्वे देवा, ब्रह्मा, विष्णु—इन पश्चिम द्वार के देवताओं का नक्षत्रों, ग्रहों, दिन और रात्रि तथा मुहूर्तों के साथ तर्पण करता हूँ। आदित्यों का तर्पण करता हूं ॥ ३ ॥

वसवो वरुणोऽजएकपादहिर्बुध्न्यः पूषाऽश्विनौ यम इत्येतान्युदग्द्वाराणि दैवतानि सनक्षत्राणि सग्रहाणि साहोरात्राणि समुहूर्तानि तर्पयामि ॥ ४ ॥

अनु०—वसुओं, वरुण, अज एकपाद, अहिर्बुध्न्य, पूषा, अश्विनौ, यम—इन उत्तर द्वार के देवताओं का नक्षत्रों, ग्रहों, दिन और रात्रि तथा मुहूर्तों के साथ तर्पण करता हूँ ॥ ४ ॥

ओं विश्वान् देवांस्तर्पयामि। साध्यांस्तर्पयामि। ब्रह्माणं तर्पयामि प्रजापतिं तर्पयामि। चतुर्मुखं तर्पयामि। परमेष्ठिनं तर्पयामि। हिरण्यगर्भं तर्पयामि। स्वयम्भुवं तर्पयामि। ब्रह्मपार्षदांस्तर्पयामि। ब्रह्मपार्षदीश्च तर्पयामि ॥ अग्निं तर्पयामि। वायुं तर्पयामि। वरुणं तर्पयामि। सूर्यं तर्पयामि। चन्द्रमसं तर्पयामि। नक्षत्राणि तर्पयामि। ज्योतींषि तर्पयामि। सद्योजातं तर्पयामि। ओं भूः पुरुषं तर्पयामि। ओं भुवः पुरुषं तर्पयामि। ओं सुवः पुरुषं तर्पयामि। ओं भूर्भुवस्वः पुरुषं तर्पयामि। ओं भूस्तर्पयामि। ओं भुवस्तर्पयामि। ओं सुवस्तर्पयामि। ओं महस्तर्पयामि। ओं जनस्तर्पयामि। ओं तपस्तर्पयामि। ओं सत्यं तर्पयामि ॥ ओं भवं देवं तर्पयामि। ओं शर्वं देवं तर्प-

यामि । ओमीशानं देवं तर्पयामि । ओं पशुपतिं देवं तर्पयामि । ओं रुद्रं देवं तर्पयामि । ओमुग्रं देवं तर्पयामि । ओं भीमं देवं तर्पयामि । ओं महान्तं देवं तर्पयामि ॥ ओं भवस्य देवस्य[1] पत्नीं तर्पयामि । ओं शर्वस्य देवस्य पत्नीं तर्पयामि । ओमीशानस्य देवस्य पत्नीं तर्पयामि । ओं पशुपतेर्देवस्य पत्नीं तर्पयामि । ओं रुद्रस्य देवस्य पत्नीं तर्पयामि । ओमुग्रस्य देवस्य पत्नीं तर्पयामि । ओं भीमस्य देवस्य पत्नीं तर्पयामि । ओं महतो देवस्य पत्नीं तर्पयामि ॥ ५ ॥

अनु०—मैं सभी देवों का तर्पण करता हूं । साध्यों का तर्पण करता हूँ । ब्रह्मन् का तर्पण करता हूं । प्रजापति का तर्पण करता हूँ । चतुर्मुख का तर्पण करता हूं । परमेष्ठी का तर्पण॰करता हूँ……॥ ५ ॥

ओं भवस्य देवस्य सुतं तर्पयामि । ओं शर्वस्य देवस्य सुतं तर्पयामि । ओमीशानस्य देवस्य सुतं तर्पयामि । ओं पशुपतेर्देवस्य सुतं तर्पयामि । ओं रुद्रस्य देवस्य सुतं तर्पयामि । ओमुग्रस्य देवस्य सुतं तर्पयामि । ओं भीमस्य देवस्य सुतं तर्पयामि । ओं महतो देवस्य सुतं तर्पयामि । ओं रुद्रांस्तर्पयामि । रुद्रपार्षदांस्तर्पयामि । रुद्रपार्षदीश्च तर्पयामि ॥ ६ ॥

अनु०—भव देव का तर्पण करता हू । शर्व का तर्पण करता हूँ……॥ ६ ॥

ओं विघ्नं तर्पयामि । विनायकं तर्पयामि । वीरं तर्पयामि । शूरं तर्पयामि । वरदं तर्पयामि । हस्तिमुखं तर्पयामि । वक्रतुण्डं तर्पयामि । एकदन्तं तर्पयामि । लम्बोदरं तर्पयामि । गणपतिं तर्पयामि । विघ्नपार्षदांस्तर्पयामि । विघ्नपार्षदीश्च तर्पयामि ॥७॥

अनु०—विघ्न का तर्पण करता हूँ । विनायक का तर्पण करता हूं……॥ ७ ॥

ओं सनत्कुमारं तर्पयामि । स्कन्दं तर्पयामि । इन्द्रं तर्पयामि । षष्ठीं तर्पयामि । षण्मुखं तर्पयामि । विशाखं तर्पयामि । जयन्तं तर्पयामि । महासेनं तर्पयामि । स्कन्दपार्षदांस्तर्पयामि । स्कन्दपार्षदीश्च तर्पयामि ॥ ८ ॥

---

१. अत्र पत्नीरिति बहुवचनान्तपाठ 'आ', पु.

ओमादित्यं तर्पयामि । सोमं तर्पयामि । अङ्गारकं तर्पयामि । बुधं तर्पयामि । बृहस्पतिं तर्पयामि । शुक्रं तर्पयामि । शनैश्चरं तर्पयामि । राहुं तर्पयामि । केतुं तर्पयामि ॥ ९ ॥

ओं केशवं तर्पयामि । नारायणं तर्पयामि । माधवं तर्पयामि । गोविन्दं तर्पयामि । विष्णुं तर्पयामि । मधुसूदनं तर्पयामि । त्रिविक्रमं तर्पयामि । वामनं तर्पयामि । श्रीधरं तर्पयामि । हृषीकेशं तर्पयामि । पद्मनाभं तर्पयामि । दामोदरं तर्पयामि । श्रियं देवीं तर्पयामि । सरस्वतीं देवीं तर्पयामि । पुष्टिं देवीं तर्पयामि । तुष्टिं देवीं तर्पयामि । वैनतेयं तर्पयामि । विष्णुपार्षदांस्तर्पयामि । पार्षदीश्च तर्पयामि ॥१०॥

ओं यमं तर्पयामि । यमराजं तर्पयामि । धर्मं तर्पयामि । धर्मराजं तर्पयामि । कालं तर्पयामि । नीलं तर्पयामि । मृत्युं तर्पयामि । अन्तकं तर्पयामि । चित्रं तर्पयामि । चित्रगुप्तं तर्पयामि । औदुम्बरं तर्पयामि । वैवस्वतं तर्पयामि । वैवस्वतपार्षदांस्तर्पयामि । वैवस्वतपार्षदीश्च तर्पयामि ॥ ११ ॥

भरद्वाजं तर्पयामि । गौतमं तर्पयामि । अत्रिं तर्पयामि । आङ्गिरसं तर्पयामि । विद्यां तर्पयामि । दुर्गां तर्पयामि । ज्येष्ठां तर्पयामि । धान्वन्तरिं तर्पयामि । धान्वन्तरिपार्षदांस्तर्पयामि । धान्वन्तरिपार्षदीश्च तर्पयामि ॥ १२ ॥

अथ निवीती ॥ १३ ॥

अनु०—निवीती होकर (यज्ञोपवीत को गले चारो ओर लटकाकर) ॥१३॥

ओमृषींस्तर्पयामि । परमर्षींस्तर्पयामि । महर्षींस्तर्पयामि । ब्रह्मर्षींस्तर्पयामि । देवर्षींस्तर्पयामि । राजर्षींस्तर्पयामि । श्रुतर्षींस्तर्पयामि । जनर्षींस्तर्पयामि । तपर्षींस्तर्पयामि । सत्यर्षींस्तर्पयामि । सप्तर्षींस्तर्पयामि । काण्डर्षींस्तर्पयामि । ऋषिकांस्तर्पयामि । ऋषिपत्नीस्तर्पयामि । ऋषिपुत्रांस्तर्पयामि । ऋषिपौत्रांस्तर्पयामि । काण्वं बौधायनं तर्पयामि । आपस्तम्बं सूत्रकारं तर्पयामि । सत्याषाढं हिरण्यकेशिनं

तर्पयामि । वाजसनेयिनं याज्ञवल्क्यं तर्पयामि । आश्वलायनं शौनकं तर्पयामि । व्यासं तर्पयामि । वसिष्ठं तर्पयामि । प्रणवं तर्पयामि । व्याहृतीस्तर्पयामि । सावित्रीं तर्पयामि । गायत्रीं तर्पयामि । छन्दांसि तर्पयामि । ऋग्वेद तर्पयामि । यजुर्वेद तर्पयामि । सामवेदं तर्पयामि । अथर्ववेदं तर्पयामि । अथर्वाङ्गिरसं तर्पयामि । इतिहासपुराणानि तर्पयामि । सर्ववेदांस्तर्पयामि सर्वदेवजनांस्तर्पयामि । सर्वभूतानि तर्पयामि ॥ १४ ॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने नवमः खण्डः ।

अनु०—मैं ऋषियों का तर्पण करता हूँ, परमर्षियों का तर्पण करता हूं···॥१४॥

दशमः खण्डः

अथ प्राचीनावीती—ओं पितॄन् स्वधा नमस्तर्पयामि । पितामहान् स्वधा नमस्तर्पयामि । प्रपितामहान् स्वधा नमस्तर्पयामि । मातॄस्स्वधा नमस्तर्पयामि । पितामहीस्स्वधा नमस्तर्पयामि । प्रपितामहीस्स्वधा नमस्तर्पयामि । मातामहान् स्वधा नमस्तर्पयामि । मातुः पितामहान् स्वधा नमस्तर्पयामि । मातुःप्रपितामहान् स्वधा नमस्तर्पयामि । मातामहीस्स्वधा नमस्तर्पयामि । मातुःपितामहीस्स्वधा नमस्तर्पयामि । मातुःप्रपितामहीस्स्वधा नमस्तर्पयामि ॥ १ ॥

अनु०—प्राचीनावीती होकर—पितरों को स्वधा, मैं पितरों का तर्पण करता हूँ···॥ १ ॥

ओमाचार्यान्स्वधा नमस्तर्पयामि । आचार्यपत्नीः स्वधा नमस्तर्पयामि । गुरून्स्वधा नमस्तर्पयामि । गुरुपत्नीस्स्वधा नमस्तर्पयामि । सखीन्स्वधा नमस्तर्पयामि । सखिपत्नीस्स्वधा नमस्तर्पयामि । ज्ञातीन्स्वधा नमस्तर्पयामि । ज्ञातिपत्नीस्स्वधा नमस्तर्पयामि । अमात्यान् स्स्वधा नमस्तर्पयामि । अमात्याः स्वधा नमस्तर्पयामि । सर्वान्स्वधा नमस्तर्पयामि । सर्वास्स्वधा नमस्तर्पयामि ॥ २ ॥

अनुतीर्थमप उत्सिञ्चति–ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतं स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन्। तृप्यत तृप्यत तृप्यतेति ॥ ३ ॥

अनु०—(हाथ के) तीर्थों से जल दे–हे जल, तुम अन्न लाते हो, अमृत, घृत, दूध, यवागू–लाते हो, तुम पितरों के लिए अमृत हो, मेरे पितरों को तृप्त करो, तुम तृप्त होओ, तृप्त होओ ॥ ३ ॥

अनुतीर्थं तीर्थं प्रति। अनेनेदम् ज्ञापितं भवति–जलतर्पणं भवतीह महद्विति ऊर्जं अन्नं अमृतादिपञ्चकम्। यद्यपि कीलालमन्नम्। तथाऽपि परिस्रुतसन्निधानात् यवागूरभिप्रेता। यूयं स्वधा अमृताः स्थ तर्पयत मम पितृपितामहप्रपितामहान्। यूयं च तृप्यत वीप्सावचनमादरार्थम् ॥ ३ ॥

नैकवस्त्रो नार्द्रवासा दैवानि कर्माण्यनु सञ्चरेत्।
पितृसंयुक्तानि चेत्येकेषां पितृसंयुक्तानि चेत्येकेषाम् ॥ ४ ॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने दशमः खण्डः ॥

अनु०—केवल एक वस्त्र पहन कर, अथवा गीले वस्त्र पहन कर देवताओं की पूजा का कर्म न करे। पितरों से सबद्ध कर्मों को भी एक वस्त्र पहन कर या गीला वस्त्र पहन कर न करे ऐसा कुछ आचार्यों का मत है ॥ ४ ॥

नाऽऽर्द्रवासाः इति साक्षादार्द्रवासोनिषेधार्थः। अनुसञ्चरेत् अनुतिष्ठेत्। पितृसंयुक्तानि अत्राऽपिशब्दोऽध्याहर्तव्यः ॥ ४ ॥

इति श्रीगोविन्दस्वामिविरचिते बौधायनधर्मविवरणे
द्वितीयप्रश्ने पञ्चमोऽध्यायः।

द्वितीयप्रश्ने षष्ठोऽध्यायः

एकादशः खण्डः

देवऋषिपितृतर्पणमुक्तम्—

[1]'अथेमे पञ्च महायज्ञास्तान्येव महासत्त्राणि-देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति ॥ १ ॥

---

१. See मा. शत. ब्रा. ११.५.६ १. and also आ. ध. १.१२.१४–१.१३.१.

अनु०—देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, और ब्रह्मयज्ञ—ये पाँच महायज्ञ हैं और इन्हें ही महासत्र भी कहा गया है ।। १ ।।

फलत एषां यज्ञानां महत्त्वं न स्वरूपतः, दीर्घकालप्रयोगसामान्याच्च महासत्त्रसमाख्या । 'देवयज्ञः' इत्यादिसंज्ञाकरणं संव्यवहारार्थम् ।। १ ।।

अहरहस्स्वाहाकुर्यादा काष्ठात् तथैतं देवयज्ञं समाप्नोति ।। २ ।।

अनु०—प्रतिदिन देवताओं के लिए 'स्वाहा' के साथ अग्नि में हवन करे । केवल एक काष्ठ का टुकड़ा तक भी हवन के रूप में अर्पित किया जा सकता है । इस प्रकार देवयज्ञ का अनुष्ठान करे ।। २ ।।

अत्र 'देवेभ्यस्स्वाहा' इति मन्त्र उद्धर्तव्यः । द्रव्यमोदनप्रभृति आ काष्ठात् ज्ञेयम् । वीप्सावचनं नित्यत्वख्यापनार्थम् । समाप्नोति अनुतिष्ठेत् । एवमुत्तरेष्वपि यथासम्भवं योजना ।। २ ।।

अहरहस्स्वधाकुर्यादोदपात्रात्तथैतं पितृयज्ञं समाप्नोति ।। ३ ।।

अनु०—प्रतिदिन पितरों के लिए 'स्वधा' के साथ जल से पूर्ण पात्र इत्यादि पूजा अर्पित करे । इस प्रकार पितृयज्ञ का अनुष्ठान करे ।। ३ ।।

'पितृभ्यस्स्वधा नमः' इति मन्त्रोऽध्याहार्यः । उदपात्रं उदकं आज्यौदनप्रभृति तत्पर्यन्तमित्यर्थः ।। ३ ।।

अहरहर्नमस्कुर्यादा पुष्पेभ्यस्तथैतं भूतयज्ञं समाप्नोति ।। ४ ।।

अनु०—प्रतिदिन प्राणियों के प्रति पुष्पों द्वारा पूजा आदि करते हुए आदर व्यक्त करे । इस प्रकार भूतयज्ञ का अनुष्ठान करे ।। ४ ।।

'भूतेभ्यो नमः ।' इति मन्त्रोद्धारः । एते त्रयो महायज्ञाः वैश्वदेवबलिहरणैरेव सम्पादिता इति । केचित्कर्तव्या इति । एतत्तु युक्तायुक्ततया विचारणीयम् ।। ४ ।।

अहरहर्ब्राह्मणेभ्योऽन्नं दद्यादा मूलफलशाकेभ्यस्तथैतं मनुष्ययज्ञं समाप्नोति ।। ५ ।।

अनु०—प्रतिदिन ब्राह्मणों के लिए मूल, फल, शाक आदि अन्न प्रदान करे और इस प्रकार मनुष्ययज्ञ का अनुष्ठान करे ।। ५ ।।

बहुभ्यो दातुं शक्त्यभावे एकस्मा अपि ।। ५ ।।

अहरहस्स्वाध्यायं कुर्यादा प्रणवात्तथैतं ब्रह्मयज्ञं समाप्नोति ।। ६ ।।

अनु०—प्रतिदिन प्रणव से आरम्भ कर वेद का स्वाध्याय करे और इस प्रकार ब्रह्मयज्ञ का अनुष्ठान करे ॥ ६ ॥

ब्रह्मयज्ञः कर्तव्यः ब्रह्मैव शास्त्रस्य च यागः ॥ ६ ॥

तदाह—

स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः ॥ ७ ॥

अनु०—वेद का स्वाध्याय ही ब्रह्मयज्ञ है ॥ ७ ॥

ऋज्वेतत् ॥ ७ ॥

[1]तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेव जुहूर्मन उपभृच्चक्षुर्ध्रुवा मेधा स्रुवः सत्यमवभृथस्स्वर्गो लोक उदयनं यावन्तं ह वा इमां वित्तस्य पूर्णां ददत्स्वर्गं लोकं जयति भूयांसं चाऽक्षय्यं चाप पुनर्मृत्युं जयति य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते ॥ ८ ॥

अनु०—इस स्वाध्यायरूपी ब्रह्मयज्ञ का वाणी ही जुहू है, मन उपभृत् है, चक्षु ध्रुवा के स्थान पर होता है, बुद्धि स्रुवा का कार्य करती है सत्य अवभृथ है और स्वर्ग लोक उदयन या यज्ञ की परिसमाप्ति है। जितना स्वर्गफल इस धन-धान्यपूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी का दान करने वाला पाता है उतना, किंवा उससे भी अधिक स्वर्गफल, वह व्यक्ति प्राप्त करता है, जो इस प्रकार ज्ञान-सम्पन्न हो, स्वाध्याय करता है और वह अक्षय्य मोक्ष प्राप्त करता है, पुनर्मरण पर विजय कर लेता है ॥ ८ ॥

टि०— इस सूत्र का पूर्वार्द्ध शतपथ ब्राह्मण ११.५.६.२ से तथा उत्तरार्द्ध ऐतरेय तैत्तिरीय आरण्यक २.१७ से उद्धृत है।

उपमेयम्, उपासना वा। तस्मिन् तत्तद्भावयेदित्यर्थः। वाचि जुहूबुद्धिमित्यादि। उदयनं परिसमाप्तिः। एतस्मादपि प्रायणोऽप्युन्नेयः। प्रारम्भापेक्षत्वात् परिसमाप्तेः। तदानीमस्मिन् लोके प्रायणीयबुद्धिः। वित्तस्य वित्तेन धनेन स्वाध्याययज्ञेन स्वाध्याययज्ञमुपासिता जयति ततोऽपि भूयांसमक्षय्यमनन्तमपवर्गं मोक्षमित्यर्थः। अपमृत्युरकालमरणम् ॥ ८ ॥

अथ निगमनम्—

तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति हि ब्राह्मणम् ॥ ९ ॥

---

१. अत्र सूत्रे 'तस्य' इत्यारभ्य 'उदयनं' इत्येतत्पर्यन्तं शतपथब्राह्मणस्थं वाक्यम्। 'यावन्तं ह वा' इत्यारभ्य 'पुनर्मृत्युं जयति' पर्यन्तं तैत्तिरीयारण्यकस्थम् (तै. आ. २. १४) ततः पुनश्शतपथस्थम् ॥

अनु०—इस कारण स्वाध्याय का अध्ययन करना चाहिए ऐसा ब्राह्मण का वचन है ॥ ६ ॥

टि०—द्रष्टव्य शतपथ ब्राह्मण ११.५.७.३-४

हिशब्दो हेतौ । इत्थं ब्राह्मणस्य भावादित्यर्थः ॥ ९ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति—

स्वभ्यक्तस्सुहितः सुखे शयने शयानः यं यं क्रतुमधीते तेन तेनाऽस्येष्टं भवतीति ॥ १० ॥

अनु०—इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित उद्धृत करते है यदि तैल आदि लगाकर, भोजन आदि से अच्छी प्रकार तृप्त होकर और सुखपूर्वक लेटकर जिस-जिस यज्ञ के मन्त्रों का अध्ययन करता है उस उस से इष्ट होता है ॥ १० ॥

स्वभ्यक्तः तैलादिना । सुहितः तृप्तो भोजनादिना । 'यं यं क्रतुम्' इत्यस्मिन् विधावन्यानर्थक्यप्रसंगात् प्रशंसैषा ॥ १० ॥

एवं तावद् गार्हस्थ्यमुक्तम् । अधुनाऽस्यैव प्रशंसा—

तस्य ह वा एतस्य धर्मस्य चतुर्धा भेदमेक आहुरदृष्टत्वात् ये चत्वार इति कर्मवादः ॥ ११ ॥

अनु०—इस धर्म के चार भेद है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं । किन्तु ऐसी बात न दिखलायी पड़ने से ये चार भेद याज्ञिक कर्मों के सम्बन्ध में ही समझना चाहिए ॥ ११ ॥

योऽसौ धर्मः श्रुतिस्मृतिशिष्टागमैः प्रसिद्धः तस्यैतस्य धर्मस्य चातुर्विध्यमाश्रमचतुष्टयकृतमिति एके ऋषय आहुः । किमिति ? यावत् दृष्टत्वान्मन्त्रार्थस्य तैः, यं दृष्ट्वैवमाहुः । तस्यैतत्प्रतीकमहणं ये चत्वार इति । चत्वारोऽप्याश्रमाः देवलोकायनाः पन्थान इत्येव सत्यम् । अयं तावन्मन्त्रः कर्मवादः कर्मभेदमेव करोति नाऽऽश्रमभेदम् ॥ ११ ॥

कानि पुनस्तानि कर्माणीत्याह—

ऐष्टिकपाशुकसौमिकदार्वीहोमाणाम् ॥ १२ ॥

अनु०—ये चार प्रकार हैं—ऐष्टिक यज्ञ, पशुयज्ञ, सोमयज्ञ और दार्वीहोम ॥ १२ ॥

स्वार्थ एवाऽत्र तद्धितः ॥ १२ ॥

तदेषाऽभिवदति—"[1]ये चत्वारः पथयो देवयाना अन्तरा द्यावा-पृथिवी वियन्ति। तेषां यो अज्यानिमजीतिमावहात्तस्मै नो देवाः परिदत्तेह सर्वे" इति ॥ १३ ॥

अनु०—यह निम्नलिखित ऋचा मे कहा गया है—देवलोक के चार मार्ग आकाश और पृथिवी के बीच भिन्न-भिन्न ओर से जाते हैं। उन मार्गों मे जो सभी निरन्तर समृद्धि प्रदान करने वाला मार्ग हो उसे देवता हमें प्रदान करें। (तैत्तिरीय सं० ५.७.२ ३) ॥ १३ ॥

तत्कर्मचातुर्विध्यमृगेषाऽभिवदति। कथम् ? ऋषिर्वामदेवः त्रिष्टुप्छन्दः नवस्यानि देवता। [2]अज्यानिहोमे तदुपधाने च विनियोगः। य इमे चत्वारः पथय पन्थानः देवो देवलोकः। भीमो भीमसेन इतिवत् तद्गमनहेतवः। ऐष्टिकादयः द्यावापृथिव्योरन्तरा मध्ये वियन्ति विविधं गच्छन्ति विदिता इत्यर्थः। तेषामिति 'कर्मणि षष्ठी'। तानि अज्यानिमजीतिं क्रियाविशेषणे। अज्यानिं अहानिं अविगुणं अजीतिं मध्य य आवहात् आवहेत् अनुतिष्ठेत्। तस्मै नः अस्माकं मध्ये सस्यानि हे सर्वे देवाः परिदत्त प्रयच्छत श्रौतकर्मानुष्ठाने निःश्रेयसं दत्तेति मन्त्रार्थः। तदेतदैकाश्रम्ये सत्युपपद्यते। नाऽऽश्रमचातुर्विध्ये। कथम् ? तदा हि गृहस्थ एव स्यात्। तत्र च गृहस्थो वैदिकैः कर्मभिरधिक्रियते नेतरे। तदेतदैकाश्रम्ये उपपन्नं भवति। ननु भेदपक्षेऽपि गृहस्थो वैदिकानि करोत्येव। सत्यं, अल्पविषयत्वं तदा शास्त्रस्य स्यात्। सर्वाधिकारं चेदं कर्म-शास्त्रं विना कारणेन न बाधितु युक्तम्।

किञ्च—बहुद्रव्यव्ययप्रयाससाध्य कर्मजातं परित्यज्य पारिव्राज्यकान्ये-वाऽऽस्कन्दयेयुः पुरुषाः। यतस्तेनाऽपि निश्रेयसं लभन्ते। 'अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' इति न्यायात्। ततश्च प्रत्यक्षश्रुतानामग्निहोत्रादिवाक्यानाम-प्रामाण्यमेवाऽऽपद्येत। तस्मादेषां चातुर्विध्यमेषाऽभिवदतीत्युपगन्तव्यम् ॥

अमुमेवार्थमध्यायपरिसमाप्तेः पूर्वोत्तरपक्षभङ्गया प्रदर्शयितुमाश्रमचा-तुर्विध्यं तावदुपन्यस्यति स्म—

ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थः परिव्राजक इति ॥ १४ ॥

अनु०—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक इस प्रकार चार आश्रम होते हैं ॥ १४ ॥

---

१. इयं तैत्तिरीयशाखागतमन्त्रानुपूर्वी See तै. सं. ५.७.२.३.

१. अज्यानिसंज्ञकाः कैचनेष्टकाविशेषाः चयने उपधेयाः।

ब्रह्मचार्यत्र नैष्ठिको गृह्यते । नोपकुर्वाणः ॥ १४ ॥

अथैतेषां क्रमेण धर्मानाचष्टे—

ब्रह्मचारी गुरुशुश्रूष्यामरणात् ॥ १५ ॥

अनु०—ब्रह्मचारी मृत्यु तक गुरु की सेवा करे ॥ १५ ॥

शुश्रूषाऽस्मिन्नस्तीति शुश्रूषी । आ मृत्योः गुरुकुले वसेत् । ये पुनरग्नीन्धनादयो धर्मा उपकुर्वाणस्योक्ताः तेऽप्यस्य विद्यन्त एव ॥ १५ ॥

वानप्रस्थो वैखानसशास्त्रसमुदाचारः ॥ १६ ॥

वैखानसो वने मूलफलाशी तपश्शीलः सवनेषूदकमुपस्पृशञ्छ्रामणकेनाऽग्निमाधायाऽग्राम्यभोजी देवपितृभूतमनुष्यर्षिपूजकः सर्वातिथिः प्रतिषिद्धवर्जं भैक्षमप्युपयुञ्जीत न फालकृष्टमधितिष्ठेद् ग्रामं च न प्रविशेज्जटिलश्चीराजिनवासा नाऽतिसंवत्सरं भुञ्जीत ॥१७ ॥

अनु०—वानप्रस्थ विखनस् ऋषि द्वारा उपदिष्ट शास्त्र के अनुसार आचरण करता है । वैखानस अर्थात् विखनस् के अनुसार आचरण करनेवाला वानप्रस्थ वन में निवास करे, मूलों और फलों का भोजन करे । तपस्या करे, तीनों सवन-प्रातः, मध्याह्न, सायं में स्नान करे । वैखानसशास्त्र में बतायी गयी श्रामण विधि के अनुसार अग्नि का आधान करे । ग्राम में उत्पन्न अन्नादि का भोजन न कर वन में उत्पन्न अन्नादि का ही भोजन करे । देव, पितृ, प्राणी, मनुष्य और ऋषि की पूजा करे । सभी वर्णों के पुरुषों का अतिथि-सत्कार करे, तथापि उनसे परहेज रखे जिनका सम्पर्क निषिद्ध है। व्याघ्रादि हिंसक पशुओं द्वारा मारे गये हिरणादि पशुओं के मांस का भक्षण कर सकता है । जोती गयी भूमि पर पैर न रखे, गाँव में प्रवेश न करे । जटाएँ धारण करे, वृक्षों की छाल या मृगचर्म वस्त्र के रूप में धारण करे । किसी अन्न का भक्षण न करे जो एक वर्ष से अधिक समय तक संगृहीत किया गया हो ॥ १६–१७ ॥

टि०—कुछ प्रतियों में 'वैष्कम्' के स्थान पर 'भैक्षम्' है, किन्तु गोविन्द स्वामी की व्याख्या के अनुसार 'वैष्कम्' ही होना चाहिए, जिसका तात्पर्य है हिंसक पशुओं द्वारा मारे गये पशु का मांस ।

वने प्रतिष्ठित इति वानप्रस्थः । वैखानसोऽपि वानप्रस्थ एव । संज्ञान्तरकरणं तु संव्यवहारार्थम् । विखनसा ऋषिणा प्रोक्तं वैखानसशास्त्रम् । तत्र हि बहवो धर्मा वानप्रस्थस्योक्ताः 'ग्रीष्मे पञ्चतपाः' इत्यादयः । समुदाचारः समाप्ताचार इत्यर्थः । वने मूलफलान्यश्नन् प्रतिषिद्धानि परिहरेत् । तपश्शीलः

तपःपरः । सवनेषूदकोपस्पर्शनं त्रिषवणस्नानम् । श्रामणो नामाऽऽधानविधिरस्ति वैखानसशास्त्रे । तेनाग्निमाधाय जुहुयादिति शेषः । ग्रामे भवमन्नं ग्राम्यं व्रीह्यादिप्रभवं तन्न भवतीति अग्राम्यं श्यामाकाद्यारण्यौषधिप्रभवम् । तद्भोजी स्यात् । मूलफलैः प्राणधारणाशक्तावेतद्विज्ञेयम् । देवादिपूजा च तेनैवाऽन्नेन यथासम्भवं कार्या । सर्वातिथ्यमादायाऽऽगतोऽतिथिः सर्वातिथिस्तं तेनैव पूजयेदित्यर्थः । तत्राऽपि प्रतिषिद्धवर्जं, प्रतिषिद्धः पतितादिः । व्याघ्रादिहतं मांसं कुद्दालादिनाऽनार्जितं मूलादि वा । फालकृष्टप्रतिषेधादफालकृष्टविधाने न दोषः । ग्रामो वाससमुदायः । चशब्दान्मनुष्यसमुदायश्च । जटिलः अलुप्तकेशः अप्रसाधितकेशश्च । चीरवासा अजिनवासाश्च । चीरं वृक्षादानीतं वासः फलजं वा जीर्णम् । अजिनं व्याघ्रादिचर्म । चीराजिनयोर्विधानात् समुच्चयो गम्यते । तत्र चैकमधोवासोऽपरमुत्तरीयम् । अतिसांवत्सरिकं संवत्सरमतिक्रान्तमन्नं न भुञ्जीत । अनेनैतद् गम्यते तावन्तं कालं सञ्चयो द्रव्यस्याऽस्तीति ॥ १६–१७ ॥

परिव्राजकः परित्यज्य बन्धूनपरिग्रहः प्रव्रजेद्यथाविधि ॥ १८ ॥

अनु०—परिव्राजक अपने बान्धवों को छोड़कर, किसी प्रकार की सम्पत्ति साथ न लेकर नियम के अनुसार घर से निकल जाय ॥ १८ ॥

टी०—यथाविधि-परिव्राजक के लिए संन्यासी होने की विधि अन्यत्र २.१७ में विवेचित है।

बन्धवो मातापितृव्यतिरिक्ताः योनिसम्बन्धिनः । कुत एतद् गम्यते ? 'न कदाचिन्मातापित्रोश्शुश्रूषा' इति विशेषवचनारम्भसामर्थ्यात् । तादात्विकौपयिकादधिकः परिग्रहः । तथा च गौतमः—'अनिचयो भिक्षुः' इति । परितो ग्रहणं परिग्रहः परिस्सर्वतोभावे । सर्वैर्वर्णैर्दत्तः परिग्रहः । प्रशस्तब्राह्मणकुले भिक्षेतेति यावत् । परिव्रजेत् संन्यसेत् यथाविधि । विधिश्च वक्ष्यते–'अथाऽतः सन्न्यासविधिम्' (२.१७.१) इति ॥ १८ ॥

अरण्यं गत्वा ॥ १९ ॥

अनु०—वन में जाकर निवास करे ॥ १९ ॥

तत्र वसेदिति शेषः ॥ १९ ॥

शिखामुण्डः ॥ २० ॥

अनु०—शिखा को छोड़कर सिर के केशों का मुण्डन कराये ॥ २० ॥

शिखाव्यतिरिक्तं शिरो मुण्डितं यस्येति विग्रहः ॥ २० ॥

कौपीनाच्छादनाः ॥ २१ ॥

अनु०—कौपीन से अपने गुप्तांग का आच्छादन करे ॥ २१ ॥

परिव्राजकाः स्युरिति शेषः। कौपीनमाच्छादनं येषामिति 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति कर्मणि ल्युट्। कुत्सितमाच्छादनं कौपीनमिति वैयाकरणाः। सोऽयं व्यञ्जनप्रदेशे उक्तः। तथा च गौतमः—'कौपीनाच्छादनार्थं वासो बिभृयात्प्रहीणमेके निर्णिज्य' इति ॥ २१ ॥

वर्षास्वेकस्थः ॥ २२ ॥

अनु०—वर्षा काल में केवल एक स्थान पर निवास करे ॥ २२ ॥

वर्षा नाम ऋतुः। तस्मिन्नेकस्मिन्नेव देशे तिष्ठेत्। 'ध्रुवशीलो वर्षासु' इति गौतमः ॥ २२ ॥

'कौपीनाच्छादनाः' इत्युक्तं, तत्राह—

काषायवासाः ॥ २३ ॥

अनु०—काषाय रंग का वस्त्र धारण करे ॥ २३ ॥

कषायेण रक्तं काषायम् ॥ २३ ॥

अथ भिक्षाकालमाह—

सन्नमुसले व्यङ्गारे निवृत्तशरावसम्पाते भिक्षेत ॥ २४ ॥

अनु०—जब मूसल चलने बन्द हो गये हों, और चूल्हे की आग बुझ गयी हो तथा भोजन के बर्तनों की सफाई की जा चुकी हो तब भिक्षा के लिए निकले ॥२४॥

सन्नं मुसलं यस्मिन् काले निवृत्तमुसलव्यापारे इति यावत्। व्यङ्गारे विगतास्शान्ता अङ्गारा यस्मिन्। शरावो भोजनपात्रोपलक्षणार्थः। सम्पातस्सम्मार्जनं उच्छिष्टावमार्जने वृत्ते इत्यर्थः। एतैर्विशेषणैरपराह्ण उपलक्ष्यते। आह च—

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
वृत्ते शरावसम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ इति ॥ २४ ॥

वाङ्मनःकर्मदण्डैर्भूतानामद्रोही ॥ २५ ॥

अनु०—वाणी, मन और कर्म पर नियन्त्रण रखे और प्राणियों को किसी प्रकार कष्ट न पहुँचाये ॥ २५ ॥

दण्डो दमनादित्याहुः—वागादिभिर्भूतानि न दमयेत्। अभयं सर्वभूतेभ्यो दद्यादिति यावत् ॥ २५ ॥

पवित्रं बिभृयाच्छौचार्थम् ॥ २६ ॥

अनु०—जल छानने के लिए पवित्र साथ रखे ॥ २६ ॥

पवित्रं कुशमुष्टिः पञ्चमुष्टिर्वा जलपवित्रं बिभृयादिति शेषः। तद्धरणं चाऽऽत्मशुद्ध्यर्थं [देहाद्देशाद्वा] जन्तूनां शोधनार्थम् ॥ २६ ॥

उद्धृतपरिपूताभिरद्भिः कार्यं कुर्यात् ॥ २७ ॥

अनु०—(कूप या तालाब से) निकाले हुए तथा छानने आदि से पवित्र किये गये जल से शुद्धि के कार्य करे ॥ २७ ॥

टि०—गोविन्द स्वामी के अनुसार ऐसे जल से आचमन का कार्य न करे ।

कार्यं मूत्रपुरीषप्रक्षालनम्, न त्वाचमनम् ॥ २७ ॥

अपविध्य वैदिकानि कर्माण्युभयतः परिच्छिन्ना मध्यमं पदं संश्लिष्यामह इति वदन्तः ॥ २८ ॥

अनु०— वेदोक्त कर्मों का परित्याग कर, दोनों लोकों से अपना नाता तोड़कर, हम मध्यम पद ब्रह्म के साथ अपना संबन्ध जोड़ते हैं, ऐसा कहे ॥ २८ ॥

अस्माल्लोकादमुष्माच्च उभयतः परिच्छिन्नाः विच्छिन्नाः भ्रष्टा वयमस्मै वै लोकाय प्रजोत्पादनं अमुष्मै वैदिकानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि । उभयं च गार्हस्थ्यनिबन्धनं 'मनुष्यलोकः पुत्रेण जय्यः नान्येन कर्मणा पितृलोकः' इति श्रुतेः पितृलोकः देवलोकः । तस्मादुभयभ्रष्टा वयं गर्भस्थानावलुम्पनात् । अतो वयं मर्त्या मध्यमं पदं सर्वभूतान्तर्गत पद्यते गम्यते तदुपासकैरिति पदं आत्मानं संश्लिष्यामहे ॥ २८ ॥

नैवं भविष्यतीति वदतः अत्र ब्रूमः—

ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम् ॥ २९ ॥

किन्तु आचार्यों का कथन है कि केवल एक आश्रम ही है, क्योंकि अन्य आश्रमों मे पुत्रोत्पत्ति नहीं होती ॥ २९ ॥

टि०—यहां कुछ आचार्यों के इस मत का उल्लेख किया गया है कि आश्रम मुख्यतः एक ही है, गृहस्थाश्रम । इसका मुख्य कारण यह है कि सन्तान की उत्पत्ति केवल उसी आश्रम में होती है । इस सन्दर्भ मे गोविन्दस्वामी ने धर्मस्कन्धश्रुति का वचन उद्धृत किया गया है । इस प्रकार गृहस्थाश्रम के मुख्य होने पर केवल एक ही आश्रम का साधन करना चाहिए । अन्य आश्रमों के विषय में विशेषतः उनकी उत्पत्ति का उल्लेख करते हुए, इनके अल्प महत्त्व का संकेत किया गया है ।

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । यदुक्तं 'चतुर्धा भेदमेक आहुः' इति तन्न, ऐकाश्रम्यं एकश्चाऽसावाश्रमश्च तद्भाव ऐकाश्रम्यम् । तच्च गार्हस्थ्ये । नैव पारिव्राज्यादीनामन्यतम इत्याचार्यो मन्यते स्म । कुतः ? अप्रजननत्वादितरेषां पारिव्राज्यादीनाम् । प्रत्यक्षश्रुतिविधानाच्च गार्हस्थ्यस्य 'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'

'तस्मात्प्रजननं परमं वदन्ति' इत्येवमादिना। तथा 'यावज्जीवं जुहुयात्,' 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' 'तं यज्ञपात्रैर्दहन्ति' इति च। नन्वितरेषामपि प्रत्यक्षश्रुतिविधानमस्ति। तथा च छान्दोग्ये धर्मस्कन्धश्रुतिः– 'त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलावासी तृतीयः' इति। तपश्शब्देनाऽत्र तापसपरिव्राजकयोर्ग्रहणम्। सत्यं–यद्यत्र विधिप्रत्ययोऽस्ति स तावन्नास्ति। नाऽप्यध्याहारः' अनुपपत्तेरभावात्। प्रणवस्य स्तुत्यर्थत्वात्तेषामुपादानस्य। तस्मादेकाश्रम्यमेव साधीयः। अपि च अप्रजननत्वादितरेषाम्। प्रजननमत्र पुत्रोत्पत्तिः। सा चेतरेषां नाऽस्ति। तथा चाऽवश्यं भवितव्यमित्युक्तं 'प्रजातन्तुम्' इत्यादि श्रुतिप्रदर्शनेनेत्याह ॥ २९ ॥

यदि न श्रुतिप्रभवा इतरे त्रय आश्रमाः किंप्रभवास्तर्हि? रागद्वेषादिमत्पुरुषबुद्धिप्रभवा इत्याह—

तत्रोदाहरन्ति—प्राह्लादिर्ह वै कपिलो नामाऽसुर आस। स एतान्भेदांश्चकार देवैस्सह स्पर्धमानस्तान् मनीषी नाऽऽद्रियेत ॥ ३० ॥

अनु०—इस सम्बन्ध में यह उद्धृत किया जाता है कि प्रह्लाद का पुत्र कपिल नामक एक असुर था। उसने देवों के साथ स्पर्धा करते हुए इन आश्रम-भेदों की रचना की। बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि इन आश्रम-भेदों का आदर न करे ॥ ३० ॥

टि०—इस संबन्ध में गौतमधर्मसूत्र में चारों आश्रमों का उल्लेख कर कहा गया है। 'तेषां गृहस्थो' योनिरप्रजननत्वादितरेषाम् प्रर्थात् इन आश्रमों में स्थित पुरुषों का गृहस्थाश्रम ही उत्पत्तिस्थान है, क्योंकि गृहस्थाश्रम के अतिरिक्त अन्य आश्रमों में सन्तानोत्पत्ति की व्यवस्था नहीं है। (गौ० ध० १।३। पृष्ठ ३०)

सैषा श्रौतगार्हस्थ्यस्य प्रशंसा स्मार्तेतराश्रमाभावादेव। प्रह्लादस्यापत्यं प्राह्लादिः। भेदान् आश्रमाणाम्। देवस्पर्धयाऽसुरेण यस्मात्कृता आश्रमभेदाः तस्मात् तान् मनीषी नाऽऽद्रियेत। मनीषी मनस्वी प्राज्ञ इत्यनर्थान्तरम् ॥३०॥

अदृष्टत्वात्। "ये चत्वार" इति कर्मवाद ऐष्टिकपाशुकसौमिकदार्वीहोमाणाम् ॥ ३१ ॥

अनु०—"ये चत्वार" आदि का कोई अन्य अर्थ स्पष्ट न होने से वहाँ इष्टि-प्रधान, पशुयज्ञ, सोमयज्ञ तथा दार्वीहोम इन चार प्रकार के यज्ञकर्मों का ही अर्थ लेना चाहिए ॥ ३१ ॥

निगमनार्थः पुनरुपन्यासः। अतोऽप्रजननत्वादितरेषां प्रत्यक्षश्रुतिविधाना-

च्च गार्हस्थ्यस्यैकाश्रम्यमेव निःश्रेयसकरम् । उक्तं च—'गृहस्थोपि विमुच्यते' इति ।

स्यादेतत्—नैव हि कर्मणां मोक्षोपायत्वमस्ति, प्रमाणाभावात् । न तावत्प्रत्यक्षं प्रमाणम्, विद्यमानोपलम्भनत्वात्तस्य । नाऽप्यनुमानम्, सम्बन्धग्रहणाभावात् । न खल्वपि शब्दः । कथम् ? लौकिकस्तावत् मूलज्ञानाभावादसमर्थः । वेदवाक्यानि पुनः प्रातिस्विकफलदायीनि कर्माणीति श्रूयन्ते । यदपि 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनस्सुकृतं भवति' इति तदेतदपि चिरेण क्षयमालोच्य भवतीति । यथा नक्तं संस्थापनवचनं "असंस्थितो हि तर्हि यज्ञ" इति चिरेण संस्थामालोच्य, तद्वदेवाऽऽपाततः । न कृत्स्नेभ्योऽपि वेदकर्मभ्यो मोक्ष इतीदृशं वाक्यमस्ति । यद्यप्यस्ति तथाऽपि तदन्यार्थत्वेन नेतुं शक्यते । उपमानादि तु दूरोत्सारितम् । यच्च भगवद्गीतासु वचनम्—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः । इति

तदपि सिद्धे सत्युपायत्वे कर्मणोऽवधारणं ब्रूयात् । तदेवाऽद्याप्यसिद्धम् । अतस्तदप्यन्यार्थमेव । तस्मात्कर्मणां न मोक्षोपायत्वे प्रमाणमस्ति । अस्ति तु ज्ञानस्य 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति ॥ ३१ ॥

अधुना केवलज्ञानात् कर्मरहितादेव मुक्तिरित्यस्मिन्नर्थे ऋगप्यस्तीत्याह—

तदेषाऽभ्यनूच्यते—एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य । न कर्मणा वर्धते नो कनीयान् । तस्यैवाऽऽत्मा पदवित्तं विदित्वा । न कर्मणा लिप्यते पापकेनेति ॥ ३२ ॥

अनु०—इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्धृत किया जाता है—ब्राह्मण की नित्य स्थायी रहने वाली महिमा यही है, यह न तो कर्म से बढ़ती है और न घटती है । आत्मा उस महानता के तत्त्व से परिचित रहता है । आत्मा भी किसी पाप कर्म से लिप्त नहीं होता ॥ ३२ ॥

टि०—तात्पर्य यह है कि परमात्मा न तो अग्निहोत्र आदि कर्मों से उनके फल का भोग करता है और न ही ब्रह्महत्यादि निकृष्ट कर्मों के पाप का ही भोग करता है । इस कारण कर्मफल का भोक्ता तथा कर्ता उससे भिन्न है । इस सम्बन्ध से कहा है कि सम्यक् दर्शन से युक्त व्यक्ति कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ता ।

वामदेव ऋषिः काण्ड ऋषिर्वा । त्रिष्टुप्छन्दः । ज्ञानप्रशंसा । एष आत्मेति सम्बध्यते । नित्यो महिमेति पदद्वयं स्वयमेव न्यासविधौ विवरिष्यति 'अपुनर्भवं नयतीति नित्यो, महदेनं गमयतीति महिमा' (२.१७.९,१०.) इत्यत्र । यद्वा—नित्यस्सर्वदा सः । महिमा महान् सर्वत्राऽऽस्तीति स एष परमात्माऽभि-

प्रेतः। ब्राह्मणस्येति जात्यवच्छिन्नस्सोपाधिकः क्षेत्रज्ञवर्ती च तयोरव्यतिरेकार्थः। परमात्मा न कर्मणा अग्निहोत्रादिना वर्धते तत्फलभुग्भवति। अतस्ततोऽन्यः कर्ता भोक्ता च। तथा-नोऽपि न कनीयान् कर्मणा ब्रह्महत्यादिना निकृष्टो नरकभाग् भवतीत्यर्थः। यतोऽसौ पापमपि न करोति तस्मादेव तस्य ब्राह्मणस्य सोपाधिकस्य, एवशब्दः पादपूरणः, अवधार्याभावात्। तस्याऽऽत्मा परमात्मा पदवित्। पद्यते गम्यतेऽनेनार्थ इति वेदः पदं, अत एव 'नाऽवेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' इत्युक्तम। सततमात्मानमभेदेन विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेन शुभेन च।

तदुक्तम्—

सम्यग्दर्शनसपन्नः कर्मभिर्न स बध्यते इति।

तथा—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ इति

एवं स्पष्टभाषिणा केवलज्ञानवादिना यः पर्यनुयुक्तः—

स यत् ब्रूयात् [1]—येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः पिता पुत्रेण पितृमान् योनियोनौ। नाऽवेदविन्मनुते तं बृहन्तं सर्वानुभुमात्मानं साम्पराये इति॥ ३४॥

अनु०—यदि वह ऐसा कहता है तो इस पर ध्यान दे, जिसे वेद का ज्ञान नहीं वह मृत्यु के समय उस महान्, सर्वानुभवी, आत्मा का ध्यान नहीं करता, जिसके द्वारा सूर्य प्रकाशमान है, तेज से युक्त होकर प्रकाश प्रदान करता है और पिता पुत्र का योनि से जन्म होने पर उसके माध्यम से पितृमान् होता है॥ ३४॥

स ब्रूयात् परिहारत्वेनाऽधस्तनीमृचमित्यर्थः। सत्यमाह भवान् यदि केवलादेव ज्ञानात् सर्वभेदप्रत्ययनिबर्हणान्मोक्ष इति, न त्वेतदेवम। अपि कर्मणः। ननु 'एष नित्यो महिमा' इत्युक्तं, सत्यं, ज्ञानात्, तन्नु न कर्म निषेधति। ननु—कर्मणां मोक्षं प्रत्यनुपायत्वात् निषेधत्येवेत्युक्तम्। मोक्षानभिज्ञः कर्मद्वेषी देवानां प्रियः। मोक्षेऽपि नाऽऽत्मनश्शरीरपरिग्रहाभाव। स च प्रागभावः प्रध्वंसाभावो वा? न तावदात्मज्ञानेन शरीरं प्रध्वस्तम्, प्रत्यक्षविरोधात्। तदुक्तं 'बुद्धे चेत्क्षेमप्रापणं इहैव न दुःखमुपलभेत' इति। अथ मन्यसे सुखदुःखोपभोगार्थानि देहारम्भकाणि पुण्यापुण्यान्यदृष्टानि कर्माणि

१. अयमपि मन्त्रस्तैत्तिरीयब्राह्मणान्तर्गतकाठकभागस्थ एव। त० ब्रा १२ १.९

क्षीयन्त इति। तदुक्तं-'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इति। तदपि न, न हि कर्म क्षीयते फलमदत्त्वेत्याहुः। ननु प्रायश्चित्तेन क्षीयत इति त्वयाऽभ्युपगतमेव। नैतदेवम्; न हि तत्राऽपि चान्द्रायणादिभिः पापकर्म-प्रध्वस्यते। दुःखानुभवप्रकारोऽयं वाचनिकः यथौषधपानम्। यथा चोपवा-सादिना शुष्कगात्रो ज्वरादिना नाऽभिभूयते तद्वदेतदपि। तदा मोक्षप्रागभाव इति, वदामः। सुखदुःखोपभोगार्थं देहग्रहणम्, तच्च सुखदुःखञ्च काम्यप्रति-षिद्धासेवया नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानाच्च मोक्षसिद्धिः। आहुश्च मीमांसकाः-

नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिघांसया।
मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः॥ इति॥

तद्धेतुकमात्मज्ञानं तदर्थानि चोपनिषद्वाक्यानि। एवमुपपद्यमाने नाऽन्यथा कल्पयितुं युक्तम्। न चाऽऽत्मानं मोक्षयेदेवेति वेदेन चोद्यते—

आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोद्यते।
कर्मप्रसिद्धिसिद्ध्यर्थं आत्मज्ञानस्य लभ्यते॥

कथं तर्हि ? अयं परिहारः-'येन सूर्यः' इति ज्ञानकर्मसमुच्चयाभिधानात् साजात्येन तद् यद्यत्स्यात्। प्रजनने प्रजनन इत्यर्थः। ईदृक्कर्म मोक्षायाऽलं भवतीत्यभिप्रायः। अतो नाऽवेदवित् अवेदार्थवित् तत्कर्मकृच्च मनुमते जानाति कर्मठः परमात्मानं बृहन्तं सर्वानुभवितारं साम्पराये अपवर्गे निमित्तसम्पन्येषा॥

अवेदविन्न मनुते न जानाति इत्येतदुक्तं विस्तरेण। किञ्च-

'इमे ये नाऽर्वाङ्न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः। त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञय इति॥ ३५॥

अनु०—जो न तो सच्चे ब्राह्मण हैं और न सोमयज्ञ करते हैं वे उसके लिए कार्य नहीं करते जो निकट हैं और न उसके लिए कार्य करते है जो दूर है। वे इस वचन को लेकर पापयुक्त वाणी से यज्ञ करते हैं॥ ३५॥

बृहस्पत्यार्षं त्रिष्टुप्छन्दः। अज्ञाननिन्दया ज्ञानकर्मप्रशंसा। यत्तदोर्व्यत्यासः कर्तव्यः। इमे जना वाचं वेदं अभिपद्य अधीत्य पापया वाक्प्रतिरूपया धीराः तमसि शेते इति सिरीः शरीरं तन्वते विस्तारयन्ति वेदविप्लववादिना पोषय-न्तीत्यर्थः। तत्र कर्म अप्रजज्ञयः अजानन्तः अवेदार्थज्ञा इति यावत्। एते नार्वाङ्न अर्वाञ्चः नाऽपि पराञ्चः चरन्ति उभयभ्रष्टा इत्यर्थः। न ते ब्राह्मणाः नाऽपि सुतेकरासः सुतस्याऽकर्तारः अभिषवाद्यकर्तारः अयष्टारः अप्रजज्ञयो यद्यपि तन्तुं तन्वते तथापि न सुते करासो भवन्ति॥ ३५॥

---

१. ४००, ऋ० सं० २. २४. ४.

किञ्च—

प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम् ॥ जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर् ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इति । एवमृणसंयोगादीन्यसंख्येयानि भवन्ति ॥ ३६ ॥

अनु०—हे अग्नि हम पुत्रों के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति करें । ब्राह्मण उत्पन्न होता है । ब्रह्मचर्य द्वारा ऋषियों के ऋण से यज्ञ द्वारा देवों के ऋण से, तथा पुत्र उत्पन्न कर पितरों के ऋण से मुक्त होता है । इस प्रकार वैदिक ग्रन्थों में अनेक अनुच्छेदों में ऋण के संयोग का उल्लेख किया गया है ॥ ३६ ॥

अमृतत्वं जननमरणशून्यत्वं, मुक्तिरित्यनर्थान्तरम् । आश्रमभेदे सति कथमेवं ब्रूयात् ॥ ऋणवान् अनन्तराः पुत्राणां लोकाः ऋणमस्मिन् सन्नयति । ज्योत्स्ना ह पुत्रं परमे व्योमन्न प्रजात्वति गुण इत्यादि । तस्मादप्यैकाश्रम्यमेव ज्यायः ॥ ३६ ॥

त्रयीं विद्यां ब्रह्मचर्यं प्रजातिं श्रद्धां तपो यज्ञमनुप्रदानम् । य एतानि कुर्वते तैरित्सह स्मो रजो भूत्वा ध्वंसतेऽन्यत्प्रशंसन्निति प्रशंसन्निति ॥ ३७ ॥

इति द्वितीयप्रश्ने एकादशः खण्डः ।

अनु०—तीनों वेदविद्या का अध्ययन, ब्रह्मचर्य का पालन, पुत्र की उत्पत्ति, श्रद्धा तप का अनुष्ठान, यज्ञ का सम्पादन तथा दान—जो इन कर्मों को करते है, वे ही हमारे साथ निवास करें, जो अन्य कार्यों की प्रशंसा करता है वह धूल में मिलकर नष्ट हो जाता है ॥ ३७ ॥

त्रयाणां वेदानां समाहारस्त्रयी ब्रह्मचर्यमित्याचरणे तैरेव सह सार्धं स्मः भवामः नान्यैरन्यतरोपासकैर्वा । यस्त्वन्यतरदेवोपास्ते ज्ञानं कर्म वा प्रशंसन् स रजो भूत्वा प्रध्वंसते रजः पापं रजस्वलेति यथा । यद्वा रजस्सूक्ष्माणि चूर्णानि यथा तानि क्वचिदपि नाऽवतिष्ठन्ते तद्वन्नाऽऽस्पदं लभते । अथवा गुणो रजः सत्त्वं रजस्तम इति । अस्मिन् पक्षे मतुपो लोपो द्रष्टव्यः । आहोपुरुषिकयाऽन्यतरदेव प्रशंसन् रजस्वलो भूत्वा ध्वंसते । तस्मात् ज्ञानकर्मसमुच्चयस्साधीयान् ।

नन्वाश्रमभेदो नाऽस्तीत्युक्तं किमिदं प्रलप्यते त्रयीं विद्यामिति ? अविवेकापराधोऽयं नाऽऽयुष्मतो दोषः ।

श्रौते नास्तीत्युक्तम् । न पुनस्स्मार्तेऽपि नाऽस्तीति । असंख्येयानि स्मृतिवाक्यानि सन्ति 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा' 'संन्याश्रमविकल्पमेके ब्रुवत' इति । आह च—

'आश्रमसमुच्चयं द्वितीयं' आयुषो भागं तृतीयम् । इति । तथा चापस्तम्बः-चत्वार आश्रमाः गार्हस्थ्यं आचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थ्यमिति । तत्र भेदे सति आश्रमाणां बाधो विकल्पस्समुच्चयो वा सम्भवति । तत्र मानवे बाधपक्षस्सहेतुकः प्रतिपादितः ।

'सर्वेषामपि चैतेषां वेदश्रुतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठस्स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ॥

वेदश्रुत्या हि गृहस्थस्य स्त्र्युपादानप्रभृत्याश्मशानकरणात् सर्वं विधीयते स्मृत्या । भाष्यकारोऽपि बहु मन्यते स्माऽस्य च गृहस्थाश्रमस्य वेदे श्रुतिविधानतः श्रैष्ठ्यवचनात्तदविरोधेनाऽऽश्रमान्तरप्रतिपत्तिरवगम्यते इति वदन् । गौतमोऽपि तुशब्देनेतरौ पक्षौ व्यावृत्य सहेतुकममुं पक्षमेवोपसंहृतवान् 'ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानात् गार्हस्थ्यस्य' इति । आचार्याभिप्रायस्तु विस्तरेण प्रदर्शितः । तस्मात् सूक्तं 'ये चत्वारः पथयो देवयाना इति कर्मवादो नाऽऽश्रमवादः' इति ॥ ३७ ॥

इति श्रीगोविन्दस्वामिविरचिते बौधायनधर्मसूत्रविवरणे
द्वितीयप्रश्ने षष्ठोऽध्यायः ॥

द्वितीयप्रश्ने सप्तमोऽध्यायः

द्वादशः खण्डः

स्नानमुक्तं महायज्ञाश्च । अथेदानीमवसरप्राप्तं भोजनमारभते—

अथ शालीनयायावराणामात्मयाजिनां प्राणाहुतीर्व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अनु०—अब हम आत्मयाजी (आत्मा में ही अग्नि का आधान कर यज्ञ करने वाले) गृहस्थों और यायावरों की प्राण देवता की आहुतियों का विवेचन करेंगे ।।१।।

टि०—शालीन का अर्थ गृहस्थ और यायावर का भ्रमणशील अर्थ है । इन शब्दों की व्युत्पत्ति का संकेत आगे तृतीय प्रश्न के प्रथम अध्याय सूत्र ३ में किया गया है । "शालाश्रयत्वाच्छालीनत्वम् । वृत्त्या वरया यातीति यायावरत्वम् । अनुक्रमणचरणा-

च्चक्रचरत्वम् ।" गोविन्दस्वामी—"विस्तीर्णाभिः शालाभिर्युक्ताः शालीनाः । यहाँ 'प्राण' शब्द से अपान आदि का भी अर्थ ग्राह्य है ।

शालीनयायावराश्च गृहस्था एव केनचिद् व्यक्तिविशेषेणोच्यन्ते । 'आत्मयाजी पुनः 'जीर्णस्स्यात् तस्याऽग्निहोत्रचेष्टायाम्' इत्यनेन विधानेनाऽऽत्मनि समारूढाग्निः 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्याऽऽत्मा यजमानः' इत्यत्रोक्तो वा । एतेषामुपादानं मुनेरपि वक्ष्यमाणेन विधिना भोक्तव्यम्, किमङ्ग पुनरन्यैराश्रमिभिरित्येतत्प्रदर्शयितुम् । प्राणदेवत्या आहुतयः प्राणाहुतयः । प्राणशब्दोऽपानादीनामप्युपलक्षणाय ॥ १ ॥

सर्वावश्यकावसाने संमृष्टोपलिप्ते देशे प्राङ्मुख उपविश्य तद्भूतमाह्रियमाणं भूर्भुवस्सुवरोमित्युपस्थाय वाचं यच्छेत् ॥ २ ॥

अनु०—दिन के सभी आवश्यक कर्मों को कर लेने के बाद अच्छी प्रकार स्वच्छ किए गये और लिपे हुए स्थान पर पूर्व की ओर मुख कर बैठे हुए लाये जाते हुए भोज्य अन्न की 'भूः भुवः स्वः ओम्" कहकर पूजा करे और मौन रहे ॥ २ ॥

अवश्यं भाव्यावश्यकं तन्नियोगतोऽहरहः कर्तव्यम । सर्वावश्यकपरिसमाप्तिर्मध्यन्दिनात् प्रागेव[1] 'पूर्वाह्णे वै देवानां मध्यन्दिने मनुष्याणामपराह्णे पितृणाम्' इति श्रुतेः । तथा दक्षेणाऽप्युक्तम्—'पञ्चमे भोजनं स्मृतम्' इति । सम्मृष्टः शोधितः । उपलिप्तो गोमयेनोदकेन च । देशग्रहणं भूमौ पादनिधानार्थम् । तेन पादावासनमारोप्य न भुञ्जीतेति गम्यते । प्राङ्मुखत्वं नित्यवत् कर्तव्यम् । उपवेशनग्रहणात् स्थानशयननिवृत्तिः प्रतीयते । [2]तेनाऽनेन मन्त्रेण उपस्थाय नमस्कृत्य मौनी भवेत् ॥ २ ॥

न्यस्तमन्नं महाव्याहृतिभिः प्रदक्षिणमुदकं परिषिच्य सव्येन पाणिनाऽविमुञ्च 'न्नमृतोपस्तरणमसी' ति पुरस्तादपः पीत्वा पञ्चान्नेन प्राणाहुतीर्जुहोति "प्राणे निविष्टोऽमृतं जुहोमि शिवो माऽऽविशाऽप्रदाहाय प्राणाय स्वाहे" ति ॥ ३ ॥

अनु०—सम्मुख रखे हुए भोज्यान्न के चारो ओर महाव्याहृतियो के उच्चारण के साथ दहिने ओर से जल छिड़क कर, बायें हाथ से भोजन पात्र को पकड़े हुए ही "अमृतोपस्तरणमसि" (तुम अमृत अन्न के उपस्तरण हो) कहकर जल पिये । फिर पाँच बार अन्न से प्राणों के लिए यह कहते हुए आहुति करे "प्राणे निविष्टोऽ-

१. पूर्वाह्णः, मध्यन्दिनः, अपराह्णः, इति प्रथमान्तपाठः शावरभाष्ये ।

२. मानवमतेन ग. पु.

मृतं जुहोमि शिवो माऽऽविशाऽप्रदाहाय प्राणाय स्वाहा" (मैं प्राण के लिए अमृत की आहुति करता हूँ, तुम मुझमें कल्याण के लिए प्रवेश करो, प्राण को स्वाहा) ॥३॥

न्यस्त भाजने प्रक्षिप्तमन्नं महाव्याहृतिभिः 'भूरग्नये च पृथिव्यै चे' त्यादिभिः प्रदक्षिणमुदकं परिषिच्य, सव्येन पाणिना भोजनपात्रं अविमुञ्चन् अविसृजन् 'अमृतोपस्तरणमसी' त्यपः पिबेत् । पुरस्ताद् ग्रहणात् परिधानमेतदन्नस्येति ज्ञापयति, तथोपरिष्टादिति । इतरथाऽन्यदन्नं भवेत्। 'अन्नममृतं च' इति श्रुतिः । अमृतमन्नं तस्योपस्तरणमुदकं तदेवाऽपिधानं तत्त्वमसीत्युदकमामन्त्र्यते । 'अपोऽशान, कर्म कुरु' इति यदुक्तमुपनयनसमये तदिदम् । 'प्राणे निविष्टः' इत्यन्तेन जुहोतीति सम्बन्धः । प्राणे प्राणार्थमभिनिविष्टोऽहममृतमन्नं जुहोमि मय्येव । मां च शिवस्सुखहेतुः आविश अप्रदाहाय च भव । स्वाहेति प्रदानप्रतिपादकः । प्रयच्छामीति यावत् । एवमुत्तरेष्वपि यथासम्भवं योजनीयम् ॥ ३ ॥

पञ्चान्नेन प्राणाहुतीर्हुत्वा तूष्णीं भूयो व्रतयेत्प्रजापतिं मनसा ध्यायन् ॥ ४ ॥

अनु०—प्राणों के लिए पाँच आहुतियाँ करने के बाद चुपचाप रहकर मन से प्रजापति का ध्यान करते हुए भोजन करे ॥ ४ ॥

अन्नेन पञ्चप्राणाहुत्यनन्तरं यथेष्टं व्रतयेद् भुञ्जीत । तूष्णींग्रहणेन वाग्यमनिवृत्तिः मन्त्रनिवृत्तिर्वा गृह्यते । ध्यायेदिति शेषः । तेषामपाठः । तथा भूयश्शब्दात् षष्ठो ग्रासो गृह्यते ॥ ४ ॥

नाऽन्तरा वाचं विसृजेद्यदन्तरा वाचं विसृजेद्भूर्भुवस्सुवरोमिति जपित्वा पुनरेव भुञ्जीत ॥ ५ ॥

अनु०—भोजन करते समय बोलना नहीं चाहिए, यदि बीच में बोले तो फिर भूः, भुवः स्वः ओम्' का जपकर पुनः भोजन करे ॥ ५ ॥

ऋज्वेतत् ॥ ५ ॥

त्वक्केशनखकीटाखुपुरीषाणि दृष्ट्वा तं देशं पिण्डमुद्धृत्याऽद्भिरभ्युक्ष्य भस्माऽवकीर्य पुनरद्भिः प्रोक्ष्य वाचा च प्रशस्तमुपयुञ्जीत ॥६॥

अनु०—यदि भोजन में चमड़े का टुकड़ा, केश, नख, कीड़ा चूहे का मल दिखायी पड़े तो उस स्थान से भोजन का पिण्ड निकाल कर उस पर जल छिड़के, भस्म बिखेरे, पुनः जल से प्रोक्षण कर और शेष भोजन को खाने योग्य विहित किये जाने पर भोजन करे ॥ ६ ॥

केशग्रहणं लोमनखादीनामपि प्रदर्शनार्थम् । कीटः बृहतीफलादिप्रभवो घुणः। तद्ग्रहणं चाऽजीवन्मक्षिकापिपीलिकादीनामपि प्रदर्शनार्थम्। जीवतामपवादश्रवणात् 'मशकैर्मक्षिकाभिश्च निलीनं नोपहन्यते' इति । आखुपुरीषं गुदादिपुरीषग्रहणार्थं विड्वराहश्लोकसंगृहीतपरिग्रहार्थं च । यो देशः कीटादिसंयुक्तः तं देशम्। वाचा प्रशस्तस्योपयोगः प्रशस्तमित्युच्चरिते उपयोगः । उच्चारयिता च स्वयं वाऽन्यो वा यस्तदा प्रयतो भवति ॥ ६ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति—

आसीनः प्राङ्मुखोऽश्नीयाद्वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन् ।
अस्कन्दयंस्तन्मनाश्च भुक्त्वा चाऽग्निमुपस्पृशेदिति ॥ ७ ॥

अनु०—इस विषय में निम्नलिखित पद्य उद्धृत करते है—"पूर्व की ओर मुख कर चुप रहकर, भोजन की निन्दा न करते हुए, पृथ्वी पर भोजन का अंश न गिराते हुए, भोजन पर ही ध्यान देते हुए भोजन करे तथा भोजन करने के बाद अग्नि का स्पर्श करे ॥ ७ ॥"

आसनप्राङ्मुखत्वयोः पुनरुपादानं पञ्चप्राणाहुत्यन्ते तयोः पर्यवसानं मा भूदिति । वाग्यतोऽन्नं भक्षयेत् । तूष्णींग्रहणेनैव सिद्धत्वादनुवादः । अकुत्सयन् अगर्हयन् अपक्वतुषपर्णपातादिदोषैः । अस्कन्दयन् भूमावनवकिरन् तन्मनाः अन्नमेव चिन्तयन् भुक्त्वा चाऽऽचान्तश्चाऽग्निमुपस्पृशेदिति योजना ॥ ७ ॥

सर्वभक्ष्यापूपकन्दमूलफलमांसादीनि दन्तैर्नाऽवद्येत् ॥ ८ ॥

अनु०—अपूप, कन्द, मूल, फल, मांस आदि जो बिना काटे ही खाये जा सकते हों उन्हें दाँतों से काट कर न खाए ॥ ८ ॥

सर्वभक्ष्योदाहरणत्वेनाऽपूपादिग्रहणम् । एतानि दन्तैर्नाऽवद्येत् न खण्डयेत् दन्तखण्डितावशिष्टं पुनर्भक्षणाय नाऽऽदद्यादित्यर्थः ॥ ८ ॥

नाऽतिसुहितः ॥ ९ ॥

अनु०—अधिक भोजन न करे ॥ ९ ॥

अत्यशनं वर्जयेत् । उक्तं च—

'न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत्' इति ।

अतो मिताशनमिति ॥ ९ ॥

'अमृतापिधानमसि' इत्युपरिष्टादपः पीत्वाऽऽचान्तो हृदयदेशम-

भिमृशति—"प्राणानां ग्रन्थिरसि रुद्रो मा विशान्तकस्तेनाऽन्नेनाऽऽप्यायस्वे"ति ॥ १० ॥

अनु०—उसके बाद "अमृतापिधानमसि" कहकर जल पिए, आचमन "प्राणानां ग्रन्थिरसि रुद्रो मा विशान्तकस्तेनाऽन्नेन आप्यायस्व" (तुम प्राणों को जो वाला ग्रन्थि हो, तुम रुद्र हो, अन्त करने वाले मृत्यु बनकर मुझमे प्रवेश न करो। अन्न द्वारा वृद्धि प्राप्त करो) कहकर हृदय प्रदेश का स्पर्श करे ॥ १० ॥

अमृतस्याऽपिधानमुपरि प्रच्छादनं उदकं तत्त्वमसीति मन्त्रार्थः। अभि र्शनमन्त्रस्य वामदेव ऋषिः काण्डर्षिर्वा। निचृद्गायत्री छन्दः जीवो देव हृदयं जीवायतनं तत्रस्थो जीव आमन्त्र्यते। ग्रन्थिः बन्धनं प्राणायतनं रुद्रः अन्तकः अन्तकरस्सन् मा अन्तः विश अन्तको मा भूरित्यर्थः। यज्जी मम तेनाऽन्नेन मां आप्यायस्व वर्धय ॥ १० ॥

पुनराचम्य दक्षिणे पादाङ्गुष्ठे पाणी निस्रावयति "अङ्गुष्ठम पुरुषोऽङ्गुष्ठं च समाश्रितः। ईशस्सर्वस्य जगतः प्रभुः प्रीणाति भुगि"ति ॥ ११ ॥

अनु०—पुनः दूसरी बार आचमन कर, दाहिने पैर के अंगूठे पर अपने जल की बूंदें यह कहते हुए गिराए—"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽङ्गुष्ठं च समाश्रि ईशस्सर्वस्य जगतः प्रभुः प्रीणाति विश्वभुक्" (अङ्गुष्ठ के आकार का पुरुष जो ष्ठ मात्र आकाश का आश्रय लेता है, सम्पूर्ण संसार का स्वामी है, विश्व का है, प्रसन्न होवे) ॥ ११ ॥

पाणिभ्यामिति द्विवचनात् द्वाभ्यां हस्ताभ्यामुदकं निस्रावयेत्। अङ्गु इत्यृचः वामदेव ऋषिः अनुष्टुप्छन्दः आत्मा देवता। मात्रच्प्रत्ययः परमात्मा स्मृतः पुरुषः पुरि शेत इति व्युत्पत्त्या। आह च कृष्णद्वैपाय विन्युपाख्याने—

अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं विचकर्ष यमो बलात् ॥ इति ॥

तत्परिमाणश्च तदाश्रयश्चाऽसावीश्वरः जगतो जङ्गमस्य सर्वशब्दात्स स्य प्रभुः प्रभूतं प्रियतमं विश्वं भुनक्ति भुङ्क्ते इति वा विश्वभुक् ॥ ११

हुतानुमन्त्रणमूर्ध्वहस्तस्समाचरेत्—"श्रद्धायां प्राणे नि ऽमृतं हुतम्। प्राणमन्नेनाऽऽप्यायस्वे"ति पञ्च ॥ १२ ॥

अनु०—हाथ ऊपर उठाकर हुत अन्न का "श्रद्धायां प्राणे निविश्याऽमृत प्राणमन्नेनाप्यायस्व।" आदि पाँच मन्त्रों से अनुमन्त्रण करे ॥ १२ ॥

पञ्चैते मन्त्राः हुतानुमन्त्रणं तत्साधनं हुतस्य भुक्तस्याऽनुमन्त्रणमन्वीदय वदनं तदूर्ध्वहस्तस्समाचरेत् ॥ १२ ॥

"ब्रह्मणि म आत्माऽमृतत्वाये" त्यात्मानम् ॥ १३ ॥

अनु०—"ब्रह्मणि म आत्माऽमृतत्वाय" (मेरा आत्मा ब्रह्म मे अमृतत्व प्राप्त करे) कहते हुए अपना अनुमन्त्रण करे ॥ १३ ॥

स्वशरीरमनुमन्त्रयत इति शेषः । जीवपरमात्मनावेकीभावयेदिति मन्त्रार्थः ॥ १३ ॥

अक्षरेण चाऽऽत्मानं योजयेत् ॥ १४ ॥

अनु०—स्वयं अपने आत्मा को अक्षर (ओम्) के साथ अभिन्न कर उसका ध्यान करे ॥ १४ ॥

अक्षरं प्रणवः तेन आत्मानं प्रणवं क्षेत्रज्ञं वा एकीभूय ध्यायेदित्यर्थः ।

सर्वक्रतुयाजिनामात्मयाजी विशिष्यते ॥ १५ ॥

अनु०—जो आत्मा के लिए यज्ञ करता है वह सभी यज्ञ करने वाले से श्रेष्ठ होता है।

विदुषः प्रशंसैषा । यथा च श्रुतिः—'स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाऽङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक्तत् स्यात्' इति ॥ १५ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति ॥ १६ ॥

यथा हि तूलमैषीकम् ॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने द्वादशः खण्डः ॥ १२ ॥

त्रयोदशः खण्डः

यथा हि तूलमैषीकमग्नौ प्रोतं प्रदीप्यते ।
तद्वत्सर्वाणि पापानि दह्यन्ते ह्यात्मयाजिनः ॥ १ ॥

अनु०—इस विषय में निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया जाता है—जिस प्रकार रुई और इषीक (सूखे हुए सरपत आदि जैसे घास-फूस) अग्नि में डालने पर जल उठते हैं उसी प्रकार आत्मयाजी के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ १ ॥

इषीकं तृणविशेषः । तूलमग्रं प्रणवं शुष्कमिति शेषः । आत्मयाजी यथाविधि भुञ्जानः सर्वाणि इह जन्मनि जन्मान्तरे च कृतानि । श्रुतिरपि 'तद्यथे-

षीकतूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं ह्यस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वान- ग्निहोत्रं जुहोति' इति ॥ १ ॥

'केवलाघो भवति केवलादी। मोघमन्नं विन्दते इति ॥ २ ॥

अनु०—जो व्यक्ति केवल आहार मात्र करता है वह केवल पाप ही एकत्र करता है। वह व्यर्थ ही अन्न खाता है ॥ २ ॥

एवमविदुषो निन्दया विदुषः प्रशंसा। अघं पापं इतरथा केवलाघो भवेत् कोऽसौ? केवलादी केवलाहारीत्यर्थः। स एव मोघमन्नं विन्दत इति अनया ऋचा निन्द्यत इति शेषः। अस्य ऋषिर्भिक्षुः त्रिष्टुप्छन्दः। अन्नदानप्र- शंसा। मोघं वृथा अन्नमदनीयं विन्दते भुङ्क्ते अप्रचेताः अविद्वानित्येतत्। अहं सत्यमेव ब्रवीमि न मृषा। वधो हिंसा इत् इत्यवधारणे स इति केवलाश उच्यते; तस्य केवलाशनं वध एवेत्यर्थः। अथ वा—एतद्भिक्षोर्वाक्यम्, तस्य वध इत्युक्तम्, तमाचेष्टयति नाऽर्यमणं पुष्यति देवतार्थं न प्रयच्छतीति नो सखायं चाऽप्यभ्यागतं पूजयति, स एव केवलाघो भवति केवलादित्वात्। गतश्लोकदर्शितविस्तरः ॥ २ ॥

स एवमेवाऽहरहस्सायम्प्रातर्जुहुयात् ॥ ३ ॥

अनु०—इसी प्रकार प्रतिदिन सायंकाल तथा प्रातःकाल हवन करे ॥ ३ ॥

अत एतद्गम्यते—'सर्वावश्यकावसाने' इत्यस्य दिवसे कर्तव्यानामन्ते दिवाभोजिन एवमेव रात्रावित्ययमर्थ इति ॥ ३ ॥

रात्रौ भोजनद्रव्याभावे कथम्?

अद्भिर्वा सायम् ॥ ४ ॥

अनु०—अथवा सायकाल जल अर्पित करे।

भोजनीयम्, आचमनभोजनसामान्यात् ॥ ४ ॥

मनुष्याणां पौर्वापर्यमाह—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

अग्रे भोजयेदतिथीनन्तर्वत्नीरनन्तरम्।
बालवृद्धांस्तथा दीनान् व्याधितांश्च विशेषतः ॥ ५ ॥

अनु०—इस विषय में निम्नलिखित पद्य उद्धृत करते हैं-सबसे पहले अतिथियों

---

१. श्रुतेरनुवादोऽयम् See तै. ब्रा. २. ८. ८. १.

को भोजन कराये, फिर गर्भिणी स्त्रियों को, उसके बाद बालकों और वृद्धों को भोजन कराये फिर दुःखी व्यक्तियों को और विशेषतः रोगी व्यक्ति को भोजन कराए ॥ ५ ॥

अन्तर्वत्नी गर्भिणी । स्पष्टमन्यत् ॥ ५ ॥

अन्यथाकरणनिन्दा—

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्ते यथाविधि ।
भुज्यमानो न जानाति न स भुङ्क्ते स भुज्यते ॥ ६ ॥

अनु०—किन्तु जो व्यक्ति पहले उपर्युक्त व्यक्तियों को नियमपूर्वक भोजन न कराकर स्वयं ही भोजन कर लेता है, वह यह नहीं जानता कि स्वयं उसी का भक्षण होता है, वह खाता नहीं है, खाया जाता है ॥ ६ ॥

यथाविधीति आचमनभोजनसामान्यात् भुज्यमानः क्षीयमाणोऽपि न जानात्यात्मनो भुज्यमानताम् । न हि स भोजनकर्ता । किं तर्हि ? स भुज्यते कर्म भवति । यथा भुज्यमान द्रव्यं क्षीयते एवं केवलादीत्यभिप्रायः ॥६॥

पितृदैवतभृत्यानां मातापित्रोर्गुरोस्तथा ।
वाग्यतो विघसमश्नीयादेवं धर्मो विधीयते इति ॥ ७ ॥

अनु०—पितरों, देवों, सेवकों, माता, पिता, तथा गुरुओं को खिलाने के बाद अवशिष्ट भोजन मौन होकर ग्रहण करे, यही धर्म बताया गया है ॥ ७ ॥

विघसः शेषः । तथा वसिष्ठोऽप्यतिथिपूजाप्रकरणे आह—'श्रेयांसं श्रेयांसमानुपूर्व्येण । स्वगृह्याणां कुमारीबालवृद्धतरुणप्रजाताः । ततोऽपरान् गृह्यांश्च । श्वचण्डालपतितवायसेभ्यो भूमौ निर्वपेत् । शूद्रायोच्छिष्टमनुच्छिष्टं वा दद्यात् । शेषं दम्पती भुञ्जीयाताम्' इति । वाग्यत इति पुनर्वचनमादरार्थम् ॥७॥

अथाऽप्युदाहरन्ति—

'अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनः ।
द्वात्रिंशतं गृहस्थस्याऽपरिमितं ब्रह्मचारिणः ॥ ८ ॥

अनु०—इस सबन्ध मे ही निम्नलिखित पद्य उद्धृत करते हैं संन्यासी का भोजन आठ ग्रास का होता है, वानप्रस्थ का भोजन सोलह ग्रास का तथा गृहस्थ का भोजन बत्तीस ग्रास का होता है, किन्तु ब्रह्मचारी के लिए भोजन के ग्रासों का कोई नियम नहीं है ॥ ८ ॥

---

१. cf. वा. ध. ६. १८

अपरिमितं ग्रासानां परिमाणसङ्ख्यानियमो नास्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

[1]आहिताग्निरनड्वांश्च ब्रह्मचारी च ते त्रयः ।
अश्नन्त एव सिद्ध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्नतामिति ॥ ९ ॥

अनु०—अग्निहोत्री, बैल और ब्रह्मचारी-ये तीनों अपरिमित भोजन करने पर ही अपना कार्य सम्पादित कर पाते हैं; भोजन किये बिना वे अपने कार्य नहीं कर सकते ॥ ९ ॥

अनड्डुद्ग्रहणं दृष्टान्तार्थम् । नैतेषां परिमितमित्येतत्सिध्यति । कर्मकर्तृत्वे-नाऽनश्नतामेषां न सिद्धिः कर्मणः । उपवासप्रतिषेधो वाऽयम् । आहिताग्नेर्ब्र-ह्मचारिणश्चोपवासे सति शुश्रूषायाः कर्मणश्च लोपप्रसङ्गात् ॥ ९ ॥

किञ्च—

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा योऽनश्नंस्तु तपश्चरेत् ।
प्राणाग्निहोत्रलोपेन अवकीर्णी भवेत्तु सः ॥ १० ॥

अनु०—जो गृहस्थ या ब्रह्मचारी उपवास करते हुए तपस्या करता है, वह प्राणाग्निहोत्र न करने से अवकीर्णी हो जाता है ॥ १० ॥

प्राणाग्निहोत्रलोपनिन्दैषा । नन्वेवं सति पञ्चाहुतिलोप एव दोषस्स्यात्, नेतरग्रासलोपे । यथाऽग्निहोत्रहोमे हुतशेषप्राशनाभावे दोषो नाऽस्ति तद्वदेत-दपि । वक्तव्यो वा विशेषः उच्यते-स्यादेतदेवं यद्यनशननिन्दा न स्यात्, अस्ति तु । तस्मादनशननिन्दैषा ॥ १० ॥

किमेष एवोत्सर्गः ? सर्वदाऽशितव्यमेव ? नेत्याह—

अन्यत्र प्रायश्चित्तात्प्रायश्चित्ते तदेव विधानम् ॥ ११ ॥

अनु—प्रायश्चित्त की तपस्या के अतिरिक्त अन्य प्रायश्चित्त में उपवास ही नियम है ॥ ११ ॥

उपवास एव साधीयानित्यर्थः ॥ ११ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति

अन्तरा प्रातराशं च सायमाशं तथैव च ।
सदोपवासी भवति यो न भुङ्क्ते कदाचनेति ॥ १२ ॥

अनु० -इस विषय में निम्नलिखित उद्धृत करते हैं—जो प्रातः कालीन और

---

१. cf वा. ध. ६. १९

सन्ध्याकालीन भोजन के बीच कभी भोजन नही करता वह सदा उपवास करने वाले के समान ही होता है ॥ १२ ॥

कालयोरन्तराऽनशनं तदुपवासफलं भवेत्। अतश्च नाऽन्तरा भोजनं कर्तव्यम् ॥ १२ ॥

प्राणाग्निहोत्रमन्त्रांस्तु निरुद्धे भोजने जपेत्।
त्रेताग्निहोत्रमन्त्रांस्तु द्रव्यालाभे यथा जपेदिति ॥ १३ ॥

अनु०—जिस प्रकार यज्ञ की वस्तुओं के अभाव में तीनों अग्नियों से संबद्ध अग्निहोत्र के मन्त्रों का जप किया जाता है, उसी प्रकार भोजन न उपलब्ध होने पर प्राणाग्नि होत्र के मन्त्रों का जप करना चाहिए ॥ १३ ॥

निरुद्धे भोजने व्याध्यादिना द्रव्यासम्भवेन वा तदानीं 'भूर्भुवस्स्वः' इत्यादीन् प्राणाहुतिमन्त्रान् वा जपेत् ॥ १३ ॥

[१]एवमेवाऽऽचरन् ब्रह्मभूयाय कल्पते ब्रह्मभूयाय कल्पत इति ॥ १४ ॥

इति द्वितीयप्रश्ने त्रयोदशः खण्डः ॥

अनु०—इस प्रकार आचरण करने वाला ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है।

ब्राह्मणो ब्रह्म तद्भूयं तद्भावः ॥ १४ ॥

इति श्रीगोविन्दस्वामिकृते बौधायनधर्मविवरणे
द्वितीयप्रश्ने सप्तमोऽध्यायः।

द्वितीयप्रश्ने अष्टमोऽध्यायः

चतुर्दशः खण्डः

येन विधिना स्वयं भुञ्जीत तत्प्रतिपादयितुमधुना परभोजनं कारयितुं काम्यस्य विधानमुच्यते। द्विविधं भवत्यतिथिभोजनं श्राद्धभोजनं च। तदिदानीं श्राद्धमुच्यते--

पित्र्यमायुष्यं स्वर्ग्यं प्रशस्यं पुष्टिकर्म च ॥ १ ॥

अनु०—पितृदेवताओं के लिए श्राद्ध कर्म दीर्घ आयु प्रदान करने वाला, स्वर्ग देने वाला, प्रशंसनीय तथा समृद्धि का कारण होता है ॥ १ ॥

---

१. "उत्तम एवमेव" इति ख. ग. घ. पुस्तकेषु सूत्रपाठः।

पितृदेवत्यं पित्र्यं श्राद्धम् । तदेव आयुष्यमायुषे हितम् । स्वर्ग्यं स्वर्गसाधनम् । प्रशस्यं प्रशंसनीयम् । पुष्टिकर्म सर्वसुखसम्पत्तिः । एवंलक्षणं श्राद्धं वक्ष्याम इति संग्रहः क्रियते ॥ १ ॥

कान् पुनश्श्राद्धे भोजयेदित्याह—

[1]त्रिमधुस्त्रिणाचिकेतस्त्रिसुपर्णः पञ्चाग्निष्षडङ्गविच्छीर्षको ज्येष्ठसामिकस्स्नातक इति पङ्क्तिपावनाः ॥ २ ॥

अनु०—त्रिमधु (मधु शब्द वाले तीन मन्त्रों का सम्यक् अभ्यास) करने वाला, तीन बार नाचिकेत व्रत किया हुआ, ('ब्रह्ममेतु माम्' आदि तीन अनुवाकों का ज्ञाता), त्रिसुपर्ण व्रत करने वाला, पञ्चाग्नि की तपस्या करने वाला, वेद के छः अंगों का ज्ञाता, शिरोव्रत किया हुआ, ज्येष्ठसाम का अध्येता तथा स्नातक—ये पंक्ति को पवित्र करते है ॥ २ ॥

टि०—मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नस्सन्त्वोषधीः ।

त्रयो मधुशब्दवन्तो मन्त्राः[2] 'मधु वाता ऋतायते' इत्यादयः । ते तेन बहुशोऽभ्यस्ताः स त्रिमधुः । [3]त्रिणाचिकेतो नामाऽथर्वणां व्रतम्, तच्चारी । अयं वाव यः पवते' इत्यनुवाकत्रयं वा, तद्विद्वान् । [4]त्रिसुपर्णो नाम बह्वृचानां व्रतं तच्चारी । त्रिसुपर्णः 'ब्रह्म मेतु माम्' इत्यनुवाकत्रयं वा, तद्विद्वान् ।[5] पञ्चाग्निः

---

१. cf आप. ध. २. १७. २२.

२. मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नस्सन्त्वोषधीः ॥ १ ॥
　मधुनक्तमुतोषसि मधुमत्पार्थिवं रजः । मधुद्यौरस्तु नः पिता ॥ २ ॥
　मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ ३ ॥
　(तै. सं. ४. २. ९)

३. नचिकेता नाम कश्चिदृषिरासीत्, तस्मै यमेनोपदिष्टश्चयनविशेषो नाचिकेतशब्देनाऽभिधीयते इति प्रतिपादितं तैत्तिरीयब्राह्मणे (काठके ३.८) विस्तरश उपाख्यानात्वाख्यानपुरस्सरं कठोपनिषदि च । तदर्थं यद्व्रतं, तन्नाचिकेतं नाम । यो नाचिकेताख्यं चयनं वारत्रयमचिनोत्, स त्रिणाचिकेतः तद्विज्ञाता तदध्येता तदनुष्ठानवान् वा इति कठोपनिषद्भाष्ये ।

४. ब्रह्म मेतु माम्, ब्राह्ममेधया, ब्रह्ममेधवा इत्यनुवाकत्रयं त्रिसुपर्णः ।

५. सावित्र, नचिकेत, चातुर्होत्रिय, वैश्वसृजा, रुणकेतुकाख्यः पञ्च चयनविशेषाः काठके (का. १. २. ३) समन्त्रकास्समाम्नताः, ते पञ्चाऽग्नयः तदध्येता, तच्चेता वा पञ्चाग्निः । छान्दोग्योपनिषदुक्तपञ्चाग्निविद्याध्येता इति मनुव्याख्याने (३. १८५) मेधातिथिः ।

सभ्यावसथ्याभ्यां सह । षडङ्गवित् प्रसिद्धः ।[1] शीर्षकः शिरोव्रतिकः अथर्वणा-मेतच्छिरोव्रतं नाम । ज्येष्ठसाम 'मूर्धानं दिव' इत्यस्यामुत्पन्नं तद्योऽधीते स ज्येष्ठसामिकः । एवमुक्तलक्षणः स्नातको वेदितव्यः । पंक्तिपावनाः पङ्क्ति-शोधकाः ॥ २ ॥

तदभावे रहस्यवित् ॥ ३ ॥

अनु०—इनके न होने पर रहस्य विद्या का ज्ञाता पंक्ति को पवित्र करता है ॥ ३ ॥

रहस्यमरण्ये पठितव्यो ग्रन्थः, यस्तमर्थतो ग्रन्थतश्च वेत्ति सोऽपि पंक्ति-पावनः श्राद्धार्हः । अत्र तदभावशब्दः पूर्वैस्सम्बन्धनीयः रहस्यविदभावे त्रिम-ध्वादय इत्यर्थः ॥ ३ ॥

ऋचो यजूंषि-सामानीति श्राद्धस्य महिमा ।
तस्मादेवंविदं सपिण्डमप्याशयेत् ॥ ४ ॥

अनु०—ऋचाओं, यजुस् मन्त्रों और साम से श्राद्ध का माहात्म्य बढ़ता है । अत एव सपिण्ड संबन्ध वाला व्यक्ति भी इनका ज्ञाता हो तो उसे भोजन कराये ॥ ४ ॥

महिमा सम्पत् । पंक्तिपावनाः ऋगादिशब्देन तद्विदो लक्ष्यन्ते । यस्मादेवं तस्मात् एवंविदं रहस्यविदं ब्रह्मज्ञम् । तस्मादत्यन्तगुणवानपि रहस्यवित्स-पिण्डो भोजयितव्यः । रहस्यविद्धि भूतानां श्रेष्ठो भवति । आह च—

भूतानां प्राणिनश्श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराश्श्रेष्ठाः नरेषु ब्राह्मणास्स्मृताः ॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसः विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः ॥
ब्रह्मविद्भ्यः परं भूतं न किञ्चिदिह विद्यते ॥ इति ॥

रक्षोघ्नानि च सामानि स्वधावन्ति यजूंषि च ।
मध्वृचोऽथ पवित्राणि श्रावयेदाशयञ्छनैः ॥ ५ ॥

अनु०—भोजन कराने वाला भोजन करने वाले ब्राह्मणों को रक्षोघ्न साम, ('सोमाय पितृपीताय स्वधानमः' आदि) स्वधावत् यजुस् मन्त्र, ('मधु वाताः' इत्यादि तीन) मधु नाम की ऋचाएं 'पवमानस्सुवर्जनः' इत्यादि पवित्र करने वाले मन्त्र सुनवाये ॥ ५ ॥

---

१. इदमेव शिरोव्रतं मुण्डकोपनिषदि "शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्' इत्यनूदितम् ।

रक्षोघ्नानि सामानि [1]"अग्ने रक्षाणो अंहसः, [2]अग्ने युक्ष्वाहि ये तव,[3] प्रत्यग्ने मिथुना दह यातुधाना, [4]प्रत्यग्ने हरसा हरः, [5]न तस्य मा यया च न,[6] अष्टयग्ने नवस्य मे, [7]यद्वा उ विश्पतिः शितः,[8] अग्निं होतारम्' एतत्सूक्तोत्पन्नानि स्वधावन्ति यजूंषि च 'सोमाय पितृपीताय स्वधा नमः' इत्यादीनि। मध्वृचः 'मधु वाताः' इत्यादीनि त्रीणि पवित्राणि 'पवमानस्सुवर्जनः' इत्यादीनि भुञ्जानान् ब्राह्मणान् श्रावयेत् ॥ ५ ॥

[9]चरणवतोऽनूचानान्योनिगोत्रमन्त्रासम्बन्धाञ्छुचीन्मन्त्रवतस्त्र्यवरानयुजः पूर्वेद्युः प्रातरेव वा निमन्त्र्य सदर्भोपक्लृप्तेष्वासनेषु प्राङ्मुखानुपवेशयत्युदङ्मुखान्वा ॥ ६ ॥

अनु०—उत्तम आचरण वाले, वेदों के विद्वान्, पवित्र, मन्त्र के ज्ञाता श्रोत्रिय, त्रिमधु आदि जानने वाले, वेदाङ्ग के विद्वान् कम से कम तीन और सदैव विषम संख्या में ब्राह्मण को, जो विवाह, गोत्र, मन्त्र आदि द्वारा सम्बन्धी न हो, श्राद्ध के दिन से एक दिन पहले अथवा श्राद्ध के दिन ही प्रातःकाल निमन्त्रण देकर श्राद्ध कर्ता उन्हें दर्भ से ढके हुए आसनों पर पूर्व या उत्तर की ओर मुख कराकर बैठावें ॥ ६ ॥

---

१. अग्ने रक्षाणो अंहसः प्रति स्म देव रिषतः । तपिष्ठैरजरो दह । (सा. सं. पूर्वार्चिके १ प्रपाठके १ अर्धे ३. दशतौ ३ ऋक्)

२. अग्ने युक्ष्वा हि ये तवाऽश्वासो देव साधवः । अरं वहन्त्याशवः । (सा. सं. पू, अर्ध १. द. ३. ऋ. ४.) ।

३. ऋ. सं. ८. ४. ९. ४.

४. प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणाहि विश्वतस्परि । यातुधानस्य रक्षसो बलं न्युब्ज वीर्यम् । (सा. सं. पू. प्र. १. अ. २. ५ द. ऋ. ५.)

५. न तस्य मायया चन रिपुरीशीत मर्त्यः । यो अग्नये ददाश हव्यदातये । (सा. सं. पू. प्र. २. अ. १. १. ऋ, ८,)

६. अष्टयग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्पते । नि मायिनस्तपसा रक्षसो दह । (सा. सं. पू. २. १. १. १०)

७. यद्वा उ विश्पतिश्शितस्सुप्रीतो मनुषो विशे । विश्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति । (सा. सं. पू. २, १. २. ८.)

८. अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसोस्सूनुं सहसो जातवेदसम् । विप्रं न जातवेदसम् । (सा. सं. पू. ५. २. ३. ९.)

९. cf आप. ध. २. १६. ४.

टि०—गौतम के अनुसार कम से कम नौ ब्राह्मणों को भोजन कराने का नियम है "नवावरान्भोजयेदयुजः" २. ६. ७ पृ० १५९ किन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि अपनी सामर्थ्य के अनुसार नौ से कम ब्राह्मणों को भी भोजन कराया जा सकता है। "यथोत्साहं वा"। युवक ब्राह्मण को दान देना अधिक उत्तम बताया गया है किन्तु जिसे श्राद्ध का भोजन करावे उससे मित्रता का प्रयोजन न सिद्ध करे " न च तेन मित्रकर्म कुर्यात्" गौतम० २. ६. १२ पृ० १६०

चरणमाचारः। यद्वा—गुरुपूर्वक्रमागतं शाखाध्ययनं तद्विहितोपनयनं च येषां ते चरणवन्तः। वेदाङ्गाध्यायिनोऽनूचानाः। योन्यसम्बन्धाः। गोत्रासम्बन्धाः असगोत्राः। मन्त्रासम्बन्धाः अशिष्योपाध्यायाः। शुचयो बाह्याभ्यन्तरयोः। मन्त्रवन्तः श्रोत्रियाः। त्रिमध्वादीनामेतेषां च सम्भवापेक्षया व्यस्तसमस्तभावः कल्प्यः। निमन्त्रणं-श्वः करिष्यामि प्रसीदन्तु भवन्तो भोक्तुमित्येवमादि ॥ ६ ॥

अथैनांस्तिलमिश्रा अपः प्रतिग्राह्य गन्धैर्माल्यैश्चाऽलङ्कृत्याऽग्नौ करिष्यामीत्यनुज्ञातोऽग्निमुपसमाधाय सम्परिस्तीर्याऽऽग्निमुखात्कृत्वाऽऽज्यस्यैव तिस्र आहुतीर्जुहोति—"सोमाय पितृपीताय स्वधा नमस्स्वाहा। यमायाऽङ्गिरस्वते पितृमते स्वधा नमस्स्वाहा। अग्नये कव्यवाहनाय स्विष्टकृते स्वधा नमस्स्वाहे"ति ॥ ७ ॥

इसके उपरान्त उनको तिल मिश्रित जल दे, उन्हें गन्ध और माला से अलंकृत करे और "अग्नौ करिष्यामि" (मैं अग्नि में हवन करना चाहता हूं") इस प्रकार उनकी अनुमति से अग्नि का उपसमाधान करे, उसके चारों ओर कुश बिछावे, अग्नि मुख तक की क्रियाएं कर इन मन्त्रों के साथ आज्य की तीन आहुतियाँ करे "सोमाय पितृपीताय स्वधानमस्स्वाहा। अग्नये कव्यवाहनाय स्विष्टकृते स्वधा नमस्स्वाहा" ॥ ७ ॥

अग्नौ करिष्यामीत्युक्ते कुरुष्वेत्यभ्यनुज्ञात इति शेषः। अन्यदातिरोहितम्। दार्विहोमिकतन्त्रप्राप्त्यर्थमाग्निमुखादित्युक्तम् ॥ ७ ॥

तच्छेषेणाऽन्नमभिघार्याऽन्नस्यैता एव तिस्र आहुतीर्जुहुयात् ॥८॥

अनु०—अवशिष्ट आज्य अन्न में मिलाकर उस अन्न से ही तीन आहुतियाँ करे ॥ ८ ॥

तच्छेषेण आज्यशेषेण अन्नस्य अन्नेनेत्यर्थः। एता इत्याहुतिमन्त्रान् व्यपदिशति ॥ ८ ॥

वयसां पिण्डं दद्यात् ॥ ९ ॥

अनु०—कौओं के लिए पिण्ड दे ।। ९ ।।

वयश्शब्देनेह काका गृह्यन्ते ॥ ९ ॥

पितृभ्यो दातव्ये वयोभ्यः पिण्डदाने कारणमाह—

"वयसां हि पितरः प्रतिमया चरन्ती" ति विज्ञायते ॥ १० ॥

अनु०—क्योंकि वेद में कहा गया है कि पितृ लोग कौओं के रूप मे विचरण करते हैं ।। १० ।।

प्रतिमया आकारेण ॥ १० ॥

अथेतरत् साङ्गुष्ठेन पाणिनाऽभिमृशति ॥ ११ ॥

अनु०—शेष अन्न को हाथ और अंगूठे को स्पर्श करे ।। ११ ।।

भोक्तुकामस्य ब्राह्मणस्य कराङ्गुष्ठेन अनखेन स्वपाणिना भोज्यद्रव्यमभिमृशति । स्वपाणिव्यवहितकारणम् ॥ ११ ॥

तत्रैते मन्त्राः—

पृथिवीसमं तस्य तेऽग्निरुपद्रष्टर्चस्ते महिमा दत्तस्याऽप्रमादाय पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानं ब्रह्मणस्त्वा मुखे जुहोमि ब्राह्मणानां त्वा विद्यावतां प्राणापानयोर्जुहोम्यक्षितमसि मा पितॄणां क्षेष्ठा अमुत्राऽमुष्मिन् लोक इति । अन्तरिक्षसमं तस्य ते वायुरुपश्रोता यजूंषि ते महिमा दत्तस्याऽप्रमादाय, पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानं ब्रह्मणस्त्वा मुखे जुहोमि ब्राह्मणानां त्वा विद्यावतां प्राणापानयोर्जुहोम्यक्षितमसि मा पितामहानां क्षेष्ठा अमुत्राऽमुष्मिन् लोक इति । द्यौसमं तस्य त आदित्योऽनुख्याता सामानि ते महिमा दत्तस्याऽप्रमादाय पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानं ब्रह्मणस्त्वा मुखे जुहोमि ब्राह्मणानां त्वा विद्यावतां प्राणापानयोर्जुहोम्यक्षितमसि मा प्रपितामहानां क्षेष्ठा अमुत्राऽमुष्मिन् लोक इति ॥ १२ ॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने चतुर्दशः खण्डः ।

अनु०—इसके बाद निम्नलिखित मन्त्रों का जप करे तुम पृथिवी के समान व्यापक हो, अग्नि तुमको देखता है, ऋचा तुम्हारी महिमा है, दिये गये दान के व्यर्थ न होने के लिए पृथिवी तुम्हारा पात्र है, आकाश आवरण है, मैं तुम्हें ब्रह्म के मुख में

हवन करता हूँ मैं तुम्हे विद्वान ब्राह्मणों के प्राण और अपान में हवन करता हूं, तुम अविनश्वर हो, तुम उस लोक मे पितरों के पास पहुंचने में कभी विफल नहीं होते। तुम अन्तरिक्ष के समान हो, वायु तुम्हें सुनता है, यजुस मन्त्र तुम्हारी महिमा हैं··· तुम द्युलोक के समान हो, सूर्य हो, सूर्य तुम्हें प्रकट करता है, साम तुम्हारी महिमा है···॥ १२ ॥

एते त्रयो मन्त्राः पृथिव्यन्तरिक्षद्युक्रमाः । लोकानां तावन्महिमा एव वेदितव्यः । यदेतद्धीयतेऽन्नं तदामन्त्र्यते । पृथिव्या समं तस्यैवंविधस्य तव अग्निरुपद्रष्टा साक्षिभूतः एवमुपश्रोता अनुख्यातेति च । ऋचस्ते महिमा महत्त्वम् । एवमुपासनया दत्तास्याऽन्नस्याऽप्रमादो भवति । पृथिव्येव तव पात्रं आधारः द्यौरेवाऽपिधानं ब्रह्मणा ब्राह्मणस्य मुखे त्वा जुहोमि । ब्राह्मणानामित्यादि जुहोमीत्यन्तं प्रतिपत्तिमात्रम् । अक्षितमसि मा क्षेष्ठाः क्षयं मा गाः पित्रादीनां परस्मिन् लोके ॥ १२ ॥

पञ्चदशः खण्डः

अथवै भवति ॥ १ ॥

अग्नौ करणशेषेण तदन्नमभिघारयेत् ।
निरङ्गुष्ठं तु यद्दत्तं न तत्प्रीणाति वै पितॄन् ॥ २ ॥

अनु०—अथवा यह इस प्रकार भी किया जाता है । अग्नि में हवन के बाद अवशिष्ट उस अन्न को अंगूठे से फेंके । जो अन्न बिना अंगूठे से स्पर्श किए हुए दिया जाता है वह पितृजनों को प्रसन्न नहीं करता ॥ १--२ ॥

हस्ताङ्गुष्ठेनाऽभिमर्शनमुक्तम् । तदभावे निन्दैषा ॥ १,२ ॥

उभयोश्शाखयोर्मुक्तं पितृभ्योऽन्नं निवेदितम् ।
[1]तदन्तरमुपासन्तेऽसुरा वै दुष्टचेतसः ॥ ३ ॥

अनु०—पितरों के लिए जो अन्न दोनों हाथों से नहीं दिया जाता उसे दुष्ट असुर बीच में ही खा लेते हैं ॥ ३ ॥

सव्येन पाणिना भोजनपात्रमुपस्पृश्यैव भुञ्जीतेत्येतदनेन विधीयते । शाखयोः हस्तयोः ॥ ३ ॥

---

१. तदन्तरमुपासन्ते असुरा दुष्टचेतस. इति. क. पु.

यातुधानाः पिशाचाश्च प्रतिलुम्पन्ति तद्धविः ।
तिलदाने ह्यदायादास्तथा क्रोधवशेऽसुराः ॥ ४ ॥

अनु०—भोजन के स्थान पर तथा आसनों पर तिल न बिखरने पर उस हवि को यातुधान और पिशाच, जिनका कोई अंश नहीं होता, छीन लेते हैं और श्राद्ध कर्ता के क्रोध मे आने पर उस हवि को असुर ले लेते हैं ॥ ४ ॥

भोजनस्थानेष्वासनेषु च तिलविकिरणस्याऽक्रोधस्य च प्रशंसैषा ॥ ४ ॥

काषायवासा यान्कुरुते जपहोमप्रतिग्रहान् ।
न तद्देवगमं भवति हव्यकव्येषु यद्धविः ॥ ५ ॥

अनु०—लाल या काषाय वस्त्र धारण कर मनुष्य जो प्रार्थनाएं या होम करता है अथवा जो दान लेता है, वह देवों के समीप नही पहुँचता उसी प्रकार उसके द्वारा यज्ञ में दी गयी हवि भी देवों को नहीं मिलती ॥ ५ ॥

टि०—तात्पर्य यह है कि देवकार्य और पितृकर्म में यजमान को श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिए। गोविन्द के अनुसार काषाय वस्त्र धारण करने वाले संन्यासियों को भी पितृकर्म के अवसर पर निमन्त्रित नहीं करना चाहिए।

दैवे कर्मणि पित्र्ये च काषायवासोनिषेधः श्वेतवाससा भवितव्यमिति विधानार्थम् । किञ्च—काषायवाससो यतीश्वराः । तेऽपि पित्र्ये दैवे कर्मणि जपहोमप्रतिग्रहान् कुर्वते । तद्देवगमं पितृगमं च न भवतीति शेषः । हव्यं देवदैवत्यं कव्यं पितृदैवत्यम् ॥ ५ ॥

यच्च दत्तमनङ्गुष्ठं यच्चैव प्रतिगृह्यते ।
आचामति च यस्तिष्ठन् न स तेन समृध्यत इति ॥ ६ ॥

अनु०—जो दान अंगूठे से स्पर्श किये बिना दिया जाता है और जो दान अंगूठे से स्पर्श के बिना ग्रहण किया जाता है और जो आचमन खड़े होकर किया जाता है उससे कर्ता को कोई फल नही प्राप्त होता—वह लाभान्वित नहीं होता है ॥ ६ ॥

प्रदानप्रतिग्रहयोरङ्गुष्ठस्याऽबहिर्भावार्थः, तिष्ठतः आचमननिषेधार्थश्चायं श्लोकः ॥ ६ ॥

आद्यन्तयोरपां प्रदानं सर्वत्र ॥ ७ ॥

अनु०—दान मे आरम्भ और अन्त में सर्वत्र जलदान करना चाहिए ॥ ७ ॥

सर्वत्र दाने श्रद्धधानेनाऽऽदावन्ते च जलदानं कर्तव्यम् । तथा च गौतमः 'भिक्षादानमप्पूर्वम् । ददातिषु चैवं धर्म्येषु' इति ॥ ७ ॥

अथप्रभृति यथाविज्ञानम् ॥ ८ ॥

अनु०—अथ प्रभृति दार्विहोम की उत्तरवर्ती क्रियाएं पूर्वक करे ॥ ८ ॥

दार्विहोमिकमुत्तरतन्त्रं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ८ ॥

शेषमुक्तमष्टकाहोमे ॥ ९ ॥

अनु०—शेष नियमों का विवेचन अष्टका होम के संबन्ध में किया गया है ॥९॥

इतोऽधिकमष्टकाहोमादवगमयितव्यम् । 'आशयेष्वन्नशेषान् सम्प्रकिरन्ति' इत्यादि । अनेनैतत् ज्ञापितं भवति—मासिश्राद्धस्यवेदं प्रयोगान्तरमिति ॥९॥

[1]द्वौ देवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ।
भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे ॥ १० ॥

अनु०—देवकार्य में दो ब्राह्मणों को, पितृकर्म मे तीन ब्राह्मणो को अथवा इन दोनों कर्मों में एक-एक ब्राह्मण को भोजन करावे अधिक समृद्ध होने पर भी इनसे अधिक संख्या में ब्राह्मणों को भोजन कराने की ओर प्रवृत्त न होवे ॥ १० ॥

देवे वैश्वदेवे ॥ १० ॥

इतरथा दोषमाह—

[2]सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदम् ।
पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मात्तं परिवर्जयेत् ॥ ११ ॥

अनु०—अधिक संख्या में ब्राह्मणों को भोजन कराने पर इन पाँचों का विनाश होता है—सत्कार, देश और समय के औचित्य का, पवित्रता का तथा योग्य ब्राह्मणों की उपलब्धि का । अतः ब्राह्मणों की संख्या के विस्तार का परित्याग करना चाहिए ॥ ११ ॥

कारुण्यात् स्नेहात् लोकगार्हाभयाद्वा श्राद्धविस्तरे प्रसक्ते सति प्रतिषेधः ॥ ११ ॥

उरस्तः पितरस्तस्य वामतश्च पितामहाः ।
दक्षिणतः प्रपितामहाः पृष्ठतः पिण्डतर्कका इति ॥ १२ ॥

इति द्वितीयप्रश्ने पञ्चदशः खण्डः ॥

अनु०—सामने की ओरसे उसके पितृगण, बाएँ की ओर से पितामह, दाहिने से

---

1 See. मनु. ३. १२५. २. See. मनु. ३. १२६.

प्रपितामह और पीछे से पिण्ड की इच्छा करने वाले मातामहादि (पिण्ड ग्रहण करते हैं) ॥ १२ ।

श्रद्धासञ्जननोऽर्थवादः। पिण्डतर्ककाः पिण्डचिन्तकाः मातामहादयः॥१२॥

इति श्रीगोविन्दस्वामिकृते बौधायनधर्मविवरणे

द्वितीयप्रश्नेऽष्टमोऽध्यायः ।

द्वितीयप्रश्ने नवमोऽध्यायः

षोडशः खण्डः

औरसेन हि पुत्रेणर्णापाकरणं भवति । ततस्तत्प्रशंसार्थमाह—

प्रजाकामस्योपदेशः ॥ १ ॥

अनु०—अब उत्तम पुत्र चाहने वाले के लिए उपदेश दिया जाता है ॥१॥

प्रजा सत्पुत्रः, तत्कामस्योपदेशः करिष्यते ॥ १ ॥

प्रजननिमित्ता समाख्येत्यश्विनावूचतुः ॥ २ ॥

अनु०—पुत्र उत्पन्न करने से ही प्रसिद्धि मिलती है ऐसा अश्विन देवों ने कहा है ॥ २ ॥

प्रजननमुत्पादनं तन्निमित्ता पुत्र इति समाख्या प्रसिद्धिरित्यर्थः। न तु दानादिनिमित्ता पुत्रसमाख्या । अतो दत्तादिरत्रप्रतिनिधिः । तत्रैते ऋचौ भवतः-'परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो' 'न हि प्रभायारणस्सुशेवः' इति ॥

प्रजाकामस्योपदेश इत्युक्तम् । कोऽसावुपदेश इत्याह—

आयुषा तपसा युक्तस्स्वाध्यायेज्यापरायणः ।
प्रजामुत्पादयेद्युक्तस्स्वे स्वे वंशे जितेन्द्रियः ॥ ३ ॥

अनु०—आयु और तप की वृद्धि करने वाली क्रियाएँ कर, स्वाध्याय और यज्ञ में तत्पर होकर तथा अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर विधिपूर्वक अपने ही वंश में सन्तान उत्पन्न करे ॥ ३ ॥

टि०—'अपने ही वंश में' से तात्पर्य यह है कि अपने ही वर्ण की स्त्री से । 'जितेन्द्रिय' से यहाँ जननेन्द्रिय के संयम का संकेत किया गया है, अर्थात् पर स्त्री से व्यभिचार न करे और अपनी पत्नी से भी उचित काल में ही सम्बन्ध रखे ।

आयुश्शब्देन तत्करणं लक्ष्यते। तच्च विधिवत्सन्ध्योपासनं विप्रापवादाभाव इत्यादि। आह च—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
आयुर्विप्रापवादेन सन्ध्यावन्दनहानतः॥
अतिथिपूजाहानाच्च नश्यत्यायुरपि ध्रुवम्।
नाऽधितिष्ठेत केशांस्तु न भस्मास्थिकपालकान्।
न कार्पासास्थि न तुषान् दीर्घमायुर्जिजीविषुः॥ इति॥

तथा—

न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्॥
लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः।
स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव॥

इत्येवमादि द्रष्टव्यम्। तपो दानम्। 'एतत्खलु वाव तप इत्याहुर्यस्स्वं ददातीति' इति श्रुतेः। वक्ष्यमाण वा ब्रह्मचर्यादि। स्वाध्यायेज्ये तु प्रसिद्धे एव। स्वे इति स्वे स्वे वर्णे ब्राह्मणो ब्राह्मण्यामित्यादि। इन्द्रियमिहोपस्थमभिप्रेतं पुत्रकारणत्वात्। तज्जयः परदारादिवर्जनम्, स्वदारेष्वप्यकालवर्जनं च। एते प्रजोत्पत्त्युपायाः यथाविधानं क्रियमाणाः प्रजोत्पत्त्युपाया भवन्तीत्यभिप्रायः॥ ३॥

ब्राह्मणस्यर्णसंयोगस्त्रिभिर्भवति जन्मतः।
तानि मुच्याऽऽत्मवान् भवति विमुक्तो धर्मसंशयात्॥ ४॥

अनु०—ब्राह्मण जन्म से ही तीन प्रकार के ऋणों से युक्त होता है। उन ऋणों को चुकाकर वह धर्म के आचरण विषयक संशय से मुक्त हो जाता है॥ ४॥

ब्राह्मणग्रहणात् स्वमूलश्रुतिप्रमाणं द्रष्टव्यम्। त्रिभिः अवश्यकर्तव्यैरिति शेषः। जन्म उपनयनं ततः प्रभृति ऋणवान् भवति। ततः प्राक् शूद्रसमत्वात्। तानि कर्माणि ऋणानि विमुच्य यथाविधि सम्पाद्य आत्मवान् स्वतन्त्रो भवति। यस्मादयं धर्मसंशयात् किरोतानि यथावत् सम्पादयितुं शक्ष्यामो न वेत्येवंरूपसंशयाद्विमुक्तो भवति॥ ४॥

केन कर्मणा तदृणमपाक्रियत इत्याह—

'स्वाध्यायेन ऋषीन् पूज्य सोमेन च पुरन्दरम्।
प्रजया च पितॄन्पूर्वाननृणो दिवि मोदते॥ ५॥

---

1. cf. मनु. ३. ८१.

अनु०—वेद के स्वाध्याय द्वारा ऋषियों की पूजा कर, सोमयज्ञ के सम्पादन से इन्द्र की पूजा कर, प्रजा उत्पन्न कर अपने पूर्वज पितरों को प्रसन्न कर वह ऋणों से मुक्त हो स्वर्ग में सुख प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

सोमेन सोमयागेन ॥ ५ ॥

आयुषा युक्तः प्रजामुत्पादयेदित्युक्तम् । तत्राह—

[1]पुत्रेण लोकान् जयति[2] पौत्रेणाऽमृतमश्नुते ।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण नाकमेवाऽधिरोहतीति ॥ ६ ॥

अनु०—पुत्र की उत्पत्ति से पुरुष इन लोकों को जीत लेता है, पौत्र के माध्यम से अमृत प्राप्त करता है, और पुत्र के पौत्र को देखकर वह परम स्वर्ग ही प्राप्त करता है, ऐसा श्रुति मे कहा गया है ॥ ६ ॥

पुत्रेण दृष्टेन । तत्पुत्रेण तत्पौत्रेण इत्यत्रापि दृष्टेनेति शेषः । अमृतं देवैस्सायुज्यम् । नाकं कमिति सुखम्, तदभावो दुःखम् । एतत्प्रतिषिध्यते । दुःखाननुविद्धं सुखं ब्रह्मणः पदमिति यावत् । 'दिवि मोदते' इति सिद्धे पुनरुपादानं बहुपुत्रोत्पादनार्थम् । यथाहुः पौराणिकाः—

एष्टव्या बहवः पुत्राः यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ।
[3]यजेत वाऽश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥ इति ॥ ६ ॥

अथेदानीं ऋणसंयोगतदपाकरणे श्रुतिप्रमाणक इत्याह—

विज्ञायते च—[4]जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर् ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इति । एवमृणसंयोगं वेदो दर्शयति ॥ ७ ॥

अनु०—वेद के अन्तर्गत कहा गया है कि जन्म से ही ब्राह्मण तीन प्रकार के ऋणों से युक्त होकर उत्पन्न होता है, ऋषियों के लिए ब्रह्मचर्य के ऋण से, देवों के लिए यज्ञ के ऋण से तथा पुत्रोत्पत्ति के लिए पितरों के ऋण से ऋणी होता है । इस प्रकार वेद ने भी ऋणों का संयोग दिखाया है ॥ ७ ॥

तदपाकरणं चेति शेषः ॥ ७ ॥

---

१. cf. मनु, ९. १३७.

२. आनन्त्यमश्नुते. इति. आ. इ. ग. पुस्तकेषु, मनावपि ॥

३. गौरीं वा वरयेत्कन्याम् इति घ. पु. ४. See. तै. सं. ६. ३. ११.

किञ्च—

सत्पुत्रमुत्पाद्याऽऽत्मानं तारयति ॥ ८ ॥

अनु०—उत्तम आचरण वाला पुत्र उत्पन्न कर पुरुष अपनी रक्षा करता है॥८॥

सत्पुत्रस्साधुपुत्रः अध्ययनविज्ञानानुष्ठानसम्पन्नो यथा भवति तथोत्पादनीयः पुत्र इत्यर्थः । 'अनुशिष्टं लोक्यं पुत्रमाहुः तस्मादेनमनुशास्ति' इति श्रुतेः ॥ ८ ॥

इदं चाऽन्यत्—

सप्ताऽवरान् सप्त पूर्वान् षडन्यानात्मसप्तमान् ।
सत्पुत्रमधिगच्छानः तारयत्येनसो भयात् ॥ ९ ॥

अनु०—उत्तम पुत्र प्राप्त करने वाला पुरुष अपने बाद के सात पीढ़ी के पुरुषों को, अपने पूर्व के सात पुरुषों को, दोनों और छः अन्य पुरुषों को तथा सातवें स्वयं को पाप के भय से मुक्त कर देता है ॥ ९ ॥

अधिगच्छानः प्राप्नुवानः सप्तपूर्वापरानात्मपञ्चदशान् एनसस्तारयतीति सम्बन्धः । अन्यानसत्पुत्रानौरसानधिगच्छानः त्रीन् प्राचस्त्रीन् प्रतीचः आत्मसप्तमान् तारयति ॥ ९ ॥

तस्मात्प्रजासन्तानमुत्पाद्य फलं प्राप्नोति ॥ १० ॥

अनु०—अतएव पुत्र उत्पन्न कर वह फल प्राप्त करता है ॥ १० ॥

तस्माद्यत्नवान् प्रजामुत्पादयेत् ॥ ११ ॥

अनु०—इसलिए यत्नपूर्वक पुत्र उत्पन्न करे ॥ ११ ॥

औषधमन्त्रसंयोगेन ॥ १२ ॥

अनु०—इसके लिए औषध तथा मन्त्रों की सहायता ले ॥ १२ ॥

ओषधिसंयोगेन हि प्रजा भवति, शुक्रपानां क्रिमीणामपनयनात् । तथा मन्त्रसंयोगेनाऽपि रक्षःपिशाचाद्यपनयनात् । 'तस्माद्यत्नवान् प्रजामुत्पादयेत्' इत्यस्य विस्तरः ॥ १०-१२ ॥

न चैतावता—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥

इत्येवमाशङ्कनीयमित्याह—

तस्योपदेशः श्रुतिसामान्येनोपदिश्यते ॥ १३ ॥

अनु०—उस (पुत्रोत्पत्ति के इच्छुक) व्यक्ति के लिए उपदेश श्रुति के वचनों के अनुसार ही दिया गया है ।। १३ ।।

तस्य प्रजोत्पादने यत्नवतः औषधाद्युपदेशोऽस्माभिरुपदिश्यते । केन मूलज्ञानेनेति ? श्रुतिसामान्येन श्रुतेस्समानभावस्तुल्यता ऐकरूप्यं श्रुतिसामान्यं तेन । किमुक्तं भवति ? प्रजामुत्पादयेदित्यस्याः श्रुतेः पुत्रकामेष्ट्याः, औषधमन्त्रादिषु चैकरूपेणाऽऽपेक्षिकत्वादिति ।। १३ ।।

इदानीमृणश्रुतौ ब्राह्मणग्रहणं क्षत्रियवैश्ययोरपि प्रदर्शनार्थमेतदित्याह—

सर्ववर्णेभ्यः फलत्त्वादिति फलत्त्वादिति ।। १४ ।।

इति बोधायनीये धर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने षोडशः खण्डः ।।

अनु० -क्योंकि यह सभी वर्णों के प्रयोजन सिद्ध करने से फल प्रदान करता है ।। १४ ।।

फलवत्त्वात् प्रयोजनवत्त्वात् । फलमिहोपनयनस्याऽध्ययनम्, तच्च वेदार्थज्ञानाद्युपयुक्तत्वात् त्रैवर्णिकानामित्यर्थः । यद्वा—फलवत्त्वात् औषधमन्त्रादेरपि ।। १४ ।।

इति श्रीगोविन्दस्वामिकृते बौधायनीयधर्मविवरणे
द्वितीयप्रश्ने नवमोऽध्यायः ।।

द्वितीयप्रश्ने दशमोऽध्यायः

सप्तदशः खण्डः

अथाऽतस्सन्न्यासविधिं व्याख्यास्यामः ।। १ ।।

अनु०—अब हम यहाँ से संन्यास के नियमों की व्याख्या करेंगे ।। १ ।।

सम्यक् न्यासः प्रतिग्रहाणां सन्न्यासः । विधिर्विधानमितिकर्तव्यता ।। १ ।।

सोऽत एव ब्रह्मचर्यवान् प्रव्रजतीत्येकेषाम् ।। २ ।।

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त करने के बाद ही संन्यास ग्रहण किया जा सकता है ।। २ ।।

टि०—गर्भाधानादि संस्कार से संस्कृत, वेदाध्ययन से सम्पन्न, ब्रह्मचर्यव्रत के नियमों का पालन कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने योग्य व्यक्ति भी संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है यह विचार इस कारण है कि ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्म के विषय

में ज्ञान प्राप्त कर, नियमों के आचरण से संयमित इन्द्रियों वाला व्यक्ति ही संन्यास के योग्य हो सकता है, अन्य नहीं।

प्रव्रजन का तात्पर्य है प्रकर्षरूप से जाना, अर्थात् पुनः न लौटने के लिये जाना।

स इति सर्वनाम्ना निर्दिश्यते । स च गर्भाधानादिसंस्कारैस्संस्कृतः अधीतवेदः चीर्णव्रतो गृहस्थाश्रमप्राप्तियोग्यो गृह्यते । तत्राऽपि दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य ब्रह्मविदो ब्रह्मचर्यादेव सन्न्यासेऽधिकारो नाऽन्यस्य । इदमपरं तस्य विशेषणं ब्रह्मचर्यवानिति । अतश्च विप्लुतब्रह्मचर्यस्याऽपि चरितनिर्वेषस्य गृहस्थसन्न्यासवनाश्रमाधिकारः । प्रव्रजति प्रकर्षेण व्रजति न प्रत्यावर्तते इत्यर्थः । तत्र दोषमाह—

चाण्डालाः प्रत्यवसिताः परिव्राजकतापसाः ।
तेषां जातान्यपत्यानि चाण्डालैस्सह वासयेत् ॥

संवासात्तत्र प्रायश्चित्तं संवर्त आह—

सन्यस्य दुर्मतिः कश्चित्प्रत्यापत्तिं व्रजेत्तु यः ।
स कुर्यात्कृच्छ्रमश्रान्त षाण्मासात्प्रत्यनन्तरम् ॥ इति ।

एतदेकेषां मतम् ॥ २ ॥

अथ परेषामाह—

अथ शालीनयायावराणामनपत्यानाम् ॥ ३ ॥

अनु०—कुछ अन्य आचार्यों का मत है कि संन्यास उन शालीन और यायावर गृहस्थों के लिए है जिनके सन्तान नहीं हो ॥ ३ ॥

टि०—शालीन और यायावर आगे तृतीय प्रश्न के प्रथम अध्याय में स्पष्ट किया गया है।

शालीनयायावरा इति च गृहस्थानामेव केनचिद्वृत्तिविशेषेण संज्ञामुत्तरस्मिन्नध्याये वक्ष्यति । अनपत्याश्चेदेतेऽपि प्रव्रजेयुः ॥ ३ ॥

एवमथ सापत्यानामपि—

विधुरो वा ॥ ४ ॥

अनु०—अथवा विधुर पुरुष सन्यास ग्रहण करे ॥ ४ ॥

स्वस्मिन् सञ्जात इति शेषः । विधुरो मृतभार्यः भार्यान्तरोपादानासमर्थश्च गृह्यते ॥ ४ ॥

साम्प्रतमविधुरस्याऽपि सापत्यस्याऽऽह—

प्रजाः स्वधर्मे प्रतिष्ठाप्य वा ॥ ५ ॥

अनु०—अथवा अपने पुत्रों को भलीभाँति अपने धर्म में लगाकर संन्यास ग्रहण करे ॥ ५ ॥

स्वयमसमर्थस्याऽग्निहोत्रादिषु समर्थापत्यस्याऽधिकारः ॥ ५ ॥
अयमपरः कालनियमः पूर्वैस्समुच्चीयते विकल्पार्थो वैराग्यापेक्षया—

सप्तत्या ऊर्ध्वं सन्यासमुपदिशन्ति ॥ ६ ॥

अनु०—अथवा सत्तर वर्ष की अवस्था के बाद संन्यास ग्रहण करने का उपदेश देते हैं ॥ ६ ॥

प्रायशस्सप्तत्या ऊर्ध्वमेव भार्यानिवृत्तरजस्का गार्हस्थ्यधर्मानुष्ठानासामर्थ्यं वा भवतीति मत्वोक्तं सप्तत्या ऊर्ध्वमिति ॥ ६ ॥

वानप्रस्थस्य वा कर्मविरामे ॥ ७ ॥

अनु०—अथवा वानप्रस्थ अपने सभी विहित कर्मों को पूरा करके संन्यास ग्रहण करे ॥ ७ ॥

विरामोऽवसानम् । असामर्थ्यमाश्रमविहितधर्मानुष्ठाने । अस्यामवस्थायां प्रव्रज्याऽप्रव्रज्य वा वानप्रस्थेनाऽपि ध्यानपरायणेन भवितव्यं वानप्रस्थान्तरेभ्य एव भैक्षमाददानेन । उक्तावस्थाव्यतिरिक्तावस्थासु कृतोऽपि संन्यासोऽकृत एव भवति ॥ ७ ॥

सम्प्रत्युक्तलक्षणानामप्यनात्मविदां संन्यासाधिकाराभावं दर्शयितुमृचं पठति—

[1]एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान् ।
तस्यैवाऽऽत्मा पदवित्तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेनेति ॥ ८ ॥

अनु०—ब्रह्म की यह शाश्वत महिमा कर्मों के करने से न तो बढ़ती है और न घटती है। आत्मा ब्रह्म के माहात्म्य को जानती है और इस कारण जो ऐसा जानता है, वह पाप कर्मों से युक्त नहीं होता ॥ ८ ॥

सैषाऽऽश्रमचातुर्विध्यप्रस्तावेऽस्माभिर्व्याख्याता । तं विदित्वेत्येतावन्मात्रोपयुज्यते ॥ ८ ॥

अस्यामृचि नित्यो महिमेति पदद्वयमस्ति । तत्तावदुपपादयति—

अपुनर्भवं नयतीति नित्यः ॥ ९ ॥

अनु०—यह पुनर्जन्म को समाप्त कर देता है ॥ ९ ॥

---

१. See. तै. ब्रा. ३. १२. ९

पुनर्भवः पुनर्जन्म तदभावं नयतीति नित्यः, पदविन्यासेनेत्यर्थः ॥ ९ ॥

[1]महदेनं गमयतीति महिमा ॥ १० ॥

अनु०—यह मनुष्य को महान् महिमा के स्थान पर पहुँचाता है ॥ १० ॥

स्पष्टार्थमेतत् ॥ १० ॥

विधिं व्याख्यास्याम इत्युक्तं, तमाह—

केशश्मश्रुलोमनखानि वापयित्वोपकल्पयते ॥ ११ ॥

अनु०—केश, दाढ़ी, मूँछ, शरीर के रोम तथा नखों को कटाकर संन्यास के लिए तैयारी करे ॥ ११ ॥

पूर्वाह्णे वपनं कृत्वा अपराह्णे उपकल्पयते आर्जयति ॥ ११ ॥

यष्टयश्शिक्यं जलपवित्रं कमण्डलुं पात्रमिति ॥ १२ ॥

अनु०—दण्ड, शिक्य (रस्सी से बना हुआ भिक्षापात्र लटकाने का छीका) जल छानने के लिए वस्त्र, कमण्डलु तथा भिक्षापात्र—

यष्टयो दण्डाः द्वितीयार्थे प्रथमा । शिक्यं रज्जुनिर्मितं भिक्षापात्रधारणम् । जलपवित्रं आचमनार्थोदकस्य पावनहेतुभूतं वस्त्रम् । तच्चाऽभिनवं केशादिरहितं च द्विगुणं त्रिगुणं वाऽष्टाङ्गुलं प्रादेशमात्रं भवति । उक्तः कमण्डलुः । पात्रं भैक्षाचरणार्थम् । तत्र विकल्पः 'अलाबुं दारुपात्रं वा मृन्मयं वैणवं तथा' इति । इति शब्दः पादुकाद्युपलक्षणार्थः । तथा हि—

पादुकामजिनं छत्रं तथा सूत्रमुपानहौ ।
सूचीपल्लववल्कं च त्रिविष्टब्धं कमण्डलुम् ॥

विग्रहसमासोऽन्यतमाभावेऽपि दोषाभावख्यापनार्थः ॥ १२ ॥

एतत्समादाय ग्रामान्ते ग्रामसीमान्तेऽग्न्यगारे वाऽऽज्यं पयो दधीति त्रिवृत्प्राश्योपवसेदपो वा ॥ १३ ॥

अनु०—इन उपकरणों को लेकर गाँव के छोर पर, या ग्राम की सीमा के अन्त स्थान को जाकर, अथवा जिस भवन में अग्नि का आधान किया गया हो उसमें जाकर घृत, दूध और दही तीनों के मिश्रण का भक्षण करे और उसके बाद उपवास करे, अथवा जल पी सकता है ॥ १३ ॥

टि०—'यष्टयश्शिक्यम्' आदि सूत्र के अन्त में 'इति' शब्द से गोविन्द स्वामी

---

१. "महत्वं गमयति" क. ख. ग. पु.

ने यह अर्थ किया है कि पादुका भी ग्रहण करे। घृत, दूध, दधि के मिश्रण का भक्षण करे अथवा जल का पान करे, इस विषय मे विकल्प के नियम का निर्देश है।

आपरिसमाप्तेर्न भुञ्जीत। अपां त्रिवृता सह विकल्पस्सम्भवापेक्षः॥ १३॥

तस्य प्राशनमन्त्रः—

ओं भूस्सावित्रीं[1] प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम्। ओं भुवस्सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि। ओँसुवस्सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयादिति। पच्छोऽर्धर्चशस्ततस्समस्तया च व्यस्तया च॥ १४॥

अनु०—निम्नलिखित मन्त्रों से प्राशन करे—

ओं भूस्सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम्। ओं भुवस्सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि। ओँसुवस्सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात्।

इस प्रकार प्रणव और व्याहृति के साथ सावित्री के प्रत्येक पाद का अलग-अलग तथा प्रत्येक अर्धर्च का पृथक्-पृथक् तथा सम्पूर्ण का एक साथ और अलग-अलग उच्चारण करे॥ १४॥

पच्छः प्रणवव्याहृतिसावित्रीपादः सावित्र्याः विहरणमेतदित्यर्थः। अर्धर्चशस्ततस्समस्तया च व्यस्तया च। अर्धर्चशः सावित्र्याः प्रणवव्याहृतीर्विहरेत्। ततस्समस्तयाऽनवानमुच्चरितया ता एव विहरेत्। व्यस्तया पच्छोऽन्ते विरम्योच्चरितया विहरेत्॥ १४॥

एवमात्मानमात्मना—

[2]आश्रमादाश्रममुपनीय ब्रह्मपूतो भवतीति विज्ञायते॥ १५॥

अनु०—एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश करते हुए पुरुष ब्रह्म के साथ एक हो जाता है, ऐसा वेद में कहा गया है॥१५॥

[3]आश्रमान्तरमितिवचनात्त्रिवृत्प्राशनेनैव संन्यासः कृत इत्येतदेकीयं दर्शनम्॥ १५॥

---

१. 'प्रवेशयामि' इति घ. पुस्तक एव पाठः।

२. आश्रमादाश्रममुपनीय ब्रह्मभूतः इति क. पु. एवमाश्रमा·········ब्रह्मभूत इति, घ. पु. 'ब्रह्मभूतो ब्रह्मपूतः' इति स्मृतिमुक्ताफले।

३. 'आश्रममुपनीय' इत्येव सर्वत्र सूत्रपाठः॥ आश्रमान्तरमिति तु न कुत्रापि।

अथाऽपरेषाम्—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः पश्चाद्भवति भिक्षुक इति ॥ १६ ॥

अनु०—उस सम्बन्ध से निम्नलिखित पद्य उद्धृत करते हैं—

जिसने एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश किया है, हवन किया है और जितेन्द्रिय है, वह भिक्षा और बलि अर्पित करने से श्रान्त होकर स्वयं भिक्षुक अर्थात् संन्यासी बन जाता है ॥ १६ ॥

न केवलं त्रिवृत्प्राशनादेव भिक्षुकः। किं तर्हि ? वक्ष्यमाणैर्होमादिभिरपि। भिक्षुकः इति 'संज्ञायां कन्' इति कन्प्रत्ययः ॥ १६ ॥

स एष भिक्षुरानन्त्याय ॥ १७ ॥

अनु०—इस प्रकार का संन्यासी ब्रह्म के साथ सायुज्य प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

अनन्त एवाऽऽनन्त्यम्, स चाऽऽत्मा तद्भावाय भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

हुतहोम इत्युक्तम्, तदिदानीं प्रपञ्चयति—

पुराऽऽदित्यस्याऽस्तमयाद्गार्हपत्यमुपसमाधायाऽन्वाहार्यपचनमाहृत्य ज्वलन्तमाहवनीयमुद्धृत्य गार्हपत्ये आज्यं विलाप्योत्पूय स्रुचि चतुर्गृहीतं गृहीत्वा 'समिद्वत्याऽऽहवनीये पूर्णाहुतिं जुहोति 'ओं स्वाहे' ति ॥ १८ ॥

अनु०—सूर्य के अस्त होने से पहले गार्हपत्य अग्नि प्रज्वलित करे, उस स्थान पर अन्वाहारपचन अग्नि लाकर जलते हुए आहवनीय अग्नि को निकाल कर गार्हपत्य अग्नि में घृत को पिघलावे, उसे (कुश से) शुद्ध करे स्रुक् से उसमें से चार बार अंश ग्रहण करे और समिध् रखकर प्रज्वलित किये गये आहवनीय अग्नि पर चार बार 'ओं स्वाहा' कहते हुए पूर्णाहुति करे ॥ १८ ॥

नाऽत्र तिरोहितं किञ्चिदस्ति ॥ १८ ॥

एतद्ब्रह्मान्वाधानमिति विज्ञायते ॥ १९ ॥

अनु०—इसी क्रिया को वेद में ब्रह्मान्वाधान कहते हैं ॥ १९ ॥

---

१ सप्त ते अग्ने समिधस्सप्त जिह्वास्सप्तर्षयस्सप्त धाम प्रियाणि। सप्तहोत्रास्सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरा पृणस्वा घृतेन ।। (तै०सं० १. ५. ३. २.) इति समिद्वती ॥

यथा[1] दर्शपूर्णमासयोरन्वाधानं तथैतदपि ब्रह्मप्रवेशस्य ॥ १९ ॥

अथ सायं हुतेऽग्निहोत्र उत्तरेण गार्हपत्यं तृणानि संस्तीर्य तेषु द्वन्द्वं न्यञ्चि पात्राणि सादयित्वा दक्षिणेनाऽऽहवनीयं ब्रह्मायतने दर्भान् संस्तीर्य तेषु कृष्णाजिनं चाऽन्तर्धायैतां रात्रिं जागर्ति ॥ २० ॥

अनु०—सायंकाल अग्निहोत्र हवन करने के बाद गार्हपत्य अग्नि के उत्तर तृणों को बिखेर कर उन पर जोड़ों में तथा उलट कर पात्रों को रखे, आहवनीय अग्नि के दक्षिण ब्रह्मन् नाम के ऋत्विज् के बैठने के स्थान पर कुशों को बिखरे, उसे काले मृग चर्म से ढंके और उस रात जागता रहे ॥ २० ॥

आहवनीयशब्दः परिगृहीताग्निपरिमाणार्थः । तेनौपासनाग्निकेनाऽपि तत्सन्निकाश इद कर्तव्यम् । जागर्ति बुध्यते । एषा हि ब्रह्मरात्रिः । अन्यदसंवृतम् ॥ २० ॥

य एवं विद्वान् ब्रह्मरात्रिमुपोष्याऽग्नीन् समारोप्य प्रमीयते सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्याम् ॥ २१ ॥

अनु०—इस प्रकार जानने वाला जो ब्राह्मण ब्रह्मरात्रि में उपवास करने के बाद अपने में पवित्र अग्नियों को धारण किए हुए मृत्यु को प्राप्त करता है, वह सभी पापों से ब्रह्महत्या के पाप से भी मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥

अग्नीन् समारोप्य आत्मनीति शेषः । वक्ष्यमाणस्याऽऽत्मसमारोपणस्याऽस्मिन्नप्यवसरे पाठोऽस्मिन्नपि क्रमेऽग्निसमारोपणाभ्यनुज्ञानार्थः । एतदवस्थापन्नस्य मृतस्याऽऽश्रमफलावाप्तिर्भवतीत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

अथ ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय काले एव प्रातरग्निहोत्रं जुहुयात् ॥ २२ ॥

अनु०—ब्राह्म मुहूर्त में उठकर उचित समय पर प्रातःकालीन अग्निहोत्र हवन करे ॥ २२ ॥

रात्रेः पश्चिमो यामः पञ्चघटिकावशेषो ब्राह्मो मुहूर्तः । उषःप्रभृत्योदयादित्येके । तत्र शक्त्यपेक्षो विकल्पः । कालग्रहणं उपोदयाभ्युषितोदयकालानां यस्य योऽङ्गीकृतः कालस्तत्प्रदर्शनार्थम् ॥ २२ ॥

---

१. दर्शपूर्णमासारम्भेऽग्निविहरणानन्तरं अन्वाधानं नाम विहृतेष्वग्निषु काष्ठाधानं विहितम् । तच्च "ममाऽग्ने वर्चः" इत्यादिमन्त्रैः कर्तव्यम् । तच्च श्वो यक्ष्यमाणानां देवतानां परिग्रहार्थम् ।

अथ पृष्ठ्यांस्तीर्त्वाऽपः प्रणीय वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपति सा प्रसिद्धेष्टिस्सन्तिष्ठते ॥ २३ ॥

अनु०--इसके उपरान्त वेदी के पृष्ठ्या नाम के भाग को ढक कर जल लाकर अग्नि वैश्वानर के लिए द्वादश कपालों में चरु तैयार करे। यह प्रसिद्ध इष्टि ही अन्तिम इष्टि है ॥ २३ ॥

अग्निर्वैश्वानरो देवता अस्य। औपासननिष्ठ आत्मसमारोपश्चेत् तद्दैवत्यश्चरुः। अन्यत्प्रसिद्धम् ॥ २३ ॥

आहवनीयेऽग्निहोत्रपात्राणि प्रक्षिपेदमृण्मयान्यनायसानि[1] ॥ २४ ॥

अनु०--अग्निहोत्र के उन पात्रों को जो मिट्टी या पत्थर के न हों, आहवनीय अग्नि में डाले ॥ २४ ॥

उत्तरत्र मन्त्रविधानात् तूष्णीमेवाऽत्र प्रक्षेपः ॥ २४ ॥

गार्हपत्ये अरणी[2] "भवतं नस्समनसा" विति ॥ २५ ॥

अनु०--'भवतं नस्समनसौ' (तुम हमारे मन के साथ एक होओ) कहते हुए दोनों अरणियों को गार्हपत्य अग्नि में डाले ॥ २५ ॥

प्रक्षीपतीत्यनुवर्तते ॥ २५ ॥

अथाऽऽत्मन्यग्नीन् समरोपयते "[3]या ते अग्ने यज्ञिया तनू" रिति त्रिस्त्रिरेकैकं समाजिघ्रति ॥ २६ ॥

अनु०—अपने मे पवित्र अग्नियों का समारोपण करे और 'या ते अग्ने यज्ञिया तनू।' कहते हुए तीनों अग्नियों के धुएं को तीन-तीन बार खींचे ॥ २६ ॥

एकैकमग्निं सभ्यावसथ्यावपि यदि विद्येते, तथा औपासनमपि। जिघ्रतिः गन्धोपादाने वर्तते। ततश्च धूमायमाने नाऽग्नेराघ्राणं कर्तव्यमिति गम्यते। सर्वत्राऽयमात्मसमारोपणप्रकारः ॥ २६ ॥

अथाऽन्तर्वेदि तिष्ठन् ओं भूर्भुवस्सुवः संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति त्रिरुपांशूक्त्वा त्रिरुच्चैः ॥ २७ ॥

अनु०—तब यज्ञवेदि के भीतर खड़े होकर तीन बार मन्द स्वर से तथा तीन बार उच्च स्वर से कहे 'ओं भूर्भुवस्सुव. संन्यस्तं मया' (मैने सन्यास आश्रम में प्रवेश किया) ...॥ २७ ॥

---

१. अनश्ममयानि, इति सर्वत्र पाठः।

२. भवतं नस्समनसौ समोकसावरेपसौ। मा यज्ञं हिंसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥ (तै० सं. १. ३. ७.)

३. तैत्तिरीयादौ श्रूयमाणमिदं वाक्यम् ॥ तै. सं. ६. ३. १०. १.

भ्रयादिति वाक्यसमाप्तिः। संन्यस्तं त्यक्तम् ॥ २७ ॥

'त्रिपत्या हि देवा इति विज्ञायते ॥ २८ ॥

अनु०—वेद में कहा गया है कि देवता तीन बार कहने पर सत्य मानते हैं॥२८॥

त्रिपत्याः। सुपामादिपु पाठात् पत्वम्। देवा हि सकृद्द्विर्वोक्तावनृतमिति मन्यते, अनृतसम्मिता मनुष्याः' इति श्रुतेः। त्रिरुक्तेः प्रतियन्ति श्रद्दधति॥२८॥

"अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः" इति चाऽपां पूर्णमञ्जलिं निनयति ॥२९॥

अनु०—'मुझसे सभी जीवित प्राणियों को अभय हो' ऐसा कहते हुए जल से पूरी अंजली भरकर गिराए ॥ २९ ॥

अस्मत्तः निर्भयानि भूतानि सन्त्विति मन्त्रार्थः। अपां पूर्णः अद्भिः पूर्णः। अञ्जलिः द्विहस्तसंयोगः ॥ २९ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति—

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयं चाऽपि ह जायते इति ॥ ३० ॥

अनु०—इस सन्दर्भ में भी निम्नलिखित उद्धृत करते हैं—

जो संन्यासी सभी प्राणियों को अभय प्रदान कर विचरण करता है, उसे भी किसी प्राणी से कोई भय नहीं होता ॥ ३० ॥

अभयदानप्रशंसैषा एतदन्तश्च संन्यासविधिः। ये पुनरनग्नयो विधुरादयः तेपामप्युप्रकल्पनप्रभृति दानान्तः प्रयोगोऽग्निकार्यरहितो द्रष्टव्यः ॥ ३० ॥

संन्यासाश्रमधर्मविधानायोत्तरः प्रपञ्चः—

स वाचंयमो भवति ॥ ३१ ॥

अनु०—इसके बाद वाणी पर नियन्त्रण रखे ॥ ३१ ॥

य एवं कृतसंन्यासः स वाचंयमस्स्यात् आत्यन्तिकमेतद् व्रतमन्यत्र स्वाध्यायान्मन्त्रोच्चारणाच्च। उक्तं च—'स्वाध्याय एवोत्सृजमानो वाचम्' इति ॥ ३१ ॥

'सखा मे गोपाये' ति दण्डमादत्ते[2] "यदस्य पारे रजस" इति

---

१. या ते अग्ने यज्ञिया तनूस्तयेह्यारोह ॥ इति समग्रो मन्त्रः ॥

२. यदस्य पारे रजसश्शुक्रं ज्योतिरजायत। तन्नः पर्षदति द्विषोऽग्ने वैश्वानर स्वाहा ॥ (तै. मं. ४. २. ५. २.)

शिक्यं गृह्णाति "येन देवाः पवित्रेणे" ति जलपवित्रं गृह्णाति "येन देवा ज्योतिषोर्ध्वा उदाय'न्निति कमण्डलुं गृह्णाति सप्तव्याहृतिभिः पात्रं गृह्णाति ॥ ३२ ॥

अनु०—'सखा मे गोपाय' (तुम मेरे मित्र हो रक्षा करो) ऐसा कहते हुए दण्ड ग्रहण करे। 'यदस्य पारे रजसः' मन्त्र का पाठ कर शिक्य ग्रहण करे। 'येन देवा पवित्रेण' कहकर जल छानने का पवित्र ग्रहण करे। 'येन देवा ज्योतिषोर्ध्वा उदायन्' मन्त्र कहकर कमण्डलु ग्रहण करे तथा सात व्याहृतियों का उच्चारण कर भिक्षा पात्र ग्रहण करे ॥ ३२ ॥

टि०—'यदस्य पारे रजसः' मन्त्र तैत्तिरीय संहिता ४. २. ५. २. का है। 'येन देवाः पवित्रेणाऽऽत्मानं पुनते सदा। तेन सहस्रधारेण पावमान्यः पुनन्तु मा। तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४. ८ का तथा 'येन देवा ज्योतिषोर्ध्वा उदायन् येनाऽऽदित्या वसवो येन रुद्राः। येनाऽङ्गिरसो महिमानमानशुस्तेनैतु यजमानस्स्वस्ति।' तैत्तिरीय संहिता ५. ७. २. २. का मन्त्र है।

अतिरोहितमेतत् ॥ ३२ ॥

यष्ट्यश्शिक्यं जलपवित्रं कमण्डलुं पात्रमित्येतत्समादाय, यत्राऽऽपस्तद्गत्वा स्नात्वाऽप आचम्य सुरभिमत्याऽब्लिङ्गाभिर्वारुणीभिर्हिरण्यवर्णाभिः पावमानीभिरिति मार्जयित्वाऽन्तर्जलगतोऽघमर्षणेन षोडश प्राणायामान् धारयित्वोत्तीर्य वासः पीडयित्वाऽन्यत् प्रयतं वासः परिधायाऽप आचम्यों भूर्भुवस्सुवरिति जलपवित्रमादाय तर्पयति—ओं भूस्तर्पयाम्यों भुवस्तर्पयाम्यों सुवस्तर्पयाम्यों महस्तर्पयाम्यों जनस्तर्पयाम्यों तपस्तर्पयाम्यों सत्यं तर्पयामीति ॥ ३३ ॥

अनु०—अपने साथ दण्ड, शिक्य, जलपवित्र, कमण्डलु, भिक्षापात्र लेकर जहाँ जल हो वहाँ जाकर स्नान करे, जल से आचमन करे, सुरभिमती, जलदेवता, वरुण देवता के हिरण्य वर्ण और पवमान मन्त्रों से स्नान करे, जल के भीतर प्रवेश कर

---

१. येन देवाः पवित्रेणाऽऽत्मानं पुनते सदा। तेन सहस्रधारेण पावमान्यः पुनन्तु मा ॥ (तै. ब्रा. १. ४. ८.)

२. येन देवा ज्योतिषोर्ध्वा उदायन् येनाऽऽदित्या वसवो येन रुद्राः। येनाऽङ्गिरसो महिमानमानशुस्तेनैतु यजमानस्स्वस्ति ॥ (तै. सं. ५. ७. २. २.)

मन से अवमर्दण सूक्त का जप करते हुए सोलह प्राणायाम करे, किनारे पर आकर वस्त्रों को निचोड़कर दूसरे शुद्ध वस्त्रों को पहने और फिर आचमन करे। 'ओं भूर्भुव स्सुवः' कहकर जल पवित्र ग्रहण करे। 'ओं भूस्तर्पयामि' ओं भुवस्तर्पयामि ओं सुवस्तर्पयामि ओं महस्तर्पयामि ओं जनस्तर्पयामि ओं तपस्तर्पयामि 'ओं सत्यं तर्पयामि' कहकर तर्पण करे ॥ ३३ ॥

आश्रमान्तरसाधारणविहितानां स्नानादीनामनुक्रमणं षोडशप्राणायामानामपि विधानार्थं तर्पणान्तरविधानार्थं च । तर्पणञ्च जलपवित्रनिस्सृतेन जलेन ॥ ३३ ॥

पितृभ्योऽञ्जलिमुपादाय ओं भूस्स्वधों भुवस्स्वधों सुवस्स्वधों भूर्भुवस्सुवर्महर्नम इति ॥ ३४ ॥

अनु०—पितरों के लिए अंजलि भर जल लेकर 'ओं भूस्स्वधा ओं भुवस्स्वधा ओं सुवस्स्वधा' ओं भूर्भुवस्सुवर्महर्नमः' कहकर तर्पण करे।

टि०—यह तर्पण उसी प्रकार होता है जिस प्रकार देवों के लिए तर्पण किया जाता है अर्थात् प्राचीनावीती न होवे।

तर्पयतीति प्रकृतम् । देववदिति प्राचीनावीतनिवृत्त्यर्थम् । मन्त्रा अपि स्वधाकरणमात्राः, न चतुर्थीनमस्कारान्ताः ॥ ३४ ॥

एवं तर्पणे कृते—

अथोदुत्यं[1] चित्रमिति द्वाभ्यामादित्यमुपतिष्ठते ॥ ३५ ॥

अनु०—इसके बाद 'उदुत्यं चित्रम्' आदि दो मन्त्रों से सूर्य की पूजा करे ॥३५॥

एतदपि वैशेषिकमुपस्थानम् ॥ ३५ ॥

ओमिति ब्रह्म ब्रह्म वा एष ज्योतिः य एष ज्योतिः य एष तपत्येष वेदा य एव तर्पयति वेद्यमेवैतद्य एष तर्पयति एवमेवैष आत्मानं तर्पयत्यात्मने नमस्करोत्यात्मा ब्रह्माऽऽत्मा ज्योतिः ॥ ३६ ॥

अनु०—'ओम्' अक्षर ब्रह्म है, ब्रह्म ही यह ज्योति है, जो यह ज्योति है जो तर्पण करता है वही जानता है जो तर्पण करता है। यह जानने योग्य है जो तर्पण करता है इस प्रकार वह अपना ही तर्पण करता है। इस प्रकार वह अपना ही तर्पण करता है, अपने को ही नमस्कार करता है आत्मा ही ब्रह्म है, आत्मा ही ज्योति है।

---

१. मन्त्रद्वयमिदं १६० पृष्ठे टिप्पण्यां द्रष्टव्यम् ॥

प्रणवप्रशंसैषा । प्रणवो ब्रह्मणो नेदिष्ठमभिधानम् । वेदयतीति प्रणवो वेदः वेद्यं वेदितव्यम् । एष इत्यपरोक्षनिर्देशः । सर्वदा आदित्यप्रणवब्रह्मतादात्म्य-प्रतिपत्त्यर्थः । एवमादित्योपस्थानवेलायां मनस्समाधानं कर्तव्यमित्यर्थः । तथा च पातञ्जलसूत्रम्-'तस्य वाचकः प्रणवः । तज्जपः तदर्थभावनम' इति च । तदन्यथाऽप्ययमेव समागमप्रकारः । एवमेवैष भिक्षुरात्मानं तर्पयति नमस्करोति ब्रह्मज्योतिश्शब्दाभ्यामात्मैवोच्यते इत्याह-आत्मा ब्रह्म ज्योतिः ब्रह्म परिवृढः सर्वतः ज्योतिः द्युतेर्दीप्तिकर्मण. ॥ ३६ ॥

सावित्रीं सहस्रकृत्व आवर्तयेच्छतकृत्वोऽपरिमितकृत्वो वा ॥ ३७ ॥

अनु०—सहस्रवार, सौ वार या अनगिनत वार सावित्री मन्त्र का जप करे ॥

विवृतमेतत्तत्र ॥ ३७ ॥

अथ कमण्डलूदकग्रहणार्थमाह—

ओं भूर्भुवःस्सुवरिति पवित्रमादायाऽपो गृह्णाति ॥ ३८ ॥

अनु०—'ओ' भूर्भुवः सुवः' कहते हुए पवित्र लेकर उससे जल ग्रहण करे॥३८॥

पवित्रं जलपवित्रं पावयेत् जन्तुमारणार्थम् ॥ ३८ ॥

न चाऽत ऊर्ध्वमनुद्धृताभिरद्भिरपरिस्रुताभिरपरिपूताभिर्वाऽऽचामेत् ॥ ३९ ॥

अनु०—उसके बाद से कभी ऐसे जल से आचमन न करे जो कुएं आदि से निकाला गया हो, जो छाना न गया हो और पूरी तरह साफ न किया गया हो ॥ ३९ ॥

अनुद्धृताभिः अन्तर्जलाशयात् । अपरिस्रुताभिः अपरिमिताभिः पवित्रान्ते नवाऽपरिपूताभिः ॥ ३९ ॥

न चाऽत ऊर्ध्वं शुक्लं वासो धारयेत् ॥ ४० ॥

अनु०—उसके बाद से कभी श्वेत वस्त्र न धारण करे ।

शुक्लप्रतिषेधात् कुङ्कुमकुसममञ्जिष्ठारक्तमनुज्ञातमेव ॥ ४० ॥

इति द्वितीये प्रश्ने सप्तदशः खण्डः ।

अष्टादशः खण्डः

एकदण्डी त्रिदण्डी वा ॥ १ ॥

अनु०—सन्यासी एक या तीन दण्ड लेकर चले ॥ १ ॥

उक्तेऽपि दण्डत्रित्वे विकल्पाभिधानं किमर्थम्? उच्यते-सकलाश्रमधर्मानुष्ठाने सति दण्डसंख्यायां नाऽभिनिवेशः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ १ ॥

भिक्षोर्हि द्विविधानि व्रतानि भवन्ति-महाव्रतान्युपव्रतानि च। तत्र महाव्रतान्याचष्टे—

अथेमानि व्रतानि भवन्ति-अहिंसा सत्यमस्तैन्यं मैथुनस्य च वर्जनं त्याग इत्येव ॥ २ ॥

अनु०—संन्यासी के निम्नलिखित व्रत होते हैं—अहिंसा अर्थात् वाणी, मन और कर्म से किसी को आघात न पहुँचाना, सत्य भाषण, अस्तैन्य अर्थात् बलपूर्वक या छल से दूसरे का धन न लेना, मैथुन अर्थात् स्त्री से हर प्रकार के कामुकतापूर्ण संबन्ध का त्याग तथा दूसरों को उदारता पूर्वक दान देना ॥ २ ॥

अहिंसा वाङ्मनःकायैर्भूतानां दुःखानुत्पादनम। उक्तेऽप्यभयप्रदाने पुनरभिधानमतिक्रमे प्रायश्चित्तगौरवार्थम्। सत्यं यथाभूतार्थवादित्वम्। स्तैन्यं पुनः बलेन वञ्चनया चौर्येण वा परद्रव्यादानम्। मैथुनवर्जनन्तु स्त्रिया सह सम्भाषण, सहासन, तत्स्पर्शन' निरीक्षणादीनां वर्जनम। त्यागो दानम्। यद्यप्यनिचयो भिक्षुस्तथाऽपि औषधपुस्तकादिपरिग्रहोऽस्त्येव। तथा च तत्सिद्धवत्कारेण गौतमो 'दशवर्षभुक्तं परैस्सन्निधौ भोक्तु' रित्यभिधायाऽभिधत्ते "न श्रोत्रियप्रव्रजितराजन्यपुरुषै"रिति।

याज्ञवल्क्योऽपि—

'वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणां रिक्थभागिनः' इति ॥ २ ॥

उक्तानि पञ्च महाव्रतानि ॥

पञ्चैवोपव्रतानि भवन्ति-अक्रोधो गुरुशुश्रूषाऽप्रमादश्शौचमाहारशुद्धिश्चेति ॥ ३ ॥

अनु०—इसी प्रकार पाँच उपव्रत भी होते हैं—क्रोध न करना, गुरु की सेवा, प्रमाद का त्याग, पवित्रता और आहार की शुद्धि ॥ ३ ॥

टि०—गोविन्द स्वामी के अनुसार प्रमाद का अर्थ है बिना सोचे-समझे कार्य

करना यहाँ गुरु की सेवा से माता-पिता या विद्यागुरु की सेवा का भी अर्थ हो सकता है।

गुरुशुश्रूषा पित्रोः परिचरणम्, विद्यागुरोर्वा। यद्यपि विदितवेदितव्यस्य संन्यासेऽधिकारः। तथाऽपि संशयस्तिरोधानं वा सम्भाव्यत इति गुरुशुश्रूषया भवितव्यम्। असमीक्ष्यकारित्वं प्रमादः तदभावोऽप्रमादः। आहारदोषोऽपि त्रिधा भवति-जात्याश्रयनिमित्तैर्लशुनपतितकेशादिभिस्तदाहारशुद्धिः। चशब्दस्सन्तोषादिपरिग्रहार्थः। व्रतोपव्रतयोर्भेदेन विधानं प्रायश्चित्तगुरुलघुत्वख्यापनार्थम्॥ ३॥

अथ भैक्षचर्या-ब्राह्मणानां शालीनयायावराणामपवृत्ते वैश्वदेवे भिक्षां लिप्सेत ॥ ४ ॥

अनु०—अनेक घरों से भिक्षा माँगने का नियम बताया जायगा वैश्वदेव के उपहार दिये जाने के बाद शालीन या यायावर ब्राह्मणों के घर से भिक्षा पाने की इच्छा करे ॥ ४ ॥

भिक्षाणां समूहो भैक्षं तच्चर्या तदर्जनम्। ब्राह्मणानां गेहेष्वित्यध्याहारः। भिक्षां भिक्षितद्रव्यं लिप्सेत याचेत ॥ ४ ॥

अथ भिक्षामन्त्रः—

[1]भवत्पूर्वां प्रचोदयात् ॥ ५ ॥

अनु०—'भवत्' शब्द का पहले प्रयोग करते हुए भिक्षा देने के लिए कहे ॥५॥

'भवति भिक्षाम्' इत्यादि सिद्धे सत्यारम्भात्क्षत्रियवैश्यभिक्षुकयोरयमेव मन्त्रः। तयोरपि संन्यासेऽधिकारोऽस्तीति ज्ञापितं भवति। तत्पुनर्ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायकृतोपमादिकां प्रसिद्धिं समीक्ष्य युक्तायुक्ततया विचारणीयम् ॥ ५ ॥

गोदोहनमात्रमाकाङ्क्षेत् ॥ ६ ॥

अनु०—गाये दुहने में जितना समय लगता है उतना ही समय में भिक्षा माँगने की इच्छा करे ॥ ६ ॥

मन्त्रमुक्त्वेति ॥ ६ ॥

अथ भैक्षचर्यादुपावृत्तः शुचौ देशे न्यस्य हस्तपादान् प्रक्षाल्याऽऽदित्यस्याऽग्रे निवेदयेत्—[2]'उदुत्यं चित्र' मिति ब्रह्मणे निवेदयते[3] 'ब्रह्म जज्ञान' मिति ॥ ७ ॥

---

१. भवत्पूर्वमिति. ख. पु. २. मन्त्राविमौ १६७ पृष्ठे टिप्पण्यां द्रष्टव्यौ।

३. ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतस्सुरुचो वेन आवः। स बुध्निया उपमा अस्य विष्ठास्सतश्च योनिमसतश्च विवः (तै. सं. ४. २. ८. २.) ॥

अनु०—भैक्षचर्या से लौटकर भिक्षा को पवित्र स्थान पर रखकर हाथ पैरों को धोए और प्राप्त भिक्षान्न को 'उदुत्यं चित्रम्' आदि मन्त्र का उच्चारण करते हुए सूर्य को निवेदित करे तथा 'ब्रह्मजज्ञानम्' आदि मन्त्र का उच्चारण करते हुए ब्रह्मन् को निवेदित करे ॥ ७ ॥

टि०—ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतस्सुरुचो वेन आवः । स बुध्निया उपमा अस्य विष्ठा स्सतश्च योनिमसतश्च विवः । तै० सं० ४. २. ८. २

पृथगेतौ [1]पिटकस्थौ शुचौ देशे निधाय ॥ ७ ॥

अथाऽस्य प्राणाहुतय एवाऽग्निकार्य इत्यस्मिन्नर्थे श्रुतिं दर्शयति—

[2]विज्ञायते—आधानप्रभृति यजमान एवाऽग्नयो भवन्ति तस्य प्राणो गार्हपत्योऽपानोऽन्वाहार्यपचनो[3] व्यान आहवनीय उदानसमानौ सभ्यावसथ्यौ ॥ ८ ॥

अनु०—वेद से यह ज्ञात होता है कि अग्न्याधान के समय से यजमान में ही सभी यज्ञाग्नि आहित होते हैं। यजमान के प्राण गार्हपत्य अग्नि हैं, अपान वायु अन्वाहार्यपचन है, व्यान आहवनीय अग्नि है, उदान और समान सभ्य तथा आवसथ्य अग्नि हैं ॥ ८ ॥

आधीयन्तेऽग्नय आत्मनीत्यात्मसमारोपणमाधानं तत्प्रभृतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

पञ्च वा एतेऽग्नय आत्मस्थाः ॥ ९ ॥

अनु०—ये पाँच अग्नि आत्मा में स्थित हैं ॥ ९ ॥

उक्तानुवादोऽयम् । पञ्चसंख्या सभ्यावसथ्यकरणपक्षमाश्रित्य । अकरणपक्षेऽपि तत्सङ्कल्पोऽस्त्येव; 'आहवनीये सभ्यावसथ्ययोस्सङ्कल्पः' इत्याधानपरिभाषावचनात् ॥ ९ ॥

यस्मादेवं तस्मात्—

आत्मन्येव जुहोति ॥ १० ॥

अनु०—इस प्रकार यजमान आत्मा में ही हवन करता है ॥ १० ॥

एवशब्दः 'यस्याऽग्नौ न क्रियते यस्य चाऽग्रं न दीयते न तद्भोक्तव्यम्', इत्येवमाशङ्कानिवृत्त्यर्थः ॥ १० ॥

---

१. पृथगेतौ पिण्डौ, इति. ष. पु. २. इतः प्रभृति सूत्रत्रयमेकसूत्रतया परिगणितं ङ. पु.
३. अन्वाहार्यं नाम दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणात्वेन देय ओदनः, स यत्र पच्यतेऽग्नौ स दक्षिणाग्निरन्वाहार्यपचनः ॥

स एष आत्मयज्ञ आत्मनिष्ठ आत्मप्रतिष्ठ आत्मानं क्षेम नयतीति विज्ञायते ॥ ११ ॥

अनु०—यह यज्ञ आत्मयज्ञ है, यह आत्मा में निहित है, आत्मा में प्रतिष्ठित है और आत्मा को कल्याण देने वाला है ऐसा वेद से ज्ञात होता है ॥ ११ ॥

एवं सत्यात्मयज्ञता भवति आत्मनिष्ठः यथाविध्यात्मोपासकः आत्मसुखप्राप्त्यर्थो यस्यकरूपा बुद्धिः आसावात्मप्रतिष्ठः । सैषा पूर्वोक्तोपासनायाः प्रशंसा ॥ ११ ॥

भूतेभ्यो दयापूर्वं संविभज्य शेषमद्भिरसंस्पृश्योपधवत् प्राश्नीयात् ॥ १२ ॥

अनु०—दयापूर्वक प्राणियों को अपने भोजन का अंश देकर, अवशिष्ट अन्न र जल छिड़क कर औषधि के समान उसका भक्षण करे ॥१२॥

भूतानि पक्षिसरीसृपादानि । दया अनुकम्पा । तत्पूर्वं संविभज्य प्रदायाद्भिःसंस्पृश्य शुक्लान्नं दृष्टार्थमेतत् । औपधवदिति विरसं विवक्षितम् । तथा ति रसोपलब्धिर्न भवतीत्यभिप्रायः ॥ १२ ॥

प्राश्याऽप आचम्य [१] 'वाङ्म आसन्नसोः प्राण' इति जपित्वा योतिष्मत्याऽऽदित्यमुपतिष्ठते [२] उद्वयं तमसस्परीति ॥ १३ ॥

अनु०—भोजन और आचमन करने के बाद 'वाङ्म आसन्नसोः प्राण' (तैत्तिय संहिता ५. ५. ९. २) का जप करे और ज्योतिष्मती मन्त्र से सूर्य की प्रार्थना रे ॥ १३ ॥

टि०—वाङ्म आसन्नसोः प्राणोऽक्ष्योश्चक्षुः कर्णश्रोत्रं वा वोर्बल मूरुवोरोजोऽष्टा विषवाण्यङ्गानि तनूस्तनुवा मे सह नमस्ते अस्तु मा मा हिं सेः ॥ तै० ५. ५-९२

भैक्षभोजनादन्यत्राऽप्येतद्वेदितव्यम् ॥ १३ ॥

अथ शिक्षाप्रकारः—

अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया ।
आहारमात्रं भुञ्जीत केवलं प्राणयात्रिकमिति ॥ १४ ॥

१, वाङ्म आसन्नसोः प्राणोऽक्ष्योश्चक्षुः कर्णयोःश्रोत्रं बाह्वोर्बलमूरुवोरोजोऽरिष्टा विश्वाङ्गानि तनूस्तनुवा मे सह नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः ॥ तै. सं. ५.५.९.२.

२. 'उद्वयं तमसस्परि' इतीयमेव ज्योतिष्मती, ज्योतिःपदवत्त्वात् ॥

अनु०—जो अन्न विना मांगे मिला हो, जिसके विषय में पहले से निश्चय न किया गया हो, जो संयोगवश अपने आप ही उसे मिल गया हो उस अन्न से केवल उतना ही भोजन करे जितने से जीवन यात्रा चल सके ॥ १४ ॥

अयाचितमप्रार्थितम् । असंक्लृप्तमनवधृतं मनसाऽपि । यदृच्छयोपपन्नं नाम केनचित् प्रयोजनान्तरवशादानीतम् आहारमात्रं सूपोपदशादिविस्तार-रहितम् । प्राणयात्रिकं यथा प्राणो नाऽपगच्छति ॥ १४ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति—

अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशाऽरण्यवासिनः ।
द्वात्रिंशतं गृहस्थस्याऽपरिमितं ब्रह्मचारिणः ॥१५॥

अनु०—इस विषय मे निम्नलिखित उद्धृत करते है—
संन्यासी का भोजन आठ ग्रास का होता है-और वानप्रस्थ का भोजन सोलह ग्रास का । गृहस्थ का भोजन बत्तीस ग्रास का होता है, किन्तु ब्रह्मचारी का भोजन अपरिमित होता है ॥ १५ ॥

अल्पाभ्यवहारार्थोऽयं नियमः ॥ १५ ॥

भैक्षं वा सर्ववर्णेभ्य एकान्नं वा द्विजातिषु ।
अपि वा सर्ववर्णेभ्यो न चैकान्नं द्विजातिष्विति ॥ १६ ॥

अनु०—द्विजातियों में सभी तीन वर्ण के व्यक्तियों के यहाँ से भिक्षान्न लिया जा सकता है अथवा उनमें एक ब्राह्मण का ही अन्न भिक्षा मे प्राप्त कर भक्षण करे । अथवा सभी वर्णों से प्राप्त अन्न का भक्षण करे, द्विजातियों में केवल ब्राह्मण से प्राप्त भिक्षान्न को न खाये ॥ १६ ॥

सर्ववर्णग्रहणात् शूद्रान्नमप्यभ्युपगतम् । अतश्चैकान्नपक्षेऽपि द्विजातिग्रहणं मुख्यस्यैव ॥ १६ ॥

अथ यत्रोपनिषदमाचार्या ब्रुवते तत्रोदाहरन्ति—
स्थानमौनवीरासनसवनोपस्पर्शनचतुर्थषष्ठाष्टमकालव्रतयुक्तस्य ॥१७॥

अनु०—इस संबन्ध में आचार्य उपनिषद् का विवेचन करते हैं और निम्न-लिखित विशेष नियम उद्धृत करते हैं । दिन में खड़ा रहे, वाणी का संयम करे, (रात्रि में) एक ही आसन में बैठे, (प्रातः, सायंकाल और मध्याह्न) तीनों सवनों के समय स्नान करे, केवल चौथे, छठे या आठवें भोजन की वेला में भोजन करे ॥१७॥

यत्र ग्रहणं चित्तप्रणिधानार्थं तत्रोपनिषद्रहस्यं कर्तव्यतयाऽऽचार्या ब्रुवते ।

तत्र तद्विशेषमन्यमुपदिशन्ति स्म । स्थानं हिमोत्सङ्गः । मौनं वाक्संयमः स्वाध्यायतोऽपि । वीरासनमेकरूपेणाऽऽसनम् । रात्राविति शेषः । चतुर्थषष्ठाष्टमकालता एकाहद्व्यहत्र्यहातिक्रमः व्रतमनशनं त्रिष्विप्सम्बध्यते ॥ १७ ॥

कणपिण्याकयावकदधिपयोव्रतत्वं चेति ॥१८॥

अनु०—चावल के कण तिल का बना पिण्याक, जो से बने हुए भोजन दही और दूध का ही भक्षण करे ॥ १८ ॥

कणास्तण्डुलावयवाः । पिण्याकं तिलपिष्टम् । यवतण्डुलपक्वौदनः यवागूर्वा यावकम् । सममन्यत् ॥ १८ ॥

तत्र मौने युक्तस्त्रैविद्यवृद्धैराचार्यैर्मुनिभि[1]रन्यैर्वाऽऽश्रमिभिर्बहुश्रुतैर्दन्तान् सन्धायाऽन्तर्मुख एव यावदर्थं सम्भाषीत न यत्र लोपो भवतीति विज्ञायते ॥ १९ ॥

अनु०—इस समय मौन व्रत का पालन करते हुए भी तीनो वेदो के गम्भीर विद्वानो, आचार्यों, मुनियों, अत्यन्त विद्वान् नैष्ठिक ब्रह्मचारियों या तपस्वियो के साथ दाँतों को दबाए हुए ही, मुख के भीतर ही जितना आवश्यक हो उतना ही बोले, इस प्रकार व्रत का लोप नही होता, ऐसा वेद के अनुसार ज्ञात है ॥ १९ ॥

त्रयी ग्रन्थतोऽर्थतश्च यैस्समधिगता, ते त्रैविद्यवृद्धाः अत्रैविद्यवृद्धा अप्याचार्याः । मुनयः परिव्राजकाः । अन्याश्रमग्रहणान्नैष्ठिकतापसयोर्ग्रहणम् । दन्तैर्दन्तानिति; सम्भाष्यादन्यो यथा न शृणुयादित्यर्थः ॥ १९ ॥

सर्वत्राऽशक्तावाह—

स्थानमौनवीरासनानामन्यतमेन सम्प्रयोगो न त्रयं सन्निपातयेत्॥२०॥

अनु०—दिन में खड़ा रहना, मौन रहना, रात्रि में एक प्रकार से बैठे रहना इनमें से किसी एक व्रत का पालन करे, तीनों व्रतो का एक साथ पालन न करे ॥२०॥

वक्ष्माणं यत्तदपेक्षणीयम् ॥ २० ॥

अथ व्रतविषय एव किञ्चिदुच्यते—

यत्र गतश्च यावन्मात्रमनुव्रतयेदापत्सु न यत्र लोपो भवतीति विज्ञायते ॥ २१ ॥

अनु०—जहाँ गया हो वहाँ मात्रा के अनुसार भक्षण करे । प्राणसंकट होने पर

---

१. आरण्यैः इति, क. पु.

अन्य प्रकार का अन्न खाकर बाद मे न खाये तो व्रत का लोप नहीं होता ऐसा वेद में कहा गया है ॥ २१ ॥

आपत्सु अथेष्टमशित्वा काणादीनामप्यन्यतमं पश्चान्नाश्नीयादित्यर्थः ॥२१॥

स्थानमौनवीरासनसवनोपस्पर्शनचतुर्थषष्ठाष्टमकालव्रतयुक्तस्य । अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं घृतं पयः । हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधमिति ॥ २२ ॥

अनु०—दिन मे खड़े रहना, कठोर मौन व्रत का पालन करना, रात्रि में बैठे रहना, तीनों सवन कालों मे स्नान करना, चौथे छठे या आठवें भोजन काल के समय भोजन करना इन व्रतों का पालन करनेवाले के व्रत को ये आठ वस्तुएं भंग नहीं कर पाती—जल, मूल, घृत, दूध, यज्ञ की हवि, ब्राह्मण की प्रार्थना गुरु का वचन और औषध ॥ २२ ॥

हविः क्षारलवणवर्जम् । ब्राह्मणकाम्या ब्राह्मणाभ्यर्थना । एवमहविष्यमपि गुरोर्वचनात् । औषधार्थश्चाऽहविष्यमपि ॥ २२ ॥

सायं प्रातरग्निहोत्रमन्त्रान् जपेत् ॥ २३ ॥

अनु०—सायकाल तथा प्रातः काल अग्निहोत्र के मन्त्रों का जप करे ॥ २३ ॥

यदग्निहोत्रेऽधीयते तदाहिताग्नेस्सतो भिक्षुकस्य ॥ २३ ॥

वारुणीभिस्सायं सन्ध्यामुपतिष्ठते मैत्रीभिः प्रातः ॥ २४ ॥

अनु०—सायंकालीन सन्ध्या करने पर वरुण के मन्त्रों से प्रार्थना करे और प्रातः कालीन सन्ध्या करने पर मित्र देवता के मन्त्रों से प्रार्थना करे ॥ २४ ॥

टि०—'प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन । न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनम हो अश्नोत्यन्तितो न दूरात् ।'

द्वयोर्द्वयोः प्राप्तयोः बह्वीनां विधानमेतत् । तत्र वारुण्या "यच्चिद्धि ते"[1] इति तिस्रः । मैत्र्यः पुनः [2]प्रतिदृधे द्वे "[3]प्र स मित्र" इत्येषा च ॥ २४ ॥

अनग्निरनिकेतस्स्यादशर्माऽशरणो मुनिः ॥ २५ ॥

अनु०—संन्यासी अग्नि न रखे, गृहहीन होवे, कुछ ग्रहण न करे तथा किसी की शरण में न रहे ॥ २५ ॥

---

१. ऋक्त्रयमिद १५७. पृष्ठे टिप्पण्यां द्रष्टव्यम् ।

२. ऋग्द्वयमिद १६०. पृष्ठे टिप्पण्यां द्रष्टव्यम् ॥

३. प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन ।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमꣳहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात् ॥

शर्पं ग्रहणम् । शरणं परानुग्रहः । उक्तं च 'हिंसाऽनुग्रहयोरनारम्भी' इति । इतिशब्द एवंप्रकाराणां ग्रहणार्थः । कथंप्रकाराणाम् ?

न शब्दशास्त्राभिरतस्य मुक्तिर्न लोकचित्तग्रहणे रतस्य ।
न भोजनाच्छादनतत्परस्य न चैव रम्यावसथप्रियस्य ॥

इत्यादीनाम् ॥ २५ ॥

भैक्षार्थी ग्राममन्विच्छेत् ॥ २६ ॥

अनु०—भिक्षा के लिए ही गाँव मे प्रवेश करे ॥ २६ ॥

भैक्षशब्दो जलपवित्रादेरपि प्रदर्शनार्थः ॥ २६ ॥

स्वाध्याये वाचमुत्सृजदिति ॥ २७ ॥

अनु०—वेद के स्वाध्याय के समय ही बोले ॥ २७ ॥

स्वाध्यायः प्रणवः समस्तवेदो वा ॥ २७ ॥

विज्ञायते च—परिमिता वा ऋचः परिमितानि सामानि परिमितानि यजूंष्यथैतस्यैवाऽन्तो नाऽस्ति यद्ब्रह्म तत्प्रतिगृणत आचक्षीत स प्रतिगर इति ॥ २८ ॥

अनु०—वेद से यह ज्ञात होता है कि ऋचाओं की संख्या सीमित है, सामों की संख्या परिमित है, यजुस् की संख्या परिमित है किन्तु उसका अन्त नहीं है जिसे ब्रह्म कहते हैं, उसी के संबन्ध में अध्वर्यु कहते हैं और वही प्रतिगर है ॥ २८ ॥

टि०—इस सूत्र का मन्तव्य कुछ अस्पष्ट है । गोविन्द स्वामी की व्याख्या के अनुसार भाव यह है कि ऋक् आदि मन्त्र परिमित हैं किन्तु चतुर्होत्र नाम के ब्रह्म का अन्त नहीं है अतएव अध्वर्यु उसी का विवेचन करते हैं, जिस प्रकार मानस का प्रणव प्रतिगर है उसी प्रकार मौन रहने वाले संन्यासी के लिए प्रणव ही स्वाध्याय है । संन्यासी के लिए स्वाध्याय प्रणव तक भी सीमित हो सकता है । अध्वर्यु का प्रतिगर है 'ओं होतः' । यह अंश तैत्तिरीय ब्राह्मण २.२.१.४ तथा ३.१२.५.१ की ओर निर्देश करता है ।

[1]अस्ति द्वादशाहे दशमेऽहनि मानसे ग्रहे चातुर्होत्रविधानं 'अथ ब्रह्म

---

१. अयमत्र सारः—

अस्ति द्वादशाहो नाम द्वादशसुत्याकष्षट्त्रिंशद्दिनसाध्यस्सोमयागः । तत्र दशमे (सुत्या) दिवसे प्रजापतिदेवताको मन्त्रोच्चारणं विना मनसैव सर्वमुक्तवाऽनुष्ठया मानसो नाम ग्रहविशेषः । तत्र चतुर्होतृमन्त्रस्यापि विधानमस्ति । (पृथिवी होता ।

वदन्ति' इति । ब्रह्म चतुर्होतारः, 'ब्रह्म वै चतुर्होतारः' इति दर्शनात् । तस्य वाक्यशेषः परिमिता वा इत्यादि । अयमर्थः—ऋगादयो मन्त्राः परिमिताः । एतस्य पुनश्चतुर्होत्राख्यस्य ब्रह्मणोऽन्तो नाऽस्ति । तस्मात्तदेव प्रतिगृणते अध्वर्येव आचक्षत एताः । एव कृते ब्रह्मणो ब्रह्मैव प्रतिगरस्सम्पद्यते । एवं हि तत्राऽध्वर्युः प्रतिगृणाति 'ओं होतः' इति । गृणातिश्शब्दकर्मा भाषणकरणमित्यर्थः । किमुक्तं भवति ? यथा—मानसस्य प्रणवः प्रतिगरः एवं मौनिनोऽपि प्रणव एव स्वाध्याय इति ॥ २८ ॥

एवमेवैष आशरीरविमोक्षणाद् वृक्षमूलिको वेद [1]संन्यासिकः ॥२९॥

अनु०—इस प्रकार सन्यासी शरीर की मुक्ति के समय तक वृक्षमूलिक वेद संन्यासी रहे ॥ २९ ॥

वेदसंन्यासिको गृहस्थ एव कृतकरणीयोऽभिधीयते । न हि वेदसंन्यासोऽस्ति शास्त्रविरोधात् । अतस्तदर्थानुष्ठानाय प्रतिग्रहादीनां वृत्तिकर्मणां संन्यासो यस्येत्यर्थः । अवसन्नशरीरो जरसा कृतसम्प्रतिविधानो वा पुत्रोपहृतवृत्तिस्तस्याऽयमुपदेशः आशरीरविमोक्षणात् वृक्षमूलिक इति । अथ यस्तावत्समर्थो गृहात् प्रव्रज्यायाः तस्य यथाशास्त्रं सैव भवति । असमर्थस्य पुनरुत्सृष्टाग्नेश्शास्त्राद्वा इयमेव व्यवस्थोच्यते । प्रव्रज्या च वैकल्पिकी । एवं प्रव्रज्यानन्तरमुपदेशो युज्यत इति । आह च—

वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत । इत्यभिप्रायः कृतविधानो वा आसीताऽऽमृतदर्शनादिति (?) एवमिति वक्ष्यमाणं प्रणवध्यानं परामृश्यते । एतदुक्तं भवति-परमसंयमवान् परमात्मध्यानैकावलम्बनः पुत्रैश्वर्ये सुखमासीतेति ॥ २९ ॥

वृक्षमूलिक इत्युक्तम्, तत्राऽऽह—

वेदो वृक्षः तस्य मूलं प्रणवः ॥ ३० ॥

अनु०—वेद वृक्ष है और उसके मूल प्रणव है ॥ ३० ॥

वृक्षो व्रश्चनात् पापस्य । प्रणवपूर्वत्वाद्वेदारम्भस्य मूलत्वव्यपदेशः ॥ ३० ॥

प्रणवात्मको वेदः ॥ ३१ ॥

अनु०—वेद की आत्मा प्रणव है ॥ ३१ ॥

घोरध्वर्यु इत्यादिश्चतुर्होता इत्युक्तम्) स च होत्रा पठनीयः । तेन तस्मिन् पठितेऽध्वर्युः तं 'ओ होतः' इति प्रतिगृणाति । ब्रह्म चतुर्होतृमन्त्रोऽपि । अतश्च ब्रह्मणो ब्रह्मैव प्रतिगर इति ॥

१. सन्यासी इति. ध. पु.

आत्मा सारः प्रणवसारो वेदः। तथा च श्रुतिः—तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओंकारः सम्प्रसुस्राव' इति। आह च—

अकारं चाऽप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहत् भूर्भुवस्स्वरितीति च ॥ ३१ ॥

प्रणवो ब्रह्म प्रणवं ध्यायेत् ॥ ३२ ॥

अनु०—प्रणव ही ब्रह्म है, प्रणव का ही ध्यान करे ॥ ३२ ॥

उक्तार्थमेतत् 'स प्रतिगरः' इत्यत्र। परमात्मतादात्म्यध्यानमनेनाऽभिप्रेतम् ॥ ३२ ॥

'प्रणवो ब्रह्मभूयाय कल्पत इति होवाच प्रजापतिः ॥३३॥

अनु०—प्रणव ही ब्रह्म के साथ एक बनाता है ऐसा प्रजापति का कथन है ॥३३॥

ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय। अमोघं हि प्रजापतेर्वाक्यम् ॥ ३३ ॥

सप्तव्याहृतिभिर्ब्रह्मभाजनं प्रक्षालयेदिति प्रक्षालयेदिति ॥ ३४ ॥

अथ शालीन ॥

इति द्वितीयप्रश्नेऽष्टादशः खण्डः ॥

अनु०—ब्रह्म के पात्र (शरीर) को सात व्याहृतियों से धोए ॥ ३४ ॥

टि०—ब्रह्मभाजन से दोनों ही अर्थ लिया जा सकता है। ब्रह्म का पात्र या स्थान अर्थात् शरीर और दूसरा भिक्षा पात्र। क्योंकि अन्न को भी ब्रह्म कहा गया है 'अन्नं ब्रह्म'।

सप्तव्याहृतयो भूराद्यास्सत्यान्ताः। ब्रह्मभाजनं भिक्षापात्रं 'अन्नं ब्रह्म' इति श्रुतेः। यद्वा-ब्रह्मभाजनं शरीरं तद्भुक्त्वा प्रक्षालयेदिति ॥ ३४ ॥

इति श्रीगोविन्दस्वामिकृते बौधायनधर्मविवरणे
द्वितीयप्रश्ने दशमोऽध्यायः।

---

[2]एकदण्डी त्रिदण्डी वा ॥ १८ ॥ अथाऽतस्संन्यासविधिम् ॥१७॥ प्रजाकामस्योपदेशः ॥ १६ ॥ अथ वै भवति। अग्नौ करण-

---

१. प्रवंग्रत इत्येव व्याख्यानपुस्तकेषु।

२. इमानि तत्तत्प्रश्नगततत्तत्खण्डादिमसूत्रप्रतीकग्रहणानि तत्तत्प्रश्नान्ते प्रातिलोम्येन पठ्यन्तेऽध्ययनपरम्परायाम्।

शेषेण ॥ १५ ॥ पित्र्यमायुष्यम् ॥ १४ ॥ यथ
अथ शालीनयायावराणाम् ॥ १२ ॥ अथैते पञ्च महायज्ञाः ॥ ११ ॥
अथ प्राचीनावीती ॥ १० ॥ अग्निः प्रजापतिः ॥ ९ ॥ अथ हस्तौ
प्रक्षाल्य ॥ ८ ॥ अथाऽतस्सन्ध्योपासनविधिं व्याख्यास्यामः ॥ ७ ॥ न
पिण्डशेषम् ॥ ६ ॥ तपस्यमवगाहनम् ॥ ५ ॥ अब्राह्मणस्य शारीरो
दण्डः ॥ ४ ॥ नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती ॥ ३ ॥ अथ पतनीयानि
॥२॥ अथाऽतः प्रायश्चित्तानि ॥ १ ॥

इति बौधायनीय धर्मसूत्रे द्वितीयः (गृह्यसूत्रे पञ्चदशः) प्रश्नस्समाप्तः ।

अथ तृतीयप्रश्ने प्रथमोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

यजनदण्डकृषिवाणिज्यादयो वर्णविशेषव्यवस्थयाऽभिहिताः । अथेदानी-माश्रमविशेषव्यवस्थया वृत्त्युपाया वक्तव्या इत्यत आह—

अथ शालीनयायावरचक्रचरधर्मकाङ्क्षिणां नवभिर्वृत्तिभिर्वर्तमाना-नाम् ॥ १ ॥

अनु०—अब हम शालीन, यायावर, चक्रचर के कर्त्तव्यों का पालन करने के इच्छुक तथा नौ प्रकार की वृत्तियों से जीविकानिर्वाह करने वाले व्यक्तियों के लिए नियमों का विवेचन करेंगे ॥ १ ॥

वृत्त्युपाया वक्ष्यन्त इति शेषः । गृहस्थविशेषाः केचिच्छिलीनयायावराः । शालीनयायावरशब्दौ स्वयमेव व्युत्पादयति—शालाश्रयत्वाच्छालीनत्वम्' (३. १ ३.) इत्यादि । सर्वेषामप्याश्रमिणां स्वकीयधर्मकांक्षित्वे सति विशेषोपादानमेतदर्थम् । तच्च क्षिप्रं पुरुषार्थप्रापणम् ॥ १ ॥

याभिश्शरीरयात्रा वर्तते ता वृत्तयः काश्चन भवन्ति । तत्र ऽऽह—

तेषां तद्वर्तनाद् वृत्तिरित्युच्यते ॥ २ ॥

अनु०—वृत्ति शब्द इस लिए कहा गया है कि वे उसके द्वारा जीविका निर्वाह करते हैं ॥ २ ॥

अनेन वृत्तिशब्दो व्युत्पाद्यते। तेषां शालीनयायावराणां तद्वर्तनात् तस्य शरीरस्य वर्तनात् दर्शितमेतदस्माभिः पूर्वसूत्रे ॥ २ ॥

शालाश्रयत्वाच्छालीनत्वम्। वृत्त्या वरया यातीति यायावरत्वम्। [1]अनुक्रमचरणाच्चक्रचरत्वम् ॥ ३ ॥

अनु०—घर में निवास करने के कारण शालीन कहा जाता है।

श्रेष्ठ वृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह करने से यायावर कहलाते हैं।

(वर्ण के) क्रम के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के घर वृत्ति के लिए जाने वाला चक्रचर कहलाता है ॥ ३ ॥

टि०—गोविन्द के अनुसार चक्रचर यायावर का ही नाम है। यायावर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के घर अनुक्रम से जाता है अर्थात् ब्राह्मण के यहाँ जाने पर वृत्ति न मिले तो क्षत्रिय के यहाँ जाता है, वहाँ भी वृत्ति न उपलब्ध होने पर वैश्य के यहाँ जाता है।

अन्वर्थसंज्ञा एताः। विस्तीर्णाभिः शालाभिर्युक्ताश्शालीनाः। यथा 'जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस। सह सर्वत आवसथान् मापयांचक्रे सर्वत एव मेऽन्नमत्स्यन्तीति'। तद्वदेतेऽपीति। खप्रत्ययो मत्वर्थीयः। अनुक्रमेण चरणमनुक्रमचरणम्। यायावराणामेवैषा संज्ञा। अनुक्रमचरणं नाम विप्रक्षत्रियविशां गेहेषु पूर्वस्य पूर्वस्याऽभावे उत्तरोत्तरचरणम्। वृत्त्या वरया उत्कृष्टया यापयत्यात्मानमिति। णिचो लोपोऽत्र द्रष्टव्यः ॥ ३ ॥

ता अनुव्याख्यास्यामः ॥ ४ ॥

अनु०—हम उन वृत्तियों की क्रमशः व्याख्या करेंगे ॥ ४ ॥

क्रमेण ता वृत्तीः विविच्य व्याख्यास्यामः ॥ ४ ॥

षण्णिवर्तनी कोद्दाली ध्रुवा सम्प्रक्षालनी समूहा पालिनी शिलोञ्छा कापोता सिद्धेच्छेति नवैताः ॥ ५ ॥

अनु०—ये वृत्तियाँ नौ हैं—षण्णिवर्तनी, कोद्दाली, ध्रुवा, सम्प्रक्षालनी समूहा, पालिनी, सिलोञ्छा, कापोता, सिद्धेच्छा ॥ ५ ॥

एता अप्यन्वर्थसंज्ञा एव। एतासामेव रूपमुपरितनेऽध्याये स्वयमेव निपुणतरं विवरिष्यति ॥ ५ ॥

तासामेव वान्याऽपि दशमी वृत्तिर्भवति ॥ ६ ॥

---

1. अनुक्रमेण चरणात् इति अ. पु.

अनु०—इनके अतिरिक्त वन में निवास कर जीविका निर्वाह करना दसवीं वृत्ति होती है ॥ ६ ॥

टि०—वान्या वृत्ति में जंगली फल-मूलों के आहार से ही जीविका-निर्वाह का विधान है।

वान्या वनसम्बन्धिनी वन्यधान्यमूलफलाहारेण वृत्तिः, यामेनां दशमीमित्याचक्षते सोऽपि तासामेवान्यतमेत्याचार्याभिप्रायः । वान्यायाः पृथगुपादानमितराभ्यः प्राशस्त्यप्रतिपादनार्थम् ॥ ६ ॥

आ नववृत्तेः ॥ ७ ॥

अनु०—नौ वृत्तियों के अन्तर्गत किसी को ग्रहण करने की विधि इस प्रकार है॥७॥

नव वृत्तयो यस्य तस्याऽनुष्ठानं वक्ष्यत इति शेषः। आङत्राभिविधौ । अतश्च दशमीमाश्रितवतो वक्ष्यमाणो विधिर्न भवति ॥ ७ ॥

केशश्मश्रुलोमनखानि वापयित्वोपकल्पयते—कृष्णाजिनं कमण्डलुं यष्टिं वीवधं [1]कुथहारिमिति ॥ ८ ॥

अनु०—केश, दाढ़ी-मूँछ, शरीर के रोम और नखों को कटाकर इन वस्तुओं को तैयार करे—काला मृगचर्म, कमण्डलु, वीवध (बोझ उठाने का डण्डा या बहंगी), और कुथहारि या हंसिया ॥ ८ ॥

टि०—गोविन्दस्वामी ने 'कुथहारि' का अर्थ 'वासवशासनदात्रम्' किया है जो संभवतः एक विशेष प्रकार का हँसिया है, इसी प्रकार इति शब्द से कुद्दाल आदि अन्य आवश्यक वस्तुओं का ग्रहण भी किया जाना चाहिए।

कुथहारि[?]पनमार्जनम् । वीवधो दृढदारुमयवशिक्यम् । कुथहारिः वासवशासनदात्रम् (?) । इतिशब्दः कुद्दालादेर्वक्ष्यमाणस्योपलक्षणार्थः । एतानि नवानि भवेयुः ॥ ८ ॥

त्रैधातवीयेनेष्ट्वा प्रस्थास्यति वैश्वानर्या वा ॥ ९ ॥

अनु०—त्रैधातवीय या वैश्वानरी इष्टि कर घर से निकलने का विचार करे॥९॥

प्रस्थास्यति निर्गच्छति । आहिताग्नेर्गृहस्थस्य विधिः । इतरस्याऽपि तद्देवत्यश्चरुरिष्यते । एतत्पूर्वेद्युरेव कार्यम् ॥ ९ ॥

अथाऽन्येद्युः—

प्रातरुदित आदित्ये यथासूत्रमग्नीन् प्रज्वाल्य गार्हपत्य आज्यं

---

१. कुतपहारमिति क. ई. पुस्त.

विलाप्योत्पूय स्रुक्स्रुवं निष्टप्य सम्मृज्य स्रुचि चतुर्गृहीतं गृहीत्वाऽऽह-वनीये वास्तोष्पतीयं जुहोति ॥ १० ॥

अनु०—दूसरे दिन प्रातः काल सूर्य के उगने पर अपने सूत्र के अनुसार अग्नि को प्रज्वलित करे, गार्हपत्य अग्नि पर घृत पिघलाए, कुश से उसे स्वच्छ करे, स्रुक् और स्रुवा को अग्नि पर तपाए, उन्हें पोंछ कर स्रुक् में चार बार घृत लेकर आह-वनीय अग्नि में वास्तोष्पतीय हवन करे ॥ १० ॥

[1]"वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मा" निति पुरोनुवाक्यामनूच्य [2]"वास्तोष्पते शग्मया सꣳसदा ते" इति याज्यया जुहोति ॥ ११ ॥

अनु०—'वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान् स्वावेशो अनमीवो भवानः । यत्वे महे प्रतितन्नो जुषस्व शन्न एधि द्विपदे शं चतुष्पदे' । इस पुरोनुवाक्या का उच्चारण करने के बाद 'वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या । आवः क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिस्सदा नः' (तैत्तिरीय संहिता ३. ४. १०) याज्या मन्त्र से अपने सूत्र के नियम के अनुसार हवन करे ॥ ११ ॥

यथासूत्रं आत्मीयशास्त्रानुसारेण वास्तोष्पतीयहोमो यागानुष्ठानम् । ऋज्वन्यत् ॥ ११ ॥

सर्व एवाऽऽहिताग्निरित्येके ॥ १२ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि अग्नि का आधान करने वाले सभी व्यक्तियों के लिए यह होम है ॥ १२ ॥

अधिकारिनिर्देशः । त्रैधातवोयादेरविशेषेण सर्वस्याऽप्याहिताग्नेः प्रयाणे निमित्त एतदित्येकीयं मतम् ॥ १२ ॥

यायावर इत्येके ॥ १३ ॥

अनु०—अन्य आचार्यों का मत है कि यह होम कर्म केवल यायावर के लिए है ॥ १३ ॥

यायावरस्याऽऽहिताग्नेश्चेत्यपरम् ॥ १४ ॥

---

१. वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान् स्वावेशो अनमीवो भवानः । यत्वे महे प्रति-तन्नो जुषस्व शन्न एधि द्विपदे श चतुष्पदे ॥

२. वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या । आवः क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिस्सदा नः ॥ (तै. सं. ३ ४. १०.)

निर्गत्य ग्रामान्ते ग्रामसीमान्ते वाऽवतिष्ठते तत्र कुटीं मठं वा करोति कृतं वा प्रविशति ॥ १४ ॥

अनु०—घर से निकल कर ग्राम के छोर पर एक किनारे या गाँव की सीमा के अन्त स्थान पर रहे, वहीं कुटी या मठ बनावे अथवा यदि पहले से कुटी या मठ बना हो तो उसमें प्रवेश करे ॥ १४ ॥

ग्रामान्तो वास्तुसीमा । इतरा क्षेत्रसीमा । कुटी एकस्थूणमस्थूणं वा वेश्म । मठो बहुस्थूणः ॥ १४ ॥

कृष्णाजिनादीनामुपकल्पानां यस्मिन् यस्मिन्नर्थे येन येन यत्प्रयोजनं तेन तेन तत्कुर्यात् । प्रसिद्धमग्नीनां परिचरणम् । प्रसिद्धं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजनम् । प्रसिद्धः पञ्चानां महतां यज्ञानामनुप्रयोगः । उत्पन्नानामोषधीनां निर्वापणं दृष्टं भवति ॥ १५ ॥

अनु०—कृष्ण मृगचर्म आदि उपकरणों को जिस-जिस कार्य के प्रयोजन से रखा गया था उस-उस कार्य मे प्रयुक्त करे । अग्नि की रक्षा का नियम सुज्ञात ही है, दर्शपूर्णमास नाम के यज्ञों के अनुष्ठान का नियम भी प्रसिद्ध है, पाँच महायज्ञों के प्रयोग का नियम भी ज्ञात है । उत्पन्न ओषधियों का निर्वापण भी देखा गया है।१५।

उत्पन्नानां तस्मिन् काले । अभिनवानामहन्यहन्यार्जितानां वा ॥ १५ ॥

"विश्वेभ्यो देवेभ्यो जुष्टं निर्वपामी"ति वा तूष्णीं वा ताः संस्कृत्य साधयति ॥ १६ ॥

अनु०—"विश्वेभ्यो देवेभ्यो जुष्टं निर्वपामि" कहते हुए उन ओषधियों को पवित्र करे अथवा चुपचाप ही उनको शुद्ध कर पकाए ॥ १६ ॥

ओषधीनां संस्कारोऽवहननादिः । साधनं पाकः । एवंभूतमोदनमग्नौ कृत्वा तच्छेषं स्वयं वाग्यतो भुञ्जीतेत्यभिप्रायः ॥ १६ ॥

तस्याऽध्यापनयाजनप्रतिग्रहा निवर्तन्ते ॥ १७ ॥

अनु०—उसके लिए अध्यापन, यज्ञ कराने और दान लेने का कर्म समाप्त हो जाता है ॥ १७ ॥

द्रव्यार्जनस्योपायान्तरविधानादध्यापनादीनां निवृत्तिरुक्ता ॥ १७ ॥

---

१. पञ्चमहायज्ञाः प्राग् विवृताः ॥ २. अन्नाऽग्नौ करणं नाम होमः ॥

अन्ये च यज्ञक्रतव इति ॥ १८ ॥

अनु०—दूसरे प्रकार के यज्ञ करने का कर्तव्य भी समाप्त हो जाता है ॥ १८ ॥

अन्यत्त्वं दर्शपूर्णमासव्यपेक्षम् । एतेऽपि निवर्तन्ते । इतिकरणात् [1]पूर्तादयोऽपि निवर्तन्ते ॥ १८ ॥

हविष्यं च व्रतोपायनीयं दृष्टं भवति ॥ १९ ॥

अनु०—व्रत पालन के समय यज्ञिय हवि भक्षण के योग्य समझा जाता है ॥१९॥

व्रतोपायनीयं भोज्यम् ॥ १९ ॥

तदाह—

सर्पिर्मिश्रं दधिमिश्रमक्षारलवणमपिशितमपर्युषितम् ॥ २० ॥

अनु०—उसका भोजन, घृत से मिश्रित हो या दधि से मिश्रित हो क्षार किन्तु लवण से युक्त न हो, मांस न हो तथा बासी न हो ॥ २० ॥

क्षाररसः हिङ्ग्वादि ।पिशितं पक्वं मांसम् । पर्युषितं पक्वमोदनमुपोऽन्तरितमतीतं च ॥ २० ॥

ब्रह्मचर्यमृतौ वा गच्छति ॥ २१ ॥

अनु०—ब्रह्मचर्य का पालन करे अथवा ऋतुकाल में ही पत्नी से सम्पर्क करे।२१

ब्रह्मचर्यं रेतस उत्सर्गाभावः । ऋतौ वा गच्छति कृतार्थाकृतार्थापेक्षा विकल्पः ॥ २१ ॥

पर्वणि पर्वणि केशश्मश्रुलोमनखवापनं शौचविधिश्च ॥ २२ ॥

अनु०—प्रत्येक पर्व पर सिर के केशो, दाढ़ी-मूँछ, शरीर के रोम तथा नखो के कटवाने का तथा शुद्धि के नियम का पालन करे ॥ २२ ॥

शौचस्य बाह्यस्याऽऽभ्यन्तरस्य च विधिश्शौचाधिष्ठानाध्याय एवोक्तः । तथाऽप्युक्तं स्मारयितुमाह—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

श्रूयते द्विविधं शौचं यच्छिष्टैः पर्युपासितम् ।
बाह्यं निर्लेपनिर्गन्धमन्तश्शौचमहिंसनम् ॥ २३ ॥

अनु०—इस सबन्ध में निम्नलिखित उद्धृत करते हैं—

---

१. पूर्तमारामकरणादि ।

शिष्टों ने जिसका आचरण किया है वह शौच दो प्रकार का बताया गया है; दुर्गन्ध तथा अपवित्र वस्तुओं के लेप को दूर करना बाह्य शौच है तथा किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना अन्तः शौच है ।। २३ ।।

द्विविधस्याऽप्युदाहरणमाह—

[1]अद्भिश्शुद्ध्यन्ति गात्राणि बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यतीति ।
अहिंसया च भूतात्मा मनस्सत्येन शुद्ध्यतीति ।। २४ ।।

इति तृतीयप्रश्ने प्रथमः खण्डः ।।

अनु०—शरीर के अंगों की शुद्धि जल से होती है और बुद्धि की शुद्धि ज्ञान से होती है । अहिंसा से आत्मा की शुद्धि होती है और सत्य से मन शुद्ध होता है ।।२४।।

व्याख्यातश्श्लोकः । अन्तश्शौचमहिंसनमित्येतद्विधानपरोऽयं प्रपञ्चः ।। २४ ।।

इति श्रीगोविन्दस्वामिकृते बौधायनधर्मविवरणे
तृतीयप्रश्नेऽप्रथमोऽध्यायः ।

तृतीयप्रश्ने द्वितीयोऽध्यायः

द्वितीयः खण्डः

अथोक्ता वृत्तीरानुपूर्व्येणाऽनुक्रमं विवृणोति—

यथो एतत् षण्णिवर्तनीति ।। १ ।।

अनु०—षण्णिवर्तनी वृत्ति के नियम इस प्रकार होते हैं ।। १ ।।

यथो एतदिति निपातः उक्तानुभाषणार्थः 'यथा एतद्धुतः प्रहुत आहुतः' इति । यथा वा 'यथो एतदेकस्य सतः' इति । नवानां वृत्तीनां षण्णिवर्तनीति या प्रथमं पठिता तां विवरिष्यामीत्यर्थः ।। १ ।।

षडेव निवर्तनानि निरुपहतानि करोति स्वामिने भागमुत्सृजत्यनुज्ञातं वा गृह्णाति । प्राक्प्रातराशात्कर्षी स्यादस्यूतनासिकाभ्यां समुष्काभ्यामतुदन्नारया मुहुर्मुहुरभ्युच्छन्दयन् । एतेन विधिना षण्णिवर्तनानि करोतीति षण्णिवर्तनी ।। २ ।।

---

१ See मनु ५. १०९.

अनु०—बिना जोती हुई छः निवर्तन भूमि में खेती करे। भूमि के स्वामी को भाग देकर अपना अंश ग्रहण करे अथवा खेत के स्वामी की आज्ञा होने पर सम्पूर्ण अंश स्वयं ग्रहण करे। प्रातःकालीन भोजन की वेला से पहले ही ऐसे बैलों से जिनकी नाक में छेदकर रस्सी न पिन्हाई गयी हो और जिन्हें बधिया न किया गया हो, कोड़े या डण्डे का प्रयोग किये बिना, बार बार पुचकारते-दुलारते हुए जुताई करे। इस विधि से छः निवर्तन भूमि में कृषि कर्म करने वाला षण्णिवर्तनी कहलाता है ॥ २ ॥

निवर्तनं नाम भूम्याः कर्षणं कृषीवलानां प्रसिद्धम्-इयदेकं निवर्तनमिति। निरुपहतं अकृष्टक्षेत्रं पट्संख्याविशिष्टानि निवर्तनान्यकृष्टक्षेत्राणि समापादयन्तीत्यर्थः। तत्र निष्पन्नौपधेरयं विशेषः—स्वामिने भागमित्यादि। भूस्वामिने भागोऽशः परक्षेत्रविषयमेतत्। सामर्थ्यात् स चेदनुजानीयात्मव स्वयमेव गृह्णीयात्। स्वक्षेत्रेषु नाऽयं विधिः स्वक्षेत्रत्वात्। आपदुपायोऽयम्। प्राक्प्रातरित्यादि व्याख्यातम्। एतेन विधानेन षण्णिवर्तनीशब्दं व्युत्पादयन्नुपसंहरति ॥ २ ॥

कथं कौद्दालीत्याह—

कौद्दालीति जलाभ्याशे कुद्दालेन वा फालेन वा तीक्ष्णकाष्ठेन वा खनति बीजान्यावपति कन्दमूलफलशाकौषधीर्निष्पादयति। कुद्दालेन करोतीति कौद्दाली ॥ ३ ॥

अनु०—कोद्दाली वृत्ति का अनुसरण करने वाला किसी जलाशय के समीप कुद्दाल से, फाल से या नुकीले लकड़ी के टुकड़े से भूमि को खोदे और उसमें बीज बोकर कन्द, मूल, फल, शाक, औषधि उत्पन्न करे। इस प्रकार कुद्दाल से भूमि खोद कर उससे उत्पन्न वस्तुओं से जीविका-निर्वाह करने वाला कोद्दाली होता है ॥ ३ ॥

अभ्याशे समीपे अपरिग्रहे। कुद्दालमयोमुखं काष्ठम्। फालमायसं खनित्रमिति यावत्। तीक्ष्णाग्रं काष्ठं प्रसिद्धम्। एतेषां सम्भवापेक्षो विकल्पः खनति विखनति। ततो बीजान्यावपति कन्दादीनाम्। कन्दमामोपयोग्यम्। मूलं पक्वोपयोग्यम्। अन्यत्प्रसिद्धम् ॥ ३ ॥

तृतीया वृत्तिः ध्रुवा। तामाह—

ध्रुवायां वर्तमानश्शुक्लेन वाससा शिरो वेष्टयति—"भूत्यै त्वा शिरो वेष्टयामी" ति ॥ ४ ॥

अनु०—ध्रुवा वृत्ति से जीविका निर्वाह करने वाला श्वेत वस्त्र से सिर को

"भूत्यै त्वा शिरो वेष्टामि" । (समृद्धि के लिए मैं तुम्हें अपने सिर पर बाँधता हूँ) कहकर आच्छादित करे ।। ४ ।।

प्रत्यारम्भं इति केचित् । अहरहरित्यन्ये । एवं कृष्णाजिनादानेष्वपि द्रष्टव्यम् ।। ४ ।।

"ब्रह्मवर्चसमसि ब्रह्मवर्चसाय त्वे"ति कृष्णाजिनमादत्ते । अब्लिङ्गाभिः पवित्रम् । "बलमसि बलाय त्वे" ति कमण्डलुम् ।। ५ ।।

अनु०—"ब्रह्मवर्चसमसि ब्रह्मवर्चसाय त्वा" (तुम ब्रह्म के तेज हो, ब्रह्म के तेज के लिए मैं तुम्हे धारण करता हूँ) कहकर कृष्ण मृगचर्म ग्रहण करे । जल देवता के मन्त्रों से पवित्र को ग्रहण करे । 'बलमसि बलाय त्वा' (तुम बल हो, तुम्हें बल के लिए ग्रहण करता हूँ) कहकर कमण्डलु ग्रहण कर ।। ५ ।।

आदत्त इत्यनुवर्तते ।। ५ ।।

"धान्यमसि पुष्टयै त्वे"ति वीवधम् ।। "सखा मा गोपाये"ति दण्डम् । अथोपनिष्क्रम्य व्याहृतीर्जपित्वा दिशामनुमन्त्रणं जपति—"पृथिवी चाऽन्तरिक्षं च द्यौश्च नक्षत्राणि च या दिशः । अग्निर्वायुश्च सूर्यश्च पान्तु मा पथि देवता" इति । 'मानस्तोकीयं जपित्वा ग्रामं प्रविश्य गृहद्वारे गृहद्वार आत्मानं वीवधेन सह दर्शनात् संदर्शनीत्याचक्षते ।।६।।

"धान्यमसि पुष्ट्यै त्वा" (तुम अन्न हो, मैं तुम्हें पुष्टि के लिए ग्रहण करता हूँ) कहकर वीवध को ग्रहण करे । "सखा मा गोपाय" (तुम मित्र हो, मेरी रक्षा करो) कहकर दण्ड ग्रहण करे । अपनी कुटी से निकलकर व्याहृतियों का जप करे और दिशाओं के अनुमन्त्रण के लिए यह मन्त्र जपे—"पृथिवी चाऽन्तरिक्षं च द्यौश्च नक्षत्राणि च या दिशः । अग्निर्वायुश्च सूर्यश्च पान्तु मां पथि देवता । (पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, नक्षत्र और दिशाएँ, अग्नि, वायु और सूर्य देवता मार्ग मे मेरी रक्षा करें) । मानस्तोकीय (तैत्तिरीय संहिता ३. ४. ११.२ के 'मा नस्तोके' आदि से आरम्भ होने वाला अंश) का पाठ करते हुए गाँव मे प्रवेश करे और प्रत्येक घर के द्वार पर वीवध के साथ उपस्थित होकर अपने को दिखाए, इसे ही संदर्शनी कहते हैं ।। ६ ।।

ध्रुवा हि वृत्तिर्भिक्षाटनप्राधान्यात् । भैक्षभाजनं च वीवधः । ग्रा। तत्र प्रतिगृहमुपनिष्क्रम्य व्याहृतीर्जपति । दिशामनुमन्त्रणम्—'पृथिवी च' इति मन्त्रः । 'मा नस्तोके' इति गृहद्वारे । आत्मानं वीवधेन गृहद्वारिभ्यस्संदर्श-

१. मानस्तोकीयो व्याख्यास्यते ।

यित्वा (?) तूष्णीमेव गोदोहनकालमात्रं तिष्ठेत् । एतस्मादेव लिङ्गादेतस्या वृत्तेरसन्दर्शनीति संज्ञान्तरमाचक्षते ॥ ६ ॥

वृत्तेर्वृत्तरवार्तायां तयैव तस्य ध्रुवं वर्तनाद् ध्रुवेति परिकीर्तिता ॥ ७ ॥

अनु०—भिन्न-भिन्न दूसरी वृत्तियों से यदि जीविका निर्वाह न हो तो उसी एक (भिक्षा) वृत्ति से निरन्तर जीवन निर्वाह करने के कारण, उसे ध्रुवा वृत्ति कहते हैं ॥ ७ ॥

वृत्तेर्वृत्तेरिति वीप्सादर्शनात् अवार्तायामित्यध्याहार्यम् । वृत्त्यवार्ताशब्दौ द्रव्यलाभालाभवचनौ । प्रथमो वृत्तिशब्दः प्राणयात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थद्रव्यार्जनवचनः । तयैव भिक्षया वर्तेत । ध्रुवमित्याद्युपसंहारः । ध्रुव निश्चयेन ॥ ७ ॥

किंलक्षणा सम्प्रक्षालनीत्यत आह—

सम्प्रक्षालनीति । उत्पन्नानामोषधीनां प्रक्षेपणं निक्षेपणं नास्ति निचयो वा भाजनानि सम्प्रक्षाल्य न्युब्जतीति सम्प्रक्षालनी ॥ ८ ॥

अनु०—संप्रक्षालनी नाम की वृत्ति इस प्रकार होती है । उत्पन्न होने योग्य व्रीहि इत्यादि बीजों के बोने का कार्य, या प्राप्त ओषधियों अन्नादि के नष्ट करने के प्रयोजन से फेंकने अथवा सचय करने का कार्य जिस वृत्ति मे नही होता और जिस वृत्ति में बरतनों को धोकर उल्टा रख दिया जाता है उसे सम्प्रक्षालनी वृत्ति कहते हैं ॥ ८ ॥

उपपन्नानामुत्पादयितुमङ्कुरीकर्तुं योग्यानां बीजानामित्यर्थः । ओषधीनां व्रीह्यादिबीजानां प्रक्षेपणं बीजावापनम् । यद्वा पूर्वमेवोत्पन्नानां यात्रायात्राप्रसिद्ध्यर्थमार्जितानामित्यर्थः । नास्तीत्येतत्काकाक्षिवत् प्रक्षेपणनिक्षेपणनिचयेषु सम्बध्यते । निक्षेपणं निक्षेपः । पात्र्यां भोजनवेलायाम्, निचयस्सञ्चयः; आमे पक्वे च सञ्चयो न कर्तव्य इत्यर्थः । किं तर्हि कुर्यात् ? अहरेव भाजनानि सम्प्रक्षाल्य न्युब्जति न्यञ्च करोति सैषा सम्प्रक्षालनी वृत्तिः ॥ ८ ॥

समूहा नाम पञ्चमी । सा कीदृशीत्याह—

समूहेति । अवारितस्थानेषु पथिषु वा क्षेत्रेषु वाऽप्रहितावकाशेषु वा यत्र यत्रौषधयो विद्यन्ते तत्र तत्र समूहन्या समूह्य ताभिर्वर्तयतीति समूहा ॥ ९ ॥

अनु०—समूहा नाम की वृत्ति इस प्रकार होती है । जिन स्थानों पर जाना निषिद्ध नहीं है, मार्गों में या खेत में जहां प्रवेश का मार्ग घिरा न हो जहाँ ओषधियाँ वृक्षादि हों उन स्थानों पर झाड़ू से बुहार कर जो अन्नादि उपलब्ध हों उन्हीं से जीविका निर्वाह करना समूहा वृत्ति है । ९ ॥

अवारितस्थानान्यनिषिद्धानि । अप्रतिहतावकाशाः वृत्तिशून्या देशाः । समूहनी सम्मार्जनी ॥ ९ ॥

पालनीत्यहिंसिकेत्येवेदमुक्तं भवति । तुषविहीनांस्तण्डुलानिच्छति सज्जनेभ्यो बीजानि वा पालयतीति पालनी ॥ १० ॥

अनु०—पालनी नाम की वृत्ति, जिसे अहिंसिका वृत्ति भी कहते हैं इस प्रकार की होती है । सज्जनों से बिना छिलके के चावलों को या बीजों को प्राप्त करने की इच्छा करे और उन्हीं से अपना पालन करे तो पालनी वृत्ति कहलाती है ॥ १० ॥

सज्जनेभ्यो विद्वद्भ्यः । पालयति प्रयच्छति तस्मात्तंडुलानेव स्वयं गृह्णीयात् । तुषविहीनग्रहणं तुषाणामप्यसंग्रहणार्थम् । तेषु मिश्रणसम्भावना यतः ॥ १० ॥

सिलोञ्छा पुनः—

सिलोञ्छेति । अवारितस्थानेषु पथिषु वा क्षेत्रेषु वाऽप्रतिहतावकाशेषु वा यत्रयत्रौषधयो विद्यन्ते तत्रतत्रैकैकं कणिशमुञ्छयित्वा कालेकाले सिलैर्वर्तयतीति सिलोञ्छा ॥ ११ ॥

अनु०—सिलोञ्छा वृत्ति इस प्रकार है । जिन स्थानों पर जाना निषिद्ध नहीं है, ऐसे मार्ग में या खेतों में या जहाँ प्रवेश का मार्ग अवरुद्ध नहीं है ऐसे स्थानों पर, जहाँ ओषधियाँ (अन्न, वृक्षादि) हों वहाँ एक-एक कण समय-समय पर एकत्र कर उसी के भक्षण से जीवन निर्वाह करना सिलोञ्छा वृत्ति है ॥ ११ ॥

कणिशो धान्यस्तम्बः । उञ्छनं उत्पाटनम् । उञ्छनकालः वीप्सया सम्बध्यते । सर्वावश्यकालः उञ्छनकालः । सिलाः ग्रासविशेषाः । यावद्भिरात्मयात्रा भवतीति । शेषं पूर्ववत् ॥ ११ ॥

कापोताऽष्टमी, सेदानीमुच्यते—

कापोतेति । अवारितस्थानेषु पथिषु क्षेत्रेषु वाऽप्रतिहतावकाशेषु वा यत्र यत्रौषधयो विद्यन्ते तत्र तत्राङ्गुलिभ्यामेकैकामोषधिमुञ्छयित्वा सन्दर्शनात् कपोतवदिति कापोता ॥ १२ ॥

अनु०—कापोता वृत्ति इस प्रकार होती है । उन स्थानों में जहाँ जाना निषिद्ध नहीं है, मार्गों में या खेतों में या जिन स्थानों पर प्रवेश का मार्ग अवरुद्ध नहीं है, उन स्थानों पर जो ओषधियाँ विद्यमान हों, उनमें दो अंगुलियों से केवल एक-एक ओषधि

(अन्न या फल) ग्रहण कर कपोत के समान जीविका निर्वाह के कारण कापोता वृत्ति होती है ॥ १२ ॥

संदर्शनादात्मनः प्रकटीकरणात्। संदंशनादिति पाठे ग्रादनादित्यर्थः। तद्यथा कपोतो द्वाभ्यां चञ्चुभ्यां एकस्थान्यव्यक्तं गृहीत्वा पतति एवं कापोतामास्थाय वर्तते ॥ १२ ॥

सिद्धेच्छा तर्हि वक्तव्या—

सिद्धेच्छेति। वृत्तिभिश्श्रान्तो वृद्धत्वाद्धातुक्षयाद्वा सज्जनेभ्यः सिद्धमन्नमिच्छतीति सिद्धेच्छा ॥ १३ ॥

अनु०—सिद्धेच्छा वृत्ति इस प्रकार है। यदि अन्य वृत्तियों से थक कर वृद्ध होने के कारण या दुर्वल होने के कारण सज्जनों के घर से पके-पकाये अन्न को प्राप्त कर जीवन निर्वाह करता है तो वह सिद्धेच्छा वृत्ति है ॥ १३ ॥

पूर्वोक्ताभिर्वृत्तिभिः। श्रान्तः परिक्षीणः। वृद्धता वयसा, धातुक्षयेण रोगेण। सिद्धं पक्वान्नम् ॥ १३ ॥

तस्याऽऽत्मसमारोपणं विद्यते संन्यासिवदुपचारः पवित्रकाषायवासोवर्जम् ॥ १४ ॥

अनु०—यदि सिद्धेच्छा वृत्ति ग्रहण करता है तो सभी यज्ञाग्नियों को अपने में समारोपित करे और संन्यासी के समान आचरण करे, किन्तु पवित्र का प्रयोग न करे तथा गेरुआ वस्त्र भी न धारण करे ॥ १४ ॥

तस्य सिद्धेच्छावृत्तेरपरो नियमः—अग्नीनामात्मनि समारोपणं परिव्राजकधर्माणामनुष्ठानं च। किं सर्वेषाम्। नेत्याह—जलपवित्रं पक्षपवित्रं काषायवासश्च वर्ज्यम् ॥ १४ ॥

अथ वान्या वृत्तिः—

वान्याऽपि वृक्षलतावल्ल्योषधीनां च तृणौषधीनां च श्यामाकजतिलादीनां वान्याभिर्वर्तयतीति वान्या ॥ १५ ॥

अनु०—यदि वृक्षों और लताओं से उत्पन्न फलों को, तृणों से उत्पन्न वस्तुओं को, श्यामाक, तिल आदि जंगली अन्न को खाकर जीविका निर्वाह करे तो वह वान्या वृत्ति कहलाती है ॥ १५ ॥

वृक्षलतासूत्पातिता वल्लीगुल्मलतासु च। ओषध्यः फलपाकान्ता यद्वा—द्विविधा ओषध्यः वल्ल्योषध्यः तृणौषध्यश्च। यासां वल्लीभ्य एव धान्यं गृह्यते

ता वल्ल्योषध्यः । ताश्च कुलुत्थाद्याः । तृणौषध्यस्तु–"तस्मादुपरिष्टादोषधयः फलं गृह्णन्ति' इत्यत्र या उक्ताः, ताश्च व्रीह्याद्याः । अत्र पुनरेवंलक्षणका एवाऽऽरण्या गृह्यन्ते । अत एव श्यामाकजर्तिलादीनामित्युदाहृतम् । आदिग्रहणं सप्तानामपि सङ्ग्रहार्थम् । एवं चोपसंहारोऽप्युपपन्नो भवति—"वन्याभिर्वर्तयतीति गान्ये" ति । षष्ठी सम्बन्धमात्रलक्षणा । वृक्षादीनां फलैरिति शेषः ॥ १५ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति —

मृगैस्सह परिस्पन्दः संवासस्तेभिरेव च । तैरेव सदृशी वृत्तिः प्रत्यक्षं स्वर्गलक्षणं प्रत्यक्षं स्वर्गलक्षणमिति ॥ १६ ॥

इति तृतीयप्रश्ने द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

अनु०—इस सम्बन्ध में निम्नलिखित भी उद्धृत करते हैं—

पशुओं के साथ विचरण करना और उन्हीं के साथ निवास करना, और पशुओं के समान ही जीविका निर्वाह करना स्वर्ग प्राप्ति का प्रत्यक्ष लक्षण है ॥ १६ ॥

उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणानीति परिस्पन्दः । चलनात्मिका क्रियेति यावत् । तेभिरिति ऐसो [1]लोपश्छान्दसः । मृगसदृशवृत्तित्वमस्य स्वयंविशीर्णफलादिभक्षणादुद्धवत्यामद्रव्यभक्षणाच्च ॥ १६ ॥

इति श्रीगोविन्दस्वामिकृते बौधायनधर्मविवरणे
तृतीयप्रश्ने द्वितीयोऽध्यायः ।

तृतीयप्रश्ने तृतीयोऽध्यायः

तृतीयः खण्डः

उक्ता नव वृत्तयो गृहस्थस्य;

अथ वानप्रस्थस्य द्वैविध्यम् ॥ १ ॥

अनु०—वानप्रस्थों के दो वर्ग होते हैं (जिनका विवेचन यहाँ किया जायगा)।१।

वक्ष्यत इति शेषः । तच्च वृत्तिविशेषकृतम् ॥ १ ॥

तदाह—

पचमानका अपचमानकाश्चेति ॥ २ ॥

---

१. ऐसोऽप्रवृत्तिश्छान्दसीति सुवचम् ।

अनु०—अग्नि पर भोजन पकाने वाले पचमानक, तथा भोजन न पकानेवाले अपचमानक ॥ २ ॥

अग्निपकाशिनः अनग्निपक्वाशिनश्चेति सूत्रार्थः ॥ २ ॥

अत्राऽप्याह—

तत्र पचमानकाः पञ्चविधाः—सर्वारण्यका वैतुषिकाः कन्दमूलभक्षाः फलभक्षाश्शाकभक्षाश्चेति ॥ ३ ॥

अनु०—इनमें भी पचमानक अर्थात् अग्नि पर अपना भोजन पकाने वाले वानप्रस्थ पाँच प्रकार के होते हैं (१) सर्वारण्यका अर्थात् वन की सभी प्रकार की खाद्य वस्तुओं का भक्षण करने वाले, (२) वैतुषिक जो बिना कूटे गये जंगली अन्न को खाकर जीवन निर्वाह करते हैं, (३) कन्द-मूल का भक्षण करने वाले (४) फलाहारी तथा (५) वन के शाक मात्र का भक्षण कर जीवन निर्वाह करने वाले ॥३॥

एते पचमानकप्रभेदाः ॥ ३ ॥

तत्र सर्वारण्यका नाम द्विविधाः द्विविधमारण्यमाश्रयन्तः—इन्द्रावसिक्ता रेतोवसिक्ताश्चेति ॥ ४ ॥

अनु०—इनमें भी वन की सभी खाद्य वस्तुओं का आहार करने वाले सर्वारण्यक भी दो प्रकार के होते हैं और ये वन की दो प्रकार की वस्तुओं के भक्षण से वृत्ति चलाते हैं—इन्द्र द्वारा उत्पन्न वस्तुओं के भक्षण से (अर्थात् वर्षा से उत्पन्न वस्तुओं के भक्षण से) तथा वीर्य से उत्पन्न जीवों के भक्षण से (अर्थात् मृगादि पशुओं का मांस भक्षण कर) ॥ ४ ॥

अरण्ये भवमारण्यं तच्च द्विविधं— वल्ल्यादयो मृगादयश्च । तत्र वल्ल्यादि भक्षा इन्द्रावसिक्ताः, इन्द्रेण देवेन पर्जन्यरूपिणा वृष्ट्या सिक्ताः वर्धिताः वल्ल्यादयः । तद्भक्षणादिन्द्रावसिक्ताः । उक्तं चाऽऽचार्येण—'अथाऽस्य कर्मणस्सानुप्रदानं पितृवधो या च का च बलिप्रकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्' इति । तथा रेतोऽवसिक्ताः मृगमांसाशिनः रेतसा हि हेतुभूतेनाऽवसिक्तानि मांसानि, तदाश्रयात् । सर्वारण्यकानां च द्वैविध्यम् ॥ ४ ॥

तदिदानीं प्रपञ्चयति—

तत्रेन्द्रावसिक्ता नाम वल्लीगुल्मलतावृक्षाणामानयित्वा श्रपयित्वा सायं प्रातरग्निहोत्रं हुत्वा यत्यतिथिव्रतिभ्यश्च दत्त्वाऽथेतरच्छेपभक्षाः ॥ ५ ॥

अनु०—इन दो प्रकार की वस्तुओं में भी जो पदार्थ इन्द्र अर्थात् वृष्टि द्वारा उत्पन्न की गयी है वे हैं वृक्षों, लताओं, झाड़ियों के फल। इन फलों को लाकर पकावे, सायंकाल तथा प्रातः काल अग्निहोत्र हवन करें, भिक्षुको, अतिथियों और ब्रह्मचारियों को देकर शेष अंश का भक्षण करे ॥ ५ ॥

भवेयुरित्यध्याहार्यम्। वल्ल्यादीनां फलानि आनयित्वा आनीय। यतयो भिक्षुकाः। अतिथयः प्रसिद्धाः। व्रतिनो ब्रह्मचारिणः। वल्ल्यादिफलानामग्निहोत्रद्रव्यत्वेन विधानात् नित्यानां पयआदिद्रव्याणां निवृत्तिः। इतरद्भक्षाः शेषभक्षाश्चेति विग्रहः। इतरद्भक्षा इति सिद्धे शेषभक्षा इति वचनं अग्निहोत्रशेषे यात्रानिर्यापितशेषे च वैश्वदेवप्राप्त्यर्थम्। इतरदपि शेषं कृत्वा भक्षयेदित्यर्थः ॥ ५ ॥

अथेतरानाह—

रेतोवसिक्ता नाम मांसं[1] व्याघ्रवृकश्येनादिभिरन्यतमेन वा हतमानयित्वा श्रपयित्वा सायं प्रातरग्निहोत्रं हुत्वा यत्यतिथिभ्यश्च दत्त्वाऽथेतरच्छेषभक्षाः ॥ ६ ॥

अनु०—वीर्य से उत्पन्न हुआ (पशुओं का) मांस होता है। बाघ, भेड़िया, बाज आदि शिकार करने वाले जानवरों या पक्षियों द्वारा मारे गये पशु-पक्षी को लाकर उसका मांस पकावे, साय तथा प्रातः काल अग्निहोत्र हवन करने, भिक्षुकों, अतिथियों तथा ब्रह्मचारियों को देने के बाद शेष मांस का भक्षण करे ॥ ६ ॥

अस्याऽपि पूर्ववद् व्याख्या ॥ ६ ॥

अथ पचमानकानां द्वितीयानाह—

वैतुषिकास्तुषधान्यवर्जं तण्डुलानानयित्वा श्रपयित्वा सायं प्रातरग्निहोत्रं हुत्वा यत्यतिथिव्रतिभ्यश्च दत्त्वाऽथेतरच्छेषभक्षाः ॥ ७ ॥

अनु०—जो छिलका निकाले बिना ही जंगली अन्न का भक्षण करते हैं वे तुषधान्य को छोड़कर चावल मंगाकर उसे पकावें, सायंकाल तथा प्रातःकाल अग्निहोत्र होम कर, भिक्षुकों, अतिथियों और ब्रह्मचारियों को अंश देकर बचे हुए अन्न का भक्षण करें ॥ ७ ॥

तुषधान्यवर्जद्रव्याहरणस्य प्रयोजनं तत्स्वीकारोऽपि कथं नु नाम स्यादिति ॥ ७ ॥

---

१. मृगव्याघ्रेति क्वचित् पाठः।

अथेतरान् त्रीन् समुच्चिचदयाऽऽह—

कन्दमूलफलशाकभक्षाणामप्येवमेव ॥ ८ ॥

अनु०—जो कन्द, मूल या शाक का भक्षण करते हैं वे भी इसी प्रकार करें॥८॥

एवमिति आनयित्वेत्यादीति शेषः॥ ८ ॥

इदानीमपचमानकप्रकारभेदविविधिस्सयाऽऽह—

पञ्चैवाऽपचमानकाः—उन्मज्जकाः प्रवृत्ताशिनो मुखेनाऽऽयिनस्तोयाहारा वायुभक्षाश्चेति ॥ ९ ॥

अनु०—अपचमानक अर्थात् पकाकर न खाने वालों के भी पाँच ही वर्ग है—उन्मज्जक, प्रवृत्ताशिन्, मुखेनादायिन्, तोयाहार और वायुभक्ष ॥ ९ ॥

एते भेदाः ॥ ९ ॥

तेषां परस्परवैलक्षण्यं प्रतिपादयन्नाह—

तत्रोन्मज्जका नाम लोहाश्मकरणवर्जम् ॥

अनु०—इनमें उन्मज्जक वे हैं जो लोहे और पत्थर के उपकरणों का प्रयोग न करते हुए अपना भोजन तैयार करते हैं ॥ १० ॥

लोहकरणं दर्व्यादि। अश्मकरणमप्येवमाकृतिकमेव किञ्चित्। काष्ठान्येव करणमादान इत्यर्थः ॥ १० ॥

हस्तेनाऽऽदाय प्रवृत्ताशिनः ॥ ११ ॥

अनु०—प्रवृत्ताशिन् हाथ में ही लेकर भक्षण करते हैं ॥ ११ ॥

भक्षयन्तीति वाक्यसमाप्तिः ॥ ११ ॥

मुखेनाऽऽदायिनो मुखेनाऽऽददते ॥ १२ ॥

अनु०—मुखेनादायिन् (पशुओं की तरह) मुख से ही लेकर भक्षण करते हैं ॥ १२ ॥

पशुवदित्यभिप्रायः ॥ १२ ॥

तोयाहाराः केवलं तोयाहाराः ॥ १३ ॥

अनु०—तोयाहार केवल जल पीकर ही रहते हैं ॥ १३ ॥

केवलशब्दादुपदंशादिस्थानेऽपि तोयस्यैव प्रवेशः कर्तव्यः ॥ १३ ॥

वायुभक्षा निराहाराश्च ॥ १४ ॥ वैखानसानां विहिता दश दीक्षाः ॥ १५ ॥ यश्शास्त्रमभ्युपेत्य दण्डं च मौनं चाऽप्रमादं च ॥ १६ ॥ वैखानसाश्शुद्ध्यन्ति निराहाराश्चेति ॥ १७ ॥

अनु०—वायुभक्ष किसी प्रकार का भोजन नहीं करते ॥ १४ ॥

अनु०—इस प्रकार वैखानसों के लिए दस प्रकार की दीक्षा होती है ॥ १५ ॥

अनु०—जो संन्यासी शास्त्रों के अनुसार नियमों का पालन कर रहा है वह दण्ड धारण करे, मौन रहे और प्रमाद (बिना सोचे-विचारे कोई कार्य) न करे ॥१६॥

अनु०—विखनस् के अनुसार नियमों का पालन करने वाले संन्यासी तथा आहार न करने वाले शुद्ध होते हैं अर्थात् उनके पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ १७ ॥

वायुभक्षा इत्येतावदेवोच्यमाने वाङ्मुखादायिवत् द्वयोः कारणताशङ्काऽपि स्यादिति मत्वा निराहाराश्चेत्युक्तम् । मुखेनादायिप्रभृतीनां त्रयाणां संज्ञासिद्धमपि सन्देहनिवृत्त्यर्थं वृत्तिविवरणमाचार्येण कृतम् । वानप्रस्थसंन्यासभेदः किमर्थमाचार्यकृत इति । असावेव द्रष्टव्यः । यद्वा— उक्तव्यतिरिक्तवृत्तिनिषेधार्थम् ॥ १४-१७ ॥

एवं भेदेषूक्तेष्विदानीं सर्वेषां सहत्याऽऽह—

शास्त्रपरिग्रहस्सर्वेषां ब्रह्मवैखानसानाम् ॥ १८ ॥

अनु०—सभी ब्राह्मण वैखानसों के लिए (या ब्रह्मवैखानसों के लिए) शास्त्र के अनुसार निम्नलिखित नियम होते हैं ॥ १८ ॥

वक्ष्यत इति शेषः । ब्रह्मणा दृष्टाः वैखानसाः ब्रह्मवैखानसाः । यद्वा—ब्राह्मणास्सन्त इति ॥ १८ ॥

तत्र प्रथमं तावत्—

न द्रुह्येद् दंशमशकान् हिमवान् तापसो भवेत् ।
वनप्रतिष्ठस्सन्तुष्टश्चीरचर्मजलप्रियः ॥ १९ ॥

अनु०—दंश और मच्छर जैसे क्षुद्र प्राणियों को भी हानि न पहुँचाये शीत सहन करने की क्षमता रखे । तपस्या में लगा रहे । वन में निवास करे । सन्तुष्ट रहे । वृक्षों की छाल तथा चर्म को ही वस्त्र के रूप में धारण करने में रुचि रखे॥१९॥

दंशादिकानामपि हिंसां नाऽऽचरेत् । द्रुः जिघांसायां वर्तते । हिमवान् शीतसहिष्णुः । तद्ग्रहणं धर्मस्याऽप्युपलक्षणार्थम् । आह च—

ग्रीष्मे पञ्चतपाश्च स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशकः ।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः ।। इति ।।

वनप्रतिष्ठः ग्रामप्रवेशवर्जः । सन्तुष्टो वितृष्णः । चीरचर्मप्रियः तद्वसनः । जलप्रियः कमण्डलुधारी । ऋज्वन्यत् ।। १९ ।।

अतिथीन् पूजयेत्पूर्वं काले स्वाश्रममागतान् ।
देवविप्राग्निहोत्रे च युक्तस्तपसि तापसः ।। २० ।।

अनु०—तपस्वी पहले भोजन काल में आश्रम में आये हुए अतिथियों का सत्कार करे । देव, विप्र की पूजा में तथा अग्निहोत्र कर्म एवं तपस्या में लगा रहे ।। २० ।।

युक्तशब्दः काकाक्षिनिरीक्षणवत् उभयत्र सम्बध्यते देवविप्रपूजायामग्निहोत्रे तपसि च युक्तः स्यादित्यर्थः ।। २० ।।

कृच्छ्रां वृत्तिमसंहार्यां सामान्यां मृगपक्षिभिः ।
तदहर्जनसम्भारां कषायकटुकाश्रयाम् ।। २१ ।।
परिगृह्य शुभां वृत्तिमेतां दुर्जनवर्जिताम् ।
वनवासमुपाश्रित्य ब्राह्मणो नाऽवसीदति ।। २२ ।।

अनु०—जो कठिन और दुर्भर है तथा पशु-पक्षियों की ऐसी जीवनवृत्ति के समान है, जिस वृत्ति में केवल एक दिन के लिए वस्तुओं का संचय किया जाता है, और कषाय तथा कटु रस वाली वस्तुओं का ही भक्षण किया जाता है, जो दुर्जनों के संग से दूर रखने वाली कल्याण देने वाली उत्तम वृत्ति है उसे स्वीकार कर वनवास करने वाला ब्राह्मण कभी दुःख नहीं पाता है ।। २१–२२ ।।

कृच्छ्रां दुःखाम् । असंहार्यां दुर्भराम् । मृगपक्षिसादृश्यामव्यापदम् तदहर्जीविका जना वैखानसाः । तत्सम्भारास्सम्भार्या आर्जनीयाः वैखानससकाशादेवाऽश्वस्तनिकधनमार्जयेदित्यर्थः । तदहर्जनसम्भारेति 'सुपां सुपा' इति समासः । कषायं चित्तमलम् । कटुकं वाचिकं मलं अप्रियभाषणम् ; न तदाश्रयः विपरीतलाक्षणैषा । एषैव शुभा दुर्जनवर्जिता च वृत्तिः । दुर्जनाः नास्तिकाः ।। २१, २२ ।।

मृगैरसह परिस्पन्दः संवासस्तेभिरेव च ।
तैरेव सदृशी वृत्तिः प्रत्यक्षं स्वर्गलक्षणम् ।।
प्रत्यक्षं स्वर्गलक्षणमिति ।। २३ ।।

इति तृतीयप्रश्ने तृतीयः खण्डः ।।

अनु०—पशुओं के साथ विचरण करना, उन्हीं के साथ निवास करना, उन्हीं के समान जीवन वृत्ति का आश्रय लेना स्वर्ग का प्रत्यक्ष लक्षण होता है ।। २३ ।।

फलार्थवादोऽयम् ।।

इति तृतीयप्रश्ने तृतीयः खण्डः तृतीयोऽध्यायश्च ।

तृतीयप्रश्ने चतुर्थोऽध्यायः

चतुर्थः खण्डः

उक्तं च ब्रह्मचर्यम —

अथ यदि ब्रह्मचार्यव्रत्यमिव चरेत् ।। १ ।।

अनु०—यदि ब्रह्मचारी अपने व्रत के विरुद्ध कोई कार्य करता है तो उसके संबन्ध में नियम यहाँ बताया जायगा ।। १ ।।

व्रतं नियमस्तस्मै हितं व्रत्यं तदभावोऽव्रत्यम् । ब्रह्मचारिग्रहणं प्रदर्शनार्थम् । यस्य यस्मिन् काले ब्रह्मचर्यं चोदितमपि गृहस्थस्य भिक्षावर्जमस्याऽऽश्रमिणो वक्ष्यमाणे कर्मण्यधिकारः ।। १ ।।

किं किं पुनरव्रत्यमित्याह—

मांसमश्नीयात् स्त्रियं वोपेयात् सर्वास्वेवाऽऽर्तिषु ।। २ ।।

अनु०—यदि ब्रह्मचारी मांस भक्षण कर लेता है, स्त्री से संभोग कर लेता है, अथवा सभी प्रकार के व्रत भंग के समय निम्नलिखित कर्म करे ।। २ ।।

अव्रत्यानि परिभाषायां प्रपञ्चितानि--'अथोपनीतस्याऽव्रत्यानि भवन्ति नाऽन्यस्योच्छिष्टं भुञ्जीत' इत्यादि । अत्र तेषां दिङ्मात्रं प्रदर्शितम् । तत्र हि पुनरुपनयन नैमित्तिकत्वेन विहितम् । इह तु होमः । अनयोश्शक्तिबुद्धिपूर्व-व्यपेक्षया विकल्पसमुच्चयौ द्रष्टव्यौ । सर्वास्वेवार्तिषु प्रदेशेषु ।। २ ।।

अन्तराऽगारेऽग्निमुपसमाधाय सम्परिस्तीर्याऽऽग्निमुखात् कृत्वाऽथाज्याहुतीरुपजुहोति ।। ३ ।।

अनु०—घर के भीतर अग्नि के ऊपर समिध् रखकर उसका उपसमाधान करे, उसके चारो ओर कुश घास फैलावे, अग्निमुख तक की (दार्विहोमिक) क्रियाओं को कर घृत की आहुतियाँ इन मन्त्रों के साथ करे ।। ३ ।।

आऽग्निमुखात्कृत्वेति दार्विहोमिकतन्त्रप्राप्त्यर्थम्, उपजुहोतीति श्रवणात्। पक्वहोमानन्तरं वक्ष्यमाणहोमादि:। पक्वहोमाश्च व्याहृतीभिस्सावित्र्या च ॥ ३ ॥

त एते मन्त्राः—

"कामेन कृतं कामः करोति कामायैवेदं सर्वं यो मा कारयति तस्मै स्वाहा। मनसा कृतं मनः करोति मनस एवेदं सर्वं यो मा कारयति तस्मै स्वाहा। रजसा कृतं रजः करोति रजस एवेदं सर्वं यो मा कारयति तस्मै स्वाहा। तमसा कृतं तमः करोति तमस एवेदं सर्वं यो मा कारयति तस्मै स्वाहा। पाप्मना कृतं पाप्मा करोति पाप्मन एवेदं सर्वं यो मा कारयति तस्मै स्वाहा। मन्युना कृतं मन्युः करोति मन्यव एवेदं सर्वं यो मा कारयति तस्मै स्वाहेति" ॥ ४ ॥

अनु०—यह काम ने किया, काम ही यह पाप करता है, यह सभी काम का है जो मुझसे कराता है।...मन ने किया...। राग ने किया...तमस् ने किया...। पापी ने किया...। क्रोध ने किया...॥ ४ ॥

कामेन कृतं न मया। यद्यप्यात्मा कर्मकर्ता तथाऽपि कामाधीनमेतदव्रत्याचरणमनुध्यातव्यमित्यभिप्रायः। एवं मनःप्रभृतिष्वपि यथासम्भवं तस्य हेतुभावो द्रष्टव्यः। कामः रागोऽर्थव्यतिकराव्यतिकराभिलाषः। मन्युः क्रोधः तद्विघातकृत्सु। तावेवाऽविहिताकरणप्रतिषिद्धसेवनयोर्निदानम्। तत्सहकारीणि मनोरजस्तमांसि। पाप्मा कर्तुः पापम्। तदप्यनेकजन्मोपार्जितं कारणमेव॥४॥

जयप्रभृति सिद्धमा धेनुवरप्रदानात् ॥ ५ ॥

अनु०—जय से लेकर अन्त में दक्षिणार्थ गो के दान तक की क्रियाएँ ज्ञात ही हैं॥ ५ ॥

इदमपि तन्त्रप्राप्तिद्योतकमेव ॥ ५ ॥

अपरेणाऽग्निं कृष्णाजिनेन प्राचीनग्रीवेणोत्तरलोम्ना संवेष्ट्य वसति ॥ ६ ॥

अनु०—इसके अनन्तर अग्नि के पश्चिम की ओर काले मृग के चर्म से शरीर को इस प्रकार ढक कर बैठा रहे कि मृगचर्म की ग्रीवा पूर्व की ओर हो और उसके रोएँ ऊपर की ओर हों॥ ६ ॥

अपरेणाऽग्निमग्नेः पश्चिमदेशे प्रच्छन्नवत्, रात्राविति शेषः ॥ ६ ॥

अथ व्युष्टायां जघनार्धादात्मानमपकृष्य तीर्थं गत्वा प्रसिद्धं स्नात्वाऽन्तर्जलगतोऽघमर्षणेन षोडश प्राणायामान् धारयित्वा प्रसिद्धमादित्योपस्थानात् कृत्वाऽऽचार्यस्य गृहानेति ॥ ७ ॥

अनु०—दिन के उगने पर नाभि से नीचे तकके शरीर के भाग को निकाल कर किसी जलाशय पर जाकर वहाँ ज्ञात विधि से स्नान करे और जल के भीतर स्थित होते हुए ही अघमर्षण मन्त्र से सोलह प्राणायाम करे और सूर्य की पूजा तक की प्रसिद्ध क्रियाएँ करे और तब अपने आचार्य के घर जाय ॥ ७ ॥

टि०—गोविन्द स्वामी के अनुसार उपर्युक्त कर्म एक नये जन्म का प्रतीक होता है। ब्रह्मचारी ही अन्त में आचार्य के घर जाय, गृहस्थ अपने घर ही रहे।

व्युष्टायां उषस्समये जघनार्धात् आत्मसम्बन्धिनो नाभेरधोभागात् पुनर्जननमिति निर्वृत्य (?) तीर्थं नदीदेवखातादिपुण्यजलाशयः। प्रसिद्धमिति पूर्वोक्तस्नानविधिनाऽऽदित्योपस्थानपर्यन्तं करोति। अयं विशेषः—अघमर्षणमन्त्रेण षोडश प्राणायामाः। ब्रह्मचारी चेदाचार्यस्य गृहानेति। गृहस्थस्तु गृहान् ॥ ७ ॥

अथाऽस्य प्रशंसा—

यथाऽश्वमेधावभृथमेवैतद्विजानीयादिति ॥ ८ ॥

अनु०—यह क्रिया उसी प्रकार की होती है जिस प्रकार अश्वमेध यज्ञ के अन्त में अवभृथ स्नान की क्रिया होती है ॥ ८ ॥

इति तृतीयप्रश्ने चतुर्थः खण्डोऽध्यायश्च।

तृतीयप्रश्ने पञ्चमोऽध्यायः

पञ्चमः खण्डः

पापनिर्हरणप्रसङ्गादघमर्षणप्रसङ्गाद्वेदमन्यदारभते—

अथातः पवित्रातिपवित्रस्याऽघमर्षणस्य कल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अनु०—अब हम यहाँ से पवित्र से भी पवित्रतम अघमर्षण सूक्त के प्रयोग की व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

पवित्रं पुरुषसूक्तादि। तेषां मध्ये अतिपवित्रमघमर्षणं सूक्तं तस्य कल्पः प्रयोगः ॥ १ ॥

तीर्थं गत्वा स्नातः शुचिवासा उदकान्ते स्थण्डिलमुद्धृत्य सकृत्क्लिन्नेन वाससा सकृत्पूर्णेन पाणिनाऽऽदित्याभिमुखोऽघमर्षणं स्वाध्यायमधीयीत ॥ २ ॥

अनु०—स्नान करने योग्य जलाशय में जाकर स्नान करे और शुद्ध वस्त्र पहन कर जल के किनारे मिट्टी निकालकर (सूर्य के आकार में मिट्टी का बनाकर) एक बार भिगोये गये वस्त्र से और एक बार जल से हाथ को भरकर स्वाध्याय के ढंग से सूर्य की ओर मुख कर अघमर्षण सूक्त का पाठ करे ॥ २ ॥

शुचिवासा इत्यस्योपसंहारः—सकृत्क्लिन्नेति । सकृत्प्रक्षालितमिति यावत् । इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया । स्थण्डिलमादित्यमण्डलाकारम् । पूर्णेनेति इयमपीत्थंभूतलक्षणे तृतीया । सकृदेव पाणिपूरणं न पुनरादानम् । एवमन्यत्राऽपि जपेष्वापरिसमाप्तेः सोदकेन पाणिना भवितव्यम् । आदित्याभिमुखवचनात् स्थण्डिलस्य पश्चात्प्राङ्मुखस्तिष्ठन् ॥ २ ॥

प्रातश्शतं मध्याह्ने शतमपराह्णे शतमपरिमितं वा ॥ ३ ॥

अनु०—प्रातःकाल सौ बार, मध्याह्न में सौ बार और अपराह्न में अपरिमित संख्या में अघमर्षण सूक्त का पाठ करे ॥ ३ ॥

प्रातश्शतमधीयीत । मध्यन्दिने दक्षिणाभिमुख उदङ्मुखो वा । अपराह्णे प्रत्यङ्मुखः । अपरिमितमपराह्णेनैव सम्बध्यते ॥ ३ ॥

उदितेषु नक्षत्रेषु प्रसृतयावकं प्राश्नीयात् ॥ ४ ॥

अनु०—नक्षत्रों के उग जाने पर एक मुट्ठी जौ से बने अन्न में से (वैश्वदेव बलि आदि करके) भक्षण करे ॥ ४ ॥

प्रसृतयावकस्वरूपमुपरितनेऽध्याये वक्ष्यति । तत्राऽस्यैव वैश्वदेवबलिहरणादि कर्तव्यम् । 'यदशनीयस्य' इति प्राप्तेऽपि उत्तरत्र निषेधात् ॥ ४ ॥

ज्ञानकृतेभ्योऽज्ञानकृतेभ्यश्चोपपातकेभ्यः सप्तरात्रात् प्रमुच्यते ॥५॥

अनु०—इस प्रकार सात रात्रियों में जान बूझकर किये गये और अनजान में किये गये उपपातकों से मुक्त हो जाता है ॥ ५ ॥

एवमेव सप्तरात्रे कृते गोवधादिभ्यो विमुच्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

द्वादशरात्राद् भ्रूणहननं गुरुतल्पगमनं सुवर्णस्तैन्यं सुरापानमिति च वर्जयित्वा ॥ ६ ॥

अनु०—बारह रात्रियों में विद्वान् ब्राह्मण की हत्या, गुरुपत्नीगमन, सुवर्ण की चोरी और सुरापान के पापों को छोडकर शेष सभी दुष्कर्मों के पाप से मुक्ति मिल-जाती है ॥ ६ ॥

ब्रह्महत्यादीनि महापातकानि वर्जयित्वा अन्येभ्यः पापेभ्यः प्रमुच्यत इति शेषः ॥ ६ ॥

एकविंशतिरात्रात्तान्यपि तरति तान्यपि जयति ॥ ७ ॥

अनु०—इक्कीस रात्रियों मे उन महापातकों को भी पार कर लेता है और उन्हें भी जीत लेता है ॥ ७ ॥

तानि पूर्ववर्जितानि महापातकानि । तरणं क्षपणम् । जयः पुण्यफल-योग्यता ॥ ७ ॥

अथ फलार्थवादप्रपञ्चः—

सर्वं तरति सर्वं जयति सर्वक्रतुफलमवाप्नोति सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति सर्वेषु वेदेषु चीर्णव्रतो भवति सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवत्याचक्षुषः पङ्क्तिं पुनाति कर्माणि चाऽस्य सिध्यन्तीति बौधायनः ॥ ८ ॥

अनु०—अघमर्षण सूक्त का इस प्रकार जप करने वाला सबको पार कर जाता है, सबको जीत लेता है, यज्ञ के सभी फलों को प्राप्त कर लेता है । सभी पवित्र तीर्थों में स्नान कर लेता है । सभी वेदों के अध्ययन के लिए विहित व्रत का आचरण कर लेता है । सभी देवता उसे जानने लगते हैं । वह देखने मात्र से ही ब्राह्मणों की पंक्ति को पवित्र कर देता है और उसके सभी कर्म सफल होते हैं । ऐसा बौधायन का उपदेश है ॥ ८ ॥

आचक्षुषः आदृशः पथ । बौधायनसंशब्दनादन्यस्तच्छिष्योऽस्य ग्रन्थस्य कर्तेति गम्यते । मनुरब्रवीदितिवत् ॥ ८ ॥

इति तृतीये प्रश्ने पञ्चमः खण्डोऽध्यायश्च ।

तृतीयप्रश्ने षष्ठोऽध्यायः

षष्ठः खण्डः

प्रसृतयावकप्रसङ्गादिदमाह—

अथ कर्मभिरात्मकृतैर्गुरुमिवाऽऽत्मानं मन्येताऽऽत्मार्थे प्रसृतयावकं श्रपयेदुदितेषु नक्षत्रेषु ॥ १ ॥

अनु०—यदि कोई व्यक्ति अपने ही किए हुए कर्मों से (अनुताप के कारण) बोझ जैसा अनुभव करे तो नक्षत्रों के उगने पर अपने लिए एक मुट्ठी जौ का यवागू पकाए ॥ १ ॥

टि०—प्रसृतयावक की व्याख्या गोविन्द स्वामी ने 'गोकर्णपरिमित यावकः यवविकारो यवागूर्वा' किया है।

कर्मभिर्गर्हितैः गुरुमिवाऽजगरगीर्णमिवाऽऽत्मानं मन्यते। पुत्रदारादिकृतैनोनिवृत्त्यर्थमात्मग्रहणम्। अत एवाऽऽत्मार्थमित्युक्तम्। आत्मार्थे न परार्थ एतस्मादेव लिङ्गादतोऽन्यत्र पापक्षपणे आर्त्विज्यमस्तीति गम्यते॥ यद्वा—'नाऽऽत्मार्थं पाचयेत्' इत्यस्य प्रतिप्रसवोऽयम्—प्रसृतयावकमात्मार्थमेव श्रपयेदिति। ततश्च वैश्वदेवातिथिभृत्यादीनां द्रव्यान्तरमन्वेष्टव्यं भवति। रात्रिं चैवमुत्तरसूत्रेण प्राप्तस्याऽयमनुवादः 'न ततोऽग्नौ जुहुयात्' इति। प्रसृतं गोकर्णकरपरिमितं यावको यवविकारो यवागूर्वा उदितेषु नक्षत्रेष्विति श्रपणकालः॥१॥

न ततोऽग्नौ जुहुयान्न चाऽत्र बलिकर्म ॥ २ ॥

अनु०—उस यावक में से निकालकर अग्नि में हवन न करे और न उससे वैश्वदेव बलि का कर्म करे ॥ २ ॥

'यदशनीयस्य' इति प्राप्तस्याऽयं प्रतिषेधः पर्युदासो वा ॥ २ ॥

अशृतं श्रप्यमाणं शृतं चाऽभिमन्त्रयेत् ॥ ३ ॥

अनु०—जौ पकाने के पहले तथा पकाये जाते समय निम्नलिखित मन्त्र से अभिमन्त्रण करे ॥ ३ ॥

यवानामवघातावस्थायां पाकावस्थायां पक्वावस्थायां चाऽन्वीक्ष्य मन्त्रं ब्रूयादित्यर्थः ॥ ३ ॥

तदाह—

यवोऽसि धान्यराजोऽसि वारुणो मधुसंयुतः।
निर्णोदस्सर्वपापानां पवित्रमृषिभिस्स्मृतम् ॥ ४ ॥

अनु०—तुम जो हो, तुम सभी अन्नों के राजा हो, तुम वरुण के लिए पवित्र हो और मधु से मिश्रित हो। ऋषियों ने तुम्हे सभी पापो को दूर करने वाला, तथा पवित्रता का कारण बताया है ॥ ४ ॥

धान्यराजत्व[1]मन्येषु धान्येषु म्लायत्सु मोदमानतयोत्थानात्। वारुणत्वं पुनरेतेषां 'वारुणं यवमयं चरुमश्वो दक्षिणा' 'वरुणाय धर्मपतये यवमयं चरुम्' इत्येवमादिषु श्राचर्येण वरुणसम्बन्धात्। मधुसंयुतत्वं तेनाऽभिघारितत्वात्। ऋज्वन्यत् ॥ ४ ॥

घृतं यवा मधु यवा आपो यवा अमृतं यवाः।
सर्वं पुनथ मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम् ॥ ५ ॥

अनु०—यव घृत है, यव मधु है, यव जल है, यव अमृत है। तुम मेरे सभी पापो को पवित्र कर, मेरे सभी दुष्कर्मों को दूर करो ॥५॥

घृतादिग्रहणं प्रदर्शनार्थम्। यवा एव सर्वपवित्रत्वेन ध्यातव्या इति तेषां प्रशंसा ॥ ५ ॥

वाचा कृतं कर्म कृतं मनसा दुर्विचिन्तितम्।
अलक्ष्मीं [2]कालरात्रीं च सर्वं पुनथ मे यवाः ॥ ६ ॥

अनु०—वाणी द्वारा किए गए, कर्म द्वारा किए गए तथा मन से सोचे गये सभी पाप कर्मों को, अभाग्य को तथा सबका विनाश करने वाली कालरात्रि को—इन सबको, हे यवों, तुम पवित्र करो ॥ ६ ॥

कालरात्री कृत्या ॥ ६ ॥

श्वसूकरावधूतं यत्काकोच्छिष्टोपहतं च यत्।
मातापित्रोरशुश्रूषां सर्वं पुनथ मे यवाः ॥ ७ ॥

अनु०—कुत्ते तथा सूअर द्वारा छुए गये, कौए या उच्छिष्ट से दूषित किये गये अन्न को खाने से हुए पाप से, माता और पिता की आज्ञा के उल्लंघन के पाप से—इन सभी पापों से, हे यवों, तुम मुझे पवित्र करो ॥ ७ ॥

आदिग्रहणमाहारदोपकृतपापोपलक्षणार्थम् ॥ ७ ॥

---

१. "यत्राऽन्या ओषधयो म्लायन्ते अथैते मोदमाना इवोत्तिष्ठन्ति" "वसन्ते सर्वसस्यानां जायते पत्रशातनम्। मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः" ॥ इत्यादिश्रुतिस्मृत्याद्यत्राऽनुसन्धातव्यम्।

२. 'कालकर्णीम्' इति सर्वेषु मूलपुस्तकेषु पाठः ॥

महापातकसंयुक्तं दारुणं राजकिल्बिषम् ।
बालवृत्तमधर्मं च सर्वं पुनथ मे यवाः ॥ ८ ॥

अनु०—महापातक के घोर पाप को, राजा की सेवा में किए गए पाप को, बालकों या वृद्धों के प्रति किए गए अन्याय या अधर्म को—इन मेरे सभी पापों को, हे यवो, तुम पवित्र करो ॥ ८ ॥

दारुणं क्रूरं तत्पूर्वोत्तराभ्यां सम्बध्यते । राजकिल्बिषं राजसेवानिमित्तम् । बालवृत्तं बालकृतं अज्ञानकृतं वा । अधर्मः पापम् । स एव सर्वत्र विशेष्य-भूतः ॥ ८ ॥

सुवर्णस्तैन्यमव्रत्यमयाज्यस्य च याजनम् ।
ब्राह्मणानां परीवादं सर्वं पुनथ मे यवाः ॥ ९ ॥

अनु०—सुवर्ण की चोरी का पाप, व्रत के भङ्ग का पाप, जिसका यज्ञ नहीं कराना चाहिए उसका यज्ञ कराने का पाप, ब्राह्मण की निन्दा करने का पाप—मेरे इन सभी पापों को, हे यवों, तुम पवित्र करो ॥ ९ ॥

अव्रत्यं नियमलोपकृतम् । ऋज्वन्यत् ॥ ९ ॥

गणान्नं गणिकान्नं च शूद्रान्नं श्राद्धसूतकम् ।
चोरस्यान्नं नवश्राद्धं सर्वं पुनथ मे यवा इति ॥ १० ॥

अनु०—अनेक व्यक्तियों के समूह द्वारा दिए गए अन्न को, वेश्या और शूद्र के अन्न को या श्राद्ध और जन्म संबन्धी सूतक के समय दिये गए अन्न के भक्षण के पाप को चोर के अन्न का तथा नवश्राद्ध के अन्न के भक्षण का पाप, मेरे इन सभी पापों को, हे यवों, पवित्र करो ॥ १० ॥

गणान्नं गणाय गणेन वा सङ्कल्पितम् । श्राद्धं पितृभ्यः सङ्कल्पितम् । सूतकं तत्सम्बन्ध्यन्नम् । नवश्राद्धमेकोद्दिष्टान्नम् । परगृहविषयं सङ्कल्पाविषयम-भोज्यमेतत् । एते मन्त्रा वामदेवार्षा अनुष्टुप्छन्दसः यवदेवत्याश्च द्रष्टव्याः॥१०॥

श्रप्यमाणे त्वयं विशेषः—

श्रप्यमाणे रक्षां कुर्यात् ॥ ११ ॥

अनु०—जिस समय जो पकाये जा रहे हों उस समय उसकी रक्षा करे ॥११॥

स्थाल्यां कृष्णायसादि प्रतिमुञ्चेदित्यर्थः ॥ ११ ॥

तत्रैते मन्त्राः—

नमो रुद्राय भूताधिपतये द्यौश्शान्ता ॥ १२ ॥

'नमो रुद्राय भूताधिपतये द्यौश्शान्ता' (प्राणियों के स्वामी रुद्र को नमस्कार। आकाश शान्त होवे) इस मन्त्र का उच्चारण करे ॥ १२ ॥

अयमेको मन्त्रः ॥ १२ ॥

[1] "कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीम्" [2] "ये देवाः पुरस्सदोऽग्निनेत्रा रक्षोहण" इति पञ्चभिः पर्यायैः। [3] मा नस्तोके [4] ब्रह्मा देवानामिति द्वाभ्याम् ॥ १३ ॥

अनु०—"कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीम्" आदि अनुवाक का, "ये देवाः पुरस्सदोऽग्निनेत्रा रक्षोहणस्ते नः पान्तु ते नोऽवन्तु" आदि पाँच वाक्यों का, "मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तो नमसा विधेम ते।" (तैत्तिरीय संहिता ४.५.१०.३) तथा "ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्। श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्" (तैत्तिरीय संहिता ३.४.११.१) मन्त्रों का पाठ करता रहे ॥ १३ ॥

टि०—'कृष्णुष्व पाजः' आदि तैत्तिरीय संहिता १.२.४ का अनुवाक है। 'ये देवाः" आदि वाक्य तैत्तिरीय संहिता १.८.७.१ का है।

'ये देवाः रक्षोहणः' इत्येतस्य पदत्रयस्य पञ्चस्वप्यनुषङ्गार्थं 'अग्निनेत्रा रक्षोहणः' इति पठितम्। 'नमो रुद्राय' इत्यादि 'ब्रह्मा देवानाम्' इत्येवमन्ता मन्त्रा [5] रक्षामन्त्राः ॥ १३ ॥

---

१. 'कृणुष्वपाज' इत्यनुवाकस्तैत्तिरीयसंहितायां प्रथमकाण्डे द्वितीयप्रश्नेऽन्तिमोऽनुवाकस्ततोऽवगन्तव्यः।

२. ये देवाः पुरस्सदोऽग्निनेत्रा रक्षोहणस्ते नः पान्तु ते नोऽवन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यस्स्वाहा ये देवा दक्षिणसदो यमनेत्रा रक्षोहणस्ते नः पान्तु ते नोऽवन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यस्स्वाहा ये देवाः पश्चात्सदस्सवितृनेत्रा रक्षोहणस्ते नः पान्तु ते नोऽवन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यस्स्वाहा ये देवा उत्तरसदो वरुणनेत्रा रक्षोहणस्ते नः पान्तु ते नोऽवन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यस्स्वाहा ये देवा उपरिषदो बृहस्पतिनेत्रा रक्षोहणस्ते नः पान्तु ते नोऽवन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यस्स्वाहा। इत्यनुषङ्गप्रकारः। (तै. सं. १.८.७.१.)।

३. मानस्तोके तनये मा न आयुषि मा नोगोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तो नमसा विधेम ते॥ (तै. सं. ४.५.१०.३)

४. ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्। श्येनो गृध्राणा॰स्वधितिर्वनाना॰सोमः पवित्रमत्येति रेभन्॥ (तै. सं. ३.४.११.१)

५. रक्षोहणमन्त्रा इति. घ. पु.।

शृतं च लघ्वश्नीयात् प्रयतः पात्रे निषिच्य ॥ १४ ॥

अनु०—जौ के पक जाने पर उसके थोड़े से अंश को दूसरे पात्र मे डालकर स्वयं शुद्ध होकर तथा आचमन कर खाये ॥ १४ ॥

नाऽत्र तिरोहितं किञ्चिदस्ति ॥ १४ ॥

"ये देवा मनोजाता मनोयुजस्सुदक्षा दक्षपितारस्ते नः पान्तु ते नोऽवन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यस्स्वाहे" त्यात्मनि जुहुयात् ॥ १५ ॥

अनु०—'ये देवा मनोजाता मनोयुजस्सुदक्षा दक्षपितारस्ते नः पान्तु ते नोऽवन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यस्स्वाहा' (जो देवता मन से उत्पन्न हुए है, मन से संयुक्त हैं, अत्यन्त शक्ति शाली है, जिनके पिता दक्ष है, वे हमारी रक्षा करें, हमें बचावें, उनको नमस्कार है, उनको स्वाहा) इस मन्त्र द्वारा उस पके हुए अन्न को आत्मा मे ही आहुति करे ॥ १५ ॥

एते पञ्च पर्यायाः प्राणाहुतिमन्त्राः। तस्मान्मन्त्रो निवर्तते प्राशनसमये। कर्तुस्तु कालाभिधाननियमात् फलविशेषः ॥ १५ ॥

त्रिरात्रं [1]मेधार्थी ॥ १६ ॥

अनु०—मेधा की कामना करने वाला तीन रात्रियों इसी प्रकार यावक का प्राशन करे ॥ १६ ॥

पूर्वेण विस्तृतं प्रसृतयावक प्राश्नीयादित्यनुवर्तते मेधानां ग्रहीतुं त्वस्य। तदशनम् ॥ १६ ॥

षड्रात्रं पीत्वा पापकृच्छुद्धो भवति ॥ १७ ॥

अनु०—छः रात्रियों में उपर्युक्त विधि से यावक पान करने पर पाप करने वाला शुद्ध हो जाता है ॥ १७ ॥

अल्पपापकृदिति शेषः ॥ १७ ॥

सप्तरात्रं पीत्वा भ्रूणहननं गुरुतल्पगमनं सुवर्णस्तैन्यं सुरापानमिति च पुनाति ॥ १८ ॥

अनु०—जो सात दिन-रात्रि यावक का पान करता है वह विद्वान् ब्राह्मण की हत्या, गुरुपत्नीगमन, सुवर्ण की चोरी और सुरापान के पाप से भी मुक्त हो जाता है ॥ १८ ॥

---

१. मेधावी इति, क.

अनात्मकृतस्याऽप्येनसो निर्णोदो भवतीत्याह—

एकादशरात्रं पीत्वा पूर्वपुरुषकृतमपि पापं निर्णुदति ॥ १९ ॥

अनु०—ग्यारह दिन-रात्रि पान करने पर पूर्वजों का किया हुआ पाप भी नष्ट हो जाता है ॥ १९ ॥

पूर्वपुरुषाः पितृप्रभृतयः ॥ १९ ॥

अपि वा गोनिष्क्रान्तानां यवानामेकविंशतिरात्रं पीत्वा गणान् पश्यति गणाधिपतिं पश्यति विद्यां पश्यति विद्याधिपतिं पश्यतीत्याह भगवान् बौधायनः ॥ २० ॥

अनु०—जो गो के नीचे से निकाले हुए यावक का इक्कीस दिन-रात्रि तक पान करता है वह गणों का और गणाधिपति का दर्शन करता है, विद्या का दर्शन करता है और विद्याधिपति का दर्शन करता है। ऐसा भगवान् बौधायन ने उपदेश दिया है ॥ २० ॥

गोभ्यो जठरस्थशकृद्भिस्सह निष्क्रान्तानाम्। भूयस्येषा प्रशंसाऽस्य कर्मणः ॥ २० ॥

इति बौधायनीयधर्मसूत्रविवरणे गोविन्दस्वामिकृते
तृतीयप्रश्ने षष्ठः खण्डोऽध्यायश्च

तृतीयप्रश्ने सप्तमोऽध्यायः

सप्तमः खण्डः

अयमपि पापनिबर्हणप्रसङ्गादेवाऽध्याय आरभ्यते। अथ कूष्माण्डमुच्यते—

[1]अथ कूष्माण्डैर्जुहुयाद्योऽपूत इव मन्येत ॥ १ ॥

अनु०—जो व्यक्ति अपने को अपवित्र जैसा समझता हो वह कूष्माण्ड मन्त्रों का उच्चारण करते हुए हवन करे ॥ १ ॥

---

१. इतः प्रभृति सूत्रत्रय तैत्तिरीयारण्यकगतकूष्माण्डविधेः (तै. आ. २.८) आक्षरशोऽनुवादः। "अथ" इति व्याख्यानपुस्तकेषु नाऽस्ति।

कूष्माण्डानि वक्ष्यमाणां यद्देवादयो मन्त्राः। जुहुयादिति सोपस्थानस्य ग्रहणम्, प्रायश्चित्ते कृतेऽप्यपूत इव यो मन्येत ॥ १ ॥

तमुदाहरति -

यथा स्तेनो यथा भ्रूणहैवमेष भवति योऽयोनौ रेतस्सिञ्चति ॥ २ ॥

अनु०—जैसे सुवर्ण चुराने वाला और विद्वान् ब्राह्मण का हत्या करने वाला पापी होता है उसी प्रकार वह व्यक्ति भी पापी होता है जो निषिद्ध मैथुन कर्म में या योनि से भिन्न अप्राकृतिक मैथुन कर्म में वीर्यस्खलन करता है ॥ २ ॥

यथा स्तेन इति। सुवर्णस्येति शेषः। प्रदर्शनार्थं चैतन्महापातकानाम्। महापातकप्रायश्चित्ते कृतेऽपि अपूत इव यो मन्येतेत्यर्थः। एवमेषोऽपूतो भवति योऽयोनौ रेतस्सिञ्चति। अयोनौ रेतस्सेको ब्रह्महत्यासम इति तस्य निन्दा-स्मृतिः—

उत्सृजेदात्मनश्शुक्रमक्षेत्रे कामतो नरः।
हतं तेन जगत्सर्वं बीजनाशेन पापिना ॥

न ब्रह्महा ब्रह्महा स्यात् ब्रह्महा वृषलीपतिः।
यस्तस्यां गर्भमाधत्ते तेनाऽसौ ब्रह्महा भवेत् ॥ इति ॥ २ ॥

अन्यदपि—

यदर्वाचीनमेनो भ्रूणहत्यायास्तस्मान्मुच्यत इति ॥ ३ ॥

अनु०—विद्वान् ब्राह्मण की हत्या की अपेक्षा जो कम घोर पाप हैं उनसे वह व्यक्ति मुक्त हो जाता है ऐसा श्रुति का कथन है ॥ ३ ॥

श्रुतिमेवाऽऽत्मीयत्वेन पठित्वा तस्या अभिप्रायमाह, तस्या एव वाक्यशेषं वा ॥ ३ ॥

अयोनौ रेतस्सिक्त्वाऽन्यत्र स्वप्नात् ॥ ४ ॥

अरेपा वा पवित्रकामो वा ॥ ५ ॥

अनु०—स्वप्नदोष की स्थिति से अतिरिक्त स्त्रीयोनि से भिन्न स्थान पर वीर्य पात करने पर यदि पाप से मुक्त होना और पवित्र होना चाहे तो निम्नलिखित विधि करे ॥ ४-५ ॥

श्रुतौ ह्यश्रुतमेतत् 'अन्यत्र स्वप्नात्' इति ॥ ४ ॥

रेप इति पापनाम। तदस्य न विद्यते सोऽरेपाः। तथा च ब्राह्मणम्— 'पवित्रं नो ब्रूत येनाऽरेपसस्स्यामेति यद्देवा देवहेळनं यद्दीव्यन्नृणमहं बभू-

चाऽऽयुष्टे विश्वतो दधदित्येतैराज्यं जुहुत, वैश्वानराय प्रतिवेदयाम इत्युपतिष्ठत इति । पवित्रकामो वा जुहुयादित्येव । न वैसशरीरस्य सतः पापापहतिरस्तीत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

अमावास्यायां पौर्णमास्यां वा केशश्मश्रुलोमनखानि वापयित्वा ब्रह्मचारिकल्पेन व्रतमुपैति ॥ ६ ॥

अनु०—अमावास्या या पौर्णमासी के दिन केश, दाढ़ी मूँछ, रोएँ और नखों को कटाकर ब्रह्मचारी के लिए विहित विधि के अनुसार व्रत का आचरण करे ॥ ६ ॥

पर्वण्युपगमः । ब्रह्मचारिकल्पो मधुमांसादिवर्जनम् । इत्थंभूतलक्षणे तृतीया । व्रतं सङ्कल्पः—कूष्माण्डैर्होष्यामीति ॥ ६ ॥

संवत्सरं मासं चतुर्विंशत्यहो द्वादश रात्रीः षट् तिस्रो वा ॥ ७ ॥

अनु०—उपर्युक्त व्रत एक वर्ष, एक मास, चौबीस दिन, बारह रात्रियों, छः रात्रियों या तीन रात्रियों तक करे ॥ ७ ॥

इमे श्रुतिसिद्धाः कल्पाः । एतेषां च व्यवस्था 'यावदेनो दीक्षामुपैति' इति ॥ ७ ॥

न मांसमश्नीयान्न स्त्रियमुपेयान्नोपर्यासीत जुगुप्सेताऽनृतात् ॥८॥

अनु०—मांस का भक्षण न करे न करे । स्त्रीगमन, आसन, चारपाई आदि पर न बैठे और असत्य भाषण से दूर रहे ॥ ८ ॥

टि०—गोविन्दस्वामी के अनुसार इस व्रत में भी ऋतुकाल में पत्नीगमन विहित है । तृणादि के आसन पर बैठने में कोई दोष नहीं है । औषध के प्रयोजन से भी मांस भक्षण न करे ।

अनृतौ नोपेयादिति ऋतौ चोपेयादेव उपर्यासननिषेधः खट्वादौ । ततश्च तृणादावुपर्यासने न दोषः । जुगुप्सा निन्दा । नाऽनृतं वदेदित्यर्थः । ब्रह्मचारिकल्पेनेत्यनेनैव मांसभक्षणादेरभावे सिद्धे संयोगपृथक्त्वात् । कर्माङ्गत्वमप्यवगम्यते । एवं च तदतिक्रमे कर्मैव निष्फलं भवति । अतश्चौषधार्थमपि मांसं न भक्षयितव्यमिति गम्यते ॥ ८ ॥

अथ भक्षनियमः—

पयो भक्ष इति प्रथमः कल्पः ॥ ९ ॥

अनु०—दूध पीकर जीवन निर्वाह करना सबसे उत्तम विधि है ॥ ९ ॥

निगदव्याख्यातमेतत् ॥ ९ ॥

यावकं वोपयुञ्जानः कृच्छ्रद्वादशरात्रं चरेद्भिक्षेद्वा तद्विधेषु यवागूं राजन्यो वैश्य आमिक्षाम् ॥ १० ॥

अनु०—अथवा यावक का भोजन के रूप मे प्रयोग करते हुए बारह दिनों का कृच्छ्र व्रत करे अथवा भिक्षा से जीवन निर्वाह करे। ऐसी स्थिति मे क्षत्रिय यवागू का भक्षण करे और वैश्य आमिक्षा का भक्षण करे ॥ १० ॥

उपयुञ्जानो जुहुयादिति शेषः। तप्ते पयसि दधन्यानीते यद्घनं सा आमिक्षा भवति ॥ १० ॥

पूर्वाह्णे पाकयज्ञिकधर्मेणाऽग्निमुपसमाधाय सम्परिस्तीर्याऽऽग्निमुखात्कृत्वा। "[1]यद्देवा देवहेलनम्"।

---

१. यद्देवा देवहेलनन्देवासश्चकृमा वयम्। आदित्यास्तस्मान्मा मुञ्चतर्तस्यर्तेन मामित ॥ १ ॥ देवा जीवनकाम्या यद्वाचाऽनृतमूदिम। तस्मान्न इह मुञ्चत विश्वे देवास्सजोषसः ॥ २ ॥ ऋतेन द्यावापृथिवी ऋतेन त्वᳪसरस्वति। कृतान्नः पाह्येनसो यत्किञ्चाऽनृतमूदिम ॥ ३ ॥ इन्द्राग्नी मित्रावरुणौ सोमो धाता बृहस्पतिः। तेनो मुञ्चन्त्वेनसो यदन्यकृतमारिम ॥ ४ ॥ सजातशᳪसादुतजामिशᳪसाज्ज्यायसश्शᳪसादुत वा कनीयसः। अनाधृष्टन्देवकृतं यदेनस्तस्मात्त्वमस्माज्जातवेदो मुमुग्धि ॥५॥ यद्वाचा यन्मनसा बाहुभ्यामूरुभ्यामष्ठीवद्भ्याᳪशिश्नैर्यदनृतं चकृमा वयम्। अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्रमुञ्चतु चकृम यानि दुष्कृता ॥ ६ ॥ येन त्रितो अर्णवान्निर्बभूव येन सूर्यन्तमसो निर्मुमोच। येनेन्द्रो विश्वा अजहादरातीस्तेनाहं ज्योतिषा ज्योतिरानशान आक्षि ॥ ७ ॥ यत्कुसीदमप्रतीतं मयेह येन यमस्य निधिना चरामि। एतत्तदग्ने अनृणो भवामि जीवन्नेव प्रतितत्ते दधामि ॥ ८ ॥ यन्मयि माता गर्भे सत्येनश्चकार यत्पिता। अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्रमुञ्चतु दुरिता यानि चकृम करोतु मामनेनसम् ॥ ९ ॥ यदा पिपेष मातरं पितरं पुत्रः प्रमुदितो धयन्। अहिंसितौ पितरौ मया तत्तदग्ने अनृणो भवामि ॥ १० ॥ यदन्तरिक्षं पृथिवीमुत द्यां यन्मातरं पितरं वा जिहिंसिम। अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्रमुञ्चतु दुरिता यानि चकृम करोतु मामनेनसम् ॥ ११ ॥ यदाशसा निशसा यत्पराशसा यदेनश्चकृमा नूतनं यत्पुराणम्। अग्निर्मा० मनेनसम् ॥ १२ ॥ अतिक्रामामि दुरितं यदेनो जहामि रिप्रं परमे सधस्थे। यत्र यन्ति सुकृतो नाऽपि दुष्कृतस्तमारोहामि सुकृतान्नु लोकम् ॥ १३ ॥ त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एतन्मनुष्येषु मामृजे। ततो मा यदि किञ्चिदानशेऽग्निर्मा तस्मादेनसो० मनेनसम् ॥ १४ ॥ दिवि जाता अप्सु जाता या जाता ओषधीभ्यः। अथो या अग्निजा आपस्ता नश्शुन्धन्तु शुन्धनीः ॥ १५ ॥ यदापो नक्तं

[1]"यद्दीव्यन्नृणमहं बभूव" । [2]"आयुष्टे विश्वतो दध"'दित्येतैश्चि-

दुरितं चराम यद्वा दिवा नूतनं यत्पुराणम् । हिरण्यवर्णास्तत उत्पुनीत नः ।। १६ ।। इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय । त्वामवस्युराचके ।। १७ ।। तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः । अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳस मा न आयुः प्रमोषीः ।। १८ ।। त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः । यजिष्ठो वह्नितमश्शोशुचानो विश्वा द्वेषाꣳसि प्रमुमुग्ध्यस्मत् ।। १९ ।। स त्व नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ । अव यक्ष्व नो वरुणꣳरराणो वीहि मृळीकꣳसुहवो न एधि ।। २० ।। त्वमग्ने अयास्ययासन् मनसा हितः । अयासन् हव्यमूहिषेऽया नो धेहि भेषजम् ।।२१।। (तै० आ० २. ३.) इति कूष्माण्डे ष्वाद्योऽनुवाकः ।।

१. यददीव्यन्नृणमहं बभूवादित्सन्वासञ्जगर जनेभ्यः । अग्निर्मा तस्मादिन्द्रश्च संविदानौ प्रमुञ्चताम् ।। २२ ।। यद्धस्ताभ्याञ्चकर किल्बिषाण्यक्षाणां वग्नुमुपजिघ्नमानः । उग्रं पश्या च राष्ट्रभृच्च तान्यप्सरसावनुदत्तामृणानि ।। २३ ।। उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत्किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनुदत्तमेतत् । नेन्न ऋणानृणव इत्समानो यमस्य लोके अधि रज्जुराय ।। २४ ।। अव ते हेळः ।। २५ ।। उदुत्तमं ।। २६ ।। इम मे वरुण ।। २७ ।। तत्त्वा यामि ।। २८ ।। त्वन्नो अग्ने ।। २९ ।। स त्वन्नो अग्ने ।। ३० ।। संकुसुको विकुसुको निर्ऋथो यश्च निस्वनः । तेऽस्मद्यक्ष्ममनागसो दूराद् दूरमचीचतम् ।। ३१ ।। निर्यक्ष्ममचीचते कृत्यान्निर्ऋतिश्च । तेनान्यो१ऽस्मत्समृच्छातै तमस्मै प्रसुवामसि ।। ३१ ।। दुरशꣳसानुशꣳसाभ्यां घणेनानुघणेन च । तेनान्यो१ऽस्मत्समृच्छातै तमस्मै प्रसुवामसि ।। ३२ ।। सवर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳशिवेन । त्वष्टा नो अत्र विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो१ यद्विलिष्टम् ।। ३३ ।। (तै० आ० २.४) इति द्वितीयोऽनुवाकः ।

२. आयुष्टे विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः । पुनस्ते प्राण आयाति परा यक्ष्मꣳ सुवामि ते ।। ३४ ।। आयुर्दा अग्ने हविषो जुषाणो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि । घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभिरक्षतादिमम् ।। ३५ ।। इममग्न आयुषे वर्चसे कृधि तिग्ममोजो वरुण सꣳशिशाधि । मातेवाऽस्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टिर्यथाऽसत् ।। ३६ ।। अग्न आयूꣳषि पवस आसुवोर्जमिषञ्च नः । आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ।। ३७ ।। अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चस्सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषम् ।। ३८ ।। अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः । तमीमहे महागयम् ।।३९।। अग्ने जातान् प्रणुदानस्सपत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व । अस्मे दीदिहि सुमना अहेलञ्छर्मन्ते स्याम त्रिवरूथ उद्भौ ।। ४० ।। सहसा जातान् प्रणुदानस्स-

दित्यनुवाकैः प्रत्यृचमाज्यस्य हुत्वा [1]"सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकावि" ति चतस्रस्स्रुवाहुतीः जुहोति । [2]"अग्नेऽभ्यावर्तिन् । अग्ने अङ्गिरः । पुनरूर्जा । सह रय्ये"ति चतस्रोऽभ्यावर्तिनीर्हुत्वा समित्पाणिर्यजमान-

---

पत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व । अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानो वयं स्याम प्रणुदानस्सपत्नान् ॥ ४१ ॥ अग्ने यो नोऽभितो जनो वृको वारो जिघांसति । तांस्त्वं वृत्रहञ्जहि वस्वस्मभ्यमाभर ॥ ४२ ॥ अग्ने यो नोऽभिदासति समानो यश्चनिष्टयः । तं व समिधं कृत्वा यं तुभ्यमग्नेऽपि दध्मसि ॥ ४३ ॥ यो नश्शपादशपतो यश्च नश्शपतश्शपात् । उषाश्च तस्मै निम्रुक्च सर्वं पापं समूहताम् ॥ ४४ ॥ यो नस्स पत्नो यो रणो मर्तोऽभिदासति देवः । इध्मस्येव प्रक्षायतो मा तस्योच्छेषि किञ्चन ॥ ४५ ॥ यो मां द्वेष्टि जातवेदो यश्चाहं द्वेष्मि यश्च माम् । सर्वांस्तानग्ने सन्दह यांश्चाहं द्वेष्मि ये च माम् । ४६ ॥ यो अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः । निन्दाद्यो अस्मान्दिप्साच्च सर्वांस्तान्मष्मषा कुरु ॥ ४७ ॥ संशितं मे ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम् । संशितं क्षत्रं मे जिष्णु यस्याऽहमस्मि पुरोहितः ॥४८॥ उदेषां बाहू अतिरमुद्वर्चो अथो बलम् । क्षिणोमि ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि स्वां१ अहम् ॥ ४९ ॥ पुनर्मनः पुनरायुर्म आगात् पुनश्चक्षुः पुनश्श्रोत्रम्म आगात् पुनः प्राणः पुनराकूतं म आगात्पुनश्चित्तं पुनराधीतं म आगात् । वैश्वानरोऽदब्धस्तनूपा अव बाधतां दुरितानि विश्वा ॥ ५० ॥ (तै० आ० २. ५.) इति तृतीयोऽनुवाकः ।

१. सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ । त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या । इन्द्रं या देवी सुभगा जजान । सा न आगन् वर्चसा संविदाना ॥ १ ॥ या राजन्ये दुन्दुभावायतायाम् । अश्वस्य क्रन्दे पुरुषस्य मायौ । इन्द्रं या देवी सुभगा जजान । सा न आगन् वर्चसा सम्विदाना ॥ २ ॥ या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये । त्विषिरश्वेषु पुरुषेषु गोषु । इन्द्रं या देवी सुभगा जजान । सा न आगन् वर्चसा सम्विदाना ॥ ३ ॥ रथे अक्षेषु वृषभस्य वाजे । वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे । इन्द्रं या देवी सुभगा जजान । सा न आगन् वर्चसा सम्विदाना ॥ ४ ॥ (तै० सं. २.७.७.) इति चत्वारो मन्त्राः एकैकेन मन्त्रेणैकैकाहुतिः कर्तव्या ॥

२. अग्नेऽभ्यावर्तिन्नभि न आवर्तस्वाऽऽयुषा वर्चसा सन्या मेधया धनेन ॥ १ ॥ अग्ने अङ्गिरश्शतं ते सन्त्वावृतस्सहस्रन्त उपावृतः । तासां पोषस्य पोषेण पुनर्नो नष्टमा कृधि पुनर्नो रयिमा कृधि ॥ २ ॥ पुनरूर्जा निवर्तस्व पुनरग्न इषाऽऽयुषा । पुनर्नः पाहि विश्वतः ॥ ३ ॥ सहरय्या निवर्तस्वाऽग्ने पिन्वस्व धारया । विश्वप्स्निया विश्वतस्परि ॥ ४ ॥ इति चतस्रोऽभ्यावर्तिन्यः (तै. सं. ४.२.१.२.) ॥

लोकेऽवस्थाय "[1]"वैश्वानराय प्रतिवेदयाम" इति द्वादशर्चेन सूक्तेनोपस्थाय "[2]"यन्मे मनसा वाचा कृतमेनः कदाचन। 'सर्वस्मान्मेळितो मोग्धि त्वं हि वेत्थ यथातथँ स्वाहे"ति समिधमाधाय वरं ददाति ॥ ११ ॥

अनु०—पूर्वाह्ण में पाकयज्ञ की विधि के अनुसार अग्नि को प्रज्वलित कर उसके चारो ओर कुश फैलाकर अग्निमुख तक की क्रियाएँ कर 'यद्देवा देवहेळनम्" "यददीव्यन्नृणमहं बभूव" "आयुष्टे विश्वतो दधत्" आदि तीन अनुवाकों से प्रत्येक ऋचा के उच्चारण के साथ घृत का हवन करे उसके बाद "सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ" आदि (तैत्तिरीय संहिता २.७.७) से स्रुवा द्वारा चार आहुतियाँ करे। इसके बाद "अग्नेऽभ्यावर्तिन्नभि न आवर्तस्वाऽऽयुषा वर्चसा सन्या मेधया प्रजया धनेन।" "अग्ने अङ्गिरश्शतं ते सन्त्वावृतस्सहस्रन्त उपावृतः। तासां पोषस्य पोषेण

---

१. वैश्वानराय प्रतिवेदयामो यदीनृणँ सङ्गरो देवतासु। स एतान् पाशान् प्रमुचन् प्रवेद स नो मुञ्चातु दुरितादवद्यात् ॥ १ ॥ वैश्वानरः पवयान्नः पवित्रैर्यत्सङ्गरमभिधावाम्याशाम्। अनाजानन् मनसा याचमानो यदत्रैनो अव तत्सुवामि ॥ २ ॥ अमी ये सुभगे दिवि विचृतौ नाम तारके। प्रेहामृतस्य यच्छतामेतद्बद्धकमोचनम् ॥३॥ विजिहीर्ष्व लोकान् कृधि बन्धान्मुञ्चासि बद्धकम्। योनेरिव प्रच्युतो गर्भस्सर्वान् पथो अनुष्व ॥ ४ ॥ स प्रजानन् प्रतिगृभ्णीत विद्वान् प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य। अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनुसञ्चरेम ॥ ५ ॥ ततं तन्तुमन्वेके अनुसञ्चरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमायनवत्। अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छाद्दातुं चेच्छक्नवाँस स्वर्ग एषाम् ॥ ६ ॥ आरभेथामनुसँरभेथाँ समानं पन्थामवथो घृतेन। यद्वां पूर्तं परिविष्टं यदग्नौ तस्मै गोत्रायेह जायापती सँरभेथाम् ॥ ७ ॥ यदन्तरिक्षं पृथिवीमुत द्यां यन्मातरं पितरं वा जिहिँसिम। अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्य उन्नोनेषद्दुरितानि चकृम ॥ ८ ॥ भूमिर्मातादितिर्नो जनित्रं भ्रातान्तरिक्षमभि शस्त्य एनः। द्यौर्नः पिता पितुयाच्छं भवासि जामिमित्वा मा विवित्सि लोकान् ॥ ९ ॥ यत्र सुहार्दँ सुकृतो मदन्ते विहाय रोगं तन्वाँ स्वायाम्। अश्लोणाङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरं च पुत्रम् ॥ १० ॥ यदन्नमद्म्यनृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत वा करिष्यन्। यद्देवानां चक्षुष्यागो अस्ति यदेव किञ्च प्रतिजग्राहमग्निर्मा तस्मादनृणं कृणोतु ॥ ११ ॥ यदन्नमद्मि बहुधा विरूपं वासो हिरण्यमुत गामजामविम्। यद्देवानां चक्षुष्यागो अस्ति यदेव किञ्च प्रतिजग्राहमग्निर्मा तस्मादनृणं कृणोतु ॥ १२ ॥

२. यन्मे मनसा वाचा···। सर्वस्मान्मेडितो मोग्धि" इत्येव 'ङ' भिन्नेषु सर्वेषु मूलपुस्तकेषु पाठः।

पुनर्नो नष्टमा कृधि पुनर्नो रयिमा कृधि", "पुनरूर्जा निवर्तस्व पुनरग्न इषायुषा। पुनर्नः पाहि विश्वतः ॥" "सहरय्या निवर्तस्वाऽग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वाप्स्निया विश्वतस्परि" (तैत्तिरीय संहिता ४.२.१.२) के चार मन्त्रों से चार अभ्यावर्तिनी आहुतियाँ करे यजमान के आसन पर बैठकर हाथ मे समिध् लेकर "वैश्वानराय प्रतिवेदयाम आदि बारह ऋचाओं वाले सूक्त से अग्नि की पूजा करे "यन्मे मनसा वाचा कृतमेनः कदाचन। सर्वस्मान्मेळितो मोग्धि त्वं हि वेत्थ यथातथम्, स्वाहा" (मैंने मन से, वाणी से जो कुछ पाप कभी किए है उन सभी से तुम मुझे मुक्त करो। मैं तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ, तुम सभी को सही रूप मे जानते हो) इस मन्त्र से अग्नि पर समिध् रखे और उत्तम गौ दक्षिणा के रूप में प्रदान करे ॥ ११ ॥

पाकयज्ञधर्मग्रहणादाहवनीयो निवर्तते। आग्निमुखात्कृत्वा अनाम्नातया पक्वहोमं कृत्वा सौविष्टकृतं च। यद्देवादय उपहोमाः। यजमानलोके दक्षिणतोऽग्नेः। अन्यत्राऽप्युपस्थानचोदनायां समित्पाणिता समिदभ्याधानं च द्रष्टव्यम्। [1]यन्मे मनसेत्यस्य वामदेवर्षिः कण्वर्षिर्वा। अनुष्टुप्छन्दः। अग्निर्देवता यद्वाङ्मनसाभ्यां कृतमेनः कस्यां चिदवस्थायां तस्मात् सर्वस्मात् मा मां ईळितः स्तुतः त्वं मोग्धिं मोचय; हि यस्मात् वेत्थ त्वमेव सर्वं यथातथं वेत्सि परितः। वरः वरिष्ठा गौः ॥ ११ ॥

जयप्रभृति सिद्धमा धेनुवरप्रदानात् ॥ १२ ॥

एक एवाऽग्नौ परिचर्यायाम् ॥ १३ ॥

अनु०—मन्त्रों के जप से लेकर दक्षिणा में गौ का दान करने तक की क्रियाएँ ज्ञात ही हैं ॥ १२ ॥

अनु०—केवल एक ही व्यक्ति अग्नि की परिचर्या का कर्म करे ॥ १३ ॥

येयमग्नौ परिचर्या उक्ता, तस्यामेक एव स्वयं कर्ता स्यात् नाऽन्यं कर्तारं वृणीते। तस्मादन्यत्र पापक्षपणेषु परकर्तृकताऽपि भवतीति गम्यते। अग्नावित्येकवचननिर्देशाच्चाऽस्मिन्नेतत्स्वयं कर्तव्यम्, न त्वाहवनीयेऽपि। तत्र ह्यनादिष्टेऽध्वर्युणैव होतव्यमित्येतदेव ॥ १३ ॥

एवं तावत्पुरुषार्थतया होमविधिरुक्तः। अथेदानीं 'कर्मादिष्वेतैर्जुहुयात्' इत्येतद्व्याख्यास्यन्नाह—

अग्न्याधेये यद्देवोदेवमहेलनम्। यददीव्यन्नृणमहं बभूव। आयुष्टे विश्वतो दधदिति पूर्णाहुतिम् ॥ १४ ॥

---

१. "यन्मे मनसा" इति ख. ग घ. पु. पाठः।

अनु०—अग्न्याधेय में "यद्देवो देवहेलनम् । यददीव्यन्नृणमहं बभूव आयुष्टे विश्वतो दधत्" मन्त्र से पूर्णाहुति करे ॥ १४ ॥

जुहुयादिति शेष: ॥ १४ ॥

अग्निहोत्रं दर्शयितुमाह—

[1]हुत्वाऽग्निहोत्रमारप्स्यमानो दशहोत्रा हुत्वा दर्शपूर्णमासावारप्स्यमानश्चतुर्होत्रा हुत्वा चातुर्मास्यान्यारप्स्यमानः पञ्चहोत्रा हुत्वा पशुबन्धे षड्ढोत्रा सोमे सप्तहोत्रा ॥ १५ ॥

अनु०—इस पूर्णाहुति के बाद जो अग्निहोत्र आरम्भ करने वाला हो वह 'चित्तिस्स्रुक्' आदि अनुवाक के दशहोतृ नाम के मन्त्रों से पूजन करे। इस आहुति के बाद दर्शपूर्णमास आरम्भ करने वाला 'पृथिवी होता' आदि चतुर्होतृ मन्त्रों से पूजन करे। इस आहुति के बाद चातुर्मास्य यज्ञ आरम्भ करने वाला 'अग्निर्होता' आदि पञ्चहोतृ मन्त्रो से पूजन करे। इस आहुति के बाद पशुबन्ध यज्ञ में करने वाले 'वाग्घोता' आदि षड्ढोता मन्त्रों से पूजन करे और सोम यज्ञ में 'महाहविः' सप्तहोतृ मन्त्र से पूजन करे ॥ १५ ॥

[2]दशहोता 'चित्तिस्स्रुक्' इत्यनुवाकः [3]'पृथिवी होता' चतुर्होता । [4]'अग्नि-

१. सूत्रस्याऽस्य मूलभूतानि श्रुतिवाक्यानि—तैत्तिरीयब्राह्मणे द्वितीयाष्टके (काण्डे) द्वितीयानुवाके—"तेनैवोद्द्रुत्याऽग्निहोत्रं जुहुयात्" । "दर्शपूर्णमासावालभमानः चतुर्होतारं मनसाऽनुद्रुत्याऽऽहवनीये जुहुयात्" । "चातुर्मास्यान्यालभमानः पञ्चहोतारं मनसाऽनुद्रुत्याऽऽहवनीये जुहुयात्" । "पशुबन्धेन यक्ष्यमाणः षड्ढोतारं मनसाऽनुद्रुत्याऽऽहवनीये जुहुयात्" । "दीक्षिष्यमाणः सप्तहोतारं मनसाऽनुद्रुत्याऽऽहवनीये जुहुयात्" इति वाक्यान्यनुसन्धेयानि ।

२. चित्तिस्स्रुक् । चित्तमाज्यम् । वाग्वेदिः । आधीतं बर्हिः । केतो अग्निः । विज्ञातमग्निः । वाक्पतिर्होता । मन उपवक्ता । प्राणो हविः । सामाऽध्वर्युः । वाचस्पते विधे नामन् । विधेस्त्वमस्माकं नाम । वाचस्पतिस्सोमं पिबतु । आस्मासु नृम्णन्धास्स्वाहा ॥ इति दशहोता ॥

३. पृथिवी होता । द्यौरध्वर्युः । रुद्रोऽग्नीत् । बृहस्पतिरुपवक्ता । वाचस्पते वाचो वीर्येण । सम्भृततमेनाऽऽयक्ष्यसे । यजमानाय वार्यम् । आसुवस्करस्मै । वाचस्पतिस्सोमं पिबति । जजनदिन्द्रमिन्द्रियाय स्वाहा ॥ इति चतुर्होता ॥

४. अग्निर्होता । अश्विनावध्वर्यू । त्वष्टाऽग्नीत् । मित्र उपवक्ता । सोमस्सोमस्य पुरोगाः । शुक्रश्शुक्रस्य पुरोगाः । श्रातास्त इन्द्र सोमाः वातापेर्हवनश्रुतस्स्वाहा ॥ इति पञ्चहोता ।

हंसा' पञ्चहोता । "वाग्घोता' षड्ढोता व्याख्यानेषु प्रायणीयायां च [२] 'सूर्यं ते' । [३] 'महाहविः' सप्तहोता । एते कूष्माण्डप्रदेशाः ॥ १५ ॥

विज्ञायते कर्मादिष्वेतैर्जुहुयात् पूतो देवलोकान् समश्नुते इति हि ब्राह्मणमिति हि ब्राह्मणम् ॥ १६ ॥

इति तृतीयप्रश्ने सप्तमः खण्डः ।

अनु०—वेद में यह कहा गया है कि कर्मों के आरम्भ में कूष्माण्ड मन्त्रों से हवन करे । इससे यजमान पवित्र होकर देवलोक प्राप्त करता है । ऐसा ब्राह्मण का वचन है ॥ १६ ॥

टि०—यहाँ तैत्तिरीय आरण्यक २.७.५ की ओर निर्देश किया गया है ।

ब्राह्मणग्रहणं तु कर्मादिषु ब्राह्मणोक्तमेव कर्तव्यम् । अतश्चाऽग्निमुखस्य वरदानादेश्च निवृत्तिः ॥ १६ ॥

इति बोधायनीयधर्मसूत्रविवरणे तृतीये प्रश्ने सप्तमोऽध्यायः ॥

---

१. वाग्घोता । दीक्षा पत्नी । वातोऽध्वर्युः । आपोऽभिगरः । मनो हविः । तपसि जुहोमि । भूर्भुवस्सुवः । ब्रह्म स्वयंभु । ब्रह्मणे स्वयम्भुवे स्वाहा ॥ इति षड्ढोता ।

२. सूर्यं ते चक्षुः । वातं प्राणः । द्यां पृष्ठम् । अन्तरिक्षमात्मा । अङ्गैर्यज्ञम् । पृथिवीꣳ शरीरैः । वाचस्पतेऽच्छिद्रया वाचा । अच्छिद्रया जुह्वा । दिवि देवा वृधꣳ होत्रामेरयस्व स्वाहा । इति द्वितीयषड्ढोतृमन्त्रोऽत्रोल्लिखितः । अत्रेदं वक्तव्यम्—तैत्तिरीयारण्यके तृतीयप्रपाठके "चित्तिस्स्रुक्" इत्यादिना दशहोत्रादयो मन्त्राः पठिताः । तत्राऽऽदितः पञ्चस्वनुवाकेषु दशचतुःपञ्चषट्सप्तहोतृमन्त्राः । तदनन्तरं षष्ठेऽनुवाके पुनरपि षड्ढोतृसंज्ञकं मन्त्रान्तरमाम्नातम् 'वाग्घोते' त्यादि । तथा च तस्यैव पशुबन्धारम्भाङ्गत्वमिष्यते व्याख्यात्रा । परन्तु तदीयब्राह्मणपर्यालोचनया तत्रस्थभाष्यपर्यालोचनया च "सूर्यं ते" इत्यस्यैव पश्वारम्भाङ्गत्वं प्रतीयते । "वाग्घोता" इत्यस्य तु चातुर्होत्रीयचयन एव विनियोग इति ॥ 'यत्र सोमयागादौ 'षड्ढोतारं व्याख्याय' इति व्याख्यानं विहितं तत्र प्रायणीयहविरासादने च यष्षड्ढोता विहितः तदुभयत्र 'सूर्यं ते' इति मन्त्र इत्यर्थः ।

३. महाहविर्होता । सत्यहविरध्वर्युः । अच्युतपाजा अग्नीत् । अच्युतमना उपवक्ता । अनाधृष्यश्चाऽप्रतिधृष्यश्च यज्ञस्याऽभिगरौ । अयास्य उद्गाता । वाचस्पते हृद्विधे नामन् । विधेम ते नाम । विधेस्त्वमस्माकं नाम । वाचस्पतिस्सोममपात् । मा

तृतीयप्रश्ने अष्टमोऽध्यायः

अष्टमः खण्डः

अन्यमपि पापनिबर्हणोपाय इत्याह—

अथाऽतश्चान्द्रायणकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अनु०—अब यहां से हम चान्द्रायण व्रत की विधि का विवेचन करेंगे ॥ १ ॥

चन्द्रस्यायनं गमनं यथा वृद्धिह्रासाभ्यां युक्तं भवति तद्वत् ग्रासवृद्धिह्रासवशाच्चरतीति चान्द्रायणम् ॥ १ ॥

शुक्लचतुर्दशीमुपवसेत् ॥ २ ॥

अनु०—शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को उपवास करे ॥ २ ॥

केशादीनि वापयित्वोपवसेदिति क्रमः। उपवसेदिति वचनात् औपवसथ्यमेतदहरिति गम्यते। अत उत्तरेद्युर्होमः। तथा च लिङ्गम्—'पञ्चदश मासान्' इति ॥ २ ॥

प्रायश्चित्तार्थे चान्द्रायणे एतत्। अथाऽप्युदाहरन्ति—

केशश्मश्रुलोमनखानि वापयित्वा अपि वा श्मश्रूण्येव ॥ ३ ॥

अहतं वासो वसानः सत्यं ब्रुवन्नावसथमभ्युपेयात् ॥ ४ ॥

अनु०—सिर के केश, दाढ़ी-मूँछ, शरीर के रोओं और नखों को कटवाकर अथवा केवल दाढ़ी-मूँछ ही कटवाकर, नये वस्त्र पहन कर सत्य भाषण करते हुए उस स्थान में प्रवेश करे जहाँ यज्ञिय अग्नि रखी गयी हो ॥ ३-४ ॥

टि०—पुराने धुले हुए वस्त्र भी हो सकते हैं। आवसथ होम का स्थान है, जहाँ यज्ञिय अग्नि स्थापित होती है।

तथा च गौतमः—'कृच्छ्रे वपनं व्रतं चरेत्' इति ॥ ३ ॥

अहतं वस्त्रं नवं केशादिरहितं प्रक्षालितोपवातं च। सत्यवचनमपि चान्द्रायणाङ्गमेव। आवसथो होमस्थानम् ॥ ४ ॥

तस्मिन्नस्य सकृत्प्रणीतोऽग्निररण्योर्निर्मन्थ्यो वा ॥ ५ ॥

दैव्यस्त्वनुपच्छेदि मा मनुष्यः। नमो दिवे। नमः पृथिव्यै स्वाहा ॥ इति सप्तहोता ॥ मन्त्राणामेषामेतत्संज्ञकत्वं तैत्तिरीयब्राह्मणे (तै. ब्रा. २. ३. ११) स्पष्टं विवृतं तत एवाऽवगन्तव्यम्।

अनु०—एक बार किसी प्रयोजन से लाये गये लौकिक अग्नि को ही सदा स्थापित रखे अथवा दो अरणियों का मन्थन कर अग्नि उत्पन्न करे ॥ ५ ॥

टि०—जब तक चान्द्रायण व्रत करे तब तक अग्नि को बनाये रखे । इसी अग्नि में चान्द्रायण व्रत की समाप्ति पर होम किया जाता है ।

लौकिक एवाऽग्निः कर्मान्तरार्थं प्रणीतो यथा न नश्येत् तथा धार्य इत्येवमर्थं सकृद्ग्रहणम् । यावच्चान्द्रायणं नित्यं धारणमित्यर्थः । तदसम्भवेऽरण्योस्समारोपणम् । चान्द्रायणापवर्गे करिष्यमाणाय होमाय मन्थनं च । यस्य पुनररणी न स्तस्तस्याऽपि यस्मात्कस्माच्चित् काष्ठद्वयात् निर्मन्थ्योऽग्निः ॥ ५ ॥

ब्रह्मचारी सुहृत्प्रैषायोपकल्पी स्यात् ॥ ६ ॥

अनु०—शुद्ध हृदय वाला ब्रह्मचारी उसकी सहायता के लिए तथा उसके आदेश का पालन करने के लिए उसके समीप रहे ॥ ६ ॥

ब्रह्मचारी अनृतौ । सुहृत् शोभनं हृदयं यस्य स तथोक्तः । असहायेन न हि शक्यते एतावन्महत्कर्म कर्तुमित्यात्मनः प्रैषकरणायाऽन्यमुपकल्पयते इत्युपकल्पी । उक्तं च—

'अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् । विशेषतोऽसहायेन' इति । योऽसावन्यः प्रेषितार्थकरणायोपकल्पितः असावृत्विग्धर्मेति केचिदाहुः । अन्ये लौकिकार्थधर्माऽसाविति । तत्पुनर्युक्तायुक्ततया विचारणायम् ॥ ६ ॥

हविष्यं च व्रतोपायनम् ॥ ७ ॥

अनु०—व्रत के आचरण की अवधि में यज्ञ की हवि ही व्रत करने वाले का मुख्य भक्ष्य होता है ॥ ७ ॥

हविष्यमक्षारलवणं व्रतोपायनं प्रधानद्रव्यम् । यथाऽन्नादिद्रव्यम्, नोपदंशादि ॥ ७ ॥

अग्निमुपसमाधाय सम्परिस्तीर्याऽऽग्निमुखात्कृत्वा पक्वाज्जुहोति ॥८॥

अनु०—अग्नि पर समिध् रखकर उसे प्रज्वलित कर, उसके चारो ओर कुश फैलाकर आग्निमुख तक की क्रियाएं कर, पकाए गए अन्न मे से लेकर हवन करे ।८।

अवदानधर्मेणाऽदायेति शेषः ॥ ८ ॥

अग्नये या तिथिस्स्यान्नक्षत्राय सदैवताय "अत्राह गोरमन्वते"[1] ति

१. अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् । इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥

चान्द्रमसीं पञ्चमीं द्यावापृथिवीभ्यां षष्ठीमहोरात्राभ्यां सप्तमीं रौद्रीमष्टमीं सौरीं नवमीं वारुणीं दशमीमैन्द्रीमेकादशीं वैश्वदेवीं द्वादशीमीति ॥९॥

अनु०—पहली आहुति अग्नि के लिए, दूसरी आहुति जो तिथि हो उसके लिए, तीसरी और चौथी आहुतियाँ नक्षत्र और नक्षत्र के देवता के लिए 'अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् । इत्था चन्द्रमसो गृहे' मंत्र से पाँचवी आहुति चन्द्रमा के लिए, छठीं आहुति आकाश और पृथ्वी के लिए, सातवीं आहुति दिन और रात्रि के लिए, आठवीं रुद्र के लिए, नवीं सूर्य के लिए, दसवीं वरुण के लिए, ग्यारहवीं इन्द्र के लिए तथा बारहवीं आहुति विश्वेदेवाः के लिए अर्पित करे ॥ ९ ॥

एते द्वादशहोमा एतस्मादेव चरोरवदाय कर्तव्याः । तत्र 'अग्नये स्वाहा' इति प्रथमाऽऽहुतिः । या तिथिस्स्यात् या तदानीं वर्तमाना तिथिस्स्यात् तस्यै द्वितीया । प्रतिपच्चेद्वर्तते 'प्रतिपदे स्वाहा' इति, द्वितीया चेत् द्वितीयस्यै, तृतीया चेत्तृतीयस्यै, इत्यादि । तस्यै द्वितीयेति सूत्रयितव्ये या तिथिरिति वचनं यतिशिशुचान्द्रायणे यथाकथंचिदित्येतस्मिश्चैतद्विधानमस्तीति दर्शयति । नक्षत्राय तृतीया । यच्च नक्षत्रं कृत्तिकादि वर्तते तस्यैव तृतीयाऽऽहुतिः—कृत्तिकाभ्यस्स्वाहा रोहिण्यै स्वाहेति । सदैवताय यस्य नक्षत्रस्य या देवता स्यादिन्द्रादिका तस्यै चतुर्थ्याहुतिः—अग्नये स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, सोमाय स्वाहेत्यादि । चान्द्रमसीति 'सास्य देवते'ति तद्धितः । एवं रौद्रीमित्यादिषु द्रष्टव्यम् । षष्ठीप्रभृतिष्वपि तद्देवत्याभिः ऋग्भिर्होम इति केचित् । अपरे विधिशब्दैरेव मन्त्रभूतैरिति । वयं तु ब्रूमः—षष्ठीसप्तम्यावाहुती चतुर्थीचोदिते सत्यौ विधिशब्दमन्त्रके । अष्टम्याद्यास्तद्धितोदिताः ऋङ्मन्त्रका इति । एवं च सति सूत्रवैचित्र्यं साभिप्रायमुपपादितं भवति ॥ ९ ॥

किमेतावत्य एवाऽन्नाहुतयः ? नेत्याह—

अथाऽपरास्समामनन्ति—दिग्भ्यश्च सदैवताभ्यः उरोरन्तरिक्षाय सदैवताय "नवो नवो भवति जायमान" इति ॥ १० ॥

अनु०—इनके अतिरिक्त दूसरी आहुतियों का भी उल्लेख किया जाता है जो (चार) दिशाओं के लिए, उनके देवताओं के लिए, अन्तरिक्ष के मध्य भाग के लिए और उसके देवता के लिए ।

'नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रे । भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् प्रचन्द्रमास्तिरति दीर्घमायुः ।' (तैत्तिरीयसंहिता २.४.१४.१) मन्त्र से ॥ १० ॥

---

१. नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रे । भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् प्रचन्द्रमास्तिरति दीर्घमायुः । तै. सं. २. ४. १४. १.

एता एकादश । दिग्भ्यः चतसृभ्यः । 'प्राच्यै दिशे स्वाहा, दक्षिणायै दिशे' इत्यादि मन्त्रकल्पना । कुत एतत् चतसृभ्य एव दिग्भ्य इति ? नन्वष्टदिक्पाला इति प्रसिद्धिरस्ति, तथा क्वचिद्दश दिश इति । सत्यम्—तथापि 'दिग्भ्यः स्वाहाऽवान्तरदिशाभ्यस्स्वाहा' इति व्यपदेशभेदाच्चतस्र एव दिग्ग्रहणेन गृह्यन्ते । देवताभ्योऽपि तावतीभ्यः 'इन्द्राय स्वाहा, यमाय' इत्यादि । अथ वा 'प्राची दिगग्निर्देवता' इत्यादि दर्शनात्[1] 'अग्नय, इन्द्राय' इत्यादि द्रष्टव्यम्। उरोरिति चतुर्थ्यन्तस्य ग्रहणम्, अन्तरिक्षविशेषणत्वात् । ततश्च 'उरवेऽन्तरिक्षाय स्वाहा' इति मन्त्रः । अन्तरिक्षदेवता तु वायुः 'वायुरन्तरिक्षस्याऽधिपतिः' इति दर्शनात् । आत्मेत्यन्ते । उत्तमः प्रसिद्धः ॥ १० ॥

सौविष्टकृतीं हुत्वाऽथैतद्धविरुच्छिष्ट कंसे वा चमसे वा व्युद्धृत्य हविष्यैर्व्यञ्जनैरुपसिच्य पञ्चदश पिण्डान् प्रकृतिस्थान् प्राश्नाति ॥ ११ ॥

अनु०—स्विष्टकृत् अग्नि के लिए हवन कर अवशिष्ट हविष्य को कंस या चमस में निकालकर साधारण मात्रा के पन्द्रह ग्रास भक्षण करे ॥ ११ ॥

हविरुच्छिष्टं हुतशेषं हविष्याणि व्यञ्जनानि क्षीरादीनि, शाकफलादीनि च क्षारलवणरहितानि । अत्र व्यञ्जनशब्दप्रयोगात् 'हविष्यं च व्रतोपायनम्' इत्यत्र प्रधानद्रव्यमेव गृह्यते । तथैव च व्याख्यातमस्माभिः । आस्यविकाराकारिणः पञ्चदशग्रासा अपि । एतदपि लिङ्गं पर्वणि होमस्य तत्र पञ्चदश ग्रासास्समन्त्रकाः । तूष्णीका इतरे । तत्रैते मन्त्रा नित्यानां विकारकाः ॥ ११ ॥

प्राणाय त्वेति प्रथमम् । अपानाय त्वेति द्वितीयम् । व्यानाय त्वेति तृतीयम् । उदानाय त्वेति चतुर्थम् । समानाय त्वेति पञ्चमम् ॥ १२ ॥

अनु०—'प्राणाय त्वा' कहकर पहले पिण्ड का भक्षण करे, 'अपानाय त्वा' कहकर दूसरे का 'व्यानाय त्वा', कहकर तीसरे का, 'उदानाय त्वा' कहकर चौथे का तथा 'समानाय त्वा' कहकर पाँचवे पिण्ड का भक्षण करे ॥ १२ ॥

प्राश्नातीति सम्बन्धः । एवमेकैकस्य ग्रासस्यैकैको मन्त्रः संख्याने भवति ॥ १२ ॥

अथ यदा पञ्चभ्यो न्यूना ग्रासा, तदाऽऽह—

यदा चत्वारो द्वाभ्यां पूर्वम् ॥ १३ ॥

---

१. अस्मिन् पक्षे अग्निः, इन्द्रः विश्वेदेवा, मित्रावरुणो इति चतस्रो देवताः द्रष्टव्याः ।

अनु०—यदि केवल चार ग्रास हों तो दो मन्त्रों से पहले ग्रास का भक्षण करे॥१३॥

यदा चत्वारो ग्रासाः प्राशितव्यास्तदा प्रथमो ग्रासो द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम, ग्रसनीयः; तदुत्तरेषामेकैकेनैकैकः ॥ १३ ॥

यदा त्रयो द्वाभ्यां द्वाभ्यां पूर्वौ ॥ १४ ॥

अनु०—यदि केवल तीन ग्रास हों तो पहले दो ग्रासों का दो-दो मन्त्रों से भक्षण करे ॥ १४ ॥

यदा तु त्रयाणां ग्रसनं तदा द्वौ द्वाभ्यां द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां ग्रसनीयौ। तृतीयस्तु पञ्चमेन ॥ १४ ॥

यदा द्वौ द्वाभ्यां पूर्वं त्रिभिरुत्तरम् ॥ १५ ॥

एकं सर्वैः ॥ १६ ॥

अनु०—यदि केवल दो ग्रास हो तो दो मन्त्र से पहले ग्रास का तथा तीन मन्त्रों से दूसरे ग्रास का भक्षण करे। यदि केवल एक ग्रास हो तो सभी मन्त्रों का उच्चारण कर भक्षण करे ॥ १५–१६ ॥

ऋज्वर्थे सूत्रे ॥ १५–१६ ॥

'अमृतापिधानमसि' इत्यस्य स्थाने—

"निग्राभ्यास्स्थे"त्यपः पीत्वाऽथाज्याहुतीरुपजुहोति ॥ १७ ॥

अनु०—'निग्राभ्यास्स्थ देवश्रुत आयुर्मे तर्पयत' आदि मन्त्र से जल पीकर घृत की आहुतियाँ निम्नलिखित सात अनुवाकों से करे ॥ १७ ॥

टि०—निग्राभ्यास्थ देवश्रुत आयुर्मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयताऽपानं मे तर्पयत व्यानं मे तर्पयत चक्षुर्मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पयत मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयताऽऽत्मानं मे तर्पयताऽङ्गानि मे तर्पयत प्रजां मे तर्पयत पशून् मे तर्पयत गृहान्मे तर्पयत गणान्मे तर्पयत सर्वगणं मा तर्पयत तर्पयत मा गणा मे मा वितृषन्। तै० सं० ३.१.८.१।

"निग्राभ्यास्थ देवश्रुतः' इत्यादि 'गणा मे मा वितृषन्' इत्यन्तमेकं यजुः ॥ १७ ॥

---

१. निग्राभ्यास्थ देवश्रुत आयुर्मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयताऽपानं मे तर्पयत व्यानं मे तर्पयत चक्षुर्मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पयत मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयताऽऽत्मानं मे तर्पयताऽङ्गानि मे तर्पयत प्रजां मे तर्पयत पशून् मे तर्पयत गृहान्मे। तर्पयत गणान्मे तर्पयत सर्वगणं मा तर्पयत तर्पयत मा गणा मे मा वितृषन् ॥ तै. सं. ३. १. ८. १.

अथ होममन्त्राः—

[2]प्राणापानव्यानोदानसमाना मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासँ स्वाहा। [3]वाङ्मनः [4]शिरः पाणि [5]त्वक्चर्म [6]शब्द-स्पर्श [7]पृथिवी [8]अन्नमयप्राणमय इत्येतैस्सप्तभिरनुवाकैः ॥ १८ ॥

अनु०—'प्राणापानव्यानोदानसमाना मे शुद्ध्यन्ता ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासम्' (मेरे प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान पवित्र होवे,…) वाङ्मनश्च-क्षुश्श्रोत्रजिह्वाघ्राणरेतोबुध्याकूतिसङ्कल्पा मे शुध्यन्तो ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूया-सम् स्वाहा' 'शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरजङ्घशिश्नोपस्थपायवो मे शुध्यन्तां…' 'त्वक्चर्ममांसरुधिरमेदोस्थिमज्जा मे शुध्यन्तां—' 'शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा मे शुध्यन्ताम्…' 'पृथिव्याप्तेजोवाय्वाकाशा मे शुध्यन्ताम्—' 'अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमया-नन्दमया मे शुध्यन्ता ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासम् स्वाहा।' इन सात अनु-वाकों से प्रत्येक अनुवाक के उच्चारण के साथ हवन करते हुए सात आहुति करे॥१८॥

प्रत्यनुवाकं होमः ॥ १८ ॥

जयप्रभृति सिद्धमा धेनुवरप्रदानात् ॥ १९ ॥

अनु०—जप से लेकर दक्षिणा मे उत्तम गौ के दान तक की क्रियाएँ ज्ञात ही हैं ॥ १९ ॥

उत्तरं दार्विहोमिकं तन्त्रं प्रसिद्धम ॥ १९ ॥

सौरीभिरादित्यमुपतिष्ठते चान्द्रमसीभिश्चन्द्रमसम् ॥ २० ॥

---

१. तैत्तिरीयारण्यकस्था इमे मन्त्राः। अत्र मन्त्राणा पाठक्रमः तेषां पृथक् पृथग-नुवाकत्वेन परिगणनं च द्राविडपाठ एव दृश्यते। नाऽऽन्ध्रपाठे। अतस्सूत्रकाराऽय द्राविडपाठमेवाऽऽद्रियत इति भाति।

२. वाङ्मनश्चक्षुश्श्रोत्रजिह्वाघ्राणरेतोबुध्याकूतिसङ्कल्पा मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयाँस्वाहा।

३. शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरजङ्घाशिश्नोपस्थपायवो मे० स्वाहा॥

४. त्वक्चर्ममांसरुधिरमेदोस्थिमज्जा मे शुध्यन्तां० स्वाहा॥

५. शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा मे शुध्यन्तां० स्वाहा॥

६. पृथिव्याप्तेजोवाय्वाकाशा मे शुध्यन्तां० स्वाहा॥

७. अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया मे शुध्यन्तां० स्वाहा। इति सप्त-मन्त्राः सप्ताऽनुवाकाः। see तै. आ. १०. (तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीयप्रश्ने द्राविडपाठे) अ. ५१—५९.

अनु०—सूर्य के तीन मन्त्रों ('उद्वयं तमसस्परि', 'उदुत्य', 'चित्रम्' आदि) द्वारा सूर्य की तथा ('नवो नवो भवति', सचित्र चित्रम् ऋ० ४.८.५, तथा 'अत्राह गोरमन्वत') आदि तीन मन्त्रों से चन्द्रमा की प्रार्थना करे ।। २० ।।

सौर्यः—[1]'उद्वयं तमसस्परि, उदुत्यं, चित्रम् इति तिस्र ऋचः । चान्द्रमस्यः—'नवो नवो भवति, [2]सचित्र चित्रम्, [3]अत्राह गोरमन्वत' इति च ।। २० ।।

शर्वर्यां संवेशनकाले—

[4]"अग्ने त्वँ सुजागृही"ति संविशन् जपति । [5]"त्वमग्ने व्रतपा असी"ति प्रबुद्धः ।। २१ ।।

अनु०—सोते समय 'अग्ने त्वं सुजागृहि' वयं सुमन्दिषीमहि गोपायनस्स्वस्तये प्रबुधेन पुनर्ददः, मन्त्र का जप करे । जगने पर 'त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा त्वं यज्ञेष्वीड्यः' (तैत्तिरीय संहिता २.१.३.१) मन्त्र का जप करे ।। २१ ।।

संविशन् शयानः । प्रबुद्धः उज्जिहानः । आचक्ष्येति शेषः ।।

स्त्रीशूद्रैर्नाऽभिभाषेत मूत्रपुरीषे नाऽवेक्षेत ।। २२ ।।

अनु०—स्त्रियों और शूद्रों के साथ उन्हें पहले सबोधित करते हुए भाषण न करे और मूत्र और मल के ऊपर दृष्टि पात न करे ।। २२ ।।

अभिभाषणं पूर्वभाषणम् ।। २२ ।।

अमेध्यं दृष्ट्वा जपत्य"बद्धं मनो द्रिद्रं चक्षुःसूर्योज्योतिषाँ श्रेष्ठो दीक्षे मा मा हासी"रिति ।। अथ यद्येनमभिवर्ष "दुन्दतीर्बलं धत्ते"ति ।। २३ ।।

अनु०—यदि कोई अपवित्र वस्तु देखले तो 'अबद्धं मनो दरिद्रं चक्षुस्सूर्यो ज्योतिषां श्रेष्ठो दीक्षे मा मा हासीः' (मन अनियन्त्रित था, आँखे दरिद्र थी, सूर्य

---

१. उद्वयं, उदुत्यं, चित्रः, नवो नवः, इति मन्त्रचतुष्टयं २६७, २०८, पुष्ठयोर्द्रष्टव्यम् ।।

२. सचित्रचित्रं चितयन्तमस्मे चित्रक्षत्रचित्रतमं वयोधाम् । चन्द्रं रयिं पुरुवीरं बृहन्तं चन्द्रं चन्द्राभिगृणते युवस्व (ऋ. सं. ४. ८. ५.) । ३. २४५. पुष्ठे द्रष्टव्यम् ।

४. अग्नेत्वँ सुजागृहि वयँ सुमन्दिषीमहि गोपाय नस्स्वस्तये प्रबुधे नः पुनर्ददः ।।

५. त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा । त्वं यज्ञेष्वीड्यः ।।

(तै. सं. २. १. ३. १.)

सभी ज्योतियों में श्रेष्ठ है। हे दीक्षा, मुझे मत छोड़ो, मत छोड़ो) का जप करे और यदि उसके ऊपर वृष्टि हो तो 'उन्दतीर्बलं धत्ते' मन्त्र का जप करे ॥ २३ ॥

व्याख्यातो मन्त्रः 'उत्तरत उपचारः' इत्यत्र । एते नियमा आ परिसमाप्तेश्चान्द्रायणस्याऽनुसरणीयाः ॥ २३ ॥

प्रथमायामपरपक्षस्य चतुर्दश ग्रासान् ॥ २४ ॥

अनु०—उत्तर पक्ष के प्रथम दिन को चौदह ग्रास भोजन करे ॥ २४ ॥

प्राश्नातीत्यनुवर्तते । अपरपक्षस्य च प्रतिपदि चतुर्दश ग्रासा ग्रसनीया इत्यर्थः ॥ २४ ॥

एवमेकापचयेनाऽमावास्यायाः ॥ २५ ॥

अनु०—इसी प्रकार प्रतिदिन एक-एक ग्रास अमावास्या तक कम करता जाये ॥ २५ ॥

एवं द्वितीयाप्रभृतिषु एकैको ग्रासोऽपचीयते । द्वितीयस्यां त्रयोदश तृतीयस्यां द्वादश इत्यादि ॥ २५ ॥

एवममावास्याया नीयमाने—

अमावास्यायां ग्रासो न विद्यते ॥ २६ ॥

अनु०—अमावस्या के दिन एक भी ग्रास अवशिष्ट नहीं रहता ॥ २६ ॥

अतस्तस्यामुपवास एव ॥ २६ ॥

प्रथमायां पूर्वपक्षस्यैकः ॥ द्वौ द्वितीयस्याम् ॥ २७–२८ ॥

अनु०—पूर्वपक्ष की प्रतिपदा को एक ग्रास भक्षण करे और द्वितीया को दो ग्रास खाए ॥ २७-२८ ॥

एते अभ्युच्चयार्थे ॥ २७–२८ ॥

एवमेकोपचयेनाऽऽपौर्णमास्याः ॥ २९ ॥

अनु०—इसी प्रकार पौर्णमसी तक एक-एक ग्रास बढ़ाता रहे ॥ २९ ॥

उपचयो वृद्धिः । एवमा पौर्णमास्या नीयमाने चतुर्दश्यां चतुर्दश भवन्ति ॥ २९ ॥

पौर्णमास्यां स्थालीपाकस्य जुहोति ॥ ३० ॥

तत्रैते पक्वहोममन्त्राः—

अग्नये या तिथिस्यात् ॥ ३१ ॥

नक्षत्रेभ्यश्च सदैवतेभ्यः ॥ ३२ ॥

अनु०—पौर्णमासी के दिन स्थालीपाक का हवन अग्नि के लिए जो तिथि हो उसके लिए, नक्षत्रों के लिए तथा नक्षत्रों के देवताओं के लिए करे ॥ ३०-३२ ॥

अप्राणिनष्षष्ठ्येषा तृतीयार्थे पञ्चम्यर्थे वा द्रष्टव्या । अग्निमुपसमाधायेत्यादि प्रतिपद्यते ॥ ३० ॥

व्याख्यातमेतत् ॥ ३१ ॥

अत्र बहुवचनश्रवणात् सर्वेभ्यो नक्षत्रेभ्यः कृत्तिकादिभ्यो होतव्यमिति, तथा नक्षत्रदेवताभ्योऽपि सर्वाभ्यः । तत्र मन्त्राः नक्षत्रेष्टिपूपहोमत्वेनाऽऽम्नाता[1] वेदितव्याः ॥ ३२ ॥

अत एवाऽऽह—

पुरस्ताच्छ्रोणाया अभिजितस्सदैवतस्य हुत्वा गां ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् ॥ ३३ ॥

अनु०—श्रोणा के समक्ष विद्यमान अभिजित् नाम के नक्षत्र के लिए तथा उसके देवता के लिए हवन कर ब्राह्मणों के लिए गौ का दान करे ॥ ३३ ॥

[2]अभिजिन्नाम नक्षत्रमुपरिष्टादषाढानामधस्ताच्छ्रोणाया अस्ति । तस्य ब्रह्मा देवता । अतस्सर्वं प्रथमहोमवत् । अत्राऽपि पञ्चदश ग्रासा प्रसनीयाः । तथा च सति तिस्रो नीतयस्सम्पद्यन्ते पर एव तस्यास्संख्याया नियमात् । यच्च पिपीलिकायवमध्ययोः पञ्चविंशत्युत्तरशतद्वयमिति; न चैतद्युक्तम्, चान्द्रायणान्तरे पक्षयोश्च द्वावुपवासौ कृतौ भवतः (?) ॥ ३३ ॥

एवं कृते—

तदेतच्चान्द्रायणं पिपीलिकामध्यम् ॥ ३४ ॥

अनु०—यह चान्द्रायण व्रत पिपीलिकामध्य चान्द्रायण कहलाता है । (जिस प्रकार चींटी बीच में पतली होती है उसी प्रकार इस व्रत के मध्य में अमावस्या को एक भी ग्रास भोजन नहीं किया जाता) ॥ ३४ ॥

संव्यवहारार्थं संज्ञाकरणम् । लुप्तोपमेयम्; पिपीलिका हि तनुमध्योभयतः स्थूला भवति तद्वदेतदपि ॥ ३४ ॥

---

१. अग्नये स्वाहा, कृत्तिकाभ्यः स्वाहा, इत्यादयः प्रतिनक्षत्रं मन्त्राः पठिताः तैत्तिरीयब्राह्मणे तृतीयप्रपाठके द्वितीयानुवाके तेऽत्राऽनुसन्धेयाः ॥

२. See तै. ब्रा. १. ५. २. ३.

विपरीतं यवमध्यम् ।। ३५ ।।

अनु०—इसके विपरीत यवमध्य चन्द्रायण होता है ।। ३५ ।।

टि०—यह चान्द्रायण व्रत अमावास्या से आरम्भ किया जाता वस्या को ही समाप्त किया जाता है । जिस प्रकार यव का मध्य भ है इसी प्रकार इसमें भी व्रत के मध्य में चन्द्रमा की कला के अ ग्रास का आहार होता है ।

अमावास्योपक्रममावास्यान्तमित्यर्थः । अत्र हि पक्ष क्रियमाणयोश्चन्द्रगतिरप्युपसृता भवति ।। ३५ ।।

अतोऽन्यतरच्चरित्वा सर्वेभ्यः पातकेभ्यः पापकृच्छुद्धो

अनु०—पाप करने वाला इन दोनों व्रतों में से कोई एक व्रत से शुद्ध हो जाता है ।। ३६ ।।

मुक्तो भवतीत्युक्तं भवति ।। ३६ ।।

न केवलं प्रायश्चित्तार्थमेवाऽन्यतरस्य चान्द्रायणस्य चरणम् , I

कामाय कामायैतदाहार्यमित्याचक्षते ।। ३७ ।।

अनु०—सभी इच्छाओं की पूर्ति के लिए यह चान्द्रायण व्रत ि है ऐसा कहा गया है ।। ३७ ।।

अत्रैकः कामशब्दः कर्मवचनः । अपरो भाववचनः । काम्य त्यर्थः । यद्वा-वीप्सावचनमेतत् । अतश्च सर्वाभिप्रायकमेतदित्यु तदाह—

यं कामं कामयते तमेतेनाऽऽप्नोति ।। ३८ ।।

अनु०—मनुष्य जिस फल की इच्छा करता है वह फल चान्द्राय कर लेता है ।। ३८ ।।

नाऽत्र तिरोहितमस्ति किञ्चित् ।। ३८ ।।

एतेन वा ऋषय आत्मानं शोधयित्वा पुरा कर्माण्यसाध

अनु०—प्राचीन काल में ऋषियों ने इस चान्द्रायण व्रत से ही किया और अपने सभी कर्मों को पूरा किया ।। ३९ ।।

कर्माण्यग्न्याधेयादीनि । उक्तं चैतत्-अग्नीनाधास्यमानः कुर्वीतेति । किमर्थमेतत ? इदानींतना अपि कथं रोचयेरन्

तदेतद्धन्यं पुण्यं पुत्र्यं पौत्र्यं पशव्यमायुष्यं स्वर्ग्यं यशस्यं सार्वकामिकम् ॥ ४० ॥

अनु०—यह व्रत धन देने वाला, पुण्य देने वाला, पुत्र, पौत्र, पशु, दीर्घ जीवन, स्वर्ग, यश प्रदान करने वाला तथा सभी प्रकार की इच्छाओं की पूर्ण करने वाला है ॥ ४० ॥

'तस्मै हितम्' इति तद्धितान्तानां विग्रहः ॥ ४० ॥

नक्षत्राणां द्युतिं सूर्याचन्द्रमसोस्सायुज्यं सलोकतामाप्नोति ॥ ४१ ॥

य उचैनदधीते य उचैनदधीते ॥ ४२ ॥

इति तृतीयप्रश्नेऽष्टमः खण्डः ॥

अनु०—जो व्यक्ति इस व्रत का अध्ययन करता है वह नक्षत्रो की ज्योति तथा सूर्य और चन्द्रमा का सायुज्य प्राप्त करता है और उन्हीं के लोक में निवास करता है ॥ ४१-४२ ॥

फलार्थवादोऽयम् ॥ ४१ ॥

विद्वत्प्रशंसैषा ॥ ४२ ॥

इति बौधायनीयधर्मसूत्रविवरणे गोविन्दस्वामिकृते
तृतीयप्रश्नेऽष्टमोऽध्यायः ॥

तृतीयप्रश्ने नवमोऽध्यायः

नवमः खण्डः

अनश्नत्पारायणमपि पापमोचनमिति मत्वाऽऽह—

अथातोऽनश्नत्परायणविधिं व्याख्यास्यामः ॥

अनु०—अब हम अनश्नत्पारायण (उपवास करते हुए सम्पूर्ण वेद का पाठ) की विधि का विवेचन करेंगे ॥ १ ॥

वेदस्य पारं पर्यन्तं निष्ठामयन्ते गच्छतीति पारायणम् । तच्चाऽनश्नता कर्तव्यमित्यनश्नत्पारायणम् ॥ १ ॥

शुचिवासाः स्याच्चीरवासा वा ॥ २ ॥

अनु०—शुद्ध वस्त्र पहने अथवा वृक्ष की छाल के वस्त्र के रूप में धारण करे॥२॥

चीरं चिरकालिकं जीर्णमित्यर्थः । न चैतावतोपभुक्तं वासोऽभ्यनुज्ञातं भवति । 'अहतं वाससां शुचिः' इति नियमात् । समुच्चयार्थो वाशब्दः पूर्वस्मिन् । उत्तरत्र तु विकल्पार्थः ॥ २ ॥

हविष्यमन्नमिच्छेदपः फलानि वा ॥ ३ ॥

अनु०—यज्ञ के लिए योग्य (क्षारलवणवर्जित) अन्न अथवा जल या फलों के आहार की ही इच्छा करे ॥ ३ ॥

हविष्यमक्षारलवणम् । यदि मन्येतोपवस्यामीति तदेतद्वेदितव्यम् । इतरथाऽनश्नत्वविरोधात् ॥ ३ ॥

ग्रामात्प्राचीं वोदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य गोमयेन गोचर्ममात्रं चतुरश्रं स्थण्डिलमुपलिप्य प्रोक्ष्य लक्षणमुल्लिख्याऽद्भिरभ्युक्ष्याऽग्निमुपसमाधाय सम्परिस्तीर्यैताभ्यो देवताभ्यो जुहुयात् ॥ ४ ॥

अनु०—गाँव से निकलकर पूर्व या उत्तर दिशा को जाय, गोबर से गोचर्म के बराबर चौकोर भूमि को लीपकर उस पर जल छिड़के, उस पर चिह्न अंकित करे और जल छिड़ककर अग्नि का उपसमाधान करे अग्नि के चारो ओर कुश फैलाए और इन देवों के लिए हवन करे—॥ ४ ॥

उपनिष्क्रम्य शुचौ देशे गोमयेनोपलिप्ते प्रोक्ष्य लक्षणमुल्लिख्य स्थण्डिलं कुर्वेत्यर्थः । सम्परिस्तीर्याऽऽज्यं विलाप्योत्पूय । नाऽत्र दार्विहोमिकं तन्त्रं विद्यते ॥ ४ ॥

अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा प्रजापतये स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वयम्भुव ऋग्भ्यो यजुर्भ्यो सामभ्यो ऽथर्वभ्यश्श्रद्धायै प्रज्ञायै मेधायै श्रियै ह्रियै सवित्रे सावित्र्यै सदसस्पतयेऽनुमतये च व्याहरेन्न चाऽन्तरा विरमेत् ॥ ५ ॥

अनु०—अग्नि को स्वाहा, सोम को स्वाहा, प्रजापति को स्वाहा, सभी देवों के, स्वयम्भू, ऋक्, यजुस्, साम, अथर्वन्, श्रद्धा प्रज्ञा, मेधा, श्री, ह्री, सवितृ, सावित्री, सदसस्पति, अनुमति के लिए हवन कर वेद के आरम्भ से निरन्तर पारायण करे। बीच में कोई और बात न करे और न बीच में रुके ॥ ५ ॥

व्याहरणमवैदिकशब्दोच्चारणम् । विरामोऽवसानम् । अन्तरा स्वाध्यायमध्ये । सन्ततविधानादेव सिद्धे अन्तरा विरमणनिषेधात् नैमित्तिकेऽनध्याये-

ऽग्न्युत्पातादावध्ययने दोषो नास्तीति गम्यते । नित्याध्ययनानां सन्ध्योपासनादीनां च पूर्वमेवाऽवगन्तुं शक्यत्वात् तत्परिहरणेनाऽपि सङ्कल्प उपपद्यते॥५॥

अत्राऽन्यथाकरणे प्रायश्चित्तमाह—

अथाऽन्तरा व्याहरेदथाऽन्तरा विरमेत्त्रीन् प्राणानायम्य वृत्तान्तादेवाऽऽरभेत ॥ ६ ॥

प्राणायाम कर वहीं से आरम्भ करे जहाँ व्यवधान हुआ था ॥ ६ ॥

अथ यदीत्यर्थः । आयमनमातमनम् । वृत्तान्तात् स्थितादुत्तरतः ॥ ६ ॥

चिरकालेनाऽप्यप्रतिभायां किं कर्तव्यमित्याह—

अप्रतिभायां यावता कालेन न वेद तावन्तं कालं तदधीयीत स यज्जानीयात् ॥ ७ ॥

अनु०—किसी अंश के याद न आने पर जितने समय तक वह याद न आ जाय उतने समय उसी का पाठ करे जो याद हो ॥ ७ ॥

व्यवहितमपि यत्प्रत्यभात्तदधीयीतेत्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्राऽप्यशक्तौ कथम् ?

ऋक्तो यजुष्टस्सामत इति ॥ ८ ॥

अनु०—यदि ऋचा याद न आ रही हो तो ऋचा का, यजुस के लिए यजुस् का और साम के लिए साम का ही पाठ करता रहे ॥ ८ ॥

विजानीयादिति शेषः । ऋच्यप्रतिभातायामृगन्तरमधीयीतेत्यर्थः । एवं यजुषि, साम्नि च ॥ ८ ॥

तत्राऽप्यप्रतिभायाम्—

तद्ब्राह्मणं तच्छन्दसं तद्दैवतमधीयीत ॥ ९ ॥

अनु०—अथवा उस भूले हुए अंश से संबद्ध ब्राह्मण का या उसके छन्द और देवता का ही अध्ययन करे ॥ ९ ॥

ऋचश्चेन्न प्रतिभान्ति तद्ब्राह्मणमधीयीत । तदप्रतिभायां पुनर्मन्त्रमेव । तच्छन्दसं तद्दैवतं तत्तदार्षमधीयीत ॥ ९ ॥

द्वादश वेदसंहिता अधीयीत यदनेनाऽनध्यायेऽधीयीत यद्गुरवः

कोपिता यान्यकार्याणि भवन्ति, ताभिः पुनीते शुद्धमस्य पूतं ब्रह्म भवति ॥ १० ॥

अनु०—अपने वेद की संहिता का बारह बार अध्ययन करे इससे यदि उसने निषिद्ध समय पर वेदाध्ययन किया हो या गुरुओं के कोप का कारण बना हो अथवा निषिद्ध कर्म किये हो तो उन सभी से वह शुद्ध हो जाता है। उसका वेदज्ञान पवित्र हो जाता है ॥ १० ॥

द्वादशेत्यत्र ऋग्यजुःष्वित्यध्याहार्यम्। संहिताग्रहणं च पदक्रमनिवृत्त्यर्थम्। तथा च शौनकः—'अथैके प्राहुरनुसंहितं तत्पारायणं प्रवचनं प्रशस्तम्' इति। ताभिस्संहिताभिर्द्वादशभिः द्वादशकृत्वोऽभ्यस्ताभिः पुनीते। कस्मात्? अनध्याया-ध्ययननिमित्तात् गुरुकोपनिमित्तादकार्यकरणनिमित्ताच्च ॥ १० ॥

अत ऊर्ध्वं सञ्चयः ॥ ११ ॥

अनु०—उससे अधिक बार पढ़ने पर पुण्य फलों का सचय होता है ॥ ११ ॥

ब्रह्मभिर्हि द्वादशभिः पारायणैः पूते सञ्चयः निश्श्रेयसस्य भवति ॥ ११ ॥

अपरा द्वादश वेदसंहिता अधीत्य ताभिरुशनसो लोकमवाप्नोति ॥ १२ ॥ अपरा द्वादश वेदसंहिता अधीत्य ताभिर्बृहस्पतेर्लोकमवाप्नोति ॥ १३ ॥ अपरा द्वादश वेदसंहितां अधीत्य ताभिः प्रजापतेर्लोकमवाप्नोति ॥ १४ ॥ अनश्नन्संहितासहस्रमधीत्य ब्रह्मभूतो विराजो ब्रह्म भवति ॥ १५ ॥

अनु०—यदि और बारह बार वेद की संहिता का अध्ययन करता है तो उससे उशनस् का लोक प्राप्त होता है। उस के बाद भी बारह बार संहिता का अध्ययन करने पर बृहस्पति के लोक की प्राप्ति होती है। उसके बाद भी पुनः बारह बार वेद की संहिता का अध्ययन कर प्रजापति का लोक प्राप्त करता है। उपवास करते हुए एक सहस्र बार संहिता का अध्ययन करने पर ब्रह्म से एक हो जाता है, ब्रह्म की तरह प्रकाश युक्त हो जाता है, स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है ॥ १२–१५ ॥

संहितासहस्रं सहस्रकृत्व इत्यर्थः ॥ १२–१५ ॥

संवत्सरं भैक्षं प्रयुञ्जानो दिव्यं चक्षुर्लभते ॥ १६ ॥

अनु०—यदि एक वर्ष तक भिक्षा ग्रहण करता हुआ वेद का पारायण करता है तो दिव्य दृष्टि प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

भैक्षमिति क्रियाविशेषणम् । प्रयुञ्जानः पारायणमिति शेषः । दिव्यं चक्षु-र्दूरदर्शनम् ॥ १६ ॥

षण्मासान्यावकभक्षश्चतुरो मासानुदकसक्तुभक्षो द्वौ मासौ फल-भक्षो मासमब्भक्षो द्वादशरात्रं वाऽप्राश्नन् क्षिप्रमन्तर्धीयते ज्ञातीन्पु-नाति सप्ताऽवरान्सप्त पूर्वानात्मानं पञ्चदशं पङ्क्तिं च पुनाति ॥ १७ ॥

अनु०—यदि छः मास तक यावक का भक्षण करे, चार मास जल और सक्तु का भक्षण करे, दो मास फल भक्षण करे, एक मास केवल जल पीकर रहे, अथवा बारह दिन का उपवास करे तो शीघ्र लुप्त होने की शक्ति प्राप्त कर लेगा, बन्धु-बान्धवों को, अपने से पहले की सात पीढी को, बाद की सात पीढी को और पन्द्रह हवें अपने को पवित्र करता है। और ब्राह्मणों की जिस पंक्ति में प्रवेश करता है उसे पवित्र करता है ॥ १७ ॥

प्राश्नन्नित्यत्राऽकारप्रश्लेषः कर्तव्यः अप्राश्नन्निति । पराचीनं वा पारायणं प्रयुञ्ज्येत्यर्थः ॥ १७ ॥

तामेतां देवनिश्रयणीत्याचक्षते ॥ १८ ॥

अनु०—इसको देवों तक पहुँचने के लिए नसेनी (सीढ़ी) कहा गया है ॥१८॥

निश्रयणी निश्रेयसहेतुः । निश्रेयसस्य संश्रयः सोपानमिति यावत् ॥ १८ ॥

निश्रेयसहेतुत्वं दर्शयति—

एतया वै देवा देवत्वमगच्छन्नृषय ऋषित्वम् ॥ १९ ॥

अनु०—इसीसे देवों ने देवत्व प्राप्त किया और ऋषियों ने ऋषि के पद प्राप्त किये ॥ १९ ॥

अथेदानीमनश्नत्पारायणारम्भकालत्वेनाऽहोरात्रावयवानाह—

तस्य ह वा एतस्य यज्ञस्य त्रिविध एवाऽऽरम्भकालः—प्रातस्सवने माध्यन्दिने सवने, ब्राह्मे वाऽपररात्रे ॥ २० ॥

अनु०—इस यज्ञ को आरम्भ करने के तीन काल है, प्रातः सवन का काल, माध्यंदिन सवन का काल तथा रात्रि का अन्तिम अंश जिसे ब्राह्म मुहूर्त कहते हैं ।२०।

अतश्च होमा एतेष्वेव कालेषु कर्तव्याः ॥ २० ॥

साम्प्रतं गुरुपरंक्रमद्वारेण प्रशंसामाह—

तं वा एतं प्रजापतिस्सप्तऋषिभ्यःप्रोवाच सप्तर्षयो महाजज्ञवे महाजज्ञुर्ब्राह्मणेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः ॥ २१ ॥

इति तृतीयप्रश्ने नवमः खण्डः ॥ ९ ॥

अनु०—इस यज्ञ के उपदेश प्रजापति ने सात ऋषियों को दिया, सात ऋषियों ने महाजज्ञु को महाजज्ञु ने ब्राह्मणों को इसकी शिक्षा दी ॥ २१ ॥

यस्मान्महाजज्ञुः ब्राह्मणेभ्यः एतमनश्नत्पारायणविधिं प्रोवाच तस्मात्तेषामेवाऽत्राऽधिकारो न क्षत्रियवैश्ययोरिति ॥ २१ ॥

इति बौधायनीयधर्मसूत्रविवरणे गोविन्दस्वामिकृते
तृतीये प्रश्ने नवमोऽध्यायः ॥

तृतीयप्रश्ने दशमोऽध्यायः

दशमः खण्डः

पञ्चविधो धर्मो व्याख्येयतया प्रक्रान्तः, तत्र चतुर्विधः—

उक्तो वर्णधर्मश्चाऽऽश्रमधर्मश्च ॥ १ ॥

अथ खल्वयं पुरुषो याप्येन कर्मणा ॥ २ ॥

अनु०—वर्णों और आश्रमों के धर्मों का विवेचन किया जा चुका है ॥ १ ॥

अनु०—मनुष्य इस लोक में अपने बुरे कर्मों के पाप से लिप्त हो जाता है ॥२॥

लिप्यत इति शेषः। अयमिति प्रत्यक्षं शरीरिणं क्षेत्रज्ञं व्यपदिशति। अतश्च परमात्मा न लिप्यते। पुरुषः पुरि शयः पूरयतेर्वा। तस्मात् स्त्रियोऽपि लिप्यन्ते ॥ १-२ ॥

याप्यं भाव्यं पापमिति यावत्, तद्दर्शयति—

मिथ्या वा चरत्ययाज्यं वा याजयत्यप्रतिग्राह्यस्य वा प्रतिगृह्णात्यनाश्यान्नस्य वाऽन्नमश्नात्यचरणीयेन वा चरति ॥ ३ ॥

अनु०—यदि मिथ्या आचरण करता है, ऐसे व्यक्ति का यज्ञ कराता है, जिसका यज्ञ कराना निषिद्ध है, जिनसे दान नहीं लेना चाहिए उनसे दान लेता है, जिनका

अन्न नहीं खाना चाहिए उनके अन्न का भक्षण करता है और निषिद्ध आचरण करता है, तो पाप से लिप्त हो जाता है ॥ ३ ॥

प्रदर्शनमेतदन्येषामपि पापानाम् । मिथ्या अयथाद्दृष्टार्थस्य कर्मणः आत्मनो लाभपूजार्थं चरणमित्यादि । अचरणीयमकर्तव्यं प्रतिषिद्धमित्यर्थः । यदत्र पुनरुक्तमिव लक्ष्यते तत् दृढार्थम्, स्वाभावो ह्येष आचार्यस्य । अथ वा— आपद्विषयेऽननुज्ञातस्याऽप्ययाज्ययाजनादेः प्रायश्चित्तप्राप्त्यर्थम् । तत्राऽपि प्रथमकल्पितचतुर्भागः कर्तव्यः, उशनसा वचनात् । आपद्विहितैः कर्मभिरापादयन्तीत्यापदस्तेषां प्रायश्चित्तचतुर्भागं कुर्यात्' इति ॥ ३ ॥

याप्येन कर्मणा लिप्यत इत्युक्तम्—

तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यान्न कुर्यादिति ॥ ४ ॥

अनु०—इस विषय में सन्देह है कि प्रायश्चित्त करना चाहिए या नहीं करना चाहिए ॥ ४ ॥

मीमांसन्ते इति शेषः । तत्र पूर्वपक्षो न कुर्यादिति ॥ ४ ॥

कुतः ?

न हि कर्म क्षीयते इति ॥ ५ ॥

अनु०—कुछ लोगों का मत है कि प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए, क्योंकि कर्म नष्ट नहीं होते हैं ॥ ५ ॥

इतिशब्दो हेतौ । फलप्रदानमन्तरेण पापस्य कर्मणः क्षयाभावादित्यर्थः । आत्मसंस्थत्वात्कर्मणो जलसंस्थस्येव लवणस्य नाशो नाऽस्तीति ॥ ५ ॥

कुर्यात्त्वेव ॥ ६ ॥

अनु०—किन्तु सिद्धान्त यह है कि प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिए ॥ ६ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । कथं कर्मणः क्षय इति चेत्, प्रायश्चित्तेन कर्म क्षीयत इति वदामः । यथा सर्पदंशनलक्षणस्य कर्मणो मरणपर्यन्तस्य मन्त्रौषधादिना विनाशो दृश्यते, तद्वदस्याऽपि प्रायश्चित्तेनेत्यभिप्रायः, आगमगम्यत्वादुत्पत्तेर्विनाशस्य च । किञ्च तत्फलभोग एवाऽयम्, यदिदं तपः । अल्पकालपरिसमाप्तमित्येतावत् । यथा दीर्घकालोपभोग्यस्य व्याधेरल्पदुःखानुभवरूपेण भेषजादिना क्षयो भवत्येवमस्याऽऽप्यागमगम्यत्वादेव । तस्मात्कुर्यादेव प्रायश्चित्तम् । तत्र शुष्कतर्को न कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ६ ॥

अथ तदागमं दर्शयति—

[1]पुनस्तोमेन यजेत पुनस्सवनमायन्तीति विज्ञायते ॥ ७ ॥

अनु०—वेद मे कहा गया है कि पुनस्तोम करे। पुनस्तोम करने वाले पुनः सोम कि सवनो मे अंशग्राही होकर आते हैं ॥ ७ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति—

[2]सर्वं पाप्मानं तरति, तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजत इति ॥८॥
[3]अग्निष्टुता वाऽभिशस्यमानो यजेतेति च ॥ ९ ॥

अनु०—इस सम्बद्ध में निम्नलिखित भी उद्घृत करते हैं—

जो अश्वमेध यज्ञ करता है वह सभी पापो को पार कर जाता है, ब्रह्महत्या के पाप को भी पार कर जाता है ॥ ८ ॥

अनु०—जिसके ऊपर घोर पापकर्म का दोष लगाया गया हो वह अग्निष्टुत् यज्ञ करे ॥ ९ ॥

विषयव्याप्त्यर्थमनेकोदाहरणम्। पुनस्सवनं पुनर्यागः। नष्टाधिकारस्तस्समाधाने सत्येतदुपपाद्यते। सर्वग्रहणाद्विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवानिमित्तस्याऽपि। तरणं क्षपणम्। विज्ञायते प्रतीयते। उभयाभावेऽपि जन्मान्तरकृतपापप्रदर्शनार्थमभिशस्यमान इत्युक्तम् ॥ ७-९ ॥

अधुना पापनिबर्हणोपायानाह—

तस्य निष्क्रयणानि जपस्तपो होम उपवासो दानम् ॥ १० ॥

अनु०—वेद का जप, तपश्चरण, होम, उपवास और दान उस पाप कर्म के दोष को दूर करने के साधन हैं ॥ १० ॥

निष्क्रयणं शोधनं पाप्यस्य कर्मणः। यथा कंसादिगतस्य मलस्य भस्मादि। जपो मानसो वाचिकश्च। स च वक्ष्यमाणस्योपनिषदादेर्मन्त्रगणस्य। तपश्चाऽहिंसादि यद्वक्ष्यते (सू० १४)। होम आत्मीयद्रव्यस्य देवतोद्देशपूर्वकोऽग्नौ प्रक्षेपः। उपवास इन्द्रियसंयमः। दानमात्मीयस्य द्रव्यस्य पात्रेषु प्रतिपादनम् ॥ १० ॥

---

१. 'पुनस्तोमेनेष्ट्वा' इति क. पुस्तके गौतमीये धर्मसूत्रे च पाठः।

२. see तै० स० ३. १२. २।

३. अयमपि सोमयागविशेष एकदिनसाध्यः।

जप इत्युक्तम्, तत्राऽऽह—

उपनिषदो वेदादयो वेदान्ताः सर्वच्छन्दस्सु संहिता मधून्यघमर्षणमथर्वशिरो रुद्राः पुरुषसूक्तं राजनरौहिणे सामनी बृहद्रथन्तरे पुरुषगतिर्महानाम्न्यो महावैराजं महादिवाकीर्त्यं ज्येष्ठसाम्नामन्यतम बहिष्पवमानं कूश्माण्ड्यः पावमान्यः सावित्री चेति पावनानि ॥ ११ ॥

अनु०—उपनिषद्, वेदों के आदिम मन्त्र, वेदान्त, सभी वेदों की संहिताएँ, मधु नामक अनुवाक, अघमर्षण नामका सूक्त, अथर्वशिरस्, रुद्र नाम से ख्यात अनुवाक, पुरुषसूक्त, राजन और रौहिण नाम के साम, बृहत् और रथन्तर साम, पुरुषगति, महानाम्नी, महावैराज, महादिवाकीर्त्य साम, कोई भी ज्येष्ठ साम, बहिष्पवमान साम, कूष्माण्डी, पावमानी, सावित्री मन्त्र—ये सभी पवित्र करनेवाले होते हैं ॥११॥

टि०—सभी वेदों की संहिताओं का सहिता पाठ ही यहाँ समझना चाहिए। 'मधु वाता' आदि अनुवाक मधु अनुवाक कहलाता है। 'ऋतम्' आदि तीन ऋचाएँ अघमर्षण कहलाती है। 'नमस्ते रुद्र' इत्यादि प्रश्न रुद्र नाम के अनुवाक हैं। इस सूत्र के अन्त मे 'इति' शब्द के प्रयोग से शिवसङ्कल्पादि का भी ग्रहण अभीष्ट है।

उपनिषदो वेदसंहितारहस्यानि। वेदादयः ऋग्यजुषयोरनुवाकादिः। साम्नां सामवर्गादिः। वेदान्ता रहस्यमन्त्राश्च ब्राह्मणानि च। सर्वच्छन्दस्सु सर्वप्रवचनेषु संहिताः, न पदानि क्रमो वा। मधूनि 'मधु वाता' इति मधुशब्दयुक्तानि यजूंषि। अघमर्षणं "ऋतं" इति तृचम्। अथर्वशिरोऽथर्वणां प्रसिद्धम्। रुद्राः 'नमस्ते रुद्र' इति प्रश्नः। पुरुषसूक्तं प्रसिद्धम्। राजनरौहिणे सामनी 'इन्द्रं नरः' इत्यस्यामृचि गीते। बृहत् 'त्वामिद्धि' इत्यस्याम्। रथन्तरं 'अभि त्वा' इति। पुरुषगतिः 'अहमस्मि' इत्यस्याम्। महानाम्न्यो 'विदा मघवन्' इत्येता ऋचः। आसूत्पन्नानि वा सामानि। महावैराजं 'पिबा सोमम्' इत्यस्याम्। महादिवाकीर्त्यं 'विभ्राट् बृहत्पिबतु' इत्यस्याम्। ज्येष्ठसामानि 'शं नो देवीः' 'चित्रं देवानाम्' इत्यनयोः। बहिष्पवमानम् 'उपास्मै' इत्यासु। कूष्माण्ड्यः 'यद्देवाः' इत्यादिच्छिद्रकोऽनुवाकः। पावमान्यः 'स्वादिष्ठया' इत्यृचः। सावित्री तु प्रसिद्धा। चशब्दाच्छुद्धवत्यादि। इतिशब्देन प्रकारवाचिना खिलेषु पठितं शिवसङ्कल्पादि गृह्यते ॥ ११ ॥

[3]उपसन्न्यायेन पयोव्रतता शाकभक्षता फलभक्षता मूलभक्षता—

---

१. See. P. १६७। २. 'शा नो' इत्यस्याम् इति ल. पु पाठः।

३. सोमयागे उपसन्नामकेष्टिसन्निधौ दीक्षितस्य व्रतग्रहणमाम्नातम्। तत्र कल्प-

प्रसृतयावको हिरण्यप्राशनं घृतप्राशनं सोमपानमिति मेध्यानि ॥१२॥

अनु०—केवल दूध का आहार करना, शाक भक्षण करना, केवल फलों को ही खाना, केवल मूल का आहार करना, केवल एक मुट्ठी जौ का बना यावक खाकर रहना, सुवर्ण का प्राशन करना, घृत पान करना, सोमपान करना—ये पवित्र करने वाली वृत्तियाँ हैं और उसमें प्रत्येक अपने पहले की अपेक्षा अधिक पवित्र करने वाली है ॥ १२ ॥

उपसंहारन्यायः--आरामा, परोवरीयसी वा। प्रसृतयावको व्याख्यातः। इतिकरणेनैवंप्रकारं पञ्चगव्यादि परिगृह्यते ॥ १२ ॥

सर्वे शिलोच्चयाः सर्वाः स्रवन्त्यः सरितः पुण्याह्रदास्तीर्थान्यृषिनिकेतनानि गोष्ठक्षेत्रपरिष्कन्दा इति देशाः ॥ १३ ॥

अनु०—सभी पर्वत, सभी बहने वाली नदियाँ, पवित्र जलाशय, तीर्थ (स्नान के घाट), ऋषियों के आश्रम, गायों के रहने का घर, क्षेत्र और देवों के मन्दिर और गुफाएँ—ये सभी पाप को दूर करने वाले स्थान हैं ॥ १३ ॥

शिलोच्चयाः शिलानामुच्चयाः पर्वता इत्यर्थः। स्रवन्त्यो नद्यः। ह्रदा ह्रादतेश्शब्दकर्मणः ह्रादतेर्वा शीतभावकर्मणः। अच् पृषोदरादिः। श्रीपुष्करादयः। इतः प्रभृति पुण्यानुसन्धानात् पूर्वत्राऽपुण्या अपि पर्वतादयोऽभ्यनुज्ञायन्ते। ऋषिनिकेतनानि ऋषिनिवासाः ऋष्याश्रमाः। क्षेत्रं कुरुक्षेत्रम्। परिष्कन्दा देवालयाः गुह्यावासप्रदेशाः। इति शब्दादग्न्यगारादयः ॥ १३ ॥

अथैतानि तपांसि—

अहिंसा सत्यमस्तैन्यं सवनेषूदकोपस्पर्शनं गुरुशुश्रूषा ब्रह्मचर्यमधश्शयनमेकवस्त्रताऽनाशक इति तपांसि ॥ १४ ॥

अनु०—अहिंसा, सत्यभाषण, चोरी न करना, तीनों सवन काल में स्नान करना, गुरु की सेवा, ब्रह्मचर्य का पालन, भूमि पर शयन करना, केवल एक वस्त्र धारण करना और भोजन का त्याग करना—ये सभी तप हैं ॥ १४ ॥

तपांसि तपोहेतवः। सवनं पूर्वाह्णमध्यन्दिनापराह्णाः। इतिशब्दो देवद्विजपूजार्थः ॥ १४ ॥

इयम्—आरामा परोवरीयसीति। अल्पशः आरम्भः क्रमशो वृद्धिरित्यारामा। अर्थात् आरम्भदिनेऽल्पं पय आदिकं भक्षयेत्। प्रतिदिनं च क्रमशो वर्धयेदित्यारामा। तद्विपरीता परोवरीयसी तन्न्यायेनाऽत्रापि व्रतकल्पो विकल्पेन वेदितव्य इत्यर्थः ॥

उक्तं दानम्, तस्य साधनमाह—

हिरण्यं गौर्वासोऽश्वो भूमिस्तिला घृतमन्नमिति देयानि ॥ १५ ॥

अनु०—सुवर्ण, गाय, वस्त्र, अश्व, भूमि, तिल, घृत और अन्न—ये दान देने योग्य वस्तुएँ हैं ॥ १५ ॥

एतानि प्रसिद्धानि । इतिशब्दाद्रजतोपानच्छत्राण्यपि गृह्यन्ते ॥ १५ ॥

संवत्सरः षण्मासाश्चत्वारस्त्रयो द्वावेकश्चतुर्विंशत्यहो द्वादशाहः षडहस्त्र्यहोऽहोरात्रमेकाह इति कालाः ॥ १६ ॥

अनु०—एक वर्ष, छः मास, चार मास, तीन मास, दो मास, एक मास, चौबीस दिन, बारह दिन, छ. दिन, तीन दिन, एक रात्रि-दिन, और एक दिन—ये तप के काल हैं ॥ १६ ॥

एक च तदहः एकाहः केवलम् । इतिशब्दात् केवलाऽपि रात्रिः ॥ १६ ॥

आनन्त्यात् पापानां प्रतिपापं प्रायश्चित्तोपदेशोऽप्यशक्य इति मत्वाऽऽह—

एतान्यनादेशे क्रियेरन्नेनस्सु गुरुषु गुरूणि लघुषु लघूनि ॥१७॥

अनु०—यदि किसी विशेष तप का निर्देश न किया गया हो तो इन्हीं तपों को करना चाहिए । बड़े पाप होने पर बड़े तप और छोटे पाप वाले कर्मों के लिए छोटे तप करने चाहिए ॥ १७ ॥

विकल्पेनेति वाक्यशेषः । एतानि जपादीन्यनादेशे यानि प्रायश्चित्तान्यन्यतोऽनुपदिष्टानि । यथाऽऽह—

'अग्निं कार्ष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः' इति ।

तत्र विकल्पेन तानि कर्तव्यानि-क्वचिज्जपः, क्वचित्तपः, क्वचिद्दानं क्वचित्सर्वाणीति । गुरुत्वं चैनसोऽभिसन्ध्याद्यपेक्षया । आह चाऽऽपस्तम्बः—'यः प्रमत्तो हन्ति प्राप्तं दोषफलम्, सह सङ्कल्पेन भूयः, एवमन्येष्वपि दोषवत्सु कर्मसु' इत्यादि ॥ १७ ॥

[1]कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति सर्वप्रायश्चित्तिः सर्वप्रायश्चित्तिः॥१८॥

प्रायश्चित्तानि० ॥

उक्तो वर्णधर्मश्चाऽऽश्रमधर्मश्च ॥ १० ॥ अथाऽतोऽनश्नत्पारायण-

१. एतत्खण्डस्थानि सूत्राणि गौतमीयेनैकोनविंशाध्यायेनाऽक्षरशस्संवदन्ति । (See. गौ. ध. १९. अ.) किं तत्र कारणमिति न विद्मः ॥

विधिम् ॥९॥ अथाऽतश्चान्द्रायणस्य ॥८॥ अथ कूश्माण्डैर्जुयात् ॥७॥ अथ कर्मभिरात्मकृतैः ॥६॥ अथाऽतः पवित्रातिपवित्रस्य ॥ ५ ॥ अथ यदि ब्रह्मचार्यव्रत्यमिव चरेत् ॥ ४ ॥ अथ वानप्रस्थद्वैविध्यम् ॥ ३ ॥ यथो एतत्षण्निवर्तनीति ॥ २ ॥ अथ शालीनयायावरचक्रचरधर्मकाङ्क्षिणाम् ॥ १ ॥

इति तृतीयप्रश्ने दशमः खण्डः ॥

अनु०—कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र और चान्द्रायण सभी पापों के लिए प्रायश्चित्त होते हैं ॥ १८ ॥

अनादेश इत्यनुवर्तत इति केचित् । इतिकरणात्पराकोऽपि । पापगुरुलघुत्वापेक्षया एतेषां व्यस्तसमस्तकल्पना ॥ १८ ॥

इति श्रीगोविन्दस्वामिकृते बौधायनधर्मविवरणे
तृतीयप्रश्ने दशमोऽध्यायः तृतीयप्रश्नस्समाप्तः ॥

अथ चतुर्थप्रश्ने

प्रथमोऽध्यायः

पुनरपि प्रायश्चित्तविषयैव कथा प्रस्तूयते—

प्रायश्चित्तानि वक्ष्यामो नानार्थानि पृथक्पृथक् ।
तेषु तेषु च दोषेषु गरीयांसि लघूनि च ॥ १ ॥

अनु०—अब हम भिन्न-भिन्न दोषों के अनुसार बड़े और छोटे प्रायश्चित्तों का अलग-अलग विवेचन करेंगे ॥ १ ॥

नानार्थानि नानाप्रयोजनानि पृथक्पृथगनुष्ठातः यानि न पुनर्देशकालादितन्त्रतया तन्त्रेणेति । न केवलं प्रयोजननानात्वेन पृथगनुष्ठानम् । किं तर्हि गरीयस्सु गरीयांसि, न हि त्रिरात्रोपवासेनेव एकरात्रोपवासेन नश्यति । सोऽपि त्रिरात्रोपवासेनैव नाशयितव्य इत्यभिप्रायः ॥ १ ॥

यद्यत्र हि भवेद्युक्तं तद्धि तत्रैव निर्दिशेत् ।
भूयो भूयो गरीयस्सु लघुष्वल्पीयसस्तथा ॥ २ ॥

अनु०—जिस दोष के लिए जो प्रायश्चित्त उचित हो उस दोष के लिए उसी

प्रायश्चित्त का निर्देश करना चाहिए। बड़े अपराधों के लिए अधिकाधिक प्रायश्चित्त करना चाहिए और छोटे अपराध के लिए हल्के प्रायश्चित्त करने चाहिए ॥ २ ॥

यद्यत्रेति देशकालवयश्शक्त्यादीनपेक्ष्य कश्चिन्नानार्थानां गुरुलघूनामपि तन्त्रता भवतीत्येतदनेन कथ्यते ॥ २ ॥

अघनीत्युक्तं तत्राऽऽह—

विधिना शास्त्रदृष्टेन प्राणायामान् समाचरेत् ॥ ३ ॥

अनु०—शास्त्र में बतायी गयी विधि के अनुसार ही प्राणायाम करने चाहिए ॥३॥

श्रुतिस्मृतिशिष्टागमादि शास्त्रं तत्र दृष्टो विधिः, स च प्राणायामेषु प्रतीक्षितव्य इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अधुना प्रायश्चित्तविषयानाह—

यदुपस्थकृतं पापं पद्भ्यां वा यत्कृतं भवेत् ।
बाहुभ्यां मनसा वाचा श्रोत्रत्वग्घ्राणचक्षुषा ॥ ४ ॥

अनु०—जो पाप जननेन्द्रिय से किये गये हों या जो दुष्कर्म पैरों से किया गया हो, बाँहो से, मन से, वाणी, कानो, त्वचा, नासिका या नेत्रों से किये गये हों (उनके लिए शास्त्र की विधि से प्राणायाम करना चाहिए) ॥ ४ ॥

एतेषु समसंख्याकानेव प्राणायामान् चरेदि[1]त्यध्याहारः ॥ ४ ॥

ननु चक्षुश्श्रोत्रमनोभिरित्यसंयुक्तैरेव पापं कर्तुं शक्यते । त्वक्पादबाहूपस्थघ्राणैस्त्वन्यसंयुक्तैरेव । वाचा पापमितरस्यस्मिन् श्रुतवत्येव । अतो विषमसमीकरणमन्याय्यमिति मत्वाऽऽह—

अथ वाचा चक्षुश्श्रोत्रत्वग्घ्राणमनोव्यतिक्रमेषु त्रिभिः प्राणायामैश्शुद्ध्यति ॥ ५ ॥

अनु०—अथवा नेत्रों, कानों, त्वचा, नासिका और मन से जो पाप कर्म किये गये हो उनसे तीन प्राणायाम करने पर ही शुद्धि हो जाती है ॥ ५ ॥

एतेषु त्रिभिरितिवचनादुपस्थादिष्वाधिक्यं गम्यते । प्राणायामप्रवृत्तेनाऽपि पयोव्रततादयो नियमा अनुसरणीयाः ॥ ५ ॥

अथेमान्यपराणि प्राणायामनिमित्तानि—

शूद्रान्नस्त्रीगमनभोजनेषु केवलेषु पृथक्पृथक् सप्ताहं सप्त सप्त प्राणायामान् धारयेत् ॥ ६ ॥

---

1. इत्यभिप्रायः इति, ग. पु. ।

अनु०—शूद्रा का अन्न खाने, शूद्रा स्त्री से मैथुन करने का अपराध अलग-अलग करने पर सात दिनों तक प्रतिदिन सात-सात प्राणायाम करे ॥ ६ ॥

शूद्रान्नभोजने शूद्रस्त्रीगमने इति पदयोजना। शूद्रान्नशब्दश्शूद्राहृतस्य शूद्रस्पृष्टस्यान्नस्य चोपलक्षणार्थः। एवं च सति शूद्रस्त्रीगम(भोज)नेन सह बहुवचनोपपत्तिः केवलग्रहणात् प्रत्येकं प्रायश्चित्तम्। पृथग्ग्रहणादेकस्मिन्नपि प्रतिकर्माभ्यासः। ननु-'शूद्रान्नस्त्रीगमनभोजनेष्ववलिङ्गाभिर्वारुणीभिरप उपस्पृशेत्' इत्युक्तम्। नैप दोषः, आतिदेशिकविपयत्वात्तस्य। किं तदातिदेशिकं शूद्रत्वम्? इदं तत्—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ इति॥

'अश्रोत्रिया अननुवाक्या अनग्नयश्शूद्रसधर्माणो भवन्ति' इति च। तस्माददोषः॥ ६॥

अभक्ष्याभोज्यापेयानाद्यप्राशनेषु तथाऽपण्यविक्रयेषु मधुमांसघृततैलक्षारलवणावरान्नवर्जेषु यच्चान्यदप्येवं युक्तं द्वादशाहं द्वादश द्वादश प्राणायामान् धारयेत्॥ ७॥

अनु०—अभक्ष्य अन्न का भोजन करने, निषिद्ध और अपेय पदार्थ का पान करने, मधु, मांस, घृत, तेल, मसाला, नमक, निम्नकोटि के अन्न को छोड़कर अन्य जिन वस्तुओं का विक्रय निषिद्ध है उनके बेचने तथा इसी प्रकार के अन्य अपराधों के लिए बारह दिन तक प्रतिदिन बारह-बारह प्राणायाम करे॥ ७॥

अत्राऽनाद्यशब्दो प्रात्यीये अनग्नीये वा द्रष्टव्यः। यथाश्रुतार्थग्रहणे सत्यभक्ष्यशब्देन पुनरुक्तिप्रसङ्गात्। अपण्यान्यश्वादीनि मधुमांसादिवर्जितानि। घृतग्रहणं क्षीरादेरपि पर्युदासप्राप्त्यर्थम्। एतेषु हि दोषगरिमा विद्यते।

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च।
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात्॥

इति वसिष्ठवचनात्। यच्चाऽन्यदित्यप्रतिमाह्यप्रतिग्रहादेरुपलक्षणार्थम्। एवंयुक्तं एवंविधमित्यर्थः॥ ७॥

पातकपतनीयोपपातकवर्जेषु यच्चाऽन्यदप्येवंयुक्तमर्धमासं द्वादश द्वादश प्राणायामान् धारयेत्॥ ८॥

पातकपतनीयवर्जेषु यच्चाऽन्यदप्येवंयुक्तं द्वादश द्वादशाहान् द्वादश द्वादश प्राणायामान् धारयेत्॥ ९॥

अनु०—पातक, वर्ण का लोप करने वाले पतनीय और उपपातकों को छोड़कर अन्य अपराधों के लिए आधे मास तक प्रतिदिन बारह बारह प्राणायाम करे। पातक और पतनीय अपराधों को छोड़कर जो अन्य पाप कर्म हों उनके लिए बारह दिन की बारह अवधि तक अर्थात् एक सौ चौवालिस दिन प्रति दिन बारह-बारह प्राणायाम करे ॥ ८-९ ॥

पातकं ब्रह्महत्यादि पतनीयं तत्समानमुपपातकं गोवधादि तद्वर्जितेषु जातिभ्रंशकरादिषु एतत्प्रायश्चितम् ॥ ८,९ ॥

पातकवर्जेषु यच्चाऽन्यदप्येवं युक्तं द्वादशाऽर्धमासान् द्वादश द्वादश प्राणायामान् धारयेत् ॥ १० ॥

अनु०—पातक अपराधों को छोड़कर अन्य अपराधो के लिए अर्धमास की बारह अवधि तक (अर्थात् छः मास) प्रति दिन बारह-बारह प्राणायाम करे ॥१०॥

यच्चाऽन्यदपीत्यनृतुगमनाभ्यासो गृह्यते । तच्च महापातकातिदेशिकं कर्म । द्वादशाऽर्धमासाः षण्मासाः । सर्वत्र गुरुलघुनोस्सहोपादाने गुरुलघुनोरभ्यासाऽपेक्षयैव मतिपूर्वाद्यपेक्षया वा निमित्तं द्रष्टव्यम् । अन्यथा विषमसमीकरणप्रसङ्गात् ॥ १० ॥

अथ पातकेषु संवत्सरं द्वादश द्वादश प्राणायामान् धारयेत् ॥ ११ ॥

अनु०—पातक अपराधों के लिए एक वर्ष तक प्रति दिन बारह-बारह प्राणायाम धारण करे ॥ ११ ॥

योगनिष्ठस्याऽमात्यान्तनिर्गुणब्राह्मणवधादावेव महापातकानि प्रसक्तानि । तेष्वेव भ्रूणहत्याऽप्यन्तर्भवति ॥ ११ ॥

ऋतुमत्याः कन्याया अप्रदाने भ्रूणहत्यातुल्यदोषो भवतीत्येतद्वक्तुकामः कन्यादानप्रकरणमारभते—

दद्याद्गुणवते कन्यां नग्निकां ब्रह्मचारिणे ।
अपि वा गुणहीनाय नोपरुन्ध्याद्रजस्वलाम् ॥ १२ ॥

अनु०—कन्या जब नंगी ही घूमती हो (अर्थात् लज्जा भाव से शून्य अत्यन्त अल्प अवस्था में हो) तभी गुणवान् ब्रह्मचारी को विवाह में देनी चाहिए अथवा गुणहीन व्यक्ति को भी विवाह में दे देना उचित है किन्तु उसके रजस्वला होने पर अपने घर में रखना उचित नहीं ॥ १२ ॥

गुणवते विद्याचारित्रबन्धुशीलसम्पन्नाय नग्निका वस्त्रपरिधानाभावेऽपि

लज्जाशून्या, गुणहीनाय सर्वगुणाभावेऽपि कतिपयगुणसंपन्नाय, नोपरुन्ध्या-दिति रजोदर्शनात्प्रागेव दद्यादित्यर्थः ॥ १२ ॥

तदतिक्रमे दोषमाह—

त्रीणि वर्षाण्यृतुमतीं यः कन्यां न प्रयच्छति ।
स तुल्यं भ्रूणहत्यायै दोषमृच्छत्यसंशयम् ॥ १३ ॥

अनु०—जो पिता ऋतुमती कन्या का तीन वर्ष के भीतर विवाह नहीं कर देता, वह निश्चय ही भ्रूणहत्या के समान पाप का भागी होता है ॥ १३ ॥

यतश्चैतदेवं तत ऋतुमत्यायाः प्रागेव दद्यादित्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

किं सर्वत्रैतावदेव ? नेत्याह—

न याचते चेदेवं स्याद्याचते चेत्पृथक् पृथक् ।
एकैकस्मिन्नृतौ दोषं पातकं मनुरब्रवीत् ॥ १४ ॥

अनु०—इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति उसे विवाह के लिए नहीं माँगता अथवा विवाह के लिए माँगता है, तब भी पिता को वही दोष होता है क्योंकि मनु ने कहा है कि अविवाहिता कन्या का प्रत्येक ऋतुकाल पिता के लिए पातक उत्पन्न करता है।१४।

न याचते न प्रार्थयते चेत् कश्चिदपि ॥ १४ ॥

तत्र प्रसङ्गादिदमन्यदुच्यते—

[1]त्रीणि वर्षाण्यृतुमती कांक्षेत पितृशासनम् ।
ततश्चतुर्थे वर्षे तु विन्देत सदृशं पतिम् ॥ १५ ॥

अनु०—ऋतुमती कन्या तीन वर्षतक पिता की आज्ञा की प्रतीक्षा करे। उसके बाद चौथे वर्ष में अपने योग्य गुणवान् पति का स्वयं वरण करे ॥ १५ ॥

सादृश्यं जातिगुणादिभिः ॥ १५ ॥

अत एवाऽऽह—

अविद्यमाने सदृशे गुणहीनमपि श्रयेत् ॥ १६ ॥

अनु०—यदि जाति और गुण में समान पुरुष न मिले तो गुणहीन पुरुष को भी पति के रूप में वरण करे ॥ १६ ॥

गुणा अभिजनादयो न जातिः ॥ १६ ॥

---

१. cf म. स्मृ. ९. ९०.

एवं स्वयंवरं परिसमाप्याऽधुना कन्यादानविषय एवाऽऽशङ्कानिवृत्त्यर्थमन्यदुच्यते—

बलाच्चेत्प्रहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता ।
अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा ॥ १७ ॥

अनु०—यदि कोई कन्या बलपूर्वक भगायी गयी हो और उसका मन्त्रों के साथ विधिवत् विवाह न किया गया हो तो, उसका विवाह विधिपूर्वक दूसरे पुरुष के साथ किया जा सकता है। वह कुमारी कन्या के समान ही होती है ॥ १७ ॥

प्रहरणं मैथुनार्थमाकर्षणम् । न तु क्षतयोनित्वापादनम् , तथा च सति संस्कार एव नाऽस्ति ॥ १७ ॥

निसृष्टायां हुते वाऽपि यस्यै भर्ता म्रियेत सः ।
सा चेदक्षतयोनिस्स्याद्गतप्रत्यागता सती ॥
पौनर्भवेन विधिना पुनस्संस्कारमर्हति ॥ १८ ॥

अनु०—यदि कन्या का सकल्पपूर्वक विवाह में दान कर दिया गया हो और वैवाहिक होम कर्म संपन्न हो गया हो और उसके बाद पति की मृत्यु हो जाय और उस कन्या का पति के साथ मैथुन सम्बन्ध न हुआ हो तो पति के घर जाकर भी वहाँ से पुनः पिता के घर आने पर उसका पुनर्भू (दूसरी बार विवाह करने वाली स्त्री) के विवाह की विधि से विवाह हो ॥ १८ ॥

निसृष्टा उदकपूर्वं प्रत्ता । हुते वाऽपि होमेऽपि निर्वृत्ते भर्ता वोढा यदि म्रियते, सा चेत् भार्या अक्षतयोनिः अस्पृष्टमैथुना स्यात् गतप्रत्यागता ॥१८॥

भर्तृविषय एव किञ्चिदुच्यते—

त्रीणि वर्षाण्यृतुमतीं यो भार्यां नाऽधिगच्छति ।
स तुल्यं भ्रूणहत्यायै दोषमृच्छत्यसंशयम् ॥ १९ ॥

अनु०—जो व्यक्ति ऋतुमती पत्नी से तीन वर्ष तक मैथुन नहीं करता वह भ्रूणहत्या के पाप का भागी होता है, इसमे कोई सन्देह नहीं ॥ १९ ॥

यथा गर्भप्रध्वंसने भ्रूणहत्या भवति तथा तत्प्रागभावेऽपि, अविशेषादित्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति ।
पितरस्तस्य तन्मासं तस्मिन् रजसि शेरते ॥ २० ॥

अनु०—जो पुरुष ऋतुस्नान करने वाली पत्नी के निकट रहते हुए भी उससे मैथुन रत नहीं होता उसके पूर्वज उस मास में उसकी पत्नी के रजस्राव में ही पड़े रहते हैं ॥ २० ॥

ऋतुगमनातिक्रमनिन्दैषा ॥ २० ॥

ऋतौ नोपैति यो भार्यामनृतौ यश्च गच्छति ।
तुल्यमाहुस्तयोर्दोषमयोनौ यश्च सिञ्चति ॥ २१ ॥

अनु०—जो पुरुष ऋतुकाल में पत्नी से मैथुन नहीं करता, जो ऋतुकाल से भिन्न समय में पत्नी से मैथुन करता है, और जो पत्नी की योनि से भिन्न स्थान में अप्राकृतिक मैथुन द्वारा वीर्यपात करता है, इन सभी के दोष समान रूप से घोर होते हैं ॥ २१ ॥

त्रयाणामपि भ्रूणहत्यादोषस्तुल्यः सत्पुत्रोत्पत्तिनिरोधात् ॥ २१ ॥

भर्तुः प्रतिनिवेशेन या भार्या स्कन्दयेदृतुम् ।
तां ग्राममध्ये विख्याप्य भ्रूणघ्नीं निर्धमेद्गृहात् ॥ २२ ॥

अनु०—जो पत्नी पति की इच्छा होने पर भी मैथुन से विरत रहती है और (ओषधि आदि द्वारा) रजोहानि कर सन्तानोत्पत्ति में बाधा पहुँचाती है, उसे गाँव के लोगों के समक्ष भ्रूणघ्नी घोषित कर घर से निकाल दे ॥ २२ ॥

प्रतिनिवेशः प्रतिकूलता अनिच्छा वा । स्कन्दयेत् गमयेत शोषयेद्वा भर्तृद्वेषाद्रज औषधादिभिश्शोषयन्तीमित्यर्थः । ग्राममध्ये जनसन्निधौ निर्धमेत् प्रस्थापयेत् त्यजेत् । ऋत्वतिक्रमे भर्तुर्यथा भ्रूणहत्या तथाऽस्या अपीति निन्दैषा ॥ २२ ॥

ऋतुगमनातिक्रमे प्रायश्चित्तमाह—

[1]ऋतुस्नातां न चेद्गच्छेन्नियतां धर्मचारिणीम् ।
नियमातिक्रमे तस्य प्राणायामशतं स्मृतम् ॥ २३ ॥

अनु०—जो पति मासिक धर्म के बाद स्नान करने वाली और धर्म पूर्ण आचरण करने वाली पत्नी से मैथुन के नियम का उल्लंघन करता है, उसके लिए प्रायश्चित्त के लिए सौ प्राणायाम करने का विधान है ॥ २३ ॥

नियमातिक्रमः ऋतुगमनातिक्रमः । ऋत्वतिक्रमो वा । ऋत्वन्यत् ॥२३॥

---

१. एतत्प्रकरणस्थानि १७–१८, २०, २३ सूत्राणि मानवधर्मशास्त्रे संघटन्ते ।

प्राणायामान् पवित्राणि व्याहृतीः प्रणवं तथा ।
पवित्रपाणिरासीनो ब्रह्म नैत्यकमभ्यसेत् ॥ २४ ॥

अनु०—प्राणायाम, पुरुष सूक्त आदि पवित्र करने वाले मन्त्र और सूक्त, व्याहृतियाँ और प्रणव तथा वेद के अंश का प्रतिदिन हाथ में कुश लेकर और बैठकर जप करे ॥ २४ ॥

पवित्राणि पुरुषसूक्तादीनि । शरीरस्याऽहर्निशं पापसंचयोऽवश्यं भवतीति मत्वा नैत्यकं ब्रह्माऽभ्यसेदित्युक्तम् ॥ २४ ॥

किञ्च—

आवर्तयेत्सदा युक्तः प्राणायामान् पुनः पुनः ।
आकेशान्तान्नखाग्राच्च तपस्तप्यत उत्तमम् ॥
निरोधाज्जायते वायुर्वायोरग्निश्च जायते ।
तापेनाऽऽपोऽधिजायन्ते ततोऽन्तश्शुद्ध्यते त्रिभिः ॥

अनु०—योगाभ्यास में लगकर सदैव बार-बार प्राणायाम की आवृत्ति करे । इससे वह केशों के अन्त तक और नखों के अग्र भाग तक उत्तम तप के आचरण से युक्त हो जाता है । प्राणवायु के निरोध से वायु उत्पन्न होता है और वायु से अग्नि उत्पन्न होता है अग्नि से जल उत्पन्न होता है, तब इन तीनो से सूक्ष्म शरीर या अन्तरात्मा शुद्ध हो जाता है ॥ २५ ॥

कोष्ठे वायुर्जायते । वायोरग्निः । अग्नेरापः तैस्त्रिभिरन्तस्सूक्ष्मशरीरं शुद्ध्यति ॥ २५ ॥

आवर्तयेत् सदा युक्त इत्युक्तम् , तत्प्रसङ्गादिदमाह—

योगेनाऽऽप्यते ज्ञानं योगो धर्मस्य लक्षणम् ।
योगमूला गुणास्सर्वे तस्माद्युक्तस्सदा भवेत् ॥ २६ ॥

अनु०—योग से तत्वज्ञान की प्राप्ति होती है । योग ही धर्म का सार है । सभी गुण योग से ही उत्पन्न होते हैं । अतएव सदैव योग का अभ्यास करना चाहिए ॥ २६ ॥

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, तथोक्तम्—

प्राणायामास्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा ।
तर्कश्चैव समाधिश्च [illegible] ॥ [illegible] ॥

स एव धर्मस्य लक्षणं हेतुः धर्मोऽपूर्वम्। योगमूलाः योगकारणकाः गुणरूपादयः ॥ २६ ॥

अथ प्राणायामावयवभूतानां प्रणवव्याहृतीनां प्रशंसा—

प्रणवाद्यास्तथा वेदाः प्रणवे पर्यवस्थिताः।
प्रणवो व्याहृतयश्चैव नित्यं ब्रह्म सनातनम् ॥

प्रणवे नित्ययुक्तस्य व्याहृतीषु च सप्तसु।
त्रिपदायां च गायत्र्यां न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २७ ॥

अनु०—वेद प्रणव से ही आरम्भ होते हैं। उनका अन्त भी प्रणव अर्थात् 'ओम्' से होता है। प्रणव और व्याहृतियाँ नित्य और सनातन ब्रह्म हैं। जो व्यक्ति नित्य ही ओंकार, सात व्याहृतियों तथा त्रिपदा गायत्री के उच्चारण में लगा हुआ है, उसके लिए कोई भी भय नहीं रह जाता ॥ २७ ॥

पर्यवस्थिताः परिसमाप्ताः व्याहृतयस्सप्त ॥ २७ ॥

एवमवयशः प्राणायामांस्तुत्वा तस्य सङ्क्षेपतो लक्षणं करोति—

सव्याहृतिकां सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामस्स उच्यते ॥ २८ ॥

अनु०—यदि प्राणवायु को रोककर व्याहृतियों, ओंकार तथा शिरस् के साथ गायत्री मन्त्र का तीन बार जप करे तो एक प्राणायाम होता है ॥ २८ ॥

अनिर्दिष्टविषये प्राणायामोऽपि प्रायश्चित्तमुच्यत इत्याह—

सव्याहृतिकास्सप्रणवाः प्राणायामास्तु षोडश।
अपि भ्रूणहनं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ २९ ॥

अनु०—प्रतिदिन व्याहृतियों और ओंकार के साथ सोलह बार प्राणायाम करने पर एक मास में विद्वान् ब्राह्मण की हत्या का पाप करने वाला भी पवित्र हो जाता है ॥ २९ ॥

अपिशब्दात्किं पुनरन्यानिति गम्यते।

एतदाद्यं तपश्श्रेष्ठमेतद्धर्मस्य लक्षणम्। सर्वदोषोपघातार्थमेतदेव विशिष्यते एतदेव विशिष्यत इति ॥ ३० ॥

इति चतुर्थे प्रथमः खण्डः ॥

अनु०—यही सबसे उत्तम तप है, यही धर्म का श्रेष्ठ लक्षण है। सभी पापों को नष्ट करने के लिए यह प्राणायाम ही सबसे विशिष्ट रूप से पवित्र करने वाला है ॥ ३० ॥

दोषाः पापानि ॥ २८–३० ॥

इति गोविन्दस्वामिकृते बौधायनीयधर्मविवरणे
चतुर्थप्रश्ने प्रथमोऽध्यायः ॥

चतुर्थप्रश्ने द्वितीयोऽध्यायः

द्वितीयः खण्डः

प्रायश्चित्तानि वक्ष्यामो नानार्थानि पृथक्पृथक् ।
तेषु तेषु च दोषेषु गरीयांसि लघूनि च ॥ १ ॥

अनु०—हम विभिन्न दोषों के प्रायश्चित्तों का, दोषों के अनुसार बड़े और हल्के प्रायश्चित्तों का पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे ॥ १ ॥

यद्यत्र हि भवेद्युक्तं तद्धि तत्रैव निर्दिशेत् ।
भूयो भूयो गरीयस्सु लघुष्वल्पीयसस्तथा ॥ २ ॥

अनु०—दोष के अनुसार जो प्रायश्चित उचित हो उसी का निर्देश करना चाहिए। बड़े दोष के लिए बड़े प्रायश्चित और लघु दोषों के लिए लघु-प्रायश्चित्त करने चाहिए ॥ २ ॥

विधिना शास्त्रदृष्टेन प्रायश्चित्तानि निर्दिशेत् ।
प्रतिग्रहीष्यमाणस्तु प्रतिगृह्य तथैव च ॥ ३ ॥

अनु०—शास्त्र मे बतायी गयी विधि के अनुसार प्रायश्चित्त करे ॥ ३ ॥

ऋचस्तरत्समन्द्यस्तु चतस्रः परिवर्तयेत् ॥ ४ ॥

अनु०—जिसको दान लेना हो या जिसने दान लिया हो वह तरत्समन्द्य नाम की ऋक्मन्त्रों का बार-बार जप करे ॥ ४ ॥

[1]अभोज्यानां तु सर्वेषामभोज्यान्नस्य भोजने ।

१. अभोज्यानां तु सर्वेषां नान्यत् पावनं स्मृतम् ॥ इत्येवं पूर्वपाठो व्याख्यान० पुस्तकेषु, व्याख्याऽप्येतत्पाठानुकूलैः ॥

ऋग्भिस्तरत्समन्दीयैर्मार्जनं पापशोधनम् ॥ ५ ॥

अनु०—किन्तु जिन वस्तुओं का भोजन निषिद्ध है, उनका भोजन करने पर और जिन व्यक्तियों के अन्न का भोजन निषिद्ध है उनके अन्न का भोजन करने पर तरत्समन्दीय ऋचाओं के उच्चारण के साथ जल से मार्जन करने पर पाप से शुद्धि हो जाता है ॥ ५ ॥

प्रायश्चित्तेषु भूयो विधिना व्याख्यातमेतत् । पुनर्वचनप्रयोजनम् - पूर्वाध्यायनिर्दिष्टेषु प्रायश्चित्तेष्विह वक्ष्यमाणेषु यानि समानि तान्यविरोधीनि समुच्चीयन्ते, विरोधीनि तु विकल्पयन्ते । प्रतिग्रहीष्यमाणस्त्विति अप्रतिग्राह्यमिति शेषः । परिवर्तनमावर्तनम् । ऋचः तरत्समन्द्योऽप्सि'ति केचित्पठन्ति । तरत्समन्दीत्यादिभिरेव मार्जनं उदकाञ्जलिना शिरस्यभिषेकः ॥१-५॥

भ्रूणहत्याविधिस्त्वन्यः तं तु वक्ष्याम्यतः परम् ।
विधिना येन मुच्यन्ते पातकेभ्योऽपि सर्वशः ॥ ६ ॥

अनु०—अब हम यहाँ से विद्वान् ब्राह्मण की हत्या के प्रायश्चित्त की विधि बताएँगे जिस विधि से मनुष्य सभी प्रकार के पातकों से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं ॥६॥

अयमन्यो भ्रूणहत्याविधिरित्यर्थः । तमावेदयति–विधिना येनेति ॥ ६ ॥

प्राणायामान् पवित्राणि व्याहृतीः प्रणवं तथा ।
जपेदघमर्षणं युक्तः पयसा द्वादश क्षपाः ॥ ७ ॥

अनु०—प्राणायाम, पवित्र करने वाले वैदिक मन्त्रादि, व्याहृतियों, ओंकार तथा अघमर्षण मन्त्रों का बारह रात्रियों तक योगाभ्यास करते हुए, तथा केवल दुग्धाहार करते हुए जप करे ॥ ७ ॥

जपेदिति प्राणायामादिषु प्रत्येकं संबध्यते । अत एव न तेषां समुच्चयः । युक्तो ब्रह्मचर्यादिभिः, योगयुक्तो वा । पयसा वर्तमानः द्वादशरात्रीर्नैरन्तर्येण जपेत् ॥ ७ ॥

त्रिरात्रं वायुभक्षो वा क्लिन्नवासाऽऽप्लुतश्शुचिः ॥ ८ ॥

अनु०—अथवा तीन रात्रियों तक गीले वस्त्रों को पहने हुए कोई आहार न कर केवल वायु पीकर रहते हुए (जप करने पर) शुद्धि हो जाती है ॥ ८ ॥

क्लिन्नवासाः आर्द्रवासाः ॥ एवंभूतो वा पूर्वोक्तानामन्यतमं जपेत् । शक्त्यपेक्षश्चाऽसौ विकल्पः ॥ ८ ॥

यानि विद्यात्करिष्याऽऽत्मानमध्ययाऽपि पुनः पुनः ।

वारुणीभिरुपस्थाय सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ९ ॥ इति ।

अनु०—किन्तु यदि उसने निषिद्ध कर्मों का बार-बार आचरण किया है तो वारुणी मन्त्रों से पूजा करके सभी पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ९ ॥

अभ्यस्य निश्चित्य । अपिशब्दात् कृत्वा च । प्रतिषिद्धाचाराः भस्मकेशादि-ष्ववस्थानादायः । उपस्पर्शनमुदकाञ्जलिना शिरस्यभिषेकः ॥ ९ ॥

अथाऽवकीर्ण्यमावास्यायां निश्यग्निमुपसमाधाय दार्विहोमिकीं परिचेष्टां कृत्वा द्वे आज्याहुती जुहोति "कामावकीर्णोऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि काम कमाय स्वाहा । कामाभिद्रुग्धोऽस्म्यभिद्रुग्धोऽस्मि काम कामाय स्वाहे"ति ॥ १० ॥ हुत्वा प्रयताञ्जलिः कवातिर्यङ्ङग्निमुपतिष्ठेत—"सं मा सिञ्चन्तु मरुतस्समिन्द्रस्सं बृहस्पतिः । सं माऽयमग्निस्सिञ्चत्वायुषा च बलेन चाऽऽयुष्मन्तं करोतु मे"ति । प्रति हाऽस्मै मरुतः प्राणान् दधाति प्रतीन्द्रो बलं प्रति बृहस्पतिर्ब्रह्मवर्चसं प्रत्यग्निरितरत्सर्वं सर्वतनुर्भूत्वा सर्वमायुरेति । त्रिरभिमन्त्रयेत । त्रिषत्या हि देवा इति विज्ञायते ॥ ११ ॥

अनु०—ब्रह्मचर्य व्रत को भंग करने वाला ब्रह्मचारी अमावस्या की रात्रि को अग्नि का उपसमाधान करे और दार्विहोम की आरम्भिक क्रियाएँ कर निम्नलिखित मन्त्रों से घृत की दो आहुतियों से हवन करे "कामावकीर्णोऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि काम कामाय स्वाहा । कामाभिद्रुग्धोऽस्म्यभिद्रुग्धोऽस्मि काम कामाय स्वाहा ।" (काम, मैंने व्रत का भंग किया है, मैं अवकीर्णी हूँ, काम के लिए स्वाहा । काम, मैं ने दुष्कर्म किया है, मैं दुष्कर्मी हूँ काम को स्वाहा) ॥ १० ॥

अनु०—हवन करने के बाद अञ्जलि बाँधकर कुछ तिरछे बैठकर निम्नलिखित मन्त्र से अग्नि की आराधना करे—'सं मा सिञ्चन्तु मरुतस्समिन्द्रस्सं बृहस्पतिः । सं माऽयमग्निस्सिञ्चत्वायुषा च बलेन चाऽऽयुष्मन्तं करोतु मे' (मरुत, इन्द्र, बृहस्पति और यह अग्नि मुझे आयु और बल से युक्त करें मुझे आयुष्मान् बनावें) । उसमें मरुत् प्राणों का आधान करते हैं, इन्द्र उसे बल देता है, बृहस्पति ब्रह्म का तेज देता है, अग्नि अन्य सभी कुछ प्रदान करता है । इस प्रकार उसका शरीर सम्पूर्ण बन जाता है और वह पूर्ण जीवन प्राप्त करता है । तीन आवृत्ति कर देवों की प्रार्थना करे, क्योंकि देवता तीन बार कहने पर सत्य के रूप में ग्रहण करते हैं, ऐसा वेद में कहा गया है ॥ ११ ॥

दार्विहोमिकीमित्यत्राऽऽज्यसंस्कारमात्रं न पुनस्स्थालीपाकप्रयोगोऽपि। प्रयताञ्जलिः सम्पुटिताञ्जलिः कवातिर्यङ्ङनाऽत्यन्ताभिमुखो नाऽपि पृष्ठतः कुर्वन्। उक्तमेतत् 'कवातिर्यङ्ङिवोपातिष्ठेत् नैनं प्रत्यङ् न पराङ्' इति। अभिमन्त्रणमभिवीक्ष्याऽभिवदनं, त्रिषत्या हि देवा इति विज्ञायते॥ १०,११॥

योऽपूत इव मन्येत आत्मानमुपपातकैः।
स हुत्वैतेन विधिना सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते॥ १२॥

अनु०—जो स्वयं को उपपातकों से दूषित जैसा अनुभव करता हो वह इसी विधि से हवन करने पर सभी पापों से मुक्त हो जाता है॥ १२॥

उपपातकप्रायश्चित्ते कृतेऽपि मनसो यद्यलाघवं भवति तदाऽनेन प्रायश्चित्तेनाऽधिक्रियते एतेनैव विधिना सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते। विधिनेत्यभिमन्त्रणान्तरमाह। वरोऽपि दक्षिणेति॥ १२॥

अपि वाऽनाद्यापेयप्रतिषिद्धभोजनेषु दोषवच्च कर्म कृत्वाऽपि सन्धिपूर्वमनभिसन्धिपूर्वं वा शूद्रायां च रेतस्सिक्त्वाऽयोनौ वाऽब्लिङ्गाभिर्वारुणीभिश्चोपस्पृश्य प्रयतो भवति॥ १३॥

अनु०—यदि न खाने योग्य भोजन खा लिया हो, या न पीने योग्य वस्तु पी ली हो, कोई दोषयुक्त कर्म जान बूझकर या अनजान मे किया हो, शूद्रा स्त्री से मैथुनरत हुआ हो अथवा अप्राकृतिक मैथुन से वीर्यपात किया हो तो स्नान कर अब्लिङ्ग और वरुण के मन्त्रों का पाठ करने पर शुद्ध हो जाता है॥ १३॥

अनाद्यं केशकीटादिभिरुपहतम्। अपेयं मद्यम्, मद्यभाण्डस्थितोदकादि। प्रतिषिद्धभोजनं चिकित्सकादिभोजनम्, दोषवत्कर्म अभिचारादि। शूद्रायां योढा द्विजातिभिः। चशब्दात्सवर्णायामपि चलितायाम्। अयोनिः खट्वादि। चशब्दाद्रोगाद्युपहतायां स्वभार्यायामपि। पर्वणि केचिदिच्छन्ति। एतेषु निमित्तेषु पूर्वोक्तं प्रायश्चित्तम्॥ १३॥

उपदर्शनायैतदेव परमतेन द्रढयितुमाह—

अथाऽप्युदाहरन्ति—

अनाद्यप्राशनापेयप्रतिषिद्धभोजने[1] विशुद्धधर्माचरिते च कर्मणि।
मतिप्रवृत्तोऽपि च पातकोपमैः विशुद्ध्यतेऽथाऽपि च सर्वपातकैः॥ १४॥

---

१. विरुद्धधर्माचरिते इति क. पु.

अनु०—यहाँ निम्नलिखित उद्धृत करते हैं—

न खाने योग्य अन्न खा लेने पर, अपेय पदार्थ का पानकर लेने पर अथवा निषिद्ध अन्न खाने पर, निषिद्ध कर्म करने पर या प्रतिषिद्ध क्रिया का अनुष्ठान करने पर, जान बूझकर भी पातकों के समान दोषों से और सभी पातकों से भी शुद्धि हो जाती है ॥ १४ ॥

अविशुद्धधर्माचरिते इति पदच्छेदः । छद्मना चरित इत्यर्थः । पातकसमानि 'अनृतं च समुत्कर्षवति' इत्येवमादीन्येकविंशतिः । सर्वपातकैरिति प्रशंसार्थमुक्तम् । न पुनः प्रायश्चित्तांतरत् ॥ १४ ॥

त्रिरात्रं वाऽप्युपवसन् त्रिरह्नोऽभ्युपेयादपः ।
प्राणानात्मनि संयम्य त्रिः पठेदघमर्षणम् ॥ १५ ॥

अनु०—तीन दिन और तीन रात्रि उपवास करे, दिन में तीन बार स्नान करे और प्राणवायु को रोक कर तीन बार अघमर्षण मन्त्र का जप करे ॥ १५ ॥

अनन्तरोक्तेन विकल्पः । त्रिरात्रं त्रिषवणं स्नानम् ॥ १५ ॥

एतस्यैव विशेष उच्यते—

[1]यथाऽश्वमेधावभृथ एवं तन्मनुरब्रवीत् ॥ १६ ॥

अनु०—जिस प्रकार अश्वमेध यज्ञ के अन्त का अवभृथ स्नान होता है उसी प्रकार उपर्युक्त प्राणायाम और अघमर्षण मन्त्र का जप भी है ॥ १६ ॥

विज्ञायते च—

[2]चरणं पवित्रं विततं पुराणं येन पूतस्तरति दुष्कृतानि ।
तेन पवित्रेण शुद्धेन पूता अतिपाप्मानमरातिं तरेमेति ॥ १७ ॥

इति चतुर्थप्रश्ने द्वितीयः खण्डः ॥

अनु०—ऐसा ज्ञात है—यह अघमर्षण सूक्त पाप को हटाने वाला, पवित्र करने वाला, विस्तीर्ण और प्राचीन है । उस पवित्र और शुद्ध करने वाले अघमर्षण सूक्त से पवित्र होकर हम भी अपने शत्रु पाप को जीते ॥ १७ ॥

चरण चलनं पापस्य पवित्र पवनहेतुः विततं विस्तीर्णं सर्वशास्त्रेषु पुराणं पुरातनं तदेतदघमर्षणसूक्तम् । तदावेष्टयति—येन सूक्तेन पूतो मनुष्यस्तरति दुष्कृतानि पपानि । वयमपि तेन पूताः पाप्मानं शत्रुमतितरमेति प्रार्थना ॥ १६ ॥ १७ ॥

इति चतुर्थप्रश्ने द्वितीयोऽध्यायः ॥

---

१ See मनु. १२. २०९. २६०

२. महानारायणोपनिषदि पठितोऽयं मन्त्रः See. तै. आ. १०. ११

चतुर्थप्रश्ने तृतीयोऽध्यायः

तृतीयः खण्डः

अधुना रहस्यप्रायश्चित्तान्याह—

प्रायश्चित्तानि वक्ष्यामोऽविख्यातानि विशेषतः ।
समाहितानां युक्तानां प्रमादेषु कथं भवेत् ॥ १ ॥

अनु०—अब हम विशेषतः उन प्रायश्चित्तों का विवेचन करेंगे जो अविख्यात हैं और हम यह बतायेंगे कि अपने कर्त्तव्य में तत्पर रहने वाले व्यक्तियों के प्रमाद का प्रायश्चित्त किस प्रकार हो ॥ १ ॥

अविख्यातानि अनिख्यातदोषाणि । यावता विना यत्पापं कर्तुं न शक्यते तद्व्यतिरिक्तमविख्यातदोषमुच्यते । यद्वा—अविख्यातानि अन्यैर्धर्मशास्त्रकारैरदृष्टानि । अथवा—प्रायश्चित्तान्येव अविख्यातानि अन्यैः पुरुषैः । आत्मन इवाऽस्मिन् पुरुषे निमित्ते सत्येतत्प्रायश्चित्तमित्यनवगतानि । अत एव—विशेषतः विशिष्टपुरुषाणां विदुषामित्यर्थः । तानेव विशिनष्टि—समाहितानामिति । समाहिता अविक्षिप्तचित्ताः, युक्ताश्शास्त्रचोदितेषु कर्मसु निरताः । प्रमादेषु अबुद्धिपूर्वकृतेषु । तथा च वसिष्ठः—

आहिताग्नेर्विनीतस्य वृद्धस्य विदुषश्च यत् ।
रहस्योक्तं प्रायश्चित्तं पूर्वोक्तमितरस्य तु ॥

कथं भवेदित्याशङ्कायां वक्ष्याम इति शेषः ॥ १ ॥

ओंपूर्वाभिर्व्याहृतीभिस्सर्वाभिस्सर्वपातकेष्वाचामेत् ॥ २ ॥

अनु०—पहले ओंकार का उच्चारण करते हुए तथा सभी व्याहृतियों का उच्चारण करते हुए सभी पातकों को दूर करने के लिए आचमन करें ॥ २ ॥

प्रतिव्याहृति प्रणवसम्बन्धः कर्तव्यः । एकैकया वा आचमनम् । ततः परिमार्जनं चक्षुरादयुपस्पर्शनं च ॥ २ ॥

एवं विशिष्टं प्रशस्याऽऽचमनं अवयवशः प्रशंसितुमाह—

यत्प्रथममाचामति तेनर्ग्वेदं प्रीणाति, यद्द्वितीयं तेन यजुर्वेदं, यत्तृतीयं तेन सामवेदम् ॥ ३ ॥ यत्प्रथमं परिमार्ष्टि तेनाऽथर्ववेदं यद्द्वितीयं तेनेतिहासपुराणम् ॥ यत्सव्यं पाणिं प्रोक्षति पादौ शिरो हृदयं नासिके चक्षुषी श्रोत्रे नाभिं चोपस्पृशति तेनौषधिवनस्पतयः सर्वाश्च देवताः प्रीणाति तस्मादाचमनादेव सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

अनु०—पहली बार आचमन करने पर ऋग्वेद को प्रसन्न करता है, दूसरी बार आचमन करने पर यजुर्वेद को और तीसरी बार आचमन करने पर सामवेद को प्रसन्न करता है। पहली बार ओठों को पोंछने पर अथर्ववेद को प्रसन्न करता है, दूसरी बार पोंछने पर इतिहास-पुराण को प्रसन्न करता है। जब बायें हाथ को पोंछता है, पैर, सिर, हृदय, नासिका, दोनों नेत्रों, दोनों कानों, नाभि का स्पर्श करता है, उससे औषधियों, वनस्पतियों, सभी देवों को प्रसन्न करता है, इस कारण आचमन द्वारा ही वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ३-५ ॥

'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' इति श्रुतिः। ऋग्वेदाद्यभिमानिन्यो देवताः प्रीता भवन्त्याचमनेनैवाप्नोति ताः देवताः। ननु कथमेतदाचमनं भवति? नाऽयं पर्यनुयोगस्य विषयः, नहि वचनस्याऽतिभारोऽस्तीत्युक्तत्वात्। यथाऽऽस्यगतेन सुराबिन्दुना पतितः, न पयोबिन्दुना, तदपि हि वचनावगम्यमेव, तस्माददोषः ॥ ४ ॥

अष्टौ वा समिध आदध्यात्—[1]"देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। यद्दिवा च नक्तं चैनश्चकृम तस्याऽवयजनमसि स्वाहा। यत्स्वपन्तश्च जाग्रतश्चैनश्चकृम तस्याऽवयजनमसि स्वाहा। यद्विद्वांसश्चाविद्वांसश्चैनश्चकृम तस्याऽवयजनमसि स्वाहा। एनस एनसोऽवयजनमसि स्वाहे"ति ॥६॥ एतैरष्टाभिर्हुत्वा सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते ॥ ७ ॥

अनु०—अथवा निम्नलिखित आठ मन्त्रों से अग्नि पर आठ समिध् रखे तुम देवों के पापों को दूर करने वाले हो, स्वाहा। मनुष्य कृत पाप को दूर करने वाले हो, स्वाहा! पितृकृत पाप को दूर करने वाले हो, स्वाहा। मेरे किए हुए पाप को दूर करनेवाले हो, स्वाहा। मैंने दिन में और रात में जो पाप किए है उसको दूर करनेवाले हो स्वाहा। मैंने सोते हुए, जागते हुए जो पाप किए हैं उस को दूर करनेवाले होस्वाहा। मैंने जानबूझकर और अनजाने में जो पाप किया है उसको तुम दूर करने वाले हो, स्वाहा। तुम प्रत्येक पाप को दूर करने वाले हो, स्वाहा। इन आठ मन्त्रो से हवन कर सभी पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ६-७ ॥

अवयजनं निरसनम् ॥ ६, ७ ॥

---

१. महानारायणोपनिषद्गता इमेऽष्टौ मन्त्राः। अत्रापि द्राविडपाठ एव स्वीकृतः सूत्रकारेण See तै. आ, १०. ५९. ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति—

अघमर्षणं देवकृतं शुद्धवत्यस्तरत्समाः । कूष्माण्ड्यः पावमान्यश्च विरजा मृत्युलाङ्गलम् । दुर्गा व्याहृतयो रुद्रा महादोषविनशना महादोषविनाशना इति ॥ ८ ॥

इति चतुर्थप्रश्ने तृतीयः खण्डः ॥

अनु०—यहाँ निम्नलिखित उद्धृत करते हैं—

अघमर्षण, देवकृत, शुद्धवती, तरत्समा, कूष्माण्डी, पावमानी, विरजा, मृत्युलाङ्गल, दुर्गा, ('जातवेदसे' आदि तैत्तिरीय आरण्यक १०.१.११), व्याहृतियाँ, 'नमस्ते रुद्र' आदि एकादश अनुवाक—ये सभी महादोष को नष्ट करने वाले होते हैं ॥ ८ ॥

टि०—जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहाति वेदः । सनः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥ तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम् । दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये सुतरसि तरसे नमः ॥ तै० आ० १०.१.११.

अघमर्षणं [1]"ऋतं च सत्यं च" इत्यादि । विरजाः [2]'प्राणापान' इत्यादिविरजाशब्दवन्तोऽष्टावनुवाकाः । मृत्युलाङ्गलं 'वेदाहमेतम्' इति द्वितीयः पाठः । दुर्गा[3] "जातवेदसे इत्येषा । 'कात्यायनाय'[4] इति च । रुद्राः 'नमस्ते रुद्र' इत्येकादशाऽनुवाकाः । अन्यत्प्रसिद्धम् । महादोषाः महापातकानि ॥८॥

इति गोविन्दस्वामिकृते बौधायनीयधर्मसूत्रविवरणे
चतुर्थप्रश्ने तृतीयोऽध्यायः ॥

---

१. See P. 167 ।

२. 'प्राणापान' इत्यादयोऽनुवाकास्सप्त २६० पुष्ठे टिप्पण्यां लिखिताः । अनन्तरोऽनुवाकः "उत्तिष्ठ पुरुष हरी लोहित पिङ्गलाक्षि देहि देहि ददापयिता मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा" इत्यष्टमः (तै. आर. १० द्राविडपाठे. ६०,) ।

३. जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहाति वेदः । स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धु दुरितात्यग्निः ॥ तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनी कर्मफलेषु जुष्टाम् । दुर्गां देवी शरणमहं प्रपद्ये सुतरसि तरसे नमः ॥ (तै० आ० १०.१.११)

४. कात्यायनाय विद्महे कन्यकुमारि धीमहि । तन्नो दुर्गिः प्रचोदयात् ॥ (तै० आ० १०.१.७) ।

चतुर्थोऽध्यायः

चतुर्थः खण्डः

प्रायश्चित्तानि वक्ष्यामोऽविख्यातानि विशेषतः ।
समाहितानां युक्तानां प्रमादेषु कथं भवेत् ॥

अनु०—अब हम विशेषतः उन प्रायश्चित्तों का विवेचन करेंगे जो अविख्यात हैं और यह बतायेंगे कि अपने कर्त्तव्य में तत्पर रहने वाले व्यक्तियों के प्रमाद का प्रायश्चित्त किस प्रकार हो ॥ १ ॥

व्याख्यातश्श्लोकः । पुनःपाठः पूर्वोक्तानामत्यतमेनेह वक्ष्यमाणानामन्यतमस्य समुच्चयार्थः ॥ १ ॥

"ऋचं च सत्यं चे"त्येतदघमर्पणं त्रिरन्तर्जले पठन् सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते ॥ २ ॥

अनु०—जो व्यक्ति जल में खड़ा होकर तीन बार 'ऋतं च सत्यं च' इत्यादि अघमर्षण मन्त्रों का जप करता है वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है ॥ २ ॥

यथाविध्यधीयीत ऋष्यादिज्ञानपूर्वकमिति, तथोत्तरेष्वपि मन्त्रेषु द्रष्टव्यम् । अघमर्षणानामानुष्टुभं वृत्तम् ॥ २ ॥

[१] "आयं गौः पृश्निरक्रमी" दित्येतामृचं त्रिरन्तर्जले पठन् सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अनु०—जो व्यक्ति जल में खड़ा होकर तीन बार "आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुनः । पितरं च प्रयन्त्सुवः" (तैत्तिरीय संहिता १.५.३) पाठ करता है वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

सर्पराजार्षं गायत्रं सूर्य आत्मा देवता ॥ ३ ॥

[२] "द्रुपदादिवेन्मुमुचान" इत्येतामृचं त्रिरन्तर्जले पठन् सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते ॥ ४ ॥

---

१. आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुनः । पितरं च प्रयन्त्सुवः ॥ (तैं० सं० १.५.३.) ।

२. द्रुपदादिवेन्मुमुचानः । स्विन्नस्स्नात्वी मलादिव । पूतं पवित्रेणेवाऽऽज्यमापश्शुन्धन्तु मैनसः ॥

अनु०—जो व्यक्ति जल मे खड़ा होकर तीन बार "द्रुपदादिवेन्मुमुचानः। स्विन्नस्स्नात्वी मलादिव। पूतं पवित्रेणेवाऽज्यमापश्शुन्धन्तु मैनसः" पाठ करता है वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है ।४।।

वामदेवः काण्वऋषिर्वा अनुष्टुप्छन्दः आपो देवता ॥ ४ ॥

[1]"हꣳसश्शुचिषद्"इत्येतामृचं त्रिरन्तर्जले पठन् सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

अनु०—जो व्यक्ति जल मे खड़ा होकर तीन बार "हꣳसश्शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् (तैत्तिरीय संहिता, ४.२.१) पाठ करता है वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ५ ॥

वामदेवजागतीसूर्या ऋषिच्छन्दोदेवताः ॥ ५ ॥

अपि वा सावित्रीं गायत्रीं पच्छोऽर्द्धर्चशस्ततः समस्तामित्येतामृचं त्रिरन्तर्जले पठन् सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते ॥ ६ ॥

अनु०—जो जल में खड़ा होकर सवितृ देवता के गायत्री मन्त्र के प्रत्येक चरण का अलग-अलग, अर्द्धर्च-अर्द्धर्च का अलग-अलग और फिर सम्पूर्ण मन्त्र का तीन बार पाठ करता है वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ६ ॥

विश्वामित्रआर्षं गायत्रीच्छन्दःसविता देवता ॥ ६ ॥

अपि वा व्याहृतीर्व्यस्ताः समस्ताश्चेति त्रिरन्तर्जले पठन् सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते ॥ ७ ॥ अपि वा प्रणवमेव त्रिरन्तर्जले पठन् सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते ॥ ८ ॥

अनु०—जो व्यक्ति जल में खड़ा होकर तीन बार व्याहृतियों का अलग-अलग और एक साथ उच्चारण करता है वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥

अनु०—जो व्यक्ति जल में खड़ा होकर ओंकार का ही तीन बार उच्चारण करता है वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ८ ॥

विवृते एते च सूत्रे ॥ ७, ८ ॥

---

१. हंसश्शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ (तै० स० ४. २, १) ।

अधुना च शास्त्रसम्बन्धसम्प्रदायनियमं करोति—

तदेतद्धर्मशास्त्रं नाऽभक्ताय नाऽपुत्राय नाऽशिष्याय नाऽसंवत्सरोषिताय दद्यात् ॥ ९ ॥

अनु०—इस धर्म शास्त्र का उपदेश श्रद्धाहीन व्यक्ति को, पुत्र से भिन्न व्यक्ति को, शिष्य से भिन्न व्यक्ति को, और एक वर्ष से कम समय तक साथ में निवास करने वाले व्यक्ति को नहीं देना चाहिए ॥ ९ ॥

स तु शिष्यो भवति यमुपनीय वेदमध्यापयति । अन्योऽपि पुत्रात् शिष्यः यो धर्मशास्त्रसङ्ग्रहार्थं संवत्सरावमं शुश्रूषापुरस्सरमुषितवान् स संवत्सरोषितः, तस्मै ॥ ९ ॥

अथैतदन्यद्विधीयते—

सहस्रं दक्षिणा ऋषभैकादशं गुरुप्रसादो वा गुरुप्रसादो वा ॥ १० ॥

इति चतुर्थप्रश्ने चतुर्थः खण्डः ॥

अनु०—इस शास्त्र के उपदेश की दक्षिणा एक सहस्र पण अथवा दस गायें और एक सांड़ है अथवा गुरु की सेवा मात्र ही दक्षिणा होती है ॥ १० ॥

धर्मशास्त्रोपदेशे सहस्रं शतस्वर्णं वा ऋषभैकादशं वेत्यध्याहारः । ऋषभ एकादशो भवति यस्य गोगणस्येति विग्रहः । विनयापेक्षया शक्त्यपेक्षया वा विकल्पः । गुरुप्रसादो वा अकस्मादेव यस्मिञ्छिष्ये प्रसादो भवति दद्यादेव तस्मै ॥ १० ॥

इति चतुर्थप्रश्ने चतुर्थोऽध्यायः ॥

चतुर्थप्रश्ने पञ्चमोऽध्यायः

पञ्चमः खण्डः

एवं तावत्पुरुषार्थतया जपहोमेष्टिमन्त्राणि प्रायश्चित्तान्युक्तानि । अथेदानीं क्रत्वर्थतया, तानि चात्र शुद्ध्यर्थतया वक्तव्यानि । तेषां च सारूप्यमित्यत आह—

अथाऽतस्संप्रवक्ष्यामि सामर्ग्यजुरथर्वणाम् ।
कर्मभिर्यैरवाप्नोति क्षिप्रं कामान् मनोगतान् ॥

[1]जपहोमेष्टियन्त्राद्यैः शोधयित्वा स्वविग्रहम् ।
साधयेत्सर्वकर्माणि नाऽन्यथा सिद्धिमश्नुते ॥ २ ॥

अनु०—अब मैं साम, ऋक्, यजु और अथर्वण से संबद्ध जिन कर्मों से मनुष्य शीघ्र अपने मन की इच्छाओं को कर सकता है, उन कर्मों का विवेचन करूँगा ॥१॥

अनु०—जप, होम, इष्टि, संयम के अभ्यास आदि द्वारा अपने शरीर को पवित्र कर सभी कर्मों को सम्पन्न करे, अन्यथा अपने प्रयोजन में सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता ॥ २ ॥

अथशब्द आनन्तर्ये प्रकाशरहस्यप्रायश्चित्तानन्तरम् । यद्वा—मङ्गलार्थवाची, यस्मान्मङ्गलवाक्यानि जपादीनि अतस्तानि सम्प्रवक्ष्यामि । तानि विशिनष्टि—यैः जपादिभिश्शुद्धोऽनुष्ठितैः सामवेदादिविहितैः कर्मभिर्मनोगतानभिप्रेतान् कामान् फलान्यवाप्नोतीति ॥ १, २ ॥

एवं पापविशेषं समुदाहृत्य यद्विधीयते तत्रैवमुक्तम् । कर्मार्थी जपादिचिकीर्षोर्नियमानाह त्रिभिश्श्लोकैः—

जपहोमेष्टियन्त्राणि करिष्यन्नादितो द्विजः ।
शुक्लपुण्यदिनर्क्षेषु केशश्मश्रूणि वापयेत् ॥ ३ ॥
स्नायात्त्रिषवणं पायादात्मानं क्रोधतोऽनृतात् ।
स्त्रीशूद्रैर्नाऽभिभाषेत ब्रह्मचारी हविर्व्रतः ॥ ४ ॥
गोविप्रपितृदेवेभ्यो नमस्कुर्वन् दिवाऽस्वपन् ।
जपहोमेष्टियन्त्रस्थो दिवास्थानो निशासनः ॥ ५ ॥

अनु०—जो द्विज जप, होम, इष्टि और इन्द्रियादि के संयम का अभ्यास करने के लिए तैयारी कर रहा हो, वह सबसे पहले शुक्ल पक्ष में किसी शुभ दिन या शुभ नक्षत्र में केशों और दाढ़ी-मूँछ को मुँड़ा डाले ॥ ३-५ ॥

अनु०—वह व्यक्ति प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल तीनों सवनों में स्नान करे; क्रोध और असत्यभाषण से अपने को बचाए। स्त्रियों और शूद्रों से स्वयं संबोधित कर भाषण न करे, ब्रह्मचारी रहे और यज्ञ के योग्य हवि के अन्न का ही भोजन करे ॥ ४ ॥

अनु०—गायों, ब्राह्मणों, पितृ, देवों को नमस्कार करे और दिन में न सोये। जब तक जप, होम, इष्टि या संयम का अभ्यास करे तब तक दिन में खड़ा रहे और रात को बैठकर बिताये ॥ ५ ॥

---

1. श्लोकोऽयं ख. ग. पुस्तकयोर्नाऽस्ति ।

जपो रुद्रैकादशिन्यादेः । होमो गणहोमादिः इष्टिः[1] मृगारादिका । यन्त्राणि यमनादिन्द्रियाणां कृच्छ्रादीन्युच्यन्ते । करिष्यन् कर्तुमध्यवसितः । द्विजग्रहणं यन्त्राध्यायनिर्दिष्टेषु शूद्रपर्युदासार्थम् । शुक्ले पक्षे पुण्यदिने द्वितीयादिषु च तिथिषु पुण्येषु च ऋक्षेषु रोहिण्यादिषु । श्मश्रुग्रहणं लोमनखानामपि प्रदर्शनार्थम् । वपनं च शिखावर्जं 'एवं ह्यवक्षिशिखावर्जम्' इति पर्युदासात् । यत्र पुनश्शृङ्गग्राहिकया विधीयते यथा गोघ्नप्रायश्चित्ते 'सशिखं वपनं कृत्वा' इति, तत्र सर्वत्र । न च शिखावपनात्कथमाचमनादि कर्तव्यमित्याशङ्कनीयम् । तस्य शास्त्रार्थत्वात्, शिरःकपालधारणवत् । त्रिषवणं प्रातर्मध्यन्दिने सायम् । क्रोधादनृताच्चाऽऽत्मानं पायाद्रक्षेत् वर्जयेदित्यर्थः । क्रोधग्रहणं हर्षलोभमोहादीनामन्येषामपि भूतदाहीयानां प्रदर्शनार्थम्, अनृतग्रहणं च पैशुन्यात्मस्तवनादीनाम् । अभिभाषण अन्यत्र यथार्थमन्तर्भवत्येवं संवादेषु सम्भाषेत(?) ब्रह्मचारी अप्रस्कन्दितरेताः अन्यत्र स्वप्नात् । तत्राऽपि च—

> स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजश्शुक्रमकामतः ।
> स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिः[2] पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥

इति द्रष्टव्यम् । हविष्यव्रतः 'यदन्नैकैकं ग्रासम्' इत्यादि, तद्धविष्यं क्षारलवणवर्जं व्रतयेत् । पितृग्रहणं[3] दण्डापूपिकान्यायेन मातुरप्युपलक्षणार्थम् । नमस्कारश्च कायप्रणतिपूर्वकम् । दिवाऽस्वपन् निद्रामकुर्वन् दिवास्थानः तिष्ठेदहनि । निशासनः रात्रावासीत ॥ ५ ॥

प्रथमं तावद्यन्त्राण्याह बहुवृत्तान्तत्वात्—

> **प्राजापत्यो भवेत्कृच्छ्रो दिवा रात्रावयाचितम् ।**
> **क्रमशो वायुभक्षश्च द्वादशाहं त्र्यहं त्र्यहम् ॥ ६ ॥**

---

१. (१) अग्नयेऽंहोमुचेऽष्टाकपाल (२) इन्द्रायांहोमुच एकादशकपालो (३) मित्रावरुणाभ्यामागोमुग्भ्यां (४) पयस्या वायोसावित्र आगोमुग्भ्यां (५) चरुरश्विभ्यामागोमुग्भ्यां (६) धाना मरुद्भ्य एनोमुग्भ्यः (७) सप्तकपालो विश्वेभ्यो देवेभ्य एनोमुग्भ्यो (८) द्वादशकपालोऽनुमत्य चरु (९) अग्नये वैश्वानराय द्वादश कपालो (१०) द्यावापृथिवीभ्यामंहोमुग्भ्यां द्विकपालः ॥ (तै. सं. ७.५.२२) इति विहिता दशहविष्केष्टिमृगारेष्टिरित्युच्यते । See. आप. श्रौ २०. २३. २.

तत्र प्रथमे अंहोमुगग्निर्देवता, अष्टाकपालः पुरोडाशो द्रव्यम् । द्वितीये इन्द्रोऽंहोमुक् देवता । एकादशकपालः पुरोडाशो द्रव्यम् । 'अंहः' पापं, तस्मात् मोचयतीत्यंहोमुक् इष्टिरियमश्वमेधप्रकरणे तदङ्गत्वेन विहिताऽपि स्वातन्त्र्येण पापक्षयार्थत्वेनाऽपि विहितत्वात् तदर्थं पृथगप्यनुष्ठीयते ।

अनु०—(प्रजापति द्वारा बताया गया या आचरित) प्राजापत्य कृच्छ नाम का व्रत तीन तीन दिन क्रमशः केवल दिन मे भोजन करने, केवल रात्रि में भोजन करने बिना माँगे मिले हुए अन्न का भोजन करने और कुछ भी आहार न करने पर कुल बारह दिन का होता है ॥ ६ ॥

प्राजापत्यस्तद्देवत्यस्तेन आचरितो वा । स कथं भवेदित्याह—द्वादशाहं चतुर्धा कृत्वा त्र्यहं त्र्यहं सम्पाद्य आद्ये त्र्यहे दिवाऽश्नीयात् । द्वितीये रात्रौ, तृतीये अयाचितम्, चतुर्थे वायुभक्ष इति अयाचितमिति याच्ञाप्रतिषेधः । एवं प्राजापत्यः कृच्छ्रः क्लेशात्मको · नियमेन स्मृत्यन्तरोक्तेतिकर्तव्यताको नाऽत्र ग्राह्यः । यथा गौतमेन प्राजापत्येऽभिहितं 'रौरवयौधाजये नित्यं प्रयुञ्जीत' इत्यादि । यद्यदि सर्वं, नित्यताध्येतृच्छन्दोगव्यतिरिक्तानामधिकारो न स्यात् । न ह्यन्यस्य सामानि सन्ति । न च प्रायश्चित्तार्थेन ग्रहणं युक्तम्, प्रतिषेधात् । स्त्रीबालादेरप्यधिकारार्थं सकलधर्मशास्त्रोक्तस्त्रिवर्णसाधारणलक्षण एव विधिर्द्रष्टव्यः ॥ ६ ॥

अहरेकं तथा नक्तमज्ञातं वायुभक्षणम् ।
त्रिवृदेष परावृत्तो बालानां कृच्छ्र उच्यते ॥ ७ ॥

अनु०—यदि एक दिन केवल दिन मे भोजन करे, दूसरे दिन केवल रात्रि में भोजन करे, तीसरे दिन बिना माँगे ही मिले आहार का भोजन करे और चौथे दिन निराहार केवल वायु का भक्षण कर रहे । इसी क्रम में तीन बार करने पर कुल बारह दिनों का बालकों का कृच्छ व्रत बताया गया है ॥ ७ ॥

अयमपि प्राजापत्यविशेष एव ॥ ७ ॥

---

१. भूतदाहीयाः आपस्तम्बीये धर्मसूत्रेऽध्यात्मपटले प्रसिद्धाः, तत्र द्रष्टव्याः ।

२. ऋगियं ११४ पृष्ठे टिप्पण्यां द्रष्टव्या ।

३. केनचित् पुरुषेण कस्मिंश्चिद्दण्डे बह्वीरपूपिकाः प्रोताः कृत्वा ताः प्रयत्नेन्यासीकृत्य देशान्तरं गत्वा पुनः प्रतिनिवृत्य न्यासरक्षिता पृष्टः भवदीयं दण्ड मूषिका अभक्षयन्नित्यबोधत् । तेन च निश्चितम्—यदा दाण्डोऽपि मूषिकेण भक्षितः, तदा किमु वक्तव्यं अपूपा भक्षिता इति । अयमेव दण्डापूपिकान्यायः ।

४. पुनानस्सोम धारयाऽऽपो वसानो अर्षसि ।
आरत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः ॥ १ ॥
दुहान ऊधर्दिव्यं मधुप्रियं प्रत्नꣳसधस्थमासदत् ।
आपृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षसि नृभिर्धौतो विचक्षणः ॥ २ ॥
(सा. तं. उ. १. १. ५.)

इति ऋग्द्वयमवत्रयक्रमेण प्रग्रथ्य तत्र गीयमाने सामनी रौरवयौधाजयसंज्ञके ।

कृच्छ्रातिकृच्छ्रस्तृतीय इति वक्ष्यति —

एकैकं ग्रासमश्नीयात्पूर्वोक्तेन त्र्यहं त्र्यहम् ।
वायुभक्षस्त्र्यहं चाऽन्यदतिकृच्छ्रस्स उच्यते ॥ ८ ॥

अनु०—यदि पूर्वोक्त क्रम से तीन-तीन दिन क्रमशः दिन में, और रात्रि को बिना मांगे ही मिले हुए भोजन का (मोर के अण्डे के बराबर) केवल एक ग्रास खाकर रहे और अन्त मे तीन दिन वायु का आहार कर रहे, तो वह अतिकृच्छ्र नाम का दूसरा व्रत कहा जाता है ॥ ८ ॥

शिखण्डपरिमितान्नो ग्रासः पाणिपूरान्नो वा पूर्वोक्तेन 'दिवा रात्रौ' इत्यादिना । अन्यदिति प्रायश्चित्तविशेषणत्वान्नपुंसकलिङ्गमदोषः । 'अतिकृच्छ्रोऽम्बुनाऽशनः' इति यदा पाठस्तदोदकपानमात्रमभ्युपगच्छतीति गम्यते ॥ ८ ॥

अम्बुभक्षस्त्र्यहानेतान्वायुभक्षस्ततः परम् ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रस्तृतीयो विज्ञेयस्सोऽतिपावनः ॥ ९ ॥

अनु०—यदि तीन-तीन दिन प्रथम तीन कालों में केवल जल पीकर रहे और उसके बाद अन्तिम तीन दिन केवल वायु-भक्षण करते हुए बिताये तो वह कृच्छ्राति-कृच्छ्र नाम का अत्यन्त पावन तीसरा व्रत होता है ॥ ९ ॥

अम्बुमयवचनादशनधर्मेणोदकपानमिष्यते । एवमन्त्ये त्र्यहे तदपि नाऽस्तीति वायुभक्ष इत्युक्तम् । तृतीयत्वमस्य निर्देशापेक्षया[1] 'षष्ठीं चितिम्' इति यथा । प्रत्येकमेव शुद्धिहेतुत्वात् ॥ ९ ॥

त्र्यहं त्र्यहं पिबेदुष्णं पयस्सर्पिः कुशोदकम् ।
वायुभक्षस्त्र्यहं चाऽन्यत् तप्तकृच्छ्रस्स उच्यते ॥ १० ॥

अनु०—यदि तीन-तीन दिन क्रमशः उष्ण दूध उष्ण घृत और कुश के साथ उबाले गये उष्ण जल का पान करता है तथा अन्तिम तीन दिन वायु का भक्षण कर व्रत करता है, तो वह तप्त कृच्छ्र नाम का व्रत कहलाता है ॥ १० ॥

उष्णशब्दः पय आदिभिस्त्रिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । प्रतित्र्यहं पयआदीनि क्रमेण भवेयुः । अत्र सकृदेव स्नानम् । कुत एतत् ? मनुवचनात् —

---

१. 'योऽग्निं चित्वा न प्रतितिष्ठति पञ्च पूर्वाश्चितयो भवन्त्यथ षष्ठीं चितिं चिनुते' इत्युक्तम् । अत्राऽस्याश्चितेः पूर्वापेक्षया भेदेऽपि पूर्वोक्तचितिपञ्चकापेक्षया षष्ठीत्वमिति पूर्वमीमांसायां पञ्चमाध्याये निर्णीतम् । तदनुसंहितमत्र ।

तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान् ।
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान् सकृत्स्नायी समाहितः ॥ १० ॥

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥ ११ ॥

अनु०—यदि एक-एक दिन क्रमशः गोमूत्र, गाय का गोबर, दूध दही, घृत, कुशोदक ग्रहण करे तथा एक दिन-रात्रि उपवास करे तो वह सान्तपन कृच्छ्र नाम का व्रत होता है ॥ ११ ॥

साप्ताहिकोऽयं सान्तपनः । एकैकस्मिन्नह्नि गोमूत्रादीनि क्रमेण भवेयुः तेषु च दधिव्यतिरिक्तानि कथितानि कार्याणि ॥

तत्राऽयं केषां चित्पाठः—

गायत्र्या [1]गृह्य गोमूत्रं [2]गन्धद्वारेति गोमयम् ।
[3]आप्यायस्वेति च क्षीरं [4]दधिक्राव्णेति वै दधि ॥
[5]शुक्रमसि ज्योतिरसीत्याज्यं [6]देवस्य त्वा कुशोदकमिति ॥१२॥

अनु०—गायत्री मन्त्र का उच्चारण करते हुए गाय का मूत्र ग्रहण करे, 'गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् । ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम्' मन्त्र द्वारा गोबर ग्रहण करे ।

'आप्यायस्व समेतु ते विश्वतस्तोम वृष्णियम् । भवा वाजस्य सङ्गथे । (तैत्तिरीय संहिता ३. २. ५) मन्त्र से दूध ग्रहण करें ।

'दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।

सुरभिनो मुखाकरत्प्रण आयूंषि तारिषत ॥ (तैत्तिरीय संहिता १.५.११)

---

१. आदाय इति ग० ।

२. गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् ।
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम् ॥

३. आप्यायस्व समेतु ते विश्वतस्तोम वृष्णियम् ।
भवा वाजस्य सङ्गथे ॥ तै० सं० ३. २. ५.

४. दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।
सुरभि नो मुखाकरत्प्रण आयूंषि तारिषत् ॥ तै० सं० १. ५. ११.

५. शुक्रमसि ज्योतिरसि तेजोऽसि । तै० १. १. १०

६. देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥

मन्त्र से दधि ग्रहण करे 'शुक्रमसि ज्योतिरसि तेजोऽसि' (तैत्तिरीय संहिता १, १. १०) मन्त्र से घृत ग्रहण करे तथा 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्' मन्त्र से कुशोदक ग्रहण करे ॥ १२ ॥

तथा—

गोमूत्रभागस्तस्यार्धं शकृत्क्षीरस्य तयम् ।
द्वयं दध्नो घृतस्यैकः एकश्च कुशवारिणः ।
एवं सान्तपनः कृच्छ्रः श्वपाकमपि शोधयेत् ॥१३॥

अनु०—गोमूत्र का अंश जितना हो उसके आधा अंश गोबर, तीन भाग दूध, दो भाग दही, एक भाग घृत और एक भाग कुशोदक मिलावे । इस प्रकार सान्तपन नाम कृच्छ्र व्रत चण्डाल तक को भी शुद्ध कर देता है ॥ १३ ॥

टि०—गोविन्द स्वामी ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है कि घृत और कुशोदक बराबर परिणाम में होना चाहिए, उससे दूना दधि और तिगुना दूध, चौगुना गोबर और पाँच गुना गोमूत्र हो इन छहों को मिलाकर एक दिन पान करे और दूसरे दिन उपवास करे तो दो रात्रियों का सान्तपन कृच्छ्र व्रत होता है ।

एतदुक्तं भवति—घृतं कुशोदकं च तुल्यपरिमाणम् । घृताद्द्विगुणं दधि, तस्मादेव त्रिगुणं क्षीरम् । तस्मादेव चतुर्गुणः शकृत् । पञ्चगुणं गोमूत्रमिति । गमूत्रादिषट्कमेकीकृत्यैकस्मिन्नेवाऽहनि पीत्वाऽपरेद्युरुपवासः । एवं द्विरात्रस्सान्तपनो भवति । आह च याज्ञवल्क्यः—

कुशोदकं दधि क्षीरं गोमूत्रं गोशकृद्घृतम् ।
प्राश्याऽपरेऽह्न्युपवसेत्कृच्छ्रं सान्तपनं चरन् ॥ इति ॥

अयमपरस्सान्तपनप्रकारः—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं [1]दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
पञ्चरात्रं तदाहारः पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥ १४ ॥

अनु०—गाय का मूत्र, गोबर, दूध, दही, घृत तथा कुशोदक इनका पाँच (दिन (और रात्रि आहार करने वाला पञ्चगव्य से शुद्ध हो जाता है ॥ १४ ॥

पञ्चगव्यविधानेनेति शेषः ॥ १४ ॥

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् ।
पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापप्रणाशनः ॥ १५ ॥

---

१. अपश्चैव घृतं तथा इति ग पु० ।

अनु०—इन्द्रियों पर संयम रखते हुए और सावधान होकर बारह दिन तक भोजन न करे तो यह पराक नाम का कृच्छ्र व्रत होता है जो सभी पापों का नाश करता है ।। १५ ।।

यतात्मा [1]नियतेन्द्रियः आस्तिकः । स्त्रीणां रजोदर्शने च व्रतानिवृत्तिः । सथादर्शने पूर्वसमाप्तिप्रसङ्गात् । तथा सत्युपदेशानार्थक्यमिति ।। १५ ।।

गोमूत्रादिभिरभ्यस्तमेकैकं तं त्रिसप्तकम् ।
महासान्तपनं कृच्छ्रं वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ १६ ।।

अनु०—यदि गोमूत्रादि उपर्युक्त सात पदार्थों मे एक-एक प्रतिदिन ग्रहण करे और इस प्रकार सात-सात दिन की तीन अवधि तक व्रत करे तो उसे ब्रह्मज्ञ लोग महासान्तपन कृच्छ्र व्रत कहते हैं ।। १६ ।।

सान्तपनस्सप्तरात्रपरिसमाप्य उक्तः । स [2]दण्डकलितदावृत्त्या त्रिरभ्यस्त एकविंशतिरात्रो महासान्तपनो नाम भवति ।। १६ ।।

एकवृद्ध्या सिते पिण्डे एकहान्याऽसिते ततः ।
पक्षयोरुपवासौ द्वौ तद्धि चांद्रायणं स्मृतम् ।। १७ ।।

अनु०—यदि शुक्ल पक्ष मे प्रतिदिन एक-एक ग्रास आहार बढ़ाता जाय और कृष्ण पक्ष में प्रतिदिन एक-एक कम करता जाय और दोनों पक्षों में दो दिन उपवास करे तो वह चान्द्रायण व्रत होता है ।। १७ ।।

चान्द्रायणाभिधोक्तस्याऽनुवादोऽयम ।। १७ ।।

अयमपरश्चान्द्रायणप्रकारः—

[3]चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्रस्समाहितः ।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ।। १८ ।।

---

१. संयतेन्द्रिय. इति ग पु० ।

२. आवृत्तिर्द्विधा—दण्डकलितवदावृत्तिः, स्वस्थानविवृद्धिरिति । यथा—कस्यचित् क्षेत्रस्य माने कर्तव्ये क्वचित् कृत्स्नं दण्डं निवेश्य तदनन्तरदेशेऽपि कृत्स्न एव दण्डो निवेश्यते, न दण्डावयवः, सा दण्डकलितवदावृत्तिः । स्वस्थान एव प्रथमादिपदार्थस्य यावद्वारमावृत्त्याऽनुष्ठाय ततो द्वितीयादीनामनुष्ठानं सा स्वस्थानविवृद्धिः । एवं च समुदायस्य तेनैवरूपेणाऽऽवृत्त्याऽनुष्ठानं दण्डकालितवदावृत्तिः अवयवश आवृत्तिः स्वस्थानाविवृद्धिरिति निष्कर्षः ।। ३. श्लोकद्वयमिदं नास्ति ग. ।।. पुस्तकयोः ।

अनु०—यदि पूर्णतः चित्त को लगाकर कोई विप्र प्रातः चार ग्रास भोजन करता है और सायंकाल सूर्य अस्त होने पर चार ग्रास भोजन करता है तो वह व्रत शिशुचान्द्रायण कहा जाता है ॥ १८ ॥

अष्टावष्टौ मासमेकं पिण्डान्मध्यन्दिने स्थिते ।
नियतात्मा हविष्यस्य यतिचान्द्रायणं चरेत ॥ १९ ॥

अनु०—यदि एक मास तक प्रतिदिन केवल मध्याह्न में आठ-आठ ग्रास यज्ञ के योग्य हवि का भोजन करे तथा इन्द्रियों पर संयम रखे, तो वह यतिचान्द्रायण व्रत होता है ॥ १९ ॥

यथाकथंचित्पिण्डानां द्विजस्त्रिसप्तस्त्वशीतयः ।
मासेनाऽश्नन् हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥ २० ॥

अनु०—यदि कोई द्विज एक मास में यज्ञ के योग्य अन्न का अस्सी के तिगुने (दो सौ चालीस) ग्रास भोजन करता है तो वह चन्द्रमा के लोक को ही प्राप्त करता है ॥ २० ॥

चात्वरिंशदधिकशतपिण्डान्यथाकथञ्चित् मासेनाऽश्नीयात् तिस्रोऽशीतय इति द्वितीयार्थे प्रथमा । तदैन्दवं नाम चान्द्रायणम् ॥ १८–२० ॥

यथोद्यंश्चन्द्रमा हन्ति जगतस्तमसो भयम् ।
तथा[1] पापाद्भयं हन्ति द्विजश्चान्द्रायणं चरन् ॥ २१ ॥

अनु०—जिस प्रकार उगता हुआ चन्द्रमा संसार के अन्धकार के भय को दूर करता है उसी प्रकार चान्द्रायण व्रत करने वाला द्विज पाप से होने वाले भय को नष्ट कर देता है ॥ २१ ॥

सर्वप्रकारस्याऽपि चान्द्रायणस्य प्रशंसेषा ॥ २१ ॥

कणपिण्याकतक्राणि तथा चाऽपोऽनिलाशनः ।
एकत्रिपञ्चसप्तेति पापघ्नोऽयं तुलापुमान् ॥ २२ ॥

अनु०—जो व्यक्ति एक दिन चावल के कण खाकर, तीन दिन तिलका पिण्याक खाकर पांच दिन मट्ठा पीकर, सात दिन जल पीकर और एक दिन वायु का भक्षण कर व्रत करता है वह पापों को नष्ट करने वाले तुलापुमान नाम का व्रत करता है ॥ २२ ॥

---

१. एवं पापाद् इति ग पु० । पापाच्चापि इति घ पु० ।

टि०—यह सत्रह दिन का तुलापुमान् व्रत बताया गया है। अन्यत्र यह व्रत पन्द्रह दिन का बताया गया है जैसे याज्ञवल्क्यस्मृति में।

एकस्मिन्नहनि कणान् भक्षयेत्। त्रिषु पिण्याकमित्यादि। भक्ष्यद्रव्यप्रमाणं च शरीरस्थितिनिबन्धनम्। एवं च सप्तदशाह्निकस्सम्पद्यते। महतीमपि तुलामारूढः पापस्य पुरुषश्शुद्ध्यतीति तुलापुमान्। तथा च पञ्चदशाह्निकः कोऽपि तुलापुरुषो विद्यते। तथा याज्ञवल्क्येन—

पिण्याकाचामतक्राम्बुसक्तूनां प्रतिवासरम्।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रस्सौम्योऽयमुच्यते॥ इत्यभिहितम्।
एषां त्रिरात्रमभ्यासादेकैकं प्रत्यहं पिबेत्।
तुलापुरुष इत्येष ज्ञेयः पञ्चदशाह्निकः॥ इति।

अत्र चोपवासस्य निवृत्तिर्वेदितव्या। पञ्चदशाह्निक इति नियमात्।

यावकस्सप्तरात्रेण वृजिनं हन्ति देहिनाम्।
सप्तरात्रोपवासो वा दृष्टमेतन्मनीषिभिः॥ २३॥

अनु०—यावक का आहार सात दिन में शरीर-धारियों के पाप को नष्ट कर देता है, इसी प्रकार सात दिन का उपवास भी पापों को नष्ट कर देता है, ऐसा मनीषियों ने माना है॥ २३॥

यावक इति कस्यचित्कृच्छ्रस्याऽन्वर्थसंज्ञा। सप्तरात्रं यवान्नता। तावन्तं कालमुपवासो वा। वृजिनं वर्जनीयं पापमित्यर्थः॥ २३॥

पौषभाद्रपदज्येष्ठा आर्द्राकाशातपाश्रयात्।
त्रीन् शुक्लान्मुच्यते पापात्पतनीयादृते द्विजः॥ २४॥

अनु०—क्रमशः पौष, भाद्रपद और ज्येष्ठ मासों के शुक्ल पक्षों में क्रमशः गीले वस्त्र पहनकर रहने, खुले आकाश के नीचे रहने तथा सूर्य की धूप में रहने से द्विज पतनीयों को छोड़कर अन्य सभी पापों से (मुक्त हो जाता है)॥ २४॥

पुष्यस्तिष्यो नक्षत्रम्, तेन युक्तश्चन्द्रमा यस्मिन्मासि पौर्णमास्यां भवति स पौषमासः। भाद्रपदं प्रोष्ठपादानक्षत्रं तेन सह पौर्णमास्यां यस्मिन्मासि वर्तते स मासो भाद्रपदो नाम। तथा ज्येष्ठया वर्तत इति ज्येष्ठोऽपि मास एव। पौषभाद्रपदज्येष्ठा इति निर्देशः प्रथमान्तः। तेषु यथाक्रमं आर्द्राकाशातपाश्रयात्। आश्रयशब्दः आर्द्रादिषु प्रत्येकं सम्बध्यते। आर्द्राश्रयत्वं आर्द्रवासस्त्वम्। आकाशाश्रयत्वमातपाश्रयत्वं चाऽप्रावरणता। त्रयाणां तस्मिन् तस्मिन्मासे तत्तत् सर्वदा कर्तव्यम्? नेत्याह—त्रीन् शुक्लान् पक्षानिति शेषः। तत्र शुक्लपक्ष

इत्यर्थः। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया। अतश्चाऽहर्निशमिति गम्यते। किमेवं कृते सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते ? न; पतनीयादृते ; तस्य हि प्रायश्चित्तान्तरेण भवितव्यम्। द्विजग्रहणमनुवादः। 'जपहोमेष्टियन्त्राणि करिष्यन्नादितो द्विजः' इत्यधीतत्वात् ॥ २४ ॥

इदं चाऽन्यत्—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
यवाचामेन संयुक्तो ब्रह्मकूर्चोऽतिपावनः ॥ २५ ॥

अनु०—गाय का मूत्र, गोबर, दूध, दही, घृत और कुशोदक जो के बने यवागू के साथ मिलाये जाने पर अत्यन्त पवित्र करने वाला ब्रह्मकूर्च कहलाता है ॥ २५ ॥

[1]यवानां आचामो यवागूः। यद्वा—आचमनं आचामः। एषः ब्रह्मकूर्चो नाम कृच्छ्रः। अस्य विधिः स्मृत्यन्तराद्वेदितव्यः। यथा हि—

पालाशं पद्मपत्रं वा ताम्रं वाऽथ हिरण्मयम्।
गृहीत्वा[2]ऽवहितो भूत्वा त्रिराचामेद्द्विजोत्तमः ॥
गायत्र्या गृह्य गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम्।
आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्राव्णेति वै दधि ॥
तथा शुक्रमसीत्याज्यं देवस्य त्वा कुशोदकम्।
चतुर्दशीमुपोष्याऽथ पौर्णमास्यां समारभेत् ॥
गोमयाद्द्विगुणं मूत्रं शकृद्द्याच्चतुर्गुणम्।
क्षीरमष्टगुणं देयं तथा[3] दशगुणं दधि।
स्थापयित्वाऽथ दर्भेषु पालाशैः पत्रकैरथ।
तत्समुद्धृत्य होतव्यं देवताभ्यो यथाक्रमम् ॥
अग्नये चैव सोमाय सावित्र्यै च तथैव च।
प्रणवेन तथा कृत्वा ततश्च स्विष्टकृत्स्मृतः ॥
एवं हुत्वा ततश्शेषं पापं ध्यात्वा समाहितः।
आलोड्य प्रणवेनैव निर्मन्थ्य प्रणवेन तु ॥
उद्धृत्य प्रणवेनैव पिबेच्च प्रणवेन च ॥

---

१. आचामशब्दो मण्डपरतया (हिन्दी भाषायां 'मांड' इति द्राविडभाषायां ',कञ्जी'' इति च प्रसिद्धवस्तुवाचकतया) व्याख्यातो महीधरभाष्ये (शु. य. सं.)

२. गृहीत्वा साधयित्वाऽऽचामनकर्म समारभेत् इति ग पु०।

३. दधि पञ्चगुणं तथा इति ग पु०।

एवं ब्रह्मकृतं कूर्चं मासि मासि चरेद् द्विजः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥ इत्यादि ॥ २५ ॥

अमावास्यां निराहारः पौर्णमास्यां तिलाशनः ।
शुक्लकृष्णकृतात्पापान्मुच्यतेऽब्दस्य पर्वभिः ॥ २६ ॥

अनु०—जो व्यक्ति अमावास्या को उपवास करता है और पौर्णमासी को केवल तिलों का भक्षण करता है वह एक वर्ष में शुक्लपक्षों तथा कृष्णपक्षों में किये गये पापों से मुक्त हो जाता है ॥ २६ ॥

सांवत्सरिकमेतद्व्रतम्, तस्मादब्दस्य पर्वभिस्सम्बन्धः । न पुनश्शुक्लकृष्णकृतमिति । एवं च तस्मिन् संवत्सरे मधुमांसवर्जनमधश्शयनमित्यादि द्रष्टव्यम् ॥ २६ ॥

भैक्षाहारोऽग्निहोत्रिभ्यो मासेनैकेन शुद्ध्यति ।
यायावरवनस्थेभ्यो दशभिः पञ्चभिर्दिनैः ॥ २७ ॥

अनु०—अग्निहोत्रियों से प्राप्त भिक्षा का भक्षण करने वाला एक मास में शुद्ध होता है । जो यायावर गृहस्थ से प्राप्त भिक्षा का भक्षण करता है वह दस दिन में शुद्ध होता है तथा वानप्रस्थ से प्राप्त भिक्षा के भक्षण से पाँच दिन में ही शुद्ध हो जाता है ॥ २७ ॥

यायावरेभ्यो भैक्षाहारो दशभिर्दिनैः, वनस्थेभ्यः पञ्चभिर्दिनैः इति योजना । अन्यच्च व्याख्यातम् । एतेऽपि च त्रयः कृच्छ्राः ॥ २७ ॥

एकाहं धनिनोऽन्नेन दिनेनैकेन शुद्ध्यति ।
कापोतवृत्तिनिष्ठस्य पीत्वाऽपश्शुद्ध्यते द्विजः ॥ २८ ॥

अनु०—जिस व्यक्ति के पास केवल एक दिन भर के लिए अन्न है उसके द्वारा दिये गये अन्न से एक दिन में ही शुद्धि हो जाता है । कापोतवृत्ति से जीविका निर्वाह करने वाले व्यक्ति द्वारा दिये गये जल को भी पीकर द्विज शुद्ध हो जाता है ॥ २८ ॥

एतावपि च द्वौ कृच्छ्रौ ॥ २८ ॥

ऋग्यजुस्सामवेदानां वेदस्यान्यतमस्य वा ।
पारायणं त्रिरभ्यस्येदनश्नन् सोऽतिपावनः ॥ २९ ॥

अनु०—यदि बिना भोजन किये ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अथवा किसी एक वेद का तीन बार पारायण करे तो वह अत्यन्त पवित्र करने वाला होता है ॥ २९ ॥

अन्यतमवेदपक्षे त्रिः । इतरथा सकृदेव ॥ २९ ॥

अथ चेत्त्वरते कर्तुं दिवसे मारुताशनः ।
रात्रौ जले स्थितो व्युष्टः प्राजापत्येन तत्समम् ॥ ३० ॥

अनु०—जो व्यक्ति शीघ्रता करना चाहे वह दिन में केवल वायु का आहार करे (अर्थात् विना कुछ खाये-पिये रहे) और रात्रि को जल में खड़ा रहकर ही सवेरा कर दे, तो वह प्राजापत्य कृच्छ्र के समान व्रत होता है ॥ ३० ॥

गायत्र्याऽष्टसहस्रं तु जपं कृत्वोत्थिते रवौ ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो यदि न भ्रूणहा भवेत् ॥ ३१ ॥

अनु०—जो व्यक्ति सूर्य के उगने पर एक सहस्र और आठ बार गायत्री मन्त्र का जप करता है, वह यदि विद्वान् ब्राह्मण की हत्या का दोषी नहीं है, तो सभी पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ३१ ॥

त्वरते कर्तुं कर्म सामर्ग्यजुरथर्वणामिति शेषः । प्राणायामविशेषेण जानुद्वयसजलस्थितस्याऽपि शास्त्रार्थासिद्ध्यतीति मन्तव्यम् । व्युष्टः उपोन्तरितः । श्वोभूते अष्टौ च सहस्रं सवित्र्या जपं कुर्यात् । अत्र प्राजापत्येन तत्सममिति वचनादिदमन्यत् स्मृत्यन्तराद्वेदितव्यम् , प्राजापत्यादौ प्रवृत्तस्याशक्तस्य विप्रभोजनेनाऽपि तत्सिद्धिर्भवतीति । प्राजापत्ये तावदशक्यदिनेषु प्रतिदिनं विप्रान् पञ्चावरान् शुद्धान् भोजयेत् । एवं विधानेनैवाऽतिकृच्छ्रे पञ्चदशावरानशक्यदिनेषु प्रतिदिनं वा विप्रमेकम् । एतत्सर्वत्र समानम् । कृच्छ्रातिकृच्छ्रे त्रिंशतम् , तप्तकृच्छ्रेषु चत्वारिंशतम् , पराकनिर्णये पञ्चाशतम् , चान्द्रायणे षड्विंशतिम् , तुलापुंसि तु त्रयोविंशतिम् , महासान्तपने षड्विंशतिम् , तथैकाहोपवासे पञ्च । त्रिरात्रे प्रत्यहं दशदशेत्यादि ॥ ३०-३१ ॥

किं वाऽत्र बहुनोक्तेन—

योऽन्नदस्सत्यवादी च भूतेषु कृपया स्थितः ।
पूर्वोक्तयन्त्रशुद्धेभ्यस्सर्वेभ्यस्सोऽतिरिच्यते ॥ ३२ ॥

इति चतुर्थप्रश्ने पञ्चमः खण्डः ।

अनु०—जो अन्न का दान करता है, सत्यभाषण करता है तथा प्राणियों पर दया करता है वह पूर्वोक्त मन्त्रों से शुद्ध हुए सभी व्यक्तियों से बढ़कर होता है ॥ ३२ ॥

एवंविधवृत्तस्थ इत्यभिप्रायः ॥ ३२ ॥

इति बौधायनीयधर्मसूत्रविवरणे गोविन्दस्वामिकृते

षष्ठोऽध्यायः

षष्ठः खण्डः

उक्तानि मन्त्राणि, जपा वक्तव्या इत्यत आह—

समाधुच्छन्दसा रुद्रा गायत्री प्रणवान्विता ।
सप्तव्याहृतयश्चैव जाप्याः पापविनाशनाः ॥ १ ॥

अनु०—मधुच्छन्दा नाम के ऋषि द्वारा दृष्ट (शाकलसंहिता के आरम्भिक दस) सूक्तों के साथ, 'नमस्ते रुद्र' आदि ग्यारह अनुवाकों, ओंकार से युक्त गायत्री मन्त्रों, तथा सात व्याहृतियों का जप करना चाहिए। ये पाप को नष्ट करते हैं ॥ १ ॥

मधुच्छन्दा यासामृचामृषिः। ताश्च सकलसंहितायां आदितो दशसूक्तानि। ताभिस्सह रुद्राः 'नमस्ते रुद्र' इति एकादश ऽनुवाकाः। अन्यत्प्रसिद्धम्। जपादिभिः प्रतिपूरणे कर्तव्ये सति एभिः प्रतिपूरणं वेदितव्यम् स्वातन्त्र्येण चैषामुपयोगः। तत्र कालगणना मन्त्रावृत्तिगणना च विशेषापेक्षया विज्ञेया ॥ १ ॥

मन्त्रजपौ वृत्तौ। काः पुनस्ता इष्टयः? इत्याह—

मृगारेष्टिः पवित्रेष्टिस्त्रिहविः पावमान्यपि ।
इष्टयः पापनाशिन्यो वैश्वानर्या समन्विताः ॥ २ ॥

अनु०—मृगारेष्टि, पवित्रेष्टि, त्रिहवि; पावमानी इष्टि वैश्वानरी इष्टि से संयुक्त ये सभी इष्टियाँ पाप का विनाश करती हैं ॥ २ ॥

मृगारं[१] "अग्नयेऽंहोमुचेऽष्टाकपालः" इति दशहविरिष्टिः। तथा पवित्रेष्टिरपि 'अग्नये पवमानाय' इति दशहविरेव। त्रिहविस्सवनेष्टिः। पावमानी पावमानष्टिः। वैश्वानरो द्वादशकपालो वैश्वानरी। तथा समन्विता एताः पापनाशिन्यः, नैकैकशः ॥ २ ॥

आचार्य इनान् स्तनान् प्रत्याह—

इदं चीवाऽपरं गुह्यमुच्यमानं निबोधत ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो महतः पातकादते ॥ ३ ॥
पवित्रैर्मार्जनं कुर्वन् रुद्रैकादशिकां जपन् ।
पवित्राणि घृतैर्जुह्वत् प्रयच्छन् हेमगातिलान् ॥ ४ ॥

---

१. २७५, पृष्ठे द्रष्टव्यम् ।

अनु०—यह जो दूसरी अत्यन्त गोपनीय विधि बतानी जा रही है उसे भी ध्यान देकर समझो। इस विधि से व्यक्ति बड़े पातक दोष को छोड़कर अन्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है। पवित्र करने वाले मन्त्रों से (सुरभिमती आदि मन्त्रों से) जल का मार्जन करते हुए, रुद्र के ग्यारह अनुवाकों का जप करते हुए, पवित्र मन्त्रों के उच्चारण के साथ घृत की आहुति करते हुए तथा सुवर्ण, गौ तथा तिल का दान कर मनुष्य बड़े पातक के दोष को छोड़कर अन्य सभी पापों से मुक्त होता जाता है ॥ ३-४ ॥

टि०—गोविन्दस्वामी की व्याख्या के अनुसार यहाँ भी सात दिन-रात्रि की अवधि समझनी चाहिए।

अल्पप्रयासेन बहुपापक्षयलाभात् गुह्यमित्युक्तम्। प्रथमस्सर्वशब्द एकैकस्मिन् पापाभ्यासार्थः। द्वितीयः पापभेदापेक्षः। पवित्राणि 'सुरभिमत्यादयो मन्त्राः[1]। रुद्रैकादशिका 'नमस्ते रुद्र' इत्येकादशाऽनुवाकाः। पूर्वं जपन् जुह्वत् प्रयच्छन् मुच्यत इति सम्बन्धः। अत्राऽपि वक्ष्यमाणस्सप्तरात्रः कालो भवति ॥ ३, ४ ॥

योऽश्नीयाद्यावकं पक्वं गोमूत्रे सशकृद्रसे।
सदधिक्षीरसर्पिष्के मुच्यते सोंऽहसः क्षणात् ॥ ५ ॥

अनु०—जो व्यक्ति गाय की मूत्र, गोबर के रस, दधि, दूध, घृत से मिश्रित पके हुए यावक का भक्षण करता है वह शीघ्र ही पाप से मुक्त हो जाता है ॥ ५ ॥

प्रसूतो यश्च शूद्रायां येनाऽगम्या च लङ्घिता।
सप्तरात्रात्प्रमुच्येते विधिनैतेन तावुभौ ॥ ६ ॥

अनु०—जिस व्यक्ति ने शूद्रा स्त्री से पुत्र उत्पन्न किया है, जिस व्यक्ति ने ऐसी स्त्री से मैथुन किया है, जिससे मैथुन करना वर्जित है-वे दोनों ही प्रकार के दोषी व्यक्ति उपर्युक्त विधि से सात दिन में पाप से मुक्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

यावकः पक्वं यवौदनो यवागूर्वा। शकृद्रसोऽपि गोरेव। तत्सहिते गोमूत्रे पक्वमित्यर्थः। तदेव दध्ना क्षीरेण सर्पिषा च संयुक्तं भवति। प्रसाङ्गात्पापं तद्वक्ष्यमाणम्- प्रसूतो यश्चेत्यादि। सप्तरात्रादिति कालनिर्देशविरोधात क्षणादित्ययमर्थवादः। सप्तरात्राभिप्रायो वा। 'क्षणः क्षणोतेः प्रक्ष्णतः कालः' इति निर्वचनात्। कर्मोढायामपि शूद्रायामपत्योत्पादनं यः करोति

1. 'दधिक्राव्णो' इति सुरभिमती। तस्यां सुरभिशब्दश्रवणात् ॥

येन वाऽगम्या पैतृष्वसेय्यादिका लंघिता भवति, लंघनं गमनम्, तावुभावनेन पूर्वोक्तेन विधिना मुच्येते ॥ ४,६ ॥

न केवलमत्र—

रेतोमूत्रपुरीषाणां प्राशनेऽभोज्यभोजने।
पर्याधानेज्ययोरेतत् परिवित्ते च भेषजम् ॥ ७ ॥

अनु०—वीर्य मूत्र और मल खा लेने पर, जिन व्यक्तियों का अन्न खाना निषिद्ध है उनका अन्न खालेने पर अथवा बड़े भाई से पहले ही छोटे भाई के अग्नि का आधान करने, श्रौत यज्ञ करने और विवाह करने पर भी उपर्युक्त व्रत ही पाप दूर करने का उपचार है ॥ ७ ॥

अभोज्यानां परिग्रहदुष्टानां स्वभावदुष्टानां च भोजने। पर्याधानं ज्यायसि तिष्ठत्यनाहिताग्नौ कनीयस आधानम्। आह च—

दाराग्निहोत्रसंयोगे कुरुते योऽग्रजे स्थिते।
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तस्तु पूर्वजः ॥ इति

अत्राऽग्रजशब्दस्याऽयमर्थः—अग्र एव यस्मिन् जाते स्वस्यात्मनो जननं सम्भवति स तं प्रत्यग्रजः। एवं च सति पितर्यनाहिताग्नौ सति पुत्रेण नाऽऽधातव्यमिति भवति। परीज्यायामपि एतदेव पूर्वोक्तं भेषजम्। इज्या यागः नित्येज्या ऐष्टिकपाशुकसौमिकाः, न नैमित्तिकाः काम्याश्च। ते पितरं ज्येष्ठं वोल्लङ्घ्य न कर्तव्याः' यदि कुर्यात्तत्राऽपि एतदेव प्रायश्चित्तं—'योऽश्नीयाद्याद्यकं पक्वम्' इत्यादि ॥ ७ ॥

अपातकानि कर्माणि कृत्वैव सुबहून्यपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्य इत्येद्वचनं सताम् ॥ ८ ॥

अनु०—जिस व्यक्ति ने पातक कर्मों को छोड़कर अन्य बहुत से अनगिनत पाप कर्म किये हैं वह भी सभी पापों से मुक्त हो जाता है, ऐसा सज्जनों का वचन है ॥ ८ ॥

पूर्वोक्तेन प्रायश्चित्तेनेति शेषः। सतां मन्वादीनाम् ॥ ८ ॥
सर्वत्राऽत्र मूलभूतं प्रमाणमाह—

मन्त्रमार्गप्रमाणं तु विधाने समुदीरितम्।
भरद्वाजादयो येन ब्रह्मणस्समतां गताः ॥ ९ ॥

अनु०—यहाँ जिन नियमों का विधान किया गया है वे मन्त्रों के पाठ के ऊपर

आधृत हैं और ये वे नियम है जिनके द्वारा भरद्वाज आदि ऋषियों ने ब्रह्म की समता प्राप्त की ॥ ९ ॥

मन्त्राणां मार्गो मन्त्रमार्गः पाठः स एव प्रमाणं यस्य विधानस्य तदुदीरितं पाठमूलत्वं स्यात्तादृशानामपि धर्माणामुक्तं तत्, प्रजापत्यादेरपि यन्त्रस्य। विधानं मन्त्रादेर्मूलमिति। अयं किलाऽऽचार्यो मन्त्रप्रमाणक इव लक्ष्यते- 'पञ्चतयेन कल्पमवेक्षते 'तच्छन्दसा ब्राह्मणेन' इति तच्छन्दसो मन्त्रात्मकस्य प्रथमनिर्देशं ब्रुवन्नन्यत्र छन्दसा न शक्नुयात् कर्तुमित्यपवाददौर्बल्यमभ्यनुजानंश्च। ब्रह्मणस्समानमिति वचनादभ्युदयार्थमित्येतद्विधानमिति गम्यते ॥ ९ ॥

तदाह—

प्रसन्नहृदयो विप्रः प्रयोगादस्य कर्मणः।
कामांस्तांस्तानवाप्नोति ये ये कामा हृदि स्थिताः ॥ १० ॥

इति चतुर्थप्रश्ने षष्ठः खण्डः।

अनु०—प्रसन्न चित्त वाला विप्र इन कर्मों का आचरण कर उन सभी इच्छाओं को प्राप्त कर लेता है, जो-जो इच्छाएं उसके मन में होती हैं ॥ १० ॥

क्रियत इति कर्म। तच्च मन्त्रपाठप्रमाणं विधानम्। तस्यैषा प्रशंसा ॥

इति बौधायनीयधर्मसूत्रविवरणे गोविन्दस्वामिकृते
चतुर्थप्रश्ने षष्ठोऽध्यायः।

सप्तमोऽध्यायः

सप्तमः खण्डः

निवृत्तः पापकर्मभ्यः प्रवृत्तः पुण्यकर्मसु।
यो विप्रस्तस्य सिध्यन्ति विना यन्त्रैरपि क्रियाः ॥ १ ॥

अनु०—जो विप्र पाप कर्मों से विरत है तथा पुण्य कर्मों में प्रवृत्त है उसकी क्रियाएं यन्त्रों का आचरण किए बिना भी सिद्ध हो जाती हैं ॥ १ ॥

प्रतिषिद्धवर्जनस्य विहितानुष्ठानस्य च प्रशंसैषा। यदेवंविधस्य पुरुषस्य पूर्वोक्तयन्त्राभावेऽपि सामर्ग्यजुरथर्वणां कर्मण्यधिकारोऽस्तीति दर्शयति। तस्याऽपि वक्ष्यमाणो गणहोमो भवत्येव ॥ १ ॥

अथैवंविधानां ब्राह्मणानां प्रशंसा—

ब्राह्मणा ऋजवस्तस्माद्यद्यदिच्छन्ति चेतसा ।
तत्तदा साधयन्त्याशु संशुद्धा ऋजुकर्मभिः ॥ २ ॥

अनु०—अपने शुद्ध कर्मों से पवित्र सरल हृदय वाले धर्मात्मा ब्राह्मण जिस कार्य की अपने मन से इच्छा करते है उसे शीघ्र ही सफल बना लेते हैं ॥ २ ॥

ऋजुकर्माणि विहितकरणप्रतिषिद्धवर्जनलक्षणानि ॥ २ ॥

अथेदानीं निरपेक्षानेकयन्त्रोपदेशप्रयोजनमाह—

एवमेतानि यन्त्राणि तावत्कार्याणि धीमता ।
कालेन यावतोपैति विग्रहं शुद्धिमात्मनः ॥ ३ ॥

अनु०—बुद्धिमान व्यक्ति इन व्रतों को उतने ही समय तक करे जितने समय तक करने से शरीर की शुद्धि हो जाय ।

कालेन कालपरिमितेन यन्त्रेण विग्रहं शरीरम् । उपैतिर्नयत्यर्थे । ततश्च द्विकर्मत्वाद्विग्रहमिति द्वितीयोपपत्तिः । एतत्सु गुरुषु गुरूणि लघषु लघूनीत्यय-मर्थोऽन्यत्र दर्शितः । आह—

यस्मिन् कर्मण्यस्य कृते मनसस्स्यादलाघवम् ।
तस्मिन् तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥ इति ॥ ३ ॥

जपहोमेष्टियन्त्रान्युक्तान्युपसंहरति—

एभिर्यन्त्रैर्विशुद्धात्मा त्रिरात्रोपोषितस्ततः ।
तदारभेत येनर्द्धिं कर्मणा प्राप्तुमिच्छति ॥ ४ ॥

अनु०—जो व्यक्ति इन तपश्चरणों से शुद्ध हो चुका है वह तीन दिन और रात्रि उपवास करे, उसके बाद उस क्रिया आरम्भ करे जिसके द्वारा अभीष्ट इच्छा की सिद्धि करना चाहता हो ॥ ४ ॥

गणहोमादर्वागेवोपसंहाराभिधानं तस्याऽपि त्रिरात्रोपवासाङ्गत्वज्ञापनाय॥

क्षापवित्रं सहस्राक्षो मृगारोंऽहोमुचौ गणौ ।
पावमान्यश्च कूष्माण्ड्यो वैश्वानर्य ऋचश्च याः ॥ ५ ॥

अनु०—क्षापवित्र (क्षा से युक्त पवित्र मन्त्र, 'क्षां विश्वेभिः' आदि तैत्तिरीय ब्राह्मण २.८.२), सहस्राक्ष (अर्थात् पुरुषसूक्त), मृगार ('अग्नेर्मन्वे' आदि अनु-वाक), अंहोमुच् नाम के दो गण ('या वामिन्द्रावरुणा यतव्या आदि चार मन्त्र,

तथा 'यो वामिन्द्रावरुणावग्नौ स्त्रामस्तं वामेतेनाऽवयजे' आदि आठ मन्त्र), पावमानी ('पवमानस्सुवर्जन' अनुवाक), कूष्माण्डी ('यद्देवा' आदि इक्कीस ऋचाएँ), वैश्वानरी ऋचाएँ ('वैश्वानरो न ऊत्या' आदि आठ ऋचाएँ)—इन सबका पाठ करे ॥ ५ ॥

१. अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसो यं पाञ्चजन्यं बहवस्समिन्धते । विश्वस्यां विशि प्रविविशिवाᳪ्समीमहे स नो मुञ्चत्वᳪ्हसः ॥ १ ॥ यस्येदं प्राणन्निमिषद्यदेजति यस्य जातं जनमानञ्च केवलम् । स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वᳪ्हसः ॥२॥ इन्द्रस्य मन्ये प्रथमस्य प्रचेतसो वृत्रघ्नस्तोमा उप मामुपागुः । यो दाशुषस्सुकृतो हवमुपगन्ता स नो मुञ्चत्वᳪ्हसः ॥ ३ ॥ यस्संग्रामन्नयति सं वशी युधे यः पुष्टानि सᳪ्सृजति त्रयाणि । स्तौमीन्द्रन्नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वᳪ्हसः ॥ ४ ॥मन्वेवां मित्रावरुणा तस्य वित्तᳪ्सत्यौजसा दᳪ्हणा यन्तुदेथे । या राजानᳪ् सरथं याथ उग्रा ता नो मुञ्चतमागसः ॥ ५ ॥ योवां रथ ऋजुरश्मिस्सत्यधर्मा मिथुश्चरन्तमुपयाति दूषयन् । स्तौमि मित्रावरुणा नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमागसः ॥ ६ ॥ वायोस्सवितुर्विदथानि मन्महे यावात्मन्वद्बिभृतो यौ च रक्षतः । यौ विश्वस्य परिभू बभूवतुस्तौ नो मुञ्चतमागसः ॥ ७ ॥ उप श्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धर्मे अस्थिरन् । स्तौमि वायुᳪ् सवितारन्नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमागसः ॥ ८ ॥ रथीतमौ रथीनामह्व ऊतये शुभ गमिष्ठौ सुयमेभिरश्वैः । ययोर्वां देवौ देवेष्वनिशितमोजस्तौ नो मुञ्चतमागसः ॥ ९ ॥ यदयातं वहतुᳪ्सूर्यायास्त्रिचक्रेण सᳪ्सदमिच्छमानौ । स्तौमि देवावश्विनौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमागसः ॥ १० ॥ मरुतां मन्वे अधि नो ब्रुवन्तु प्रेमां वाचं विश्वामवन्तु विश्वे । आशून् हुवे सुयमानूतये ते नो मुञ्चन्त्वेनसः ॥ ११ ॥ तिग्ममायुधं वीडितं सहस्वाद्दिव्यᳪ्शर्धः पृतनासु जिष्णु । स्तौमि देवान्मरुतो नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वेनसः ॥१२॥ देवानां मन्वे अधि नो ब्रुवन्तु प्रेमां वाचं विश्वामवन्तु विश्वे । आशून् हुवे सुयमानूतये ते नो मुंचन्त्वेनसः ॥ १३ ॥ यदिदं माऽभिशोचति पौरुषेयेण दैव्येन । स्तौमि विश्वान् देवान्नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वेनसः ॥ १४ ॥ अनु नोऽद्यानुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम् । अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मयः ॥१५॥ अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शञ्च नः कृधि । क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्रण आयूᳪ्षि तारिषः ॥ १६ ॥ वैश्वानरो न ऊत्या प्रयातु परावतः । अग्निरुक्थेन वाहसा ॥ १७ ॥ पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वा ओषधीराविवेश । वैश्वानरस्सहसा पृष्टो अग्निस्स नो दिवा सरिषः पातु नक्तम् ॥ १८ ॥ ये अप्रथेताममितेभिरोजोभिर्ये प्रतिष्ठे अभवतां वसूनाम् । स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि तेनो मुञ्चतमᳪ्हसः ॥ १९ उर्वी रोदसी वरिवः कृणोतं क्षेत्रस्य पत्नी अधि नो ब्रूयातम् । स्तौमि द्यावापृथिवि नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमᳪ्हसः ॥२०॥ यत्ते वयं पुरुषत्रा यविष्ठाऽविद्वाᳪ्सश्चकृमा कच्चनाऽऽगः ।

कृधी स्वस्मात्(?)अदितेरनागा व्येनां सि शिश्रथो विश्वमग्ने ॥२१॥ यथा ह तद्वसवो गौर्यञ्चित्पदिषितामुमुञ्चता यजत्राः । एवात्वमस्मत्प्रमुञ्चाव्यंहः प्रातार्यग्ने प्रतरान्न आयुः ॥ २२ ॥ (तै. सं. ४. ७. १५.) ॥

क्षापवित्र क्षाशब्दवत् पवित्र च, तच्च तैत्तिरीयाणां सूक्तपाठे "अग्नेनय' इत्यादिषडृचम् । अयमेको मन्त्रगणः तैत्तिरीयकपाठसिद्धो गृहीतव्यः । सहस्राक्षस्त्वात्पुरुषसूक्तं, तच्चाऽष्टादशर्चम् । मृगारो मृगाराख्या इष्टेर्याज्यानुवाक्या द्वाविंशतिरृचः[1] 'अग्नेर्मन्वे' इत्यनुवाकः । अंहोमुचौ तच्छब्दवन्तौ गणौ । तयोः[3] 'या वामिन्द्रावरुणा' इत्येकः चत्वारो मन्त्रास्मात्पञ्चाः । अपरो[4] 'यो वामिन्द्रावरुणा' इत्यष्टौ । अत्र तादृश एव स्रामशब्दोऽंहोमुचाव-चनः । पावमान्योऽपि तच्छब्दप्रत्ययः ऋचस्सप्तदश । ताश्च[5] 'पवमानस्सुवर्जनः' इत्यनुवाकः । कूष्माण्डयः 'यद्देवाः' इत्याद्या एकविंशतिरृचः । वैश्वानर्यः[6] 'वैश्वानरो न ऊत्या' इत्यष्टौ । एतेऽष्टौ मन्त्रगणाः प्रायशो विधे-

१. या वामिन्द्रावरुणा यतव्या तनूस्तयेममंहसो मुञ्चतम् ॥१॥ या वामिन्द्रावरुणा सहस्या तनूस्तयेममंहसो मुञ्चतम् ॥२॥ या वामिन्द्रावरुणा रक्षस्या तनूस्तयेममंहसो मुञ्चतम् ॥३॥ या वामिन्द्रावरुणा तेजस्या तनूस्तयेममंहसो मुञ्चतम् ॥४॥

२. यो वामिन्द्रावरुणाग्नौ स्रामस्तं वामेतेनाऽवयजे ॥ १ ॥ यो वामिन्द्रावरुणा द्विपात्सु पशुषु स्रामस्तं वामेतेनाऽवयजे ॥ २ ॥ यो वामिन्द्रावरुणा चतुष्पात्सु पशुषु स्रामस्तं वामेतेनावयजे ॥ ३ ॥ यो वामिन्द्रावरुणा गोष्ठे स्रामस्तं वा०यजे ॥ ४ ॥ यो वामिन्द्रावरुणा गृहेषु स्रामस्तं वा०यजे ॥ ५ ॥ यो वामिन्द्रावरुणाऽप्सु स्रामस्तं वा०यजे ॥ ६ ॥ यो वामिन्द्रावरुणौषधीषु स्रामस्तं वा०यजे ॥ ७ ॥ यो वामिन्द्रावरुणा वनस्पतिषु स्रामस्तं वामेतेनाऽवयजे ॥ ८ ॥ (तै. सं. २. ३. ११)

३. २५७ पुष्ठे टिप्पण्यां द्रष्टव्यम् । ४. २३८. पुष्ठे टिप्पण्यां द्रष्टव्यम् ।

५. वैश्वानरो न ऊत्या प्रयातु परावतः । अग्निरुक्थेन वाहसा ॥ १ ॥ ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम् । अजस्रं घर्ममीमहे ॥ २ ॥ वैश्वानरस्य दंसनाभ्यो बृहदरिणादेकस्स्वपस्यया कविः । उभा पितरा महयन्नजायताग्निर्द्यावापृथिवी भूरिरेतसा॥३॥ पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वा ओषधीराविवेश । वैश्वानरस्सहसा पृष्टो अग्निस्स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम् ॥ ४ ॥ जातो यदग्ने भुवना व्यख्यः पशुं न गोपा इर्यः परिज्मा। वैश्वानर ब्रह्मणे विन्द गातुं यूयं पात स्वस्तिभिस्सदा नः ॥५ ॥ त्वमग्ने शोचिषा शोशुचान आ रोदसी अपृणः जायमानः । त्वं देवाँ अभिशस्तेरमुञ्चो वैश्वानर जातवेदो महित्वा ॥६॥ अस्माकमग्ने मघवत्सु धारयाऽनामिक्षत्रमजरं सुवीर्यम् । वयं जयेम शतिनं सहस्रिणं वैश्वानर वाजमग्ने तवोतिभिः ॥ ७ ॥ वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः । इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥ ८ ॥ (तै. सं. १. ५. ११) ।

देवार्षाः । सहस्राक्षस्तु नारायणर्षिः । तत्राऽनुक्तच्छन्दसः त्रैष्टुभा वेदितव्याः । 'सहस्रशीर्षा' इत्याद्याः पञ्च अनुष्टुभः । मृगारस्याऽऽद्यासु 'अनु नोऽद्यानुमतिः, अन्विदनुमते त्वम्' 'ये अप्रथेताम्, ऊर्जा रोदसी' इत्येता अनुष्टुभः । 'वैश्वानरो नः इति गायत्री । यदिदं इत्यता । अंहोमुचौ तु यजुषी एव । ततश्छन्दोविशेषानादरः यद्यजुषाऽऽज्य यजुषाऽप उत्पुनीयात्, छन्दसाऽप उत्पुनाति' इति यजुश्छन्दसोर्भेदनिर्देशात् । पावमानीषु पुनः प्रथमाद्वितीयाचतुर्थीपञ्चम्यष्टम्यो गायत्र्यः । तृतीया नवम्याद्या अन्त्यवर्जाश्चाऽनुष्टुभः । कूष्माण्डीषु प्रथमाऽनुष्टुप् द्वितीयाऽतिजगती तृतीयाचतुर्थ्यौ जगत्यौ, पञ्चम्यतिशक्वरी सप्तमी शक्वरी अष्टमी जगती, नवमी पंक्तिः दशम्येकादश्यौ शक्वर्यौ, त्रयोदश्यत्यष्टिः, चतुर्दश्यनुष्टुप् । ततो गायत्र्यौ । सर्वलिङ्गोक्तदेवताः । सहस्राक्षस्तु पौरुषः ॥ ५ ॥

घृतौदनेन ता जुहुत्सप्ताहं सवनत्रयम् ।
मौनव्रती हविष्याशी निगृहीतेन्द्रियक्रियः ॥ ६ ॥

अनु०—प्रत्येक मन्त्र के सात घृत और ओदन की आहुती प्रातःकाल मध्याह्न और सायंकाल तीनों सवनकालों पर (सात दिन तक मौन रहते हुए, यज्ञ योग्य अन्न का भक्षण करते हुए तथा इन्द्रियों और क्रियाओं पर नियन्त्रण रखते हुए करे ॥ ६ ॥

घृताप्लुतेनौदनेन ताः प्रतिमन्त्र हस्तेन दर्व्या वा परिभाषासिद्धया 'दर्व्याऽन्नस्य जुहोति' इति । "सप्ताहमिमानि व्रतान्यनुकर्षन्मौनव्रती" इत्यादीनि॥६॥

अथ प्रति सवनहोमानन्तरम्—

"सिंहे मे" इत्यपां पूर्णे पात्रेऽवेक्ष्य चतुष्पथे ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो महतः पातकादपि ॥ ७ ॥

अनु०—चौराहे पर जल से भरे हुए पात्र को 'सिंहे मे' आदि मन्त्रों का उच्चारण करते हुए देखने पर वह व्यक्ति सभी पापों से मुक्त हो जाता है, बड़े दोष से भी शुद्ध हो जाता है ॥ ७ ॥

१. उत्कसुकरणं नाम—आकुञ्चितस्य सव्यजानुन उपरि दक्षिणं पादं निक्षिप्योपवेशनम् ।

२. सिंहे मे मन्युः । व्याघ्रे मेऽन्तरामयः । वृके मे क्षुत् । अदवे मे पसिः । धन्वनि मे पिपासा । राजगृहे मेऽशनया । अश्मनि मे तन्द्रिः । गर्दभे मेऽर्षः । वष्य(स्य)कि मे ह्रीः । अश्वत्थे मे वेपथुः । कूर्मे मेऽङ्गरोगः । ध्वक्षे मेऽपसर्या ।

अप्रिये मे मृत्युः । भ्रातृव्ये मे पाप्मा । सपत्ने मे निर्ऋतिः । दुष्कीर्तौ मे व्यृद्धिः । परस्वति मेऽसमृद्धिः । खड्गे मे आर्तिः । गवये मे आन्ध्यम् । गौरे मे बाधिर्यम् । ऋक्षे मे शोकः । गोधाया मे स्वेदः । जरायौ मे हिमः । कृष्णशकुनौ मे भीरुता । कशे मे पापो गन्धः । उलूके मे स्वप्नयशः । क्रोके मे ईर्ष्या । मर्कटे मेदुर्ऋद्धिः । कुलले मे मन्स्या । वलले मे प्रव्या । उष्ट्रे मे तृष्णा । ऋश्ये मे श्रमः । अश्वायां मे आन्ध्यम् । कोशे मे गन्धः । कुमार्यां मेऽलङ्कारः । सूकरे मे कलदधुः, पुदाखुनि मे स्वप्ना (प्नः) । अजगरे मे दुस्स्वप्ना (प्नः) । विद्युति मे स्मयश. । लोभायां मे क्लेदः । शलभे मे पाप्माऽलक्ष्मीः । स्त्रीषु मेऽनृतम् । अजासु मे कर्कशः । व्रात्ये म ईर्ष्या । शूद्रे मे स्तेयम् । वैश्ये मे कार्मकृत्यम् । राजन्यबन्धुनि मेऽज्ञानम् । नैषादे मे ब्रह्महत्या । कुलिङ्गे मे क्षवथुः । उलले मे विलासः । उद्द्रिणि मे वमनिः । किंपुरुषे मे रोदः । द्वीपिनि मे निष्टपत् । हस्तिनि मे किलासः । शुनि मेदुरिप्रस्था । वन्येषु मे म्लेच्छः । विदेहेषु मे शोवधुः । महावर्षेषु शे ग्लौः । मूजवत्सु मे तप्ना । दुन्दुभौ मे कासिका । इक्ष्वाकुषु मे पित्तम् । कलिङ्गेषु मेऽमेध्यम् । अश्वतर्यां मेऽप्रजस्ता । पुंश्चल्यां मे दुश्चरित्रम् । आखुनि मे दन्तरोगः । मक्षिकाया मे श्वल्कशः । शुके मे हरिमा । मयूरे मे जल्प्या । वृषे मे जरा । चापे मे पापवादः । अप्सु मे श्रमः । ब्रह्मोज्झे मे किल्बिषम् ।

अपेहि पाप्मन् पुनरपनाशितो भवा नः पाप्मन्त्सुकृतस्य लोके पाप्मन्वेह्यविहृत यो नः पाप्मन्न जहाति तमु त्वा जहिमो वयमन्यत्राऽस्मन्निविशताद् । सहस्राक्षो अमर्त्यो यो नो द्वेष्टि स रिष्यतु यमु द्विष्मस्तमु जहि । सुमित्रा न आप ओषधयस्सन्तु दुर्मित्रास्तस्मै भूयासुर्योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः पाप्मन् ॥ मात्रा इमे बोधायनीयश्रौतसूत्रे संहितारूपेण पठिताः (बौ. श्रौ. २. ५) तथाऽप्यध्येतृपरम्परायां पाठसौकर्यार्थं विहृत्यैव पाठात् तथैवाऽस्माभिरप्यत्र निवेशिताः :

उदपात्रमादाय चतुष्पथं गत्वा प्राङ् मुखः १ उपस्थं कृत्वा तस्मिन्नेव उदपात्रेऽवेक्षमाणः पापं ध्यायन् विनयितुन् ब्रूयात् । २ 'सिंहे मे मन्युः' इत्यन्तमेतमनुवाकं निगद्य निनीयाऽपो नैर्ऋत्यां दिशि परास्य पात्रमनवेक्षमाणो हस्तपादान् प्रक्षाल्य तेनैव मार्गेण यथेतमेत्य । तदेतदुक्तम्— 'सिंहे म इत्यपां पूर्णे' इति । अत्राऽपरे याज्ञिकाः प्रयोगज्ञंमन्यमाना दार्विहोमिकीं परिचेष्टां कुर्वते, आनाम्नातया च पक्वहोमवत्त्वे च स्विष्टकृदुपहोमा गणहोमा (?) इति वदन्तः । तत्तु युक्तायुक्ततया विचारणीयम् । ७ ॥

वृद्धत्वे यौवने बाल्ये यः कृतः पापसञ्चयः ।
पूर्वजन्मसु (१) वाऽज्ञानात्तस्मादपि विमुच्यते ॥ ८ ॥

---

(१) १. वाऽज्ञातः इति मूलपुस्तकेषु पाठः ॥

अनु०—वृद्धावस्था, युवावस्था और बाल्यावस्था में, यहाँ तक कि पूर्वजन्म में भी अज्ञानवश किये गये पापों का जितना संचय होता है उन सबसे वह मुक्त हो जाता है ॥ ८ ॥

फलविधिः फलार्थवादो वायम् ॥ ८ ॥

भोजयित्वा द्विजानन्ते पायसेन सुसर्पिषा ।
गोभूमितिलहेमानि भुक्तवद्भ्यः प्रदाय च ॥ ९ ॥
विप्रो भवति पूतात्मा निर्दग्धवृजिनेन्धनः ।
काम्यानां कर्मणां योग्यः तथाऽऽधानादिकर्मणाम् ॥ १० ॥

अनु०—सात दिनों के अन्त में ब्राह्मणों को भली भांति घृत से युक्त पायस (खीर) का भोजन कराकर तथा भोजन करने वालों ब्राह्मणों को गाय, भूमि, तिल और सुवर्ण दान देकर ब्राह्मण पाप रूपी इन्धन के जल भस्म हो जाने से पवित्र हो जाता है, वह मन की इच्छाओं की प्राप्ति के योग्य हो जाता है तथा अग्नि का आधान आदि याज्ञिक कर्मों के लिए भी योग्य बन जाता है ॥ ९-१० ॥

अन्ते सप्ताहस्य । ततस्सप्तम एवाऽहन्यापराह्णिकप्रयोगानन्तरं भोजनादि गम्यते । द्विजास्यवराः । गवादीनां समुच्चयः । स च भुक्तवद्भ्यः प्रत्येकं भवति । विप्रग्रहणं द्विजातिप्रदर्शनार्थम् । वृजिनं पापम्, तदेवेन्धनम्, तन्निर्दग्धं येनेति विग्रहः । योग्यः अधिकारी । अन्यथाऽनधिकारीति गम्यते । एषा तावद्गणहोमक्रिया ह्यात्मन एव प्रयोक्तव्या नाऽन्यस्य ॥९-१०॥

इति बौधायनीयधर्मसूत्रविवरणे गोविन्दस्वामिकृते,
चतुर्थप्रश्ने सप्तमोऽध्यायः ।

अष्टमोऽध्यायः

अष्टमः खण्डः

तत्र दोषमाह—

अतिलोभात्प्रमादाद्वा यः करोति क्रियामिमाम् ।
अन्यस्य सोऽहसाऽऽविष्टो गरगीरिव सीदति ॥ १ ॥

अनु०—जो व्यक्ति अत्यन्त लोभ से या प्रमाद से दूसरे व्यक्ति के लिए इस

(गणहोम की) क्रिया को करता है, वह पाप से आविष्ट होकर विषभक्षण करने वाले व्यक्ति के समान कष्ट पाता है ॥ १ ॥

गोभूम्यादिषु अतिलोभात् स्नेहात्प्रमादाद्वा योऽन्यस्य वृत्यर्थं गणहोमक्रियां करोति स तेनांऽहसाऽऽविष्टः सीदति गरगीः विषभुगिव विषण्णो भवति ॥ १ ॥

अन्यस्य न कुर्यादित्युक्तम् , तत्राऽपवदति—

आचार्यस्य पितुर्मातुरात्मनश्च क्रियामिमाम् ।
कुर्वन्भात्यर्कवद्विप्रस्ता कार्येषामतः क्रिया ॥ २ ॥

अनु०—किन्तु जो ब्राह्मण अपने आचार्य के लिए, पिता के लिए, माता के लिए और स्वयं अपने लिए इस क्रिया को करता है वह सूर्य के समान तेजयुक्त हो प्रकाशित होता है। अतः आचार्य, पिता और माता के लिए इसे किया जा सकता है ॥ २ ॥

यस्मादेतेषां क्रियां कुर्वन्नादित्यवद्भाति तस्मादेतेषाम् । मातुः पृथग्ग्रहणात् पितरि मृते पितुर्मातुरेनोनिवृत्त्यर्थमेषा पुत्रेण कर्तव्येति गम्यते । आत्मग्रहणं दृष्टार्थम् । पितृग्रहणं पुनः पुत्रस्याऽपि प्रदर्शनार्थम् ॥ २ ॥

तदाह—

क एतेन सहस्राक्षं पवित्रेणाऽकरोच्छुचिम् ।
अग्निं वायुं रविं सोमं यमादींश्च सुरेश्वरान् ॥ ३ ॥

अनु०—प्रजापति ने इस पवित्र करने वाले कर्म द्वारा अपने सहस्राक्ष पुत्रों को शुद्ध किया। अग्नि वायु, सूर्य, सोम, यम आदि देवों के स्वामियों को पवित्र किया ॥ ३ ॥

कः प्रजापतिः, तस्य पुत्राः सहस्राक्षाग्न्यादयः । पवित्रेण गणहोमेन ॥ ३ ॥

उक्तः क्रत्वर्थतया गणहोमः । अधुना स एव पुरुषार्थतयोच्यते—

यत्किञ्चित्पुण्यनामेह त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
विप्रादि तत्कृतं केन पवित्रक्रिययाऽनया ॥ ४ ॥

अनु०—तीनों लोकों में जो कुछ पवित्र नाम वाला विख्यात है जैसे ब्राह्मण आदि उन सभी की सृष्टि प्रजापति ने इसी पवित्र क्रिया द्वारा की ॥ ४ ॥

तादृशं फलमवाप्यते । उत्तमजातिप्राप्त्युपायोऽयमित्यभिप्रायः ॥ ४ ॥

किंच--

प्राजापत्यमिदं गुह्यं पापघ्नं प्रथमोद्भवम्।
समुत्पन्नान्यतः पश्चात्पवित्राणि सहस्रशः ॥ ५ ॥

अनु०—प्रजापति के इस पाप का विनाश करने वाले रहस्य का सबसे पहले उद्भव हुआ इसके बाद ही सहस्रों का अन्य पवित्र करने वाली क्रियाएँ उद्भूत हुई ॥ ५ ॥

इदमष्टगणहोमकर्म प्राजापत्यं प्रजापतेस्सकाशात् प्रथमोद्भूतम्। अन्यानि तु यन्त्राण्यतः पश्चादुत्पन्नानि ॥ ५ ॥

अथाऽस्यैव कालविकल्पाः—

योऽब्दायनर्तुपक्षाहान् जुहोत्यष्टौ गणानिमान्।
पुनाति चाऽऽत्मनो वंश्यान् दश पूर्वान् दशाऽपरान् ॥६॥

अनु०—जो व्यक्ति वर्ष, अयन, ऋतु और पक्ष के प्रथम दिनों को इन आठ गण होमों को करता है वह अपने वंश के दश पहले के तथा दश बाद के पुरुषों को पवित्र करता है।

कर्तुस्तु कालाभिनियमात् फलविशेषः कल्प्यते। अब्दस्संवत्सरः। अयनं तदर्धः आदित्यस्य दक्षिणोत्तरायणगमनेन। ऋतुः अब्दषड्भागो वसन्तादिः। तदर्धः मासः। तदर्धः पक्षः शुक्लः कृष्णो वा। अहस्तु प्रसिद्धम्। एतदब्दादिभिरेव सम्बध्यत इति केचित्। कल्पान्तरमित्यपरे ॥ ६ ॥

अथ—

एतानष्टौ गणान् होतुं न शक्नोति यदि द्विजः।
एकोऽपि तेन होतव्यो रजस्तेनाऽस्य नश्यति ॥ ७ ॥

अनु०—यदि कोई द्विज इन आठ गण होमों को करने में समर्थ न हो तो एक ही करे; उसी से उसका पाप नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

तस्याऽप्यशक्तौ—

सूनवो यस्य शिष्या वा जुह्वत्यष्टौ गणानिमान्।
अध्यापनपरिक्रीतैरंहसस्सोऽपि मुच्यते ॥ ८ ॥

अनु०—जिसके पुत्र या शिष्य इन आठ गण होमों को करते हैं वह भी उनका अध्यापन कर उस पुण्य को खरीद लेता है और पाप से मुक्त हो जाता है ॥ ८ ॥

अध्यापनपरिक्रीतैः तेनैवाऽध्ययनादिना ॥ ८ ॥

तदसम्भवेऽप्याह—

धनेनाऽपि परिक्रीतैरात्मपापजिघांसया ।

हावनीया ह्यशक्तेन नाऽवसाद्यश्शरीधृक् ॥ ९ ॥

अनु०—अपने पाप को नष्ट करने की इच्छा से इन गणहोमों को करने मे अशक्त व्यक्ति धन से भी खरीद कर इन्हे कराये उसे (धनी होते) शरीर को कष्ट देने आवश्यकता नहीं है ।

हावनीयाः होमं कारयितव्याः । अन्येनाऽपि कारयितव्यत्वे हेतुर्नाव-साद्य इति । नाऽवसाद्यो न क्लेशनीयः । धने विद्यमाने किमित्यात्मनश्शरीर-शोषणं हविष्यादिभिः क्रियेतेत्यभिप्रायः । एवं च मौनव्रतान्यपि कर्तुरेव, न कारयितु; नाऽवसाद्य इति वचनात् । 'गरगिरिव सोदति' इति दोषोऽपि कर्तुरेव न कारयितुः, उपरागे वर्तमाने श्राद्धभोजनवत ॥ ९ ॥

किञ्च—

धनस्य क्रियते त्यागः कर्मणां सुकृतामपि ।

पुंसोऽनृणस्य पापस्य विमोक्षः क्रियते क्वचित् ॥ १० ॥

अनु०—पुण्य कर्मों की सिद्धि के लिए भी धन का त्याग किया जाता है । कभी-कभी ऋणमुक्त होने पर भी मनुष्य अपने पाप से मुक्त हो जाता है ॥ १० ॥

अनृणस्याऽपि पुंसो ऽय धर्मतस्त्यागः क्वचित्क्रियत इत्युक्ते । किमर्थमुक्तम् ? पुण्यानामपि कर्मणां सिद्धये । गणहोमार्थं पुनर्धनत्यागे क्रियमाणे पापस्यैव विमोक्षः क्रियते न धनस्येत्यभिप्रायः ॥ १० ॥

सोऽयं प्रशंसाप्रपञ्च आरभ्यते-द्विज कथं गोचेत, ततोऽनुष्ठीयेतेति—

मुक्तो यो विधिनैतेन सर्वपापार्णसागरात् ।

आत्मानं मन्यते शुद्धं समर्थं कर्मसाधने ॥ ११ ॥

अनु०—इस विधि से पाप और ऋण के समुद्र से निकलकर वह अपने को शुद्ध मानता है और धार्मिक कर्मों के सम्पादन के लिए योग्य समझता हैं ॥ ११ ॥

सर्वपापसमुद्राच्चोत्तीर्णमात्मानं कर्मयोग्यं मन्यते ॥ ११ ॥

किञ्च—

[1]ज्ञायते चाऽमरैः द्युस्थैः पुण्यकर्मेति भूस्थितः ।

---

१. सूत्रमिदं सर्वेषु मूलपुस्तकेषु षष्टसूत्रानन्तर पठितम् । परन्तु व्याख्यानानुत-क्रिष्वत्रैव पठितमित्यत्रैव निवेशितमस्माभिः ।

देववन्मोदते भूयस्स्वर्गलोकेऽपि पुण्यकृत् ॥ १२ ॥

अनु०—उस व्यक्ति के पृथ्वी पर रहने पर भी स्वर्ग में रहने वाले देवता उसे पुण्यकर्मा के रूप में जानने लगते हैं। वह पुण्य करने वाले पुनः स्वर्गलोक में देवों के समान सुखों का भोग करता है ॥ १२ ॥

द्युस्थैर्देवैरभमिष्ठोऽपि पुण्यकर्मेति ज्ञायते। तथा च श्रुतिः—यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य दूराद्गन्धो वात्येवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद्गन्धो वाति' इति ॥१२॥

[२]सर्वपापर्णमुक्तात्मा क्रिया आरभते तु याः।
अयत्नेनैव तास्सिद्धिं यान्ति शुद्धशरीरिणः १३ ॥

अनु०—सभी पापों और ऋणों से मुक्त व्यक्ति जिन क्रियाओं को आरम्भ करता है, उस शुद्ध शरीर वाले व्यक्ति की वे सभी क्रियाएँ बिना परिश्रम के ही स्वयं सिद्ध हो जाती हैं।

प्रजापत्यमिदं पुण्य[३]मृषीणां समुदीरितम्।
इदमध्यापयेन्नित्यं धारयेच्छृणुतेऽपि वा ॥ १४ ॥ *
मुच्यते सर्वपापेभ्यो ब्रह्मलोके महीयते ॥

अनु०—यह प्रजापति का पवित्र धर्मशास्त्र है जिसका उपदेश ऋषियों ने किया है। इसका नित्य अध्ययन और अध्यापन करे इसका स्मरण करे। इसको सुनने से भी मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है और ब्रह्म के लोक में प्रतिष्ठित होता है ॥ १४ ॥

इदमिति धर्मशास्त्रमुच्यते। गणहोममात्रमेव वेत्यर्थः। अत्राऽध्यापनधारणश्रवणानां पूर्वं पूर्वं गरीयः ॥ १३, १४ ॥

अथ मन्त्रपुरश्चरणमाह—

यान् सिषाधयिषुर्मन्त्रान् द्वादशाऽहानि तान् जपेत् ॥ १५ ॥
घृतेन पयसा दध्ना प्राश्य निश्योदनं सकृत्।

अनु०—जिन मन्त्रों से अपनी इच्छाओं को सिद्ध करना चाहता हो उनका

---

२. सर्वपापविशुद्धात्मा इति ग पु.   ३ ऋषिभिः ऋषिणा. इति क. ङ. पु.

* 'इदमेतद्गण होमं धारयेदथ वा जपेत् ॥ १५ ॥
शृणोतु वा विधिं स्मृत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते।
सर्वपापविशुद्धात्का ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥ इत्यधिकः सूत्रपाठः क. पु.

बारह दिन तक जप करे। और केवल एक बार रात्रि में ओदन, घृत, दूध और दधि का आहार करे ॥ १५ ॥

द्वादशाऽहानि सकृत्सकृत्प्राश्य जपेदिति सम्बन्धः। स च "मुखं व्यादाय स्वपिति" इतिवत् द्रष्टव्य । सिषाधयिषुः साधयितुमिच्छन्। घृतेनेति घृतान्नेनेत्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

[1]ऋग्यजुःसामवेदानामथर्वाङ्गिरसामपि ।

दशावरं तथा होमः सर्पिषा सवनत्रयम् ॥ १६ ॥

अनु०—(ऋक्, यजुस्, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस् से सम्बद्ध) होम दशवार घृत से तीनों सवनकालों मे करे। मन्त्रों के द्वारा अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए यही आरम्भिक पूजन विधि (पुरश्चरण) है ॥ १६ ॥

पूर्वसेवा भवेदेषा मन्त्राणां कर्मसाधने ॥

मन्त्राणां कर्मसाधन इति ॥ १७ ॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे चतुर्थप्रश्नेऽष्टमः खण्डः ॥

वेदसम्बन्धिन्या मन्त्रसम्बन्धिन्याश्च षष्ठ्या 'वैश्वानर्यः' (४. ७. ५.) इत्यनेन सम्बन्धः स च वैदिकानामेव मन्त्राणामेषा पूर्वसेवा पुरश्चरण, नेतरदिति ज्ञापनार्थम्। मन्त्राणां कर्मसाधन इति। मन्त्रैरिष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारसिद्धावित्यर्थः। तथा च शौनकः—

'पुरश्चरणमादौ तु मन्त्राणां सिद्धिकारणम्' इति ॥ १७ ॥

इति बौधायनीयधर्मसूत्रविवरणे गोविन्दस्वामिकृते
चतुर्थप्रश्नेऽष्टमोऽध्यायः ॥

अतिलोभात् प्रमादाद्वा ॥८॥ निवृत्तः पापकर्मभ्यः ॥ समाधुच्छन्दसा रुद्राः ॥ ६ ॥ अथाऽतस्संप्रवक्ष्यामि ॥ ५ ॥ प्रायश्चित्तानि वक्ष्यामः ॥ ४ ॥ प्रायश्चित्तानि वक्ष्यामः ॥३॥ प्रायश्चित्तानि वक्ष्यामः ॥ २ ॥ प्रायश्चित्तानि वक्ष्यामः ॥ १ ॥

इति बौधायनीये धर्मसूत्रे चतुर्थप्रश्नः (गृह्यसूत्रे सप्तदशः प्रश्नः)समाप्तः ।

समाप्तं चेदं बौधायनधर्मसूत्रम् ॥

---

१. सूत्रार्धमिदं ई. पुस्तक एवोपलभ्यते, नाऽन्येषु, परन्तु व्याख्यायामुपात्तमिति कृत्वा परिगृहीतमस्माभिः ।

परिशिष्टम्

'विवरण' में उद्धृत वाक्यों का सन्दर्भ-निर्देश

---

१. शातातपीयत्वेनोक्तमिदं मस्करिणा । २. मुद्रितशास्त्रस्मृताविदं नोपलभ्यते ।

१. २. मुद्रितशङ्खस्मृताविदं नोपलभ्यते ।

१. मुद्रितशंखस्मृताविदं नोपलभ्यते।

सूत्रों में आये हुए नामों एवं विषयों की

अनुक्रमणिका

(संख्याएँ इस ग्रन्थ के पृष्ठ का निर्देश करती है।)

——>o<——